DUE DATE SLIP

GOVT. COLLEGE, LIBRARY

KOTA (Raj.)

Students can retain library books only for two weeks at the most

BORROWER'S No	DUE DTATE	SIGNATURE

ओ३म्

यजुर्वेदभाष्यम्

परमहंसपरिव्राजकाचार्य्य

श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिना निर्मितम्

संस्कृतार्य्यभाषाभ्यां समन्वितम्

एकादशाध्यायतो विंशाऽध्यायपर्य्यन्तम्

अजमेरनगरे वैदिकयन्त्रालये मुद्रितम्

द्वितीयो भागः

संवत् १९८०

ग्रन्थाधिकारः श्रीमत्परोपकारिण्या सभया सर्वथा स्वाधीन एव रक्षितः ।

मूल्य ३।=) }
डाकव्यय ।) }

{ चारों भाग २५)

KOTAH.

Class No. 5831

Book No. D273

Accession No. 12134

K P P S 2348

हारान मे यजुर्वेद भाष्य, अङ्क १, ६ में जो विज्ञापन प्रकाशित किया था है।

हरविलास सारडा,
मन्त्री—धर्मनी परोपकारिणी सभा

सबको विदित हो कि जो जो बातें वेदों की और उनके अनुकूल हैं उनको मैं मानता हूं, विरुद्ध बातों को नहीं। इससे जो जो मेरे बनाये सत्यार्थप्रकाश वा संस्कारविधि आदि ग्रंथों में गृह्यसूत्र वा मनुस्मृति आदि पुस्तकों के वचन बहुत से लिखे हैं, वे उन २ ग्रन्थों के मतों को जताने के लिये लिखे हैं उनमें से वेदार्थ के अनुकूल का साक्षीवत् प्रमाण और विरुद्ध का अप्रमाण मानता हूं। जो जो बात वेदार्थ से निकलती हैं उन सबको प्रमाण करता हूं, क्योंकि वेद ईश्वरोक्त होने से सर्वथा मुझको मान्य है। और जो जो ब्रह्माजी से लेकर जैमिनि मुनि-पर्यन्त ऋषि महर्षियों के बनाये वेदार्थानुकूल ग्रन्थ हैं, उनको भी मैं साक्षी के समान मानता हूं। और जो सत्यार्थप्रकाश के ४२ पृष्ठ और २४ पंक्ति में पित्रादिकों में से जो कोई जीता हो उसका तर्पण न करे और जितने मर गये हैं उनका तो अवश्य करे। तथा पृष्ठ ४७ पंक्ति २१ मरे भये पित्रादिकों का तर्पण और श्राद्ध करना है इत्यादि तर्पण और श्राद्ध के विषय में जो छापा गया है, सो लिखने और शोधने वालों की भूल से छप गया है। इसके स्थान में ऐसा समझना चाहिये कि जीवितों को श्रद्धा से सेवा करके नित्य तृप्त करते रहना यह पुत्रादि का परम धर्म है और जो २ मर गये हों उनका नहीं करना, क्योंकि न तो कोई मनुष्य मरे हुये जीव के पास किसी पदार्थ को पहुंचा सकता और न मरा हुआ जीव पुत्रादि के दिये पदार्थों को ग्रहण कर सकता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जीते पिता आदि की प्रीति से सेवा करने का नाम तर्पण और श्राद्ध है, अन्य नहीं। इस विषय में वेदमन्त्रादि का प्रमाण भूमिका के ११ अंक के पृष्ठ २४१ से ले के १२ अंक के २६७ पृष्ठ तक छपा है वहां देख लेना।

अथैकादशोऽध्यायः ॥

विश्वा॑नि देव सवितर्दुरि॒तानि॒ परा॑सुव । यद्भ॒द्रं तन्न॒ आसु॑व ॥

युञ्जान इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । सविता देवता । विराडार्ष्यनुष्टुप्छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

अथ योगाभ्यासभूगर्भविद्योपदेशमाह ॥

अब ग्यारहवें अध्याय का आरम्भ किया जाता है । इस के प्रथम मन्त्र में योगाभ्यास और भूगर्भविद्या का उपदेश किया है ॥

यु॒ञ्जा॒नः प्र॑थ॒मं मन॑स्त॒त्त्वाय॑ सवि॒ता धिय॑ः ।
अ॒ग्नेर्ज्योति॑र्नि॒चाय्य॑ पृथि॒व्या अध्याभ॑रत् ॥ १ ॥

यु॒ञ्जा॒नः । प्र॒थ॒मम् । मन॑ः । त॒त्त्वाय॑ । स॒वि॒ता । धिय॑ः । अ॒ग्नेः । ज्योति॑ः । नि॒चाय्येति॑ नि॒ऽचाय्य॑ । पृ॒थि॒व्याः । अधि॑ । आ । अ॒भ॒र॒त् ॥ १ ॥

पदार्थः—(युंजानः) योगाभ्यासं भूगर्भविद्यां च कुर्वाणः (प्रथमम्) आदौ (मनः) मननात्मिकान्तःकरणवृत्तिः (तत्त्वाय) तेषां परमेश्वरादीनां पदार्थानां भावाय (सविता) ऐश्वर्यमिच्छुः (धियः) धारणात्मिका अन्तःकरणवृत्तीः (अग्नेः) पृथिव्यादिस्थाया विद्युतः (ज्योतिः) प्रकाशम् (निचाय्य) निश्चित्य (पृथिव्याः) भूमेः (अधि) उपरि (आ) समन्तात् (अभरत्) धरेत् ॥ १ ॥

अन्वयः—यः सविता मनुष्यस्तत्त्वाय प्रथमं मनो धियश्च युंजानोऽग्ने-र्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत्स योगी पदार्थविद्याविच्च जायेत ॥ १ ॥

भावार्थः—यो जनो योगं भूगर्भविद्यां च चिकीर्षेत्स यमादिभिः क्रियाकौशलैश्चान्तःकरणं पवित्रीकृत्य तत्त्वानां विज्ञानाय प्रज्ञां संपाद्यैतानि गुणकर्मस्वभावतो विदित्वोपयुंजीत पुनर्यस्य प्रकाशमानानां सूर्यादीनां प्रकाशकं प्रकाशोऽस्ति तद्विज्ञाय स्वात्मनि निश्चित्य सर्वाणि स्वपरप्रयोजनानि साध्नुयात् ॥ १ ॥

पदार्थः—जो (सविता) ऐश्वर्य्य को चाहने वाला मनुष्य (तत्त्वाय) उन परमेश्वर आदि पदार्थों के ज्ञान होने के लिये (प्रथमम्) पहिले (मनः) विचारस्वरूप अन्तःकरण की वृत्तियों को (युंजानः) योगाभ्यास और भूगर्भविद्या में युक्त करता हुआ (अग्नेः) पृथिवी आदि में रहने वाली बिजुली के (ज्योतिः) प्रकाश को (निचाय्य) निश्चय करके (पृथिव्याः) भूमि के (अधि) ऊपर (आभरत्) अच्छे प्रकार धारण करे वह योगी और भूगर्भविद्या का जानने वाला होवे ॥ १ ॥

भावार्थः—जो पुरुष योगाभ्यास और भूगर्भविद्या किया चाहे वह यम आदि योग के अङ्ग और क्रिया कौशलों से अपने हृदय को शुद्ध करके तत्त्वों को जान बुद्धि को प्राप्त और इन को गुण कर्म तथा स्वभाव से जान के उपयोग लेवे। फिर जो प्रकाशमान सूर्यादि पदार्थ हैं उन का भी प्रकाशक ईश्वर है उसको जान और अपने आत्मा में निश्चय कर के अपने और दूसरों के सब प्रयोजनों को सिद्ध करे ॥ १ ॥

युञ्जानेत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः। सविता देवता। भुरिङ्मती गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर भी उक्त विषय ही अगले मंत्र में कहा है ॥

युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे। स्वर्ग्याय शक्त्या ॥ २ ॥

युक्तेन। मनसा। वयम्। देवस्य। सवितुः। सवे। स्वर्ग्यायेति स्वः॒ऽग्याय। शक्त्या ॥ २ ॥

पदार्थः—(युक्तेन) कृतयोगाभ्यासेन (मनसा) विज्ञानेन (वयम्) योगिनः (देवस्य) सर्वद्योतकस्य (सवितुः) अखिलजगदुत्पादकस्य जगदीश्वरस्य (सवे) जगदाख्येऽस्मिन्नैश्वर्ये (स्वर्ग्याय) स्वः सुखं गच्छति येन तद्भावाय (शक्त्या) सामर्थ्येन ॥ २ ॥

अन्वयः—हे योगं तत्त्वविद्यां च जिज्ञासवो मनुष्या यथा वयं युक्तेन मनसा शक्त्या च देवस्य सवितुः सवे स्वर्ग्याय ज्योतिराभरेम तथा यूयमप्याभरत ॥ २ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—यदि मनुष्याः परमेश्वरस्य सृष्टौ समाहिताः सन्तो योगं तत्त्वविद्यां च यथाशक्ति संसेवेरंस्तेषु प्रकाशितात्मानः सन्तो योगं पदार्थविज्ञानं चाभ्यस्येयुस्तर्हि सिद्धीः कथं न प्राप्नुयुः ॥ २ ॥

पदार्थः—हे योग और तत्त्वविद्या को जानने की इच्छा करने हारे मनुष्यो जैसे (वयम्) हम योगी लोग (युक्तेन) योगाभ्यास किये (मनसा) विज्ञान और (शक्त्या) सामर्थ्य से (देवस्य) सब को चिताने तथा (सवितुः) समग्र संसार को उत्पन्न करने हारे ईश्वर के (सवे) जगत् रूप इस ऐश्वर्य में (स्वर्ग्याय) सुख प्राप्ति के लिये प्रकाश की अधिकाई से धारण करें वैसे तुम लोग भी प्रकाश को धारण करो ॥ २ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में वाचकलु०—जो मनुष्य परमेश्वर की इस सृष्टि में समाहित हुए योगाभ्यास और तत्त्वविद्या को यथाशक्ति सेवन करें उन में सुन्दर आत्मज्ञान के प्रकाश से युक्त हुए योग और पदार्थविद्या का अभ्यास करें तो अवश्य सिद्धियों को प्राप्त हो जावें ॥ २ ॥

युक्त्वायेत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । सविता देवता । निचृद-
नुष्टुप्छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर भी उक्त विषय अगले मंत्र में कहा है ॥

युक्त्वाय॑ सवि॒ता दे॒वान्त्स्वर्य॑तो धि॒या दिव॑म् । बृ॒हज्ज्योति॑: करि॒ष्य॒तः स॑वि॒ता प्रसु॑वाति॒ तान् ॥ ३ ॥

युक्त्वाय॑ । स॒वि॒ता । दे॒वान् । स्वः॑ । य॒तः । धि॒या । दिव॑म् । बृ॒हत् । ज्योति॑: । क॒रि॒ष्यत॒: । स॒वि॒ता । प्र । सु॒वा॒ति॒ । तान् ॥ ३ ॥

पदार्थः—(युक्त्वाय) युक्तं कृत्वा (सविता) योगपदार्थज्ञानस्य प्रसविता (देवान्) दिव्यान् गुणान् (स्वः) सुखस्य (यतः) प्रापकान् (धिया) प्रज्ञया (दिवम्) विद्याप्रकाशम् (बृहत्) महत् (ज्योतिः) विज्ञानम् (करिष्यतः) ये करिष्यन्ति तान् (सविता) प्रेरकः (प्र) (सुवाति) उत्पादयेत् (तान्) ॥ ३ ॥

अन्वयः—यान् सविता परमात्मनि मनो युक्त्वाय धिया दिवं स्वर्यतो बृहज्ज्योतिः करिष्यतो देवान् प्रसुवाति तानन्योऽपि सविता प्रसुवेत् ॥ ३ ॥

भावार्थः—ये योगपदार्थविदे अभ्यस्यन्ति तेऽविद्यादिक्लेशानां निवारकान् शुद्धान् गुणान् जनितुं शक्नुवन्ति । य उपदेशकाद्योगं तत्त्वज्ञानं च प्राप्यैवमभ्यस्येत्सोऽप्येतान्प्राप्नुयात् ॥ ३ ॥

पदार्थः—जिस को (सविता) योग के पदार्थों के ज्ञान के करने हारा जन परमात्मा में मन को (युक्त्वाय) युक्त करके (धिया) बुद्धि से (दिवम्) विद्या

के प्रकाश को (स्वः) सुख को (यतः) प्राप्त कराने वाले (बृहत्) बड़े (ज्योतिः) विज्ञान को (करिष्यतः) जो करेंगे उन (देवान्) दिव्य गुणों को (प्रसुवाति) उत्पन्न करे (तान्) उन को अन्य भी उत्पादक जन उत्पन्न करे ॥ ३ ॥

भावार्थः—जो पुरुष योगाभ्यास करते हैं वे अविद्या आदि क्लेशों को हटाने वाले शुद्ध गुणों को प्रकट कर सकते हैं। जो उपदेशक पुरुष से योग और तत्त्वज्ञान को प्राप्त होके ऐसा अभ्यास करे वह भी इन गुणों को प्राप्त होवे ॥ ३ ॥

युंजत इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः। सविता देवता। जगती छन्दः। निषादः स्वरः ॥

योगाभ्यासं कृत्वा मनुष्याः किं कुर्य्युरित्याह ॥
योगाभ्यास करके मनुष्य क्या करें यह वि० ॥

युञ्जते मनं उत युंञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः। वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः ॥ ४ ॥

युञ्जते। मनः। उत। युञ्जते। धियः। विप्राः। विप्रस्य। बृहतः। विपश्चित इति विपःऽचितः। वि। होत्राः। दधे। वयुनावित्। वयुनाविदिति वयुनऽवित्। एकः। इत्। मही। देवस्य। सवितुः। परिष्टुतिः। परिस्तुतिरिति परिऽस्तुतिः ॥ ४ ॥

पदार्थः—(युंजते) परमात्मनि तत्त्वविज्ञाने वा समादधते (मनः) चित्तम् (उत) अपि (युंजते) (धियः) बुद्धीः (विप्राः) मेधाविनः (विप्रस्य) सर्वशास्त्रविदो मेधाविनः (बृहतः) महतो गुणान् प्राप्तस्य (विपश्चितः) अखिलविद्यायुक्तस्याप्तस्येव वर्त्तमानस्य (वि) (होत्राः) दातुं

प्रहीतुं शीलाः (दधे) (वयुनावित्) यो वयुनानि प्रज्ञानानि वेत्ति सः। अन्यान्यपेक्षाऽपीति दीर्घः (एकः) असहायः (इत्) एव (मही) महती (देवस्य) सर्वप्रकाशकस्य (सवितुः) सर्वस्य जगतः उत्पादितुरीश्वरस्य (परिष्टुतिः) परितः सर्वतः स्तुवन्ति यया सा ॥ ४ ॥

अन्वयः—ये होत्रा विप्रा यस्य बृहतो विपश्चित इव वर्त्तमानस्य विप्रस्य सकाशात्प्राप्तविद्याः सन्तो या सवितुर्देवस्य जगदीश्वरस्य मही परिष्टुतिरस्ति तत्र यथा मनो युंजते धियो युञ्जते तथा वयुनाविदेकोऽहं विदधे ॥ ४ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—ये युक्ताहारविहारा एकान्ते देशे परमात्मानं युंजते ते तत्त्वविज्ञानं प्राप्य नित्यं सुखं यान्ति ॥ ४ ॥

पदार्थः—जो (होत्राः) दान देने लेने के स्वभाव वाले (विप्राः) बुद्धिमान् पुरुष जिस (बृहतः) बड़े (विपश्चितः) सम्पूर्ण विद्याओं से युक्त आप्त पुरुष के समान वर्त्तमान (विप्रस्य) सब शास्त्रों के जानने हारे बुद्धिमान् पुरुष से विद्याओं को प्राप्त हुए विद्वानों से विज्ञानयुक्त जन (सवितुः) सब जगत् को उत्पन्न और (देवस्य) सब के प्रकाशक जगदीश्वर की (मही) बड़ी (परिष्टुतिः) सब प्रकार की स्तुति है उस तत्त्वज्ञान के विषय में जैसे (मनः) अपने चित्त को (युंजते) समाधान करते और (धियः) अपनी बुद्धियों को युक्त करते हैं वैसे ही (वयुनावित्) प्रकट ज्ञान वाला (एकः) अन्य के सहाय की अपेक्षा से रहित (इत्) ही मैं (विदधे) विधान करता हूं ॥ ४ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में वाचकलु०—जो नियम से आहार विहार करने हारे जितेन्द्रिय पुरुष एकान्त देश में परमात्मा के साथ अपने आत्मा को युक्त करते हैं वे तत्त्वज्ञान को प्राप्त होकर नित्य ही सुख भोगते हैं ॥ ४ ॥

युजेवामित्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । सविता देवता । विराडार्षी त्रिष्टुप्छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

मनुष्याः परब्रह्मप्राप्तिं कथं कुर्य्युरित्यु० ॥

मनुष्य लोग ईश्वर की प्राप्ति कैसे करें इस वि० ॥

युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्विश्लोक एतु पथ्येव सूरेः । शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः ॥ ५ ॥

युजे । वाम् । ब्रह्म । पूर्व्यम् । नमोभिरिति नमःऽभिः । वि । श्लोकः । एतु । पथ्येवेति पथ्याऽइव । सूरेः । शृण्वन्तु । विश्वे । अमृतस्य । पुत्राः । आ । ये । धामानि । दिव्यानि । तस्थुः ॥ ५ ॥

पदार्थः—(युजे) आत्मनि समादधे (वाम्) युवयोर्योगानुष्ठानुपदेशकयोः सकाशाच्छ्रुतवन्तौ (ब्रह्म) बृहद्व्यापकम् (पूर्व्यम्) पूर्वैर्योगिभिः प्रत्यक्षीकृतम् (नमोभिः) सत्कारैः (वि) विविधेऽर्थे । (श्लोकः) सत्यवाक्संयुक्तः (एतु) प्राप्नोतु (पथ्येव) यथा पथि साध्वी गतिः (सूरेः) विदुषः (शृण्वन्तु) (विश्वे) सर्वे (अमृतस्य) अविनाशिनो जगदीश्वरस्य (पुत्राः) सुसन्ताना आज्ञापालका इव (आ) (ये) (धामानि) स्थानानि (दिव्यानि) दिवि सुखप्रकाशे भवानि (तस्थुः) आस्थितवन्तः ॥ ५ ॥

अन्वयः—हे योगजिज्ञासवो जना भवन्तो यथा श्लोकोऽहं नमोभिर्यत्पूर्व्यं ब्रह्म युजे तद्वां सूरेः पथ्येव व्येतु । यथा विश्वे पुत्राः प्राप्तमोक्षा विद्वांसोऽमृतस्य योगेन दिव्यानि धामान्यातस्थुस्तेभ्य एतां योगविद्यां शृण्वन्तु ॥ ५ ॥

भावार्थः—अत्रोपमालंकारः । योगं जिज्ञासुभिराप्ता योगारूढा विद्वांसः संगन्तव्याः । तत्संगेन योगविधिं विज्ञाय ब्रह्माभ्यसनीयम् । यथा विद्वत्प्रकाशितो धर्ममार्गः सर्वान् सुखेन प्राप्नोति तथैव कृतयोगाभ्यासानां संगाद्योगविधिः सहजतया प्राप्नोति नहि कश्चिदेतत्संगमकृत्वा ब्रह्माभ्यासेन विनाऽऽत्मा पवित्रो भूत्वा सर्वं सुखमश्नुते । तस्माद्योगविधिना सहैव सर्वे परं ब्रह्मोपासताम् ॥ ५ ॥

पदार्थः—हे योगशास्त्र के ज्ञान की इच्छा करने वाले मनुष्यो! आप लोग जैसे (श्लोकः) सत्य वाणी से संयुक्त मैं (नमोभिः) सत्कारों से जिस (पूर्व्यम्) पूर्व के योगियों ने प्रत्यक्ष किये (ब्रह्म) सब से बड़े व्यापक ईश्वर को (युजे) अपने आत्मा में युक्त करता हूं वह ईश्वर (वाम्) तुम योग के अनुष्ठान और उपदेश करने हारे दोनों को (सूरेः) विद्वान् की (पथ्येव) उत्तम गति के अर्थ मार्ग प्राप्त होता है वैसे (व्येतु) विविध प्रकार से प्राप्त होवे। जैसे (विश्वे) सब (पुत्राः) अच्छे सन्तानों के तुल्य आज्ञाकारी मोक्ष को प्राप्त हुए विद्वान् लोग (अमृतस्य) अविनाशी ईश्वर के योग से (दिव्यानि) सुख के प्रकाश में होने वाले (धामानि) स्थानों को (आतस्थुः) अच्छे प्रकार प्राप्त होते हैं वैसे मैं भी उनको प्राप्त होऊं॥ ५॥

भावार्थः—इस मन्त्र में उपमालं॰—योगाभ्यास के ज्ञान को चाहने वाले मनुष्यों को चाहिये कि योग में कुशल विद्वानों का सङ्ग करें। उन के सङ्ग से योग की विधि को जान के ब्रह्मज्ञान का अभ्यास करें। जैसे विद्वान् का प्रकाशित किया हुआ मार्ग सब को सुख से प्राप्त होता है वैसे ही योगाभ्यासियों के संग से योगविधि सहज में प्राप्त होती है। कोई भी जीवात्मा इस संग और ब्रह्मज्ञान के अभ्यास के विना पवित्र होकर सब सुखों को प्राप्त नहीं हो सकता इसलिये उस योगविधि के साथ ही सब मनुष्य परब्रह्म की उपासना करें॥ ५॥

मनुष्याः कस्योपासनं कुर्य्युरित्याह॥

मनुष्य किस की उपासना करें यह वि०॥

यस्य॑ प्र॒याण॒मन्व॒न्य इद्य॒युर्दे॒वा दे॒वस्य॑ महि॒मान॒मोज॑सा। यः पार्थि॑वानि वि॒म॒मे स ए॑त॒शो रजां॑ꣳसि दे॒वः स॑वि॒ता म॑हित्व॒ना॥ ६॥

यस्य॑। प्र॒याण॑म्। प्र॒यान॒मिति॑ प्र॒ऽयान॑म्। अनु॑। अ॒न्ये। इत्। य॒युः। दे॒वाः। दे॒वस्य॑। म॒हि॒मान॑म्। ओज॑सा।

यः । पार्थिवानि । विमम इति विऽममे । सः । एतशः । रजांऽसि । देवः । सविता । महित्वनेति महिऽत्वना ॥ ६ ॥

पदार्थः—(यस्य) परमेश्वरस्य (प्रयाणम्) प्रयान्ति सर्वाणि सुखानि येन तत्प्रकृष्टं यानम् (अनु) पश्चात् (अन्ये) जीवादयः (इत्) एव (ययुः) प्राप्नुयुः (देवाः) विद्वांसः (देवस्य) सर्वसुखप्रदातुः (महिमानम्) स्तुतिविषयम् (ओजसा) पराक्रमेण (यः) परमेश्वरः (पार्थिवानि) पृथिव्यां विदितानि (विममे) विमानयानवन्निर्मिमीते (सः) (एतशः) सर्वं जगदिवा स्वव्याप्त्या प्राप्तः । इणस्तशन्तशसुनौ । उ० ३ । १४७ (रजांसि) सर्वान् लोकान् (देवः) दिव्यस्वरूपः (सविता) सर्वस्य जगतो निर्माता (महित्वना) स्वमहिम्ना । अत्र बाहुलकादौणादिक इत्वनिः प्रत्ययः ॥ ६ ॥

अन्वयः—हे योगिनो युष्माभिर्यस्य देवस्य महिमानं प्रयाणमन्वन्ये देवा ययुः । एतशः सविता देवो भगवान् महित्वनौजसा पार्थिवानी रजांसि स इदेव सततमुपास्यो मन्तव्यः ॥ ६ ॥

भावार्थः—ये विद्वांसः सर्वस्य जगतोऽन्तरिक्षेऽनन्तबलेन धर्त्तारं निर्मातारं सुखप्रदं शुद्धं सर्वशक्तिमन्तं सर्वान्तर्यामिणमीश्वरमुपासते त एव सुखयन्ति नेतरे ॥ ६ ॥

पदार्थः—हे योगी पुरुषो तुम को चाहिये कि (यस्य) जिस (देवस्य) सब सुख देने हारे ईश्वर के (महिमानम्) स्तुति विषय को (प्रयाणम्) कि जिस से सब सुख प्राप्त होवे उस के (अनु) पीछे (अन्ये) जीवादि और (देवाः) विद्वान् लोग (ययुः) प्राप्त होवें (यः) जो (एतशः) सब जगत् में अपनी व्याप्ति से प्राप्त हुआ (सविता) सब जगत् का रचने हारा (देवः) शुद्धस्वरूप भगवान् (महित्वना) अपनी महिमा और (ओजसा) पराक्रम से (पार्थिवानि) पृथिवी पर प्रसिद्ध (रजांसि) सब लोकों को (विममे) विमान आदि यानों के समान रचता है वह (इत्) ही निरन्तर उपासनीय मानो ॥ ६ ॥

भावार्थः—जो विद्वान् लोग सब जगत् के बीच २ पोल में अपने अनन्त बल से धारण करने, रचने और सुख देने हारे शुद्ध सर्वशक्तिमान् सब के हृदयों में व्यापक ईश्वर की उपासना करते हैं वे ही सुख पाते हैं अन्य नहीं॥ ६ ॥

देवसवितरित्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः। सविता देवता। आर्षी त्रिष्टुप्छन्दः। धैवतः स्वरः॥

अथ किमर्थं परमेश्वर उपास्यः प्रार्थनीयश्चास्तीत्याह ॥

अब किसलिये परमेश्वर की उपासना और प्रार्थना करनी चाहिये यह वि० ॥

देव॑ सवितः॒ प्र सु॑व य॒ज्ञं प्र सु॑व य॒ज्ञप॑तिं॒ भगा॑य।
दि॒व्यो ग॑न्ध॒र्वः के॑त॒पूः केतं॑ नः पुनातु वा॒चस्पति॒र्वाचं॑ नः स्वदतु ॥ ७ ॥

देव॑। स॒वि॒तु॒रिति॑ सवितः। प्र। सु॒व॒। य॒ज्ञम्। प्र। सु॒व॒। य॒ज्ञप॑ति॒मिति॑ य॒ज्ञऽप॑तिम्। भगा॑य। दि॒व्यः। ग॒न्ध॒र्वः। के॒त॒पूरिति॑ केत॒ऽपूः। केत॑म्। नः॒। पु॒ना॒तु॒। वा॒चः। पतिः॑। वाच॑म्। नः॒। स्व॒द॒तु॒ ॥ ७ ॥

पदार्थः—(देव) दिव्यविज्ञानमय (सवितः) सर्वसिद्ध्युत्पादक (प्र) (सुव) उत्पादय (यज्ञम्) सुखानां संगमकं व्यवहारम् (प्र) (सुव) (यज्ञपतिम्) एतस्य यज्ञस्य पालकम् (भगाय) अखिलैश्वर्याय (दिव्यः) दिवि शुद्धगुणकर्मसु साधुः (गन्धर्वः) यो गां पृथिवीं धरति सः (केतपूः) यः केतेन विज्ञानेन पुनाति (केतम्) विज्ञानम् (नः) अस्माकम् (पुनातु) पवित्रीकरोतु (वाचः) सत्यविद्यान्वितायाः वेदवाण्याः (पतिः) प्रचारेण रक्षकः (वाचम्) वाणीम् (नः) अस्माकम् (स्वदतु) स्वदतां स्वदिष्टां करोतु अत्र व्यत्ययेन परस्मैपदम् ॥ ७ ॥

अन्वयः—हे देव सत्ययोगविद्ययोपासनीय सवितर्भगवँस्त्वं नो भगाय यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं प्रसुव । गन्धर्वो दिव्यः केतपूर्भवान्नोऽस्माकं केतं पुनातु । वाचस्पतिर्भवान्नो वाचं स्वदतु ॥ ७ ॥

भावार्थः—ये सकलैश्वर्य्योपपन्नं शुद्धं ब्रह्मोपासते योगमाप्तये प्रार्थयन्ते तेऽखिलैश्वर्य्यं शुद्धात्मानं कर्त्तुं योगं च प्राप्तुं शक्नुवन्ति । ये जगदीश्वरवाग्वत्स्ववाचं शुम्भन्ति ते सत्यवाचः सन्तः सर्वक्रियाफलान्याप्नुवन्ति ॥ ७ ॥

पदार्थः—हे (देव) सत्य योगविद्या से उपासना के योग्य शुद्ध ज्ञान देने (सवितः) और सब सिद्धियों को उत्पन्न करने हारे परमेश्वर आप (नः) हमारे (यज्ञम्) सुखों को प्राप्त कराने हारे व्यवहार को (प्रसुव) उत्पन्न कीजिये तथा (यज्ञपतिम्) इस सुखदायक व्यवहार के रक्षक जन को (प्रसुव) उत्पन्न कीजिये (गन्धर्वः) पृथिवी को धरने (दिव्यः) शुद्ध गुण कर्म और स्वभावों में उत्तम और (केतपूः) विज्ञान से पवित्र करने हारे आप (नः) हमारे (केतम्) विज्ञान को (पुनातु) पवित्र कीजिये और (वाचस्पतिः) सत्य विद्याओं से युक्त वेदवाणी के प्रचार से रक्षा करने वाले आप (नः) हमारी (वाचम्) वाणी को स्वादिष्ठ अर्थात् कोमल मधुर कीजिये ॥ ७ ॥

भावार्थः—जो पुरुष सम्पूर्ण ऐश्वर्य्य से युक्त शुद्ध निर्मल ब्रह्म की उपासना और योगविद्या की प्राप्ति के लिये प्रार्थना करते हैं वे सब ऐश्वर्य्य को प्राप्त अपने आत्मा को शुद्ध और योगविद्या को सिद्ध कर सकते हैं वे सत्यवादी हो के सब क्रियाओं के फलों को प्राप्त होते हैं ॥ ७ ॥

इमं न इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । सविता देवता । शक्वरी छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर उसी विषय को अगले मंत्र में कहा है ॥

इमं नो देव सवितर्य॒ज्ञं प्रण॑य देवा॒व्य॑ᳪ सखि॒विद॑ᳪ सत्रा॒जितं॒धन॒जित॑ᳪ स्व॒र्जित॑म् । ऋ॒चा

स्तोमᳬसमर्धय गायत्रेणं रथन्तरं बृहद्गायत्रवर्त्तनि स्वाहा ॥ ८ ॥

इमम् । नः । देव । सवितः । यज्ञम् । प्र । नय । देवाव्युमिति देवऽअव्यम् । सखिविदमिति सखिऽविदम् । सत्राजितमिति सत्राऽजितम् । धनजितमिति धनऽजितम् । स्वर्जितमिति स्वःऽजितम् । ऋचा । स्तोमम् । सम् । अर्धय । गायत्रेण । रथन्तरमिति रथम्ऽतरम् । बृहत् । गायत्रवर्त्तनीति गायत्रऽवर्त्तनि । स्वाहा ॥ ८ ॥

पदार्थः—(इमम्) उक्तं वक्ष्यमाणं च (नः) अस्माकम् (देव) सत्यकामनाप्रद (सवितः) अन्तर्यामिरूपेण प्रेरक (यज्ञम्) विद्याधर्मसंगमयितारम् (प्र) (नय) प्रापय (देवाव्यम्) देवान् दिव्यान् विदुषो गुणान् वाऽवन्ति येन स देवावीस्तम् । अत्रौणादिक ईः प्रत्ययः । (सखिविदम्) सखीन् सुहृदो विन्दति येन तम् (सत्राजितम्) सत्रा सत्यं जगदुत्कर्षति येन तम् (धनजितम्) धनं जगदुत्कर्षति येन तम् (स्वर्जितम्) स्वः सुखं जयत्युत्कर्षति येन तम् (ऋचा) ऋग्वेदेन (स्तोमम्) स्तूयते यस्तम् (सम्) (अर्धय) वर्धय (गायत्रेण) गायत्रीप्रभृति छन्दसैव (रथन्तरम्) रथैरमणीयैर्यानैस्तरन्ति येन तत् (गायत्रवर्त्तनि) गायत्रस्य वर्त्तनिर्मार्गो वर्त्तनं यस्मिन् तत् (बृहत्) महत् (स्वाहा) सत्यक्रियया वाचा वा ॥ ८ ॥

अन्वयः—हे देव सवितर्जगदीश त्वं न इमं देवाव्यं सखिविदं सत्राजितं धनजितं स्वर्जितमृचा स्तोमं यज्ञं स्वाहा प्रणय गायत्रेण गायत्रवर्त्तनि बृहद्रथन्तरं च समर्धय ॥ ८ ॥

भावार्थः—ये जना ईर्ष्याद्वेषादिदोषान्विहायेश्वर इव सर्वैः सह सुहृद्भावमाचरन्ति ते सम्वर्धितुं शक्नुवन्ति ॥ ८ ॥

पदार्थः—हे (देव) सब कामनाओं को पूर्ण करने और (सवितः) अन्तर्यामि रूप से प्रेरणा करने हारे जगदीश्वर आप (नः) हमारे (इमम्) पीछे कहे और आगे जिस को कहेंगे उस (देवाव्यम्) दिव्य विद्वान् वा दिव्य गुणों की जिस से रक्षा हो (सखिविदम्) मित्रों को जिस से प्राप्त हों (सत्राजितम्) सत्य को-जिस से जीतें (धनजितम्) धन की जिस से उन्नति होवे (स्वर्जितम्) सुख को जिस से बढ़ावें । और (ऋचा) ऋग्वेद से जिस की (स्तोमम्) स्तुति हो उस (यज्ञम्) विद्या और धर्म का संयोग कराने हारे यज्ञ को (स्वाहा) सत्य क्रिया के साथ (प्रसुव) प्राप्त कीजिये (गायत्रेण) गायत्री आदि छन्द से (गायत्रवर्त्तनि) गायत्री आदि छन्दों की गानविद्या (बृहत्) बड़े (रथन्तरम्) अच्छे २ यानों से जिस के पार हों उस मार्ग को (समर्धय) अच्छे प्रकार बढ़ाइये ॥ ८ ॥

भावार्थः—जो मनुष्य ईर्ष्या द्वेष आदि दोषों को छोड़ ईश्वर के समान सब जीवों के साथ मित्रभाव रखते हैं । वे संपत् को प्राप्त होते हैं ॥ ८ ॥

देवस्येत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । सविता देवता । भुरिगतिशक्वरी छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

मनुष्या भूमितत्त्वादिभ्यो विद्युतं स्वीकुर्युरित्याह ॥

मनुष्य भूमि आदि तत्वों से बिजुली का ग्रहण करें यह वि० ॥

देवस्य॑ त्वा सवि॒तुः प्र॑स॒वे॒ऽश्विनो॑र्बा॒हुभ्या॑म् पू॒ष्णो हस्ता॑भ्याम् । आद॑दे गाय॒त्रेण॒ छन्द॑साङ्गिर॒स्वत्पृ॑थि॒व्याः स॒धस्था॑द॒ग्निं पु॑री॒ष्य॒मङ्गिर॒स्वदाभ॑र॒ त्रैष्टु॑भेन॒ छन्द॑साङ्गिर॒स्वत् ॥ ९ ॥

दे॒वस्य॑ । त्वा॒ । स॒वि॒तुः । प्र॒स॒व इति॑ प्रऽस॒वे । अ॒श्विनोः॑ । बा॒हुभ्या॒मिति॑ बा॒हुऽभ्या॑म् । पू॒ष्णः । हस्ता॑भ्याम् । आ । द॒दे॒ । गा॒य॒त्रेण॑ ।

छन्दसा । अङ्गिरस्वत् । पृथिव्याः । सधस्थादिति सधऽस्थात् । अग्निम् । पुरीष्यम् । अङ्गिरस्वत् । आ । भर । त्रैष्टुभेन । त्रैस्तुभेनेति त्रैऽस्तुभेन । छन्दसा । अङ्गिरस्वत् ॥ ९ ॥

पदार्थः—(देवस्य) सूर्यादिजगतो प्रदीपकस्य (त्वा) त्वाम् (सवितुः) सर्वेषामैश्वर्य्ययुक्तानां प्रति प्रेरकस्य (प्रसवे) निष्पन्नैश्वर्ये (अश्विनोः) प्राणोदानयोः (बाहुभ्याम्) बलाकर्षणाभ्याम् (पूष्णः) पुष्टिकर्त्तुः (हस्ताभ्याम्) धारणाकर्षणाभ्याम् (आ) (ददे) स्वीकरोमि (गायत्रेण) गायत्रीनिर्मितेनार्थेन (छन्दसा) (अङ्गिरस्वत्) अङ्गिरोभिरङ्गारैस्तुल्यम् (पृथिव्याः) (सधस्थात्) सहस्थानाचलात् (अग्निम्) विद्युदादिस्वरूपम् (पुरीष्यम्) पुरीष उदके साधुम् । अत्र पृषोदरादित्वादिष्टसिद्धिः । पुरीषमित्युदकना० । निघं० १ । १२ । (अङ्गिरस्वत्) अङ्गिरोभिः प्राणैस्तुल्यम् (आ) (भर) धर (त्रैष्टुभेन) त्रिष्टुभा निर्मितेनार्थेन (छन्दसा) स्वच्छन्देन (अङ्गिरस्वत्) अङ्गिरोभिरङ्गैस्तुल्यम् ॥ ९ ॥

अन्वयः—हे विद्वन्नहं यं त्वा देवस्य सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामंगिरस्वदाददे स त्वं गायत्रेण छन्दसा पृथिव्याः सधस्थादङ्गिरस्वत् त्रैष्टुभेन छन्दसांऽगिरस्वत्पुरीष्यमग्निमाभर ॥ ९ ॥

भावार्थः—अत्रोपमालङ्कारः—मनुष्यैरीश्वरसृष्टिगुणविदं विद्वांसं संसेव्य पृथिव्यादिस्थोऽग्निः स्वीकार्य्यः ॥ ९ ॥

पदार्थः—हे विद्वन् पुरुष मैं जिस (त्वा) आप को (देवस्य) सूर्य्य आदि सब जगत् के प्रकाश करने और (सवितुः) सब ऐश्वर्य्य में (अश्विनोः) प्राण और उदान के (बाहुभ्याम्) बल और आकर्षण से तथा (पूष्णः) पुष्टिकारक बिजुली के (हस्ताभ्याम्) धारण और आकर्षण (अङ्गिरस्वत्) अंगारों के समान (आददे) ग्रहण करता हूं सो आप

(गायत्रेण) गायत्री मंत्र से निकले (छन्दसा) आनन्ददायक अर्थ के साथ (पृथिव्याः) पृथिवी के (सधस्थात्) एकस्थान से (अङ्गिरस्वत्) प्राणों के तुल्य और (त्रैष्टुभेन) त्रिष्टुप् मंत्र से निकले (छन्दसा) स्वतंत्र अर्थ के साथ (अङ्गिरस्वत्) चिह्नों के सदृश (पुरीष्यम्) जल को उत्पन्न करने हारे (अग्निम्) बिजुली आदि तीन प्रकार के अग्नि को (आभर) धारण कीजिये ॥ ९ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में उपमालंकार है । मनुष्यों को ाहिये कि ईश्वर की सृष्टि के गुणों को जानने हारे विद्वान् की अच्छे प्रकार सेवा करने और पृथिवी आदि पदार्थों में रहने वाले अग्नि को स्वीकार करें ॥ ९ ॥

अग्निरसीत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । सविता देवता । भुरिगनुष्टुप् छन्दः । गांधारः स्वरः ॥

मनुष्यैः कथं भूम्यादेः सुवर्णादीनि प्राप्तव्यानीत्याह ॥

मनुष्य लोग भूमि आदि से सुवर्ण आदि पदार्थों को कैसे प्राप्त होवें यह वि० ॥

अभ्रिरसि नार्यसि त्वया वयमग्निꣳ शकेम खनितुꣳ सधस्थ आ जागतेन छन्दसाङ्गिरस्वत् ॥ १० ॥

अभ्रिः । असि । नारी । असि । त्वया । वयम् । अग्निम् । शकेम । खनितुम् । सधस्थ इति सधऽस्थे । आ । जागतेन । छन्दसा । अङ्गिरस्वत् ॥ १० ॥

पदार्थः—(अभ्रिः) अयोमयं खननसाधनम् (असि) अस्ति (नारी) नरस्य स्त्रीव साध्यसाधिका (असि) अस्ति (त्वया) यया (वयम्) (अग्निम्) विद्युदादिम् (शकेम) शक्नुयाम (खनितुम्)

(सधस्थे) समानस्थाने (आ) (जागतेन) जगत्या विहितेन साधनेन (छन्दसा) (अङ्गिरस्वत्) प्राणैस्तुल्यम् ॥ १० ॥

अन्वयः—हे शिल्पिँस्त्वया सह सधस्थे वर्त्तमाना वयं याऽभ्रिरसि तामग्निं पां गृहीत्वा जागतेन छन्दसाऽङ्गिरस्वदग्निं खनितुं शक्नुयाम तां त्वं निर्मिमीष्व ॥ १० ॥

भावार्थः—मनुष्यैः सुसाधनैः पृथिवीं खनित्वाऽग्निना संयोज्य सुवर्णादीनि निर्मातव्यानि । परन्तु पूर्वं भूगर्भतत्त्वविद्यां प्राप्यैवं कर्त्तुं शक्यमिति वेदितव्यम् ॥ १० ॥

पदार्थः—हे कारीगर पुरुष जो (त्वया) तेरे साथ (सधस्थे) एकस्थान में वर्त्तमान (वयम्) हम लोग जो (अभ्रिः) भूमि खोदने और (नारी) विवाहित उत्तम स्त्री के समान कार्य्यों को सिद्ध करने हारी लोहे आदि की कसी (असि) है जिससे कारीगर लोग भूगर्भ विद्या को जान सकें उसको ग्रहण करके (जागतेन) जगती मन्त्र से विधान किये (छन्दसा) सुखदायक स्वतन्त्र साधन से (अङ्गिरस्वत्) प्राणों के तुल्य (अग्निम्) विद्युत् आदि अग्नि को (खनितुं) खोदने के लिये (शक्नेम) सब प्रकार समर्थ हों उस को तू बना ॥ १० ॥

भावार्थः—मनुष्यों को उचित है कि अच्छे खोदने के साधनों से पृथिवी को खोद और अग्नि के साथ संयुक्त करके सुवर्ण आदि पदार्थों को बनावें । परन्तु पहिले भूगर्भ की तत्त्वविद्या को प्राप्त होके ऐसा कर सकते हैं ऐसा निश्चित जानना चाहिये ॥ १० ॥

हस्त इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । सविता देवता । आर्षी छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

पुनः स एव विषय उच्यते ॥

फिर भी वही उक्त वि० ॥

हस्त आधाय सविता विभ्रदभ्रिᳬ हिरण्ययीम् । अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरदानुष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वत् ॥ ११ ॥

हस्ते । आधायेत्याऽधाय । सविता । बिभ्रत् । अभ्रिम् । हिरण्ययीम् । अग्नेः । ज्योतिः । निचाय्येति निचाय्य । पृथिव्याः । अधि । आ । अभरत् । आनुष्टुभेन । आनुस्तुभेनेत्यानुऽस्तुभेन । छन्दसा । अङ्गिरस्वत् ॥ ११ ॥

पदार्थः—(हस्ते) करे (आधाय) (सविता) ऐश्वर्य्यवान् (बिभ्रत) धरन् (अभ्रिम्) खननसाधकं शस्त्रम् (हिरण्ययीम्) तेजोमयीम् (अग्नेः) विद्युदादेः (ज्योतिः) द्योतमानम् (निचाय्य) (पृथिव्याः) (अधि) (आ) (अभरत्) धरेत् (आनुष्टुभेन) अनुष्टुब्विहितार्थयुक्तेन (छन्दसा) (अङ्गिरस्वत्) अङ्गिरसा प्राणेन तुल्यस्य ॥ ११ ॥

अन्वयः—सविता ऐश्वर्य्यप्रसाधकः शिल्प्यानुष्टुभेन छन्दसा हिरण्ययीमभ्रिं हस्ते आधाय बिभ्रदङ्गिरस्वदग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत् ॥ ११ ॥

भावार्थः—मनुष्यैर्यथाऽपसि पाषाणे च विद्युद्वर्त्तते तथैव सर्वत्र पदार्थेषु प्रविष्टाऽस्ति तद्विद्यां विज्ञाय कार्य्येषूपयुज्य भूमावाग्नेयादीन्यस्त्राणि विमानादीनि यानानि वा साधनीयानि ॥ ११ ॥

पदार्थः—(सविता) ऐश्वर्य्य का उत्पन्न करने हारा कारीगर मनुष्य (आनुष्टुभेन) अनुष्टुप् छन्द में कहे हुए (छन्दसा) स्वतन्त्र अर्थ के योग से (हिरण्ययीम्) तेजोमय शुद्ध धातु से बने (अभ्रिम्) खोदने के शस्त्र को (हस्ते) हाथ में लिये हुए (अङ्गिरस्वत्) प्राण के तुल्य (अग्नेः) विद्युत् आदि अग्नि के

(ज्योतिः) तेज को (निचाय्य) निश्चय करके (पृथिव्याः) पृथिवी के (अधि) ऊपर (आभरत्) अच्छे प्रकार धारण करे ॥ ११ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि जैसे लोहे और पत्थरों में बिजुली रहती है वैसे ही सब पदार्थों में प्रवेश कर रही है। उस की विद्या को ठीक २ जान और कार्यों में उपयुक्त करके इस पृथिवी पर आग्नेय आदि अस्त्र और विमान आदि यानों को सिद्ध करें ॥ ११ ॥

प्रतूर्त्तमित्यस्य नाभानेदिष्ठऋषिः । वाजी देवता । आस्तारपङ्क्तिश्छन्दः । पंचमः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥
फिर भी वही वि० ॥

प्रतूर्त्तं वाजिन्ना द्रव वरिष्ठामनु संवतम्।
दिवि ते जन्म परममन्तरिक्षे तव नाभिः पृथिव्यामधि योनिरित् ॥ १२ ॥

प्रतूर्त्तमिति प्रऽतूर्त्तम् । वाजिन् । आ । द्रव । वरिष्ठाम् । अनु । संवतामिति सम्ऽवतम् । दिवि । ते । जन्म । परमम् । अन्तरिक्षे । तव । नाभिः । पृथिव्याम् । अधि । योनिः । इत् ॥ १२ ॥

पदार्थः—(प्रतूर्त्तम्) अतितूर्णम् (वाजिन्) प्रशस्तज्ञानयुक्त विद्वन् (आ) (द्रव) आगच्छ (वरिष्ठाम्) अतिशयेन वरां गतिम् (अनु) (संवतम्) संभागविभक्ताम् (दिवि) सूर्य्यप्रकाशे (ते) तव (जन्म) प्रादुर्भावः (परमम्) (अन्तरिक्षे) अवकाशे (तव) (नाभिः) (पृथिव्याम्) (अधि) उपरि (योनिः) निमित्तं प्रयोजनम् (इत्) एव ॥ १२ ॥

अन्वयः—हे वाजिन् यस्य ते तव शिल्पविद्यया दिवि परमं जन्म तवाऽन्तरिक्षे नाभिः पृथिव्यां योनिरस्ति स त्वं विमानान्याधिष्ठाय वरिष्ठां सम्भृतं गतिं मतूर्त्तमिदन्वाद्रव ॥ १२ ॥

भावार्थः—यदा मनुष्या विद्या हस्तक्रिययोर्मध्ये परमप्रयत्नेन प्रादुर्भूत्वा विमानादीनि यानानि विधाय गमनागमनं शीघ्रं कुर्वन्ति तदा तेषां श्रीः सुलभा भवति ॥ १२ ॥

पदार्थः—हे (वाजिन्) प्रशंसित ज्ञान से युक्त विद्वान् जिस (ते) आप का शिल्प विद्या से (दिवि) सूर्य्य के प्रकाश में (परमम्) उत्तम (जन्म) प्रसिद्धि (तव) आप का (अन्तरिक्षे) आकाश में (नाभिः) बन्धन और (पृथिव्याम्) इस पृथिवी में (योनिः) निमित्त प्रयोजन है सो आप विमानादि यानों के अधिष्ठाता होकर (वरिष्ठाम्) अत्यन्त उत्तम (सम्भृतम्) अच्छे प्रकार विभाग की हुई गति को (मतूर्त्तम्) अतिशीघ्र (इत्) ही (अनु) पश्चात् (आ) (द्रव) अच्छे प्रकार चलिये ॥ १२ ॥

भावार्थः—जब मनुष्य लोग विद्या और क्रिया के बीच में परम प्रयत्न के साथ प्रसिद्ध हों और विमान आदि यानों को रच के शीघ्र जाना आना करते हैं तब उन को धन की प्राप्ति सुगम होती है ॥ १२ ॥

युंजाथामित्यस्य कुश्रिर्ऋषिः । वाजी देवता । गायत्री छंदः । षड्जः स्वरः ॥

पुनर्मनुष्यैः किं क योजनीयमित्याह ॥
फिर मनुष्यों को क्या कहां जोड़ना चाहिये यह वि० ॥

युंजथा॒ꣳरास॑भं यु॒वम॒स्मिन् यामे॑ वृषणवसू ।
अ॒ग्निं भर॑न्तमस्म॒युम् ॥ १३ ॥

युञ्जाथाम् । रासभम् । युवम् । अस्मिन् । यामे । वृषण्वसू इति वृषण्ऽवसू । अग्निम् । भरन्तम् । अस्मयुमित्यस्मऽयुम् ॥ १३ ॥

पदार्थः—(युञ्जाथाम्) (रासभम्) जलाग्न्योर्वेगगुणरूपमश्वम् (युवम्) युवां शिल्पिस्वस्वामिनौ (अस्मिन्) (यामे) यान्ति येन यानेन तस्मिन् (वृषण्वसू) वर्षकौ वसन्तौ च (अग्निम्) प्रसिद्धं विद्युतं वा (भरन्तम्) धरन्तम् (अस्मयुम्) अस्मान् यापयितारम् । अत्रास्मदुपपदाद्याधातोरौणादिकः कुः । छान्दसो वर्णलोपो वेति दलोपः ॥ १३ ॥

अन्वयः—हे वृषण्वसू सूर्यवायुवत् शिल्पिनौ युवमस्मिन् यामे रासभमस्मयुं भरन्तमग्निं युञ्जाथाम् ॥ १३ ॥

भावार्थः—यैर्मनुष्यैरस्मिन् याने यन्त्रकलाजलाग्निप्रयोगाः क्रियन्ते ते सुखेन देशान्तरं गन्तुं शक्नुवन्ति ॥ १३ ॥

पदार्थः—हे (वृषण्वसू) सूर्य और वायु के समान सुख वर्षाने वा सुख में बसने हारे कारीगर तथा उस के स्वामी लोगो (युवम्) तुम दोनों (अस्मिन्) इस (यामे) यान में (रासभम्) जल और अग्नि के वेगगुणरूप अश्व तथा (अस्मयुम्) हम को ले चलने तथा (भरन्तम्) धारण करने हारे (अग्निम्) प्रसिद्ध वा बिजुली रूप अग्नि को (युञ्जाथाम्) युक्त करो ॥ १३ ॥

भावार्थः—जो मनुष्य इस विमान आदि यान में यंत्र कला जल और अग्नि के प्रयोग करते हैं वे सुख से दूसरे देशों में जाने को समर्थ होते हैं ॥ १३ ॥

योगेयोग इत्यस्य शुनःशेप ऋषिः । क्षत्रपतिर्देवता । गायत्रीछन्दः । षड्जः स्वरः ॥

प्रजाजनाः कीदृशं राजानमङ्गीकुर्युरित्याह ॥

प्रजाजन कैसे पुरुष को राजा मानें यह वि० ॥

योगे योगे तवस्तरं वाजेवाजे हवामहे। सखाय इन्द्रमूतये॥ १४॥

योगेयोगइति योगेऽयोगे। तवस्तरमिति तवःऽतरम्। वाजेवाजइति वाजेऽवाजे। हवामहे। सखायः। इन्द्रम्। ऊतये॥ १४॥

पदार्थः—(योगेयोगे) युंजते यस्मिन् यस्मिन् (तवस्तरम्) अत्यन्तं बलयुक्तम्। तवइति बलना०। निघं० २। ६। ततस्तरप् (वाजेवाजे) सङ्ग्रामे सङ्ग्रामे (हवामहे) आह्वयामहे (सखायः) परस्परं सुहृदः सन्तः (इन्द्रम्) परमैश्वर्ययुक्तं राजानम् (ऊतये) रक्षणाद्याय॥ १४॥

अन्वयः—हे सखायो यथावयमूतये योगेयोगे वाजेवाजे तवस्तरमिन्द्रं हवामहे तथा यूयमप्येतमाह्वयत॥ १४॥

भावार्थः—ये परस्परं मित्रा भूत्वाऽन्योन्यस्य रक्षार्थं बलिष्ठं धार्मिकं राजानं स्वीकुर्वन्ति ते निर्विघ्नाः सन्तः सुखमेधन्ते॥ १४॥

पदार्थः—हे (सखायः) परस्पर मित्रता रखने हारे लोगो जैसे हम लोग (ऊतये) रक्षा आदि के लिये (योगेयोगे) जिस २ में (वाजेवाजे) हों सङ्ग्राम २ के बीच (तवस्तरम्) अत्यन्त बलवान् (इन्द्रम्) परमैश्वर्ययुक्त पुरुष को राजा (हवामहे) मानते हैं वैसे ही तुम लोग भी मानो॥ १४॥

भावार्थः—जो मनुष्य परस्पर मित्र हो के एक दूसरे की रक्षा के लिये अत्यन्त बलवान् धर्मात्मा पुरुष को राजा मानते हैं वे सब विघ्नों से अलग हो के सुख की उन्नति कर सकते हैं॥ १४॥

प्रतूर्वन्नित्यस्य शुनःशेप ऋषिः। गणपतिर्देवता। आर्षी जगती छन्दः। निषादः स्वरः॥

पुनाराजा किं कृत्वा किं प्राप्नुयादित्याह ॥

फिर राजा क्या करके किस को प्राप्त हो यह वि० ॥

प्रतूर्वन्नेह्यंवक्रामन्नशंस्ती रुद्रस्य गाणपत्यं मयोभूरेहि । उर्वन्तरिक्षं वीहि स्वस्तिगंव्यूतिरभंयानि कृण्वन्पूष्णा सयुजां सह ॥ १५ ॥

प्रतूर्वन्निति प्रऽतूर्वन् । आ । इहि । अवक्रामन्नित्यंवऽक्रामंन् । अशंस्तीः । रुद्रस्यं । गाणपत्यमिति गाणंऽपत्यम् । मयोभूरिति मयःऽभूः । आ । इहि । उरु । अन्तरिक्षम् । वि । इहि । स्वस्तिगंव्यूतिरिति स्वस्तिऽगंव्यूतिः । अभयानि । कृण्वन् । पूष्णा । सयुजेति सऽयुजा । सह ॥ १५ ॥

पदार्थः—(प्रतूर्वन्) हिंसन् (आ) (इहि) आगच्छ (अवक्रामन्) देशदेशान्तरानुल्लंघयन् (अशस्तीः) अप्रशस्ताः शत्रुसेनाः (रुद्रस्य) शत्रुरोदकस्य स्वसेनापतेः (गाणपत्यम्) गणानां सेनासमूहानां पतित्वम् (मयोभूः) मयः सुखं भावयन (आ) (इहि) (उरु) (अन्तरिक्षम्) आकाशम् (वि) (इहि) विविधतया गच्छ (स्वस्तिगव्यूतिः) स्वस्ति सुखेन सह गव्यूतिर्मार्गो यस्य सः (अभयानि) स्वराज्ये सेनायां चाविद्यमानं भयं येषु तानि (कृण्वन्) सम्पादयन् (पूष्णा) पुष्टेन स्वकीयेन सैन्येन (सयुजा) यत्समानं युनक्ति तेन सहितः (सह) साकम् ॥ १५ ॥

अन्वयः—हे राजन् स्वस्तिगव्यूतिस्त्वं पूष्णा सयुजा सहाशस्तीः प्रतूर्वन्नेहि शत्रुदेशानवक्रामन्नेहि मयोभूस्त्वं रुद्रस्य गाणपत्यमेहि । अभयानि कृण्वन् सन्नन्तरिक्षमुरु वीहि ॥ १५ ॥

भावार्थः—राजा सदैव स्वसेनां सुशिक्षितां हृष्टां पुष्टां रक्षेत् । यदाऽरिभिः सह योद्धुमिच्छेत्तदा स्वराज्यमनुपद्रवं संरक्ष्य युक्त्या बलेन च शत्रून् हिंसेत् वा श्रेष्ठान् पालयित्वा सर्वत्र सत्कीर्तिं प्रसारयेत् ॥ १५ ॥

पदार्थः—हे राजन् (स्वस्तिगव्यूतिः) सुख के साथ जिस का मार्ग है ऐसे आप (सयुजा) एक साथ युक्त करने वाली (पूषणा) बल पुष्टि से युक्त अपनी सेना के (सह) साथ (अशस्तीः) निन्दित शत्रुओं की सेनाओं को (प्रतूर्वन्) मारते हुए (एहि) प्राप्त हूजिये । शत्रुओं के देशों का (अवक्रामन्) उल्लङ्घन करते हुए (एहि) आइये (मयोभूः) सुख को उत्पन्न करने आप (रुद्रस्य) शत्रुओं को रुलाने हारे अपने सेनापति के (गाणपत्यम्) सेनासमूह के स्वामीपन को (एहि) प्राप्त हूजिये । और (अभयानि) अपने राज्य में सब प्राणियों को भयरहित (कृण्वन्) करते हुए (अन्तरिक्षम्) (उरु) परिपूर्ण आकाश को (वीहि) विविध प्रकार से प्राप्त हूजिये ॥ १५ ॥

भावार्थः—राजा को अति उचित है कि अपनी सेना को सदैव अच्छी शिक्षा हर्ष उत्साह और पोषण से युक्त रक्खे । जब शत्रुओं के साथ युद्ध किया चाहे तब अपने राज्य को उपद्रवरहित कर युक्ति तथा बल से शत्रुओं को मारे और सज्जनों की रक्षा करके सर्वत्र सुन्दर कीर्ति फैलावे ॥ १५ ॥

पृथिव्या इत्यस्य शुनःशेप ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृदार्षी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

मनुष्यैः कस्माद्विद्युत्स्वीकार्येत्याह ॥

मनुष्य किस पदार्थ से बिजुली का ग्रहण करें यह वि० ॥

पृथि॒व्याः स॒धस्था॑द॒ग्निं पु॑री॒ष्य॒मङ्गिर॒स्वदा भ॑रा॒ग्निं पु॑री॒ष्य॒मङ्गिर॒स्वदच्छे॑मो॒ऽग्निं पु॑री॒ष्य॒मङ्गिर॒स्वद्भ॑रिष्यामः ॥ १६ ॥

पृथिव्याः । सधस्थादिति सधऽस्थात् । अग्निम् । पुरीष्यम् । अङ्गिरस्वत् । आ । भर । अग्निम् । पुरीष्यम् । अङ्गिरस्वत् । अच्छ । इमः । अग्निम् । पुरीष्यम् । अङ्गिरस्वत् । भरिष्यामः ॥ १६ ॥

पदार्थः—(पृथिव्याः) भूमेरन्तरिक्षस्य वा (सधस्थात्) सहस्थानात् (अग्निम्) भूमिस्थं विद्युतं वा (पुरीष्यम्) यः सुखं पृणाति स पुरीषस्तत्र साधुम् (अङ्गिरस्वत्) अङ्गिरसा सूर्येण तुल्यम् (आ) (भर) धर (अग्निम्) अन्तरिक्षे वाय्वादिस्थम् (पुरीष्यम्) (अङ्गिरस्वत्) (अच्छ) उत्तमरीत्या (इमः) प्राप्नुमः (अग्निम्) (पुरीष्यम्) (अङ्गिरस्वत्) (भरिष्यामः) धरिष्यामः ॥ १६ ॥

अन्वयः—हे विद्वन् यथा वयं पृथिव्याः सधस्थादङ्गिरस्वत्पुरीष्यमग्निमच्छेमः । यथा चाऽङ्गिरस्वत्पुरीष्यमग्निं भरिष्यामस्तथा त्वमप्यङ्गिरस्वत्पुरीष्यमग्निमाभर ॥ १६ ॥

भावार्थः—अत्रोपमावाचकलुप्तोपमालं०—मनुष्यैर्विदुषामेवाऽनुकरणं कर्त्तव्यम् नाऽविदुषाम् । सर्वदोत्साहेनाग्न्यादिपदार्थविद्या गृहीत्वा सुखं वर्द्धनीयम् ॥ १६ ॥

पदार्थः—हे विद्वन् जैसे हम लोग (पृथिव्याः) भूमि और अन्तरिक्ष के (सधस्थात्) एक स्थान से (अङ्गिरस्वत्) प्राणों के समान (पुरीष्यम्) अच्छा सुख देने हारे (अग्निम्) भूमिमण्डल की बिजुली को (अच्छे) उत्तम रीति से (इमः) प्राप्त होवे और जैसे (अङ्गिरस्वत्) प्राणों के समान (पुरीष्यम्) उत्तम सुखदायक (अग्निम्) अन्तरिक्षस्थ बिजुली को (भरिष्यामः) धारण करें वैसे आप भी (अङ्गिरस्वत्) सूर्य्य के समान (पुरीष्यम्) उत्तम सुख देनेवाले (अग्निम्) पृथिवी पर वर्त्तमान अग्नि को (आभर) अच्छे प्रकार धारण कीजिये ॥ १६ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में उपमा और वाचकलु०—मनुष्यों को चाहिये कि विद्वानों के समान काम करें सूर्यवत् नहीं। और सब काल में उत्साह के साथ अग्नि आदि की पदार्थविद्या का ग्रहण करके सुख बढ़ाते रहें ॥ १६ ॥

अन्वग्निरित्यस्य पुरोधा ऋषिः। अग्निर्देवता। निचृदार्षी त्रिष्टुप्छन्दः। धैवतः स्वरः ॥

विद्वांसः किंवत्किं कुर्य्युरित्यु० ॥

विद्वान् लोग किस के समान क्या करें यह वि० ॥

अन्वग्निरुषसामग्रमख्यदन्वहानि प्रथमो जातवेदाः। अनु सूर्यस्य पुरुत्रा च रश्मीननु द्यावापृथिवी आततन्थ ॥ १७ ॥

अनु। अग्निः। उषसाम्। अग्रम्। अख्यत्। अनु। अहानि। प्रथमः। जातवेदा इति जातऽवेदाः। अनु। सूर्यस्य। पुरुत्रेति पुरुऽत्रा। च। रश्मीन्। अनु। द्यावापृथिवी इति द्यावापृथिवी। आ। ततन्थ ॥ १७ ॥

पदार्थः—(अनु) (अग्निः) पावकः (उषसाम्) (अग्रम्) पूर्वम् (अख्यत्) प्रख्यातो भवति (अनु) (अहानि) दिनानि (प्रथमः) (जातवेदाः) यो जातेषु विद्यते स सूर्यः (अनु) (सूर्यस्य) (पुरुत्रा) बहून् (च) (रश्मीन्) (अनु) (द्यावा) (पृथिवी) (आ) (ततन्थ) तनोषि ॥ १७ ॥

अन्वयः—हे विद्वन् त्वं यथा प्रथमो जातवेदा अग्निरुषसामग्रमहान्यन्वख्यत्। सूर्यस्याग्रे पुरुत्रा रश्मीनन्वाततन्थ। द्यावापृथिवी च तथा विद्याव्यवहारानन्वातनुहि ॥ १७ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—यथा कारणकार्य्यरूपो विद्युदग्निरनुपूर्व्यं सवितृउषोदिनानि कृत्वा पृथिव्यादीनि प्रकाशयति तथा विद्वद्भिः सुशिक्षां कृत्वा ब्रह्मचर्य्यविद्याधर्म्मानुष्ठानसुशीलानि सर्वत्र प्रचार्य सर्वे ज्ञानानन्दाभ्यां प्रकाशनीयाः ॥ १७ ॥

पदार्थः—हे विद्वन् आप जैसे (प्रथमः) (जातवेदाः) उत्पन्न हुए पदार्थों में पहिले ही विद्यमान सूर्य्यलोक और (अग्निः) (उषसाम्) उषःकाल से (अग्रम्) पहिले ही (अहानि) दिनों को (अख्यत्) प्रसिद्ध करता है (सूर्य्यस्य) सूर्य्य के (अग्रम्) पहिले (पुरुत्रा) बहुत (रश्मीन्) किरणों को (अन्वाततन्थ) फैलाता तथा (द्यावापृथिवी) सूर्य्य और पृथिवी लोक को प्रसिद्ध करता है । वैसे विद्या के व्यवहारों की प्रवृत्ति कीजिये ॥ १७ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु०—जैसे कारण रूप विद्युत् और कार्य्यरूप प्रसिद्ध अग्नि क्रम से सूर्य्य, उषःकाल और दिनों को उत्पन्न करके पृथिवी आदि पदार्थों को प्रकाशित करते हैं । वैसे ही विद्वानों को चाहिये कि सुन्दर शिक्षा दे ब्रह्मचर्य्य विद्या धर्म्म के अनुष्ठान और अच्छे स्वभाव आदि का सर्वत्र प्रचार करके सब मनुष्यों को ज्ञान और आनन्द से प्रकाशयुक्त करें ॥ १७ ॥

आगत्येत्यस्य मयोभूर्ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृदनुष्टुप्छन्दः ।
गान्धारः स्वरः ॥

अथ सभेशः किंवत्किं कुर्य्यादित्याह ॥

अब सभापति राजा किस के समान क्या करे यह वि० ॥

आगत्यं वाज्यध्वानꣳसर्वा मृधो वि धूनुते ।
अग्निꣳसधस्थे महति चक्षुषा नि चिकीषते ॥ १८ ॥

आगत्येत्याऽगत्य । वाजी । अध्वानम् । सर्वाः । मृधः । वि । धूनुते । अग्निम् । सधस्थ इति सधऽस्थे । महति । चक्षुषा । नि । चिकीषते ॥ १८ ॥

पदार्थः—(आगत्य) (वाजी) वेगवानश्वः (अध्वानम्) मार्गम् (सर्वाः) (मृधः) सङ्ग्रामान् (वि) (धूनुते) कम्पयति (अग्निम्) (सधस्थे) सहस्थाने (महति) विशाले (चक्षुषा) नेत्रेण (नि) (चिकीषते) चेतुमिच्छति ॥ १८ ॥

अन्वयः—हे विद्वन्राजन् भवान् यथा वाज्यश्वोऽध्वानमागत्य सर्वा मृधो विधूनुते यथा गृहस्थश्चक्षुषा महति सधस्थेऽग्निं निचिकीषते तथा सर्वाञ्संग्रामान् विधूनोतु । गृहे गृहे विद्यानिचयं च करोतु ॥ १८ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—गृहस्था अश्ववद्गत्यागत्य शत्रून् जित्वाऽग्नेयास्त्रादिविद्यां संपाद्य बलाबलं पर्य्यालोच्य रागद्वेषादीन् शमित्वाऽधार्मिकान् शत्रून् जयेयुः ॥ १८ ॥

पदार्थः—हे राजन् आप जैसे (वाजी) वेगवान् घोड़ा (अध्वानम्) अपने मार्ग को (आगत्य) प्राप्त हो के (सर्वाः) सब (मृधः) सङ्ग्रामों को (विधूनुते) कंपाता है और जैसे गृहस्थ पुरुष (चक्षुषा) नेत्रों से (महति) सुन्दर (सधस्थे) एक स्थान में (अग्निम्) अग्नि का (निचिकीषते) चयन किया चाहता है। वैसे सब सङ्ग्रामों को कंपाइये और घर २ में विद्या का प्रचार कीजिये ॥ १८ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में वाचकलु०—गृहस्थों को चाहिये कि घोड़ों के समान जाना आना कर, शत्रुओं को जीत, आग्नेयादि अस्त्रविद्या को सिद्ध कर, अपने बलाऽबल को विचार और राग द्वेष आदि दोषों की शान्ति करके अधर्मी शत्रुओं को जीतें ॥ १८ ॥

आक्रम्येत्यस्य मयोभूर्ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृदनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

मनुष्यजन्म प्राप्य विद्या अधीत्यातः किं कर्त्तव्यमित्याह ॥

मनुष्य जन्म पा, और विद्या पढ़ के पश्चात् क्या करे यह वि० ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु॰—यो न्यायपथानुगामी दृढोत्साहस्थानात्मा यस्य प्रयोजनानि विवेकसाध्यानि सन्ति यस्य वीरसेना जायते स ध्रुवं विजयं कर्त्तुं शक्नुयात् ॥ २० ॥

पदार्थः—हे विद्वन् राजन् जिस (ते) आप का (द्यौः) प्रकाश के तुल्य विनय (पृष्ठम्) ऊपर का व्यवहार (पृथिवी) भूमि के समान (सधस्थम्) साथ स्थिति (अन्तरिक्षम्) आकाश के समान अविनाशी धैर्ययुक्त (आत्मा) अपना स्वरूप और (समुद्रः) समुद्र के तुल्य (योनिः) निमित्त है सो (त्वम्) आप (चक्षुषा) विचार के साथ (विख्याय) अपना ऐश्वर्य्य प्रसिद्ध करके (पृतन्यतः) अपनी सेना को लड़ाने की इच्छा करते हुए मनुष्य के (अभि) सम्मुख ((तिष्ठ) स्थित हूजिये ॥ २० ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु॰—जो पुरुष न्याय मार्ग के अनुसार उत्साह स्थान, और आत्मा जिस के दृढ़ हों विचार से सिद्ध करने योग्य जिस के प्रयोजन हों उस की सेना वीर होती है वह निश्चल विजय करने को समर्थ होवे ॥२०॥

उत्क्रामेत्यस्य मयोभूर्ऋषिः । द्रविणोदा देवता । आर्षी पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

मनुष्यैरिह परमपुरुषार्थेनैश्वर्य्यं जनितव्यमित्याह ॥
मनुष्यों को योग्य है कि इस संसार में परम पुरुषार्थ से ऐश्वर्य्य उत्पन्न करें यह वि॰ ॥

उत्क्राम महते सौभगायास्मादास्थानाद् द्रविणोदा वाजिन् । वयꣳस्याम सुमतौ पृथिव्या अग्निं खनन्त उपस्थे अस्याः ॥ २१ ॥

उत् । क्राम । महते । सौभगाय । अस्मात् । आस्थानादित्याऽस्थानात् । द्रविणोदा इति द्रविणःऽदाः । वाजिन् ।

वयम् । स्याम । सुमताविति सुऽमतौ । पृथिव्याः । अग्निम् । खनन्तः । उपस्थइत्युपऽस्थे । अस्याः ॥ २१ ॥

पदार्थः—(वृत्) (क्राम) (महते) (सौभगाय) शोभनैश्वर्याय (अस्मात्) (आस्थानात्) निवासस्थानस्य सकाशात् (द्रविणोदाः) धनप्रदः (वाजिन्) प्राप्तैश्वर्य (वयम्) (स्याम्) (सुमतौ) शोभनप्रज्ञायाम् (पृथिव्याः) भूमेः (अग्निम्) (खनन्तः) (उपस्थे) सामीप्ये (अस्याः) २१ ॥

अन्वयः—हे वाजिन् विद्वन् यथा द्रविणोदा अस्याः पृथिव्या अस्मादास्थानादुपस्थेऽग्निं खनन्तो वयं महते सौभगाय सुमतौ प्रवृत्ताः स्याम तथा त्वमुत्क्राम ॥ २१ ॥

भावार्थः—मनुष्या इहैश्वर्यप्राप्तये सततमुत्तिष्ठेरन् । परस्परं सम्मत्या पृथिव्यादेः सकाशाद्रत्नानि प्राप्नुयुः ॥ २१ ॥

पदार्थः—हे (वाजिन्) ऐश्वर्य्य को प्राप्त हुए विद्वन् जैसे (द्रविणोदाः) धनदाता (अस्याः) इस (पृथिव्याः) भूमि के (अस्मात्) इस (आस्थानात्) निवास के स्थान से (उपस्थे) समीप में (अग्निम्) अग्नि विद्या का (खनन्तः) खोज करते हुए (वयम्) हम लोग (महते) बड़े (सौभगाय) सुन्दर ऐश्वर्य्य के लिये (सुमतौ) अच्छी बुद्धि में प्रवृत्त (स्याम) होवें वैसे आप (उत्क्राम) उन्नति को प्राप्त हूजिये ॥ २१ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को उचित है कि इस संसार में ऐश्वर्य्य पाने के लिये निरन्तर उद्यत रहें । और आपस में हिल मिल के पृथिवी आदि पदार्थों से रत्नों को प्राप्त होवें ॥ २१ ॥

उदक्रमीदित्यस्य मयोभूर्ऋषिः । द्रविणोदा देवता । निचृदार्षी त्रिष्टुप्छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

मनुष्या इह किंवत्कृत्वा किं प्राप्नुयुरित्याह ॥
मनुष्य इस संसार में किस के समान हो के किस को प्राप्त हों यह वि० ॥

उदक्रमीद्द्रविणोदा वाज्यर्वाकः सुलोकᳬ सुकृतं पृथिव्याम् । ततः खनेम सुप्रतीकमग्निᳬ स्वो रुहाणा अधि नाकमुत्तमम् ॥ २२ ॥

उत् । अक्रमीत् । द्रविणोदा इति द्रविणःऽदाः । वाजी । अर्वा । अकरित्यकः । सु । लोकम् । सुकृतमिति सुऽकृतम् । पृथिव्याम् । ततः । खनेम । सुप्रतीकमिति सुऽप्रतीकम् । अग्निम् । स्वोतेतिस्वः । रुहाणाः । अधि । नाकम् । उत्तममित्युत्ऽतमम् ॥ २२ ॥

पदार्थः—(उत्) (अक्रमीत्) उच्चपनया कमणं कुर्यात् (द्रविणोदाः) धनदाता (वाजी) वेगवान् (अर्वा) अश्व इव (अकः) कुर्यात् (सु) (लोकम्) द्रष्टव्यम् (सुकृतम्) धर्माचरेण प्राप्यम् (पृथिव्याम्) (ततः) (खनेम) (सुप्रतीकम्) शोभना प्रतीतिर्यस्य तम् (अग्निम्) व्यापकं विद्युदाख्यम् (स्वः) सुखम् (रुहाणाः) प्रादुर्भवन्तः (अधि) (नाकम्) अविद्यमानदुःखम् (उत्तमम्) अतिश्रेष्ठम् ॥ २२ ॥

अन्वयः—हे भूगर्भविद्याविद्विद्वन् द्रविणोदा भवान् यथा वाज्यर्वा तथा पृथिव्यामध्युदक्रमीत् सुलोकं सुकृतमुत्तमं नाकमकः सिद्धं कुर्यात् । ततःस्वो रुहाणा वयमध्यस्यां सुप्रतीकमग्निं खनेम ॥ २२ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—हे मनुष्याः सर्वे वयं मिलित्वा यथा पृथिव्यामश्वो विक्रमते तथा पुरुषार्थिनो भूत्वा पृथिव्यादिविद्यां प्राप्य दुःखान्युत्क्राम्य सर्वोत्तमं सुखं प्राप्नुयाम ॥ २२ ॥

पदार्थः—हे भूगर्भ विद्या के जानने हारे विद्वान् (द्रविणोदाः) धन॰ दाता आप जैसे (वाजी) बल वाला (अर्वा) घोड़ा ऊपर को उछलता है वैसे (पृथिव्याम्) पृथिवी के बीच (अधि) (उदक्रमीत्) सब से अधिक उन्नति को प्राप्त हूजिये (सुकृतम्) धर्माचरण से प्राप्त होने योग्य (सुलोकम्) अच्छा देखने योग्य (उत्तमम्) अतिश्रेष्ठ (नाकम्) सब दुःखों से रहित सुख को (अकः) सिद्ध कीजिये (ततः) इसके पश्चात् (स्वः) सुखपूर्वक (रुहाणाः) प्रकट होते हुए हम लोग भी इस पृथिवी पर (सुप्रतीकम्) सुन्दर प्रीति का विषय (अग्निम्) व्यापक बिजुली रूप अग्नि का (खनेम) खोज करें ॥२२॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु॰—हे मनुष्यो जैसे पृथिवी पर घोड़े अच्छी २ चाल चलते हैं वैसे हम तुम सब मिल कर पुरुषार्थी हो पृथिवी आदि की पदार्थविद्या को प्राप्त हो और दुःखों को दूर करके सब से उत्तम सुख को प्राप्त हों ॥ २२ ॥

आत्वेत्यस्य गृत्समदऋषिः । प्रजापतिर्देवता । आर्षी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

मनुष्या व्यापिनं वायुं केन जानीयुरित्याह ॥

मनुष्य व्यापक वायु को किस साधन से जानें यह वि॰ ॥

आ त्वा॑ जिघर्मि॒ मन॑सा घृ॒तेन॑ प्रतिक्षि॒यन्तं॒ भुव॑नानि॒ विश्वा॑ । पृ॒थुं ति॑र॒श्चा वय॑सा बृ॒हन्तं॒ व्यचि॑ष्ठम॒न्नै॑ रभ॒सं दृशा॑नम् ॥ २३ ॥

आ । त्वा॒ । जि॒घ॒र्मि॒ । मन॑सा । घृ॒तेन॑ । प्र॒ति॒क्षि॒यन्त॒मिति॑ प्रतिऽक्षि॒यन्त॑म् । भुव॑नानि । विश्वा॑ । पृ॒थुम् । ति॒र॒श्चा । वय॑सा । बृ॒हन्त॑म् । व्यचि॑ष्ठम् । अन्नैः॑ । र॒भ॒सम् । दृशा॑नम् ॥ २३ ॥

पदार्थः—(आ) (त्वा) त्वाम् (जिघर्मि) (मनसा) (घृतेन) आज्येन (प्रतिक्षियन्तम्) प्रत्यक्षं निवसन्तं (भुवनानि) भवन्ति येषु तानि वस्तूनि (विश्वा) सर्वाणि (पृथुम्) विस्तीर्णम् (तिरश्चा) येन तिरोऽञ्चति तेन (वयसा) जीवनेन (बृहन्तम्) महान्तम् (व्यचिष्ठम्) अतिशयेन विचितारं व्याप्तारम् (अन्नैः) यवादिभिः (रभसम्) वेगवन्तम् (दृशानम्) संप्रेक्षणीयम् ॥ २३ ॥

अन्वयः—हे जिज्ञासो यथाऽहं मनसा घृतेन सह विश्वा भुवनानि प्रतिक्षियन्तं तिरश्चा वयसा पृथुं बृहन्तमन्नैः सह रभसं व्यचिष्ठं दृशानं वायुमाजिघर्मि तथा त्वामप्येवं धारयामि ॥ २३ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०–मनुष्या अग्निद्वारा सुगन्ध्यादीनि द्रव्याणि वायौ प्रक्षिप्य तेन युक्तसुगन्धेनारोगीकृत्य दीर्घं जीवनं प्राप्नुवन्तु ॥ २३ ॥

पदार्थः—हे ज्ञान चाहने वाले पुरुष जैसे मैं (मनसा) मन तथा (घृतेन) घी के साथ (विश्वा) सब (भुवनानि) लोकस्थ वस्तुओं में (प्रतिक्षियन्तम्) प्रत्यक्ष निवास और निश्चयकारक (तिरश्चा) तिरछे चलने रूप (वयसा) जीवन से (पृथुम्) विस्तारयुक्त (बृहन्तम्) बड़े (अन्नैः) जौ आदि अन्नों के साथ (रभसम्) बल वाले (व्यचिष्ठम्) अतिशय करके फैलने वाले (दृशानम्) देखने योग्य वायु के गुणों को (आजिघर्मि) अच्छे प्रकार प्रकाशित करता हूं वैसे (त्वाम्) आप को भी इस वायु के गुणों का धारण कराता हूं ॥ २३ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु०–मनुष्य अग्नि के द्वारा सुगन्धि आदि द्रव्यों को वायु में पहुंचा उस सुगन्ध से रोगों को दूर कर अधिक अवस्था को प्राप्त होवें ॥ २३ ॥

आ विश्वत इत्यस्य गृत्समद ऋषिः । अग्निर्देवता । आर्षी पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

पुनः कीदृशौ वाय्वग्नी स्त इत्याह ॥

फिर वायु और अग्नि कैसे गुण वाले हैं इस वि० ॥

आ विश्वतः प्रत्यञ्चं जिघर्म्यरक्षसा मनसा तज्जुषेत। मर्यश्रीः स्पृहयद्वर्णो अग्निर्नाभिमृशे तन्वा जर्भुराणः ॥ २४ ॥

आ। विश्वतः। प्रत्यञ्चम्। जिघर्मि। अरक्षसा। मनसा। तत्। जुषेत। मर्यश्रीरिति मर्यऽश्रीः। स्पृहयद्वर्णइति स्पृहयत्ऽवर्णः। अग्निः। न। अभिमृशइत्यभिऽमृशे। तन्वा। जर्भुराणः ॥ २४ ॥

पदार्थः—(आ) (विश्वतः) सर्वतः (प्रत्यञ्चम्) प्रत्यगञ्चतीति शरीरस्थं वायुम् (जिघर्मि) (अरक्षसा) रक्षोवद्दुष्टतारहितेन (मनसा) चित्तेन (तत्) तेजः (जुषेत) (मर्यश्रीः) मर्त्यानां मनुष्याणां श्रीरिव (स्पृहयद्वर्णः) यः स्पृहयद्भिर्वर्ण्यते स्वीक्रियते स इव (अग्निः) शरीरस्था विद्युत् (न) इव (अभिमृशे) आभिमुख्येन मृशन्ति सहन्ते येन तस्मै (तन्वा) शरीरेण (जर्भुराणः) भृशं गात्राणि विनाशयन्। अत्र जृभीधातोरौणादिक उरानन् प्रत्ययः ॥ २४ ॥

अन्वयः—मनुष्यो न यथा विश्वतोऽग्निर्वायुश्चाभिमृशेऽस्ति यथा तन्वा जर्भुराणः स्पृहयद्वर्णो मर्यश्रीरहं यं प्रत्यञ्चमरक्षसा मनसाऽऽजिघर्मि तथा तज्जुषेत ॥ २४ ॥

भावार्थः—अत्रोपमावाचकलु०—हे मनुष्या यूयं लक्ष्मीप्रापकैरग्न्यादिपदार्थैर्विहितैः कार्येषु संयुक्तैः श्रीमन्तो भवत ॥ २४ ॥

पदार्थः—हे मनुष्य (न) जैसे (विश्वतः) सब ओर से (अग्निः) बिजुली और प्राण वायु शरीर में व्यापक होके (अभिमृशे) सहने वाले के लिये हितकारी हैं जैसे (तन्वा) शरीर से (जर्भुराणः) शीघ्र हाथ पांव आदि अङ्गों को चलाता हुआ (स्पृहयद्वर्णः) इच्छा वालों ने स्वीकार किये हुए के समान (मर्यश्री)

मनुष्यों की शोभा के तुल्य वायु के समान वेगवाला होके मैं जिस (अत्यन्तम्) शरीर के वायु को निरन्तर चलाने वाली विद्युत् को (अरपसा) पापों की दुष्टता से रहित (मनसा) चित्त से (आजिघर्मि) प्रकाशित करता हूं वैसे (तम्) उस वेग को (जुषेत) सेवन कर ॥ २४ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में उपमा और वाचकलु० । हे मनुष्यो तुम लोग लक्ष्मी प्राप्त करानेहारे अग्नि आदि पदार्थों को जान और उनको कार्यों में संयुक्त करके धनवान् होओ ॥ २४ ॥

परि वाजपतिरित्यस्य सोमक ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृद्गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनर्गृहस्थः कीदृशो भवेदित्याह ॥

फिर वह कैसा होवे यह वि० ॥

परि॒ वाज॑पतिः क॒विर॒ग्निर्ह॒व्यान्य॑क्र॒मीत् । दध॒द्रत्ना॑नि दा॒शुषे॑ ॥ २५ ॥

परि॑ । वाज॑पति॒रिति॒ वाज॑ऽपतिः । क॒विः । अ॒ग्निः । ह॒व्यानि॑ । अ॒क्र॒मी॒त् । दध॑त् । रत्ना॑नि । दा॒शुषे॑ ॥ २५ ॥

पदार्थः—(परि) सर्वतः (वाजपतिः) अन्नादिरक्षको गृहस्थ इव (कविः) क्रान्तदर्शनः (अग्निः) प्रकाशमानः (हव्यानि) होतुं ग्रहीतुं योग्यानि वस्तूनि (अक्रमीत्) क्रामति (दधत्) धरन् (रत्नानि) सुवर्णादीनि (दाशुषे) दातुं योग्याय विदुषे ॥ २५ ॥

अन्वयः—हे विद्वान् यो वाजपतिः कविर्दाता गृहस्थो दाशुषे रत्नानि दधदिवाग्निर्हव्यानि पर्य्यक्रमीत्तं तं जानीहि ॥ २५ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—विद्वानग्निना पृथिवीस्थपदार्थेभ्यो धनं प्राप्य सुपात्रेभ्यो सत्पात्रेभ्यो दत्त्वा विद्याप्रचारेण सर्वान् सुखयेत् ॥ २५ ॥

पदार्थः—हे विद्वन् जो (वाजपतिः) अन्न आदि की रक्षा करने हारे गृहस्थों के समान (कविः) बहुदर्शी ज्ञाता गृहस्थ पुरुष (दाशुषे) दान देने योग्य विद्वान् के लिये (रत्नानि) सुवर्ण आदि उत्तम पदार्थ (दधत्) धारण करते हुए के समान (अग्निः) प्रकाशमान पुरुष (हव्यानि) देने योग्य वस्तुओं को (परि) सब ओर से (अक्रमीत्) प्राप्त होता है उस को तू जान ॥ २५ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु०—विद्वान् पुरुष को चाहिये कि अग्नि विद्या के सहाय से पृथिवी के पदार्थों से धन को प्राप्त हो अच्छे मार्ग में खर्च कर और धर्मात्माओं को दान दे के विद्या के प्रचार से सब को सुख पहुंचावे ॥ २५ ॥

परित्वेत्यस्य पायुर्ऋषिः । अग्निर्देवता । अनुष्टुप् छन्दः ।
गान्धारः स्वरः ॥

कीदृशः सेनापतिः कार्य्य इत्याह ॥
कैसा सेनापति करना चाहिये इस वि० ॥

परि॑ त्वाग्ने॒ पुरं॑ व॒यं विप्र॑ꣳ सहस्य धीमहि ।
धृ॒षद्व॑र्णं दि॒वेदि॑वे ह॒न्तारं॑ भङ्गु॒राव॑ताम् ॥ २६ ॥

परि॑ । त्वा॒ । अ॒ग्ने॒ । पुर॑म् । व॒यम् । विप्र॑म् । स॒ह॒स्य॒ । धी॒म॒हि॒ । धृ॒षद्व॑र्ण॒मिति॑ धृ॒षत्ऽव॑र्णम् । दि॒वेदि॑व॒ इति॑ दि॒वेऽदि॑वे । ह॒न्तार॑म् । भ॒ङ्गु॒राव॑ताम् । भ॒ङ्गु॒रव॑ता॒मिति॑ भ॒ङ्गु॒रऽव॑ताम् ॥ २६ ॥

पदार्थः—(परि) (त्वा) त्वाम् (अग्ने) विद्यया प्रकाशमान (पुरम्) येन सर्वान् पिपर्त्ति तत् (वयम्) (विप्रम्) विद्वांसम् (सहस्य) य आत्मनः सहो बलमिच्छति तत्सम्बुद्धौ (धीमहि) धरेम । अत्र डुधाञ् धातोर्लिङ-

आर्धधातुकत्वाच्छपभावः (घृतवर्णम्) घृतस्येवाभो दीप्तो वर्णो यस्य तम् (दिवेदिवे) प्रतिदिनम् (हन्तारम्) (भङ्गुरावताम्) कुत्सिता भङ्गुराः भङ्गुराः प्रकृतयो विद्यन्ते येषां तेषाम् ॥ २६ ॥

अन्वयः—हे सहस्याऽग्ने यथा वयं दिवेदिवे भङ्गुरावतां पुरमग्निमिव हन्तारं घृतवर्णं विप्रं त्वा परिधीमहि तथा त्वमस्मान्धर ॥ २६ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—राजप्रजाजनैर्न्यायेन प्रजारक्षकोऽग्निवच्छत्रुहन्ता सर्वदा सुखप्रदः सेनेशो विधेयः ॥ २६ ॥

पदार्थः—हे (सहस्य) अपने को बल चाहने वाले (अग्ने) अग्निवत् विद्या से प्रकाशमान विद्वान् पुरुष जैसे (वयम्) हम लोग (दिवेदिवे) प्रतिदिन (भङ्गुरावताम्) खोटे स्वभाव वालों के (पुरम्) नगर को अग्नि के समान (हन्तारम्) मारने (घृतवर्णम्) दृढ़ सुन्दर वर्ण से युक्त (विप्रम्) विद्वान् (त्वा) आप को (परि) सब प्रकार से (धीमहि) धारण करें वैसे तू हम को धारण कर ॥ २६ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु०—राजा और प्रजा के पुरुषों को चाहिये कि न्याय से प्रजा की रक्षा करने अग्नि के समान शत्रुओं को मारने और सब काल में सुख देने हारे पुरुष को सेनापति करें ॥ २६ ॥

त्वमग्न इत्यस्य गृत्समद ऋषिः । अग्निर्देवता । पङ्क्तिश्छन्दः ।
पञ्चमः स्वरः ॥

पुनः सभेशः कीदृशो भवेदित्याह ॥
फिर सभाध्यक्ष कैसा होना चाहिये यह वि० ॥

त्वमंग्ने द्युभिस्त्वमाशुशुक्षणिस्त्वमंश्मंनस्परिं । त्वं वनेभ्यस्त्वमोषधीभ्यस्त्वं नृणां नृंपते जायसे शुचिः ॥ २७ ॥

त्वम् । अग्ने । द्युऽभिः । त्वम् । आशुऽशुक्षणिः । त्वम् । अद्भ्यः । त्वम् । अश्मनः । परि । त्वम् । वनेभ्यः । त्वम् । ओषधीभ्यः । त्वम् । नृणाम् । नृपते । नृऽपते । जायसे । शुचिः ॥ २७ ॥

पदार्थः—(त्वम्) (अग्ने) अग्निवत्प्रकाशमान न्यायाधीश राजन् (द्युभिः) दिनैरिव प्रकाशमानैर्न्यायादिगुणैः (त्वम्) (आशुशुक्षणिः) शीघ्रं २ दुष्टान् क्षिणोति हिनस्तीव (त्वम्) (अद्भ्यः) वायुभ्यो जलेभ्यो वा (त्वम्) (अश्मनः) मेघात्पाषाणाद्वा । अश्मेति मेघना० निघं० १ । १० । (परि) सर्वतोभावे (त्वम्) (वनेभ्यः) जङ्गलेभ्यो रश्मिभ्यो वा (त्वम्) (ओषधीभ्यः) सोमलतादिभ्यः (त्वम्) (नृणाम्) मनुष्याणाम् (नृपते) नृणां पालक (जायसे) प्रादुर्भवसि (शुचिः) पवित्रः ॥ २७ ॥

इमं मन्त्रं यास्कमुनिरेवं व्याचष्टे । त्वमग्ने द्युभिरहोभिस्त्वमाशुशुक्षणिराशु इति च शु इति च क्षिप्रनामनी भवतः क्षणिरुत्तरः क्षणोतेराशु शुचा क्षणोतीति वा सनोती वा शुक् शोचतेः पञ्चम्यर्थे वा प्रथमा तथाहि वाक्यसंयोग आ इत्याकार उपसर्गः पुरस्ताच्चिकीर्षितेऽनुत्तर आशुशोचयिषुरिति शुचिः शोचतेर्ज्वलतिकर्मणोऽयमपीतरः शुचिरेतस्मादेव निष्पिक्तमस्मात्पापकमिति नैरुक्ताः । निरु० ६ । १ ॥

अन्वयः—हे नृपते अग्ने सभाध्यक्ष राजन् यस्त्वं द्युभिः सूर्य इव त्वमाशुशुक्षणिस्त्वमद्भ्यस्त्वमश्मनस्त्वं वनेभ्यस्त्वमोषधीभ्यस्त्वं नृणां मध्ये शुचिः परिजायसे तस्मात्त्वामाश्रित्य वयमप्येवं भूता भवेम ॥ २७ ॥

भावार्थः—यो राजा सभ्यः प्रजाजनो वा सर्वेभ्यः पदार्थेभ्यो गुणग्रहणविद्याक्रियाकौशलाभ्यामुपकारान् ग्रहीतुं शक्नोति धर्माचरणेन पवित्रः शीघ्रकारी च भवति स सर्वाणि सुखानि प्राप्नोति नेतरोऽलसः ॥ २७ ॥

पदार्थः—हे (नृपते) मनुष्यों के पालने हारे (अग्ने) अग्नि के समान प्रकाशमान न्यायाधीश राजन् ! (त्वम्) आप (द्युभिः) दिनों के समान प्रकाशमान न्याय आदि गुणों से सूर्य्य के समान (त्वम्) आप (आशुशुक्षणिः) शीघ्र २ दुष्टों को मारने हारे (त्वम्) आप (अद्भ्यः) वायु वा जलों से (त्वम्) आप (अश्मनः) मेघ वा पाषाणादि से (त्वम्) आप (वनेभ्यः) जङ्गल वा किरणों से (त्वम्) आप (ओषधिभ्यः) सोमलता आदि ओषधियों से (त्वम्) आप (नृणाम्) मनुष्यों के बीच (शुचिः) पवित्र (परि) सब प्रकार (जायसे) प्रसिद्ध होते हो इस कारण आप का आश्रय लेके हम लोग भी ऐसे ही होवें ॥ २७ ॥

भावार्थः—जो राजा सभासद् वा प्रजा का पुरुष सब पदार्थों से गुण ग्रहण और विद्या तथा क्रिया की कुशलता से उपकार ले सकता धर्म के आचरण से पवित्र तथा शीघ्रकारी होता है वही सब सुखों को प्राप्त हो सकता है, अन्य आलसी पुरुष नहीं ॥ २७ ॥

देवस्य त्वेत्यस्य गृत्समद ऋषिः । अग्निर्देवता । भुरिक्
प्रकृतिश्छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

मनुष्याः किं कृत्वा कस्माद्विद्युतं गृह्णीयुरित्याह ॥
मनुष्य क्या करके किस पदार्थ से बिजुली का ग्रहण करें यह वि० ॥

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् । पृथिव्याः सधस्थादग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वत्खनामि । ज्योतिष्मन्तं त्वाग्ने सुप्रतीकमजस्रेण भानुना दीद्यतम् । शिवं प्रजाभ्योऽहिंसन्तं पृथिव्याः सधस्थादग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वत्खनामः ॥ २८ ॥

देवस्यं । त्वा । सवितुः । प्रसव इतिं प्रऽसवे । अश्विनोः ।
बाहुभ्यांम् । पूष्णः । हस्तांभ्याम् । पृथिव्याः । सधस्थादितिं
सधऽस्थात् । अग्निम् । पुरीष्यम् । अङ्गिरस्वत् । खनामि ।
ज्योतिष्मन्तम् । त्वा । अग्ने । सुप्रतीकमितिं सुऽप्रतीकम् ।
अजस्रेण । भानुना । दीद्यंतम् । शिवम् । प्रजाभ्य इतिं प्रऽजाभ्यः ।
अहिंसन्तम् । पृथिव्याः । सधस्थादितिं सधऽस्थात् ।
अग्निम् । पुरीष्यम् । अङ्गिरस्वत् । खनामः ॥ २८ ॥

पदार्थः—(देवस्य) प्रकाशमानस्य (त्वा) त्वाम् (सवितुः) सर्वस्योत्पादकस्येश्वरस्य (प्रसवे) प्रसूतेऽस्मिन् संसारे (अश्विनोः) द्यावापृथिव्योराकर्षणधारणाभ्यामिव (बाहुभ्याम्) (पूष्णः) प्राणस्य बलपराक्रमाभ्यामिव (हस्ताभ्याम्) (पृथिव्याः) (सधस्थात्) सहस्थानात् (अग्निम्) विद्युतम् (पुरीष्यम्) सुखैः पूरकेषु भवम् (अङ्गिरस्वत्) वायुवद्वर्त्तमानम् (खनामि) निष्पादयामि (ज्योतिष्मन्तम्) बहूनि ज्योतींषि विद्यन्ते यस्मिंस्तम् (त्वा) त्वाम् (अग्ने) भूगर्भादिविद्याविद्विद्वन् (सुप्रतीकम्) सुष्ठु प्रतियन्ति सुखानि यस्मात्तम् (अजस्रेण) निरन्तरेण (भानुना) दीप्त्या (दीद्यतम्) देदीप्यमानम् (शिवम्) मङ्गलमयम् (प्रजाभ्यः) प्रसूताभ्यः (अहिंसन्तम्) अताडयन्तम् (पृथिव्याः) अन्तरिक्षात् (सधस्थात्) सहस्थानात् (अग्निम्) वायुस्थं विद्युतम् (पुरीष्यम्) पालकेषु साधनेषु साधुम् (अङ्गिरस्वत्) सूत्रात्मवायुवद्वर्त्तमानम् (खनामः) विलिखामः ॥ २८ ॥

अन्वयः—हे अग्ने शिल्पविद्याविद्विद्वन् यथाऽहं सवितुर्देवस्य प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां त्वा पुरस्कृत्य पृथिव्याः सधस्थात्पुरीष्यं ज्योतिष्मन्तमजस्रेण भानुना दीद्यतं पुरीष्यमग्निमङ्गिरस्वत्खनामि तथा त्वं मा चाथिता वयं पृथिव्याः सधस्थादङ्गिरस्वदहिंसन्तं पुरीष्यं प्रजाभ्यः शिवमग्निं खनामस्तथा सर्वे आचरन्तु ॥ २८ ॥

भावार्थः—ये राजप्रजाजनाः सर्वत्र स्थितं विद्युद्रूपमग्निं सर्वेभ्यः पदार्थेभ्यः साधनोपसाधनैः प्रसिद्धीकृत्य कार्येषु प्रयुञ्जते ते शुभमैश्वर्यं लभन्ते। नहि किंचिदपि प्रजातं वस्तु विद्युद्व्याप्त्या विना वर्त्तत इति विजानन्तु ॥२८॥

पदार्थः—हे (अग्ने) सुगर्भ तथा शिल्पविद्या के जानने हारे विद्वन् जैसे मैं (सवितुः) सब जगत् के उत्पन्न करनेहारे (देवस्य) प्रकाशमान ईश्वर के (प्रसवे) उत्पन्न किये संसार में (अश्विनोः) आकाश और पृथिवी के (बाहुभ्याम्) आकर्षण तथा धारण रूप बाहुओं के समान और (पूष्णः) प्राण के (हस्ताभ्याम्) बल और पराक्रम के तुल्य (त्वा) आप को प्राप्त करके (पृथिव्याः) भूमि के (सधस्थात्) एक स्थान से (पुरीष्यम्) पूर्ण सुख देनेहारे (ज्योतिष्मन्तम्) बहुत ज्योति वाले (अजस्रेण) निरन्तर (भानुना) दीप्ति से (दीद्यतम्) अत्यन्त प्रकाशमान (पुरीष्यम्) सुन्दर रक्षा करने (अग्निम्) वायु में रहने वाली बिजुली को (अङ्गिरस्वत्) वायु के समान (खनामि) सिद्ध करता हूं। और जैसे (त्वा) आप का आश्रय लेके हम लोग (पृथिव्याः) अन्तरिक्ष के (सधस्थात्) एक प्रदेश से (अङ्गिरस्वत्) सूत्रात्मवायु के समान वर्त्तमान (अहिंसन्तम्) जो कि ताड़ना न करे ऐसे (पुरीष्यम्) पालनेहारे पदार्थों में उत्तम (प्रजाभ्यः) प्रजा के लिये (शिवम्) मङ्गलकारक (अग्निम्) अग्नि को (खनामः) प्रकट करते हैं वैसे सब लोग किया करें ॥ २८ ॥

भावार्थः—जो राज्य और प्रजा के पुरुष सर्वत्र रहने वाली बिजुली रूपी अग्नि को सब पदार्थों से साधन तथा उपसाधनों के द्वारा प्रसिद्ध करके कार्यों में प्रयुक्त करते हैं वे कल्याणकारक ऐश्वर्य को प्राप्त होते हैं। कोई भी उत्पन्न हुआ पदार्थ बिजुली की व्याप्ति के विना खाली नहीं रहता ऐसा तुम सब लोग जानो ॥ २८ ॥

अपांपृष्ठमित्यस्य गृत्समदऋषिः। अग्निर्देवता। स्वराट्-
पङ्क्तिश्छन्दः। पञ्चमः स्वरः ॥

पुनर्मनुष्याः कीदृशं गृह्णीयुरित्याह ॥

फिर मनुष्य कैसी बिजुली का ग्रहण करें यह वि० ॥

अपां पृष्ठमसि योनिरग्नेः समुद्रमभितः पिन्वमानम्। वर्धमानो महाँ २ आ च पुष्करे दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथस्व ॥ २९ ॥

अपाम्। पृष्ठम्। असि। योनिः। अग्नेः। समुद्रम्। अभितः। पिन्वमानम्। वर्धमानः। महान्। आ। च। पुष्करे। दिवः। मात्रया। वरिम्णा। प्रथस्व ॥ २९ ॥

पदार्थः—(अपाम्) जलानाम् (पृष्ठम्) आधारः (असि) (योनिः) संयोगविभागवित् (अग्नेः) सर्वतोऽभिव्याप्तस्य विद्युद्रूपस्य सकाशात् प्रचलन्तम् (समुद्रम्) सम्यग्द्रवन्त्यापो यस्मात्सागरात्तम् (अभितः) सर्वतः (पिन्वमानम्) सिञ्चन्तम् (वर्धमानः) यो विद्यया क्रियाकौशलेन नित्यं वर्धते (महान्) पूज्यः (आ) (च) सर्वमूर्त्तद्रव्यसमुच्चये (पुष्करे) अन्तरिक्षे वर्तमानायाः। पुष्करमित्यन्तरिक्षना०। निघं० १। ३। (दिवः) दीप्तेः (मात्रया) विभागेन (वरिम्णा) उरोर्बहोर्भावेन (प्रथस्व) विस्तृतसुखो भव ॥ २९ ॥

अन्वयः—हे विद्वन् यतोऽग्नेर्योनिर्महान् वर्धमानस्त्वमसि तस्मादभितः पिन्वमानमपां पृष्ठं पुष्करे दिवो मात्रया वर्धमान समुद्र तत्स्थान् पदार्थांश्च विदित्वा वरिम्णाऽऽप्रथस्व ॥ २९ ॥

भावार्थः—हे मनुष्या यूयं यथा मूर्तेषु पृथिव्यादिषु पदार्थेषु विद्युद्वर्तते तथाऽप्स्वपि मत्वा तामुपकृत्य विस्तृतानि सुखानि संपादयत ॥ २९ ॥

पदार्थः—हे विद्वन् जिस कारण (अग्ने) सर्वत्र अभिव्याप्त बिजुली रूप अग्नि के (योनिः) संयोग वियोगों के जानने (महान्) पूजनीय (वर्धमान.) विद्या तथा क्रिया की कुशलता से नित्य बढ़ने वाले आप (असि) हैं। इसलिये (अभितः) सब ओर से (पिन्वमानम्) जल वर्षाते हुए (अपाम्) जलों

के (इदम्) आधारभूत (पुष्करे) अन्तरिक्ष में वर्त्तमान (दिवः) दीप्ति के (मात्रया) विभाग बढ़े हुए (समुद्रम्) अच्छे प्रकार जिस में ऊपर को जल उठते हैं उस समुद्र (च) और वहां के सब पदार्थों को जान के (वरिम्णा) बहुत्व के साथ (व्यानशत्) अच्छे प्रकार सुखों को विस्तार करने वाले हूजिये ॥ २९ ॥

भावार्थः—हे मनुष्यो तुम लोग पृथिवी आदि स्थूल पदार्थों में बिजुली जिस प्रकार वर्त्तमान है वैसे ही जलों में भी है ऐसा समझ और उस से उपकार ले के बड़े २ विस्तारयुक्त सुखों को सिद्ध करो ॥ २९ ॥

शर्म चेत्यस्य गृत्समद ऋषिः । दम्पती देवते । विराडार्ष्यनुष्टुप्छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

अथ स्त्रीपुरुषाभ्यां गृहे स्थित्वा किं साधनीयमित्याह ॥

अब स्त्री और पुरुष घर में रह के क्या २ सिद्ध करें यह वि० ॥

शर्मे च स्थो वर्मे च स्थोऽछिद्रे बहुले उभे ।
व्यचस्वती संवसाथां भृतमग्निं पुरीष्यम् ॥ ३० ॥

शर्म्मे । च । स्थः । वर्म्मे । च । स्थः । अछिद्रे इत्यच्छिद्रे । बहुलेइति बहुले । उभे । इत्युभे । व्यचस्वती इति व्यचस्वती । सम् । वसाथाम् । भृतम् । अग्निम् । पुरीष्यम् ॥ ३० ॥

पदार्थः—(शर्म्मे) गृहम् (च) तत्सम्बन्धिम् (स्थः) भवतः (वर्म्मे) सर्वतो रक्षणम् (च) तत्सहायान (स्थः) (अच्छिद्रे) अदोषे (बहुले) बहूनर्थान् लान्ति गृह्णीतः ते (उभे) द्वे (व्यचस्वती) सुलक्षणव्याप्तियुक्ते (सम्) (वसाथाम्) आच्छादयताम् (भृतम्) धृतम् (अग्निम्) (पुरीष्यम्) पालनेषु साधुम् ॥ ३० ॥

अन्वयः—हे स्त्रीपुरुषौ युवां शर्म्म च प्राप्तौ स्थः वर्म्म चोभे बहुले व्यचस्वती अच्छिद्रे विद्युदन्तरिक्ष इव स्थः। तत्र गृहे भृतं पुरीष्यमग्निं गृहीत्वा संवसाथाम् ॥ ३० ॥

भावार्थः—गृहस्थैर्ब्रह्मचर्येण सत्कारोपकारक्रियाकुशलां विद्यां संगृह्य बहुद्वाराणि सर्वर्त्तुसुखप्रदानि सर्वतोभिरक्षिताग्न्यादिसाधनोपेतानि गृहाणि निर्माय तत्र सुखेन वसितव्यम् ॥ ३० ॥

पदार्थः—हे स्त्री पुरुषो तुम दोनों (शर्म) गृहाश्रम (च) और उस की सामग्री को प्राप्त हुए (स्थः) हो (वर्म) सब ओर उस के सहायकारी पदार्थों को (उभे) दो (बहुले) बहुत अर्थों को ग्रहण करने हारे (व्यचस्वती) गुण की व्याप्ति से युक्त (अच्छिद्रे) निर्दोष बिजुली और अन्तरिक्ष के समान जिस घर में धर्म अर्थ के कार्य्य (स्थः) हैं । उस घर में (भृतम्) पोषण करने हारे (पुरीष्यम्) रक्षा करने में समर्थ (अग्निम्) अग्नि को ग्रहण करके (संवसाथाम्) अच्छे प्रकार आच्छादन करके वसो ॥ ३० ॥

भावार्थः—गृहस्थ लोगों को चाहिये कि ब्रह्मचर्य्य के साथ सत्कार और उपकारपूर्वक क्रिया की कुशलता और विद्या का ग्रहण कर बहुत द्वारों से युक्त सब ऋतुओं में सुखदायक सब ओर की रक्षा और अग्नि आदि साधनों से युक्त घरों को बना के उन में सुखपूर्वक निवास करें ॥ ३० ॥

संवसाथामित्यस्य गृत्समदऋषिः । जायापती देवते । निचृदनुष्टुप्छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनस्तमेवविषयमाह ॥

फिर भी वही वि० ॥

सं वंसाथाᳪस्वर्विदां समीची उरंसात्मनां । अग्निमन्तर्भरिष्यन्ती ज्योतिष्मन्तमजस्त्रमित् ॥३१॥

पुरीष्योऽसि विश्वभरा अथर्वा त्वा प्रथमो निरमन्थदग्ने । त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत । मूर्ध्नो विश्वस्य वाघतः ॥ ३२ ॥

पुरीष्यः । असि । विश्वभरा इति विश्वऽभराः । अथर्वा । त्वा । प्रथमः । निः । अमन्थत् । अग्ने । त्वाम् । अग्ने । पुष्करात् । अधि । अथर्वा । निः । अमन्थत । मूर्ध्नः । विश्वस्य । वाघतः ॥ ३२ ॥

पदार्थः—(पुरीष्यः) पुरीषेषु पशुषु साधुः (असि) (विश्वभराः) यो विश्वं बिभर्त्ति सः (अथर्वा) अहिंसको विद्वान् (त्वा) त्वाम् (प्रथमः) आद्यः (निः) नितराम् (अमन्थत्) (अग्ने) संपादित क्रियाकौशल (त्वाम्) (अग्ने) विद्वन् (पुष्करात्) अन्तरिक्षात् (अधि) (अथर्वा) हिंसादिदोषरहितः (निः) (अमन्थत) (मूर्ध्नः) मूर्धेव वर्त्तमानस्य विश्वस्य समग्रस्य संसारस्य (वाघतः) मेधावी । वाघतइति मेधाविना० । निघ० ३ । १५ । ३२ ॥

अन्वयः—हे अग्ने विद्वन् यो वाघतो भवान् पुरीष्योसि तं त्वाऽथर्वा प्रथमो विश्वभरा विश्वस्य मूर्ध्नो वर्त्तमानात्पुष्करादध्यग्निं निरमन्थत्स ऐश्वर्यमाप्नोति ॥ ३२ ॥

भावार्थः—येऽस्मिन् जगति विद्वांसो भवेयुस्ते सुविचारपुरुषार्थाभ्यामग्न्यादिविद्यां प्रसिद्धीकृत्य सर्वेभ्यः शिक्षेरन् ॥ ३२ ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) क्रिया की कुशलता को सिद्ध करनें हारे विद्वन् जो (वाघतः) शास्त्रवित् आप (पुरीष्यः) पशुओं को सुख देने हारे (असि) हैं उस (त्वा) आपको (अथर्वा) रक्षक (प्रथमः) उत्तम (विश्वभराः) सब का

पोषक विद्वान् (विश्वस्य) इस संसार के (मूर्ध्नः) ऊपर वर्त्तमान (पुष्कराद्) अन्तरिक्ष से (अधि) समीप अग्नि को (निरमन्थत्) नित्य मन्थन करके ग्रहण करता है वह ऐश्वर्य्य को प्राप्त होता है ॥ ३२ ॥

भावार्थः—जो इस जगत् में विद्वान् पुरुष होवें वे अपने अच्छे विचार और पुरुषार्थ से अग्नि आदि की पदार्थविद्या को प्रसिद्ध करके सब मनुष्यों को शिक्षा करें ॥ ३२ ॥

तमुत्वेत्यस्य भारद्वाज ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृद्गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर भी उक्त वि० ॥

तमु॑ त्वा द॒ध्यङ्ङृषि॑ः पु॒त्र ई॑धे॒ अथ॑र्वणः । वृ॒त्र॒हणं॑ पुरन्द॒रम् ॥ ३३ ॥

तम् । ऊँ इत्यूँ । त्वा । द॒ध्यङ् । ऋषि॑ः । पु॒त्रः । ई॒धे॒ । अथ॑र्वणः । वृ॒त्र॒हण॑म् । वृ॒त्र॒हन॒मिति॑ वृत्र॒ऽहन॑म् । पु॒र॒न्द॒रमिति॑ पुरम्ऽद॒रम् ॥ ३३ ॥

पदार्थः—(तम्) (उ) वितर्के (त्वा) त्वाम् (दध्यङ्) यो दधीन् सुखधारकानग्न्यादिपदार्थानञ्चति सः (ऋषिः) वेदार्थवित् (पुत्रः) पवित्रः शिष्यः (ईधे) प्रदीपयेत् । अत्र लोपस्तआत्मनेपदेष्विति तकारलोपः (अथर्वणः) अहिंसकस्य विदुषः (वृत्रहणम्) यथा सूर्यो वृत्रं हन्ति तथा शत्रुहन्तारम् (पुरन्दरम्) यः शत्रूणां पुराणि दृणाति तम् ॥ ३३ ॥

अन्वयः—हे राजन्यथाऽथर्वणः पुत्रो दध्यङ्ङृषिः सकलविद्याविद्वृत्रहणं पुरन्दरमीधे तथैतं सर्वे विद्वांसो विद्याविनयाभ्यां वर्द्धयन्तु ॥ ३३ ॥

भावार्थः—ये याश्च साङ्गोपाङ्गान् वेदानधीत्य विद्वांसो विदुष्यश्च भवेयुस्ते ताश्च राजपुत्रादीन् राजकन्यादींश्च विदुषो विदुषीश्च संपाद्य ताभिर्धर्म्यौ राजप्रजाव्यवहारान् कारयेयुः ॥ ३३ ॥

पदार्थः—हे राजन् जैसे (अथर्वणः) रक्षक विद्वान् का (पुत्रः) पवित्र शिष्य (दध्यङ्) सुखदायक अग्नि आदि पदार्थों को प्राप्त हुआ (ऋषिः) वेदार्थ जानने हारा (उ) तर्क वितर्क के साथ संपूर्ण विद्याओं का वेत्ता जिस (वृत्रहणम्) सूर्य्य के समान शत्रुओं को मारने और (पुरन्दरम्) शत्रुओं के नगरों को नष्ट करने वाले आप को (ईधे) तेजस्वी करता है वैसे उन आपको सब विद्वान् लोग विद्या और विनय से उन्नतियुक्त करें ॥ ३३ ॥

भावार्थः—जो पुरुष वा स्त्री साङ्गोपाङ्ग सार्थक वेदों को पढ़ के विद्वान् वा विदुषी होवें वे राजपुत्र और राजकन्याओं को विद्वान् और विदुषी करके उन से धर्मानुकूल राज्य तथा प्रजा का व्यवहार करावें ॥ ३३ ॥

तमुत्वेत्यस्य भारद्वाज ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृद्गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर भी उक्त वि० ॥

तमु॑ त्वा पा॒थ्यो वृषा॒ समी॑धे दस्यु॒हन्त॑मम् । धन॒ञ्जय॑ꣳ रणे॑रणे ॥ ३४ ॥

तम् । ऊँइ॒त्यूँ । त्वा॒ । पा॒थ्यः । वृषा॑ । सम् । ई॒धे॒ । दस्यु॒हन्त॑म॒मिति॑ दस्यु॒हन्ऽत॑मम् । धन॒ञ्जय॒मिति॑ धनम्ऽजयम् । रणे॑रण॒ इति॒ रणेऽरणे ॥ ३४ ॥

पदार्थः—(तम्) पूर्वोक्त पदार्थविद्याविदम् (उ) (त्वा) त्वाम् (पाथ्यः) पाथस्सु जलान्नादिपदार्थेषु साधुः (वृषा) वीर्यवान् (सम्) (ईधे) राज-

धर्मशिक्षया प्रदीप्यताम् (दस्युहन्तमम्) अतिशयेन दस्यूनां हन्तारम् (धनंजयम्) यः शत्रुभ्यो धनं जयति तम् (रणेरणे) युद्धेयुद्धे ॥ ३४ ॥

अन्वयः—हे वीर यस्त्वं पाथ्यो वृषा रणेरणे विद्वान् शौर्यादिगुणयुक्तोऽसि तं धनंजयमुदस्युहन्तमं त्वा त्वां वीरसेनया समीधे ॥ ३४ ॥

भावार्थः—राजादयो राजपुरुषा आप्तेभ्यो विद्वद्भ्यो विनयं युद्धविद्यां प्राप्य प्रजारक्षायै चोरान् हत्वा शत्रून् विजित्य परमैश्वर्य्यमुन्नयेयुः ॥ ३४ ॥

पदार्थः—हे वीर पुरुष जो आप (पाथ्यः) अन्न जल आदि पदार्थों की सिद्धि में कुशल (वृषा) पराक्रमी शूरता आदि युक्त विद्वान् हैं (तम्) पूर्वोक्त पदार्थविद्या जानने (धनञ्जयम्) शत्रुओं से धन जीतने (उ) और (दस्युहन्तमम्) अतिशय करके डाकुओं को मारने वाले (त्वा) आप को वीरों की सेना राजधर्म्म की शिक्षा से (समीधे) प्रदीप्त करें ॥ ३४ ॥

भावार्थः—राजा तथा राजपुरुषों को चाहिये कि आप्त धर्मात्मा विद्वानों से विनय और युद्धविद्या को प्राप्त हो प्रजा की रक्षा के लिये चोरों को मार शत्रुओं को जीत कर परम ऐश्वर्य्य की उन्नति करें ॥ ३४ ॥

सीदेत्यस्य देवश्रवो देववातावृषी । होता देवता । निचृत्त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनर्विदुषा किं कृत्यमस्तीत्याह ॥

फिर विद्वान् का क्या काम है यह वि० ॥

सीद होतः स्वऽउ लोके चिकित्वान्त्सादया यज्ञꣳ सुकृतस्य योनौ । देवावीर्देवान्हविषा यजास्यग्ने बृहद्यजमाने वयो धाः ३५ ॥

सीदं । होतुरिति होतः । स्वे । उँइत्यूँ । लोके । चिकित्वान् । सादयं । यज्ञम् । सुकृतस्येति सुऽकृतस्यं । योनौ । देवावीरिति देवऽअवीः । देवान् । हविषां । यजासि । अग्ने । बृहत् । यजमाने । वयः । धाः ॥ ३५ ॥

पदार्थः—(सीद) अवस्थितो भव (होतः) दातर्ग्रहीतः (स्वे) सुखे (उ) (लोके) लोकनीये (चिकित्वान्) विज्ञानयुक्तः (सादय) गमय । अत्र अन्येषामपीति दीर्घः (यज्ञम्) धर्म्यं राजप्रजाव्यवहारम् (सुकृतस्य) सुसुकृतस्य धार्मिकस्य (योनौ) कारणे (देवावीः) देवैरक्षितः शिक्षितश्च (देवान्) विदुषो दिव्यगुणान्वा (हविषा) दानग्रहणयोग्येन न्यायेन (यजासि) यजेः (अग्ने) विद्वन् (बृहत्) महत् (यजमाने) राजादौ जने चिरंजीवितम् (वयः) दीर्घं जीवनम् (धाः) धेहि ॥ ३५ ॥

अन्वयः—हे अग्ने होतश्चिकित्वाँस्त्वं स्वे लोके सीद । सुकृतस्य योनौ यज्ञं सादय । देवावीः सँस्त्वं हविषा देवान् यजासि यजमाने वयो धाः ॥ ३५ ॥

भावार्थः—विद्वद्भिरस्मिन् जगति द्वे कर्मणी सततं कार्ये । आद्यं ब्रह्मचर्यजितेन्द्रियत्वादिशिक्षया शरीरारोग्यबलादियुक्तं चिरंजीवनमुत्तरं विद्याक्रियाकौशलग्रहणेनात्मबलं च संसाध्यम् यतः सर्वे मनुष्याः शरीरात्मबलयुक्ताः सन्तः सर्वदानन्देयुः ॥ ३५ ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) तेजस्वी विद्वन् (होतः) दान देने वाले (चिकित्वान्) विज्ञान से युक्त आप (लोके) देखने योग्य (स्वे) सुख में (सीद) स्थित हूजिये (सुकृतस्य) अच्छे करने योग्य कर्म करने हारे धर्मात्मा के (योनौ) कारण में (यज्ञम्) धर्मयुक्त राज्य और प्रजा के व्यवहार को (सादय) प्राप्त कराइये (हविषा) देने लेने योग्य न्याय से (देवान्) विद्वानों वा दिव्य गुणों को (यजासि) सत्कार सेवा संयोग कीजिये (यजमाने) राजा आदि मनुष्यों में (वयः) बड़ी उमर को (धाः) धारण कीजिये ॥ ३५ ॥

भावार्थः—विद्वान् लोगों को चाहिये कि इस जगत् में दो कर्म निरन्तर करें । प्रथम ब्रह्मचर्य्य और जितेन्द्रियता आदि की शिक्षा से शरीर को रोगरहित बलसेयुक्त और पूर्ण अवस्थावाला करें । दूसरे विद्या और क्रिया की कुशलता के ग्रहण से आत्मा का बल अच्छे प्रकार बढ़ावें कि जिस से सब मनुष्य शरीर और आत्मा के बल से युक्त हुए सब काल में आनन्द भोगें ३५ ॥

निहोतेत्यस्य गृत्समद ऋषिः । अग्निर्देवता । त्रिष्टुप्छन्दः ।
धैवतः स्वरः ॥

पुनर्मनुष्यकृत्यमाह ॥
फिर मनुष्यों का कर्त्तव्य अगले ॥

निहोता॑ होतृ॒षद॑ने॒ विदा॑नस्त्वे॒षो दी॑दि॒वाँ२ ऽअ॑सदत्सु॒दक्षः॑ । अद॑ब्धव्रतप्रमति॒र्वसि॑ष्ठः सहस्र॒म्भ॒रः॒ शुचि॑जिह्वो अ॒ग्निः ॥ ३६ ॥

नि । होता॑ । हो॒तृ॒षद॑ने । हो॒तृ॒सद॑न॒ इति॑ होतृ॒ऽसद॑ने । विदा॑नः । त्वे॒षः । दी॒दि॒वानिति॑ दीदि॒ऽवान् । अ॒स॒द॒त् । सु॒दक्ष॒ इति॑ सु॒ऽदक्षः॑ । अद॑ब्धव्रतप्रमति॒रित्यद॑ब्धव्रतऽप्रमतिः । वसि॑ष्ठः । स॒ह॒स्र॒म्भ॒र इति॑ सहस्र॒म्ऽभ॒रः । शुचि॑जिह्व॒ इति॒ शुचि॑ऽजिह्वः । अ॒ग्निः ॥ ३६ ॥

पदार्थः—(नि) नितराम् (होता) शुभगुणग्रहीता (होतृषदने) दातॄणां विदुषां स्थाने (विदानः) विविदिषुः सन् (त्वेषः) शुभगुणैर्दीप्यमानः (दीदिवान्) धर्म्यं व्यवहारं चिकीर्षुः (असदत्) सीदेत् (सुदक्षः) सुष्ठु दक्षो बलं यस्य सः (अदब्धव्रतप्रमतिः) अदब्धैरहिंसनीयैर्व्रतैर्धर्माचरणैः प्रकृ-

एामतिर्मेधा यस्य स (वसिष्ठः) अतिशयेन वसिता (सहस्रम्भरः) सहस्रमसंख्यं शुभगुणसमूहं बिभर्त्ति सः (शुचिजिह्वः) शुचिः पवित्रा सत्यभाषणेन जिह्वा वाग् यस्य सः (अग्निः) पावक इव वर्त्तमानः ॥ ३६ ॥

अन्वयः—यदि नरो मनुष्यजन्म प्राप्य होतृषदने दीदिवान् त्वेषो विदानः शुचिजिह्वः सुदक्षोऽदब्धव्रतप्रमतिर्वसिष्ठः सहस्रम्भरो होता सततं न्यसदत्तर्हि समग्रं सुखं प्राप्नुयात् ॥ ३६ ॥

भावार्थः—यदा मातापितरः स्वपुत्रान् कन्याश्च सुशिक्ष्य पुनर्विदुषो विदुष्यश्च समीपे चिरं संस्थाप्याध्यापयेयुस्तदा ताः सूर्य इव कुलदेशोद्दीपकाः स्युः ॥ ३६ ॥

पदार्थः—जो जन मनुष्यजन्म को पाके (होतृषदने) दानशील विद्वानों के स्थान में (दीदिवान्) धर्मयुक्त व्यवहार का चाहने (त्वेषः) शुभगुणों से प्रकाशमान (विदानः) ज्ञान बढ़ाने की इच्छा रखने (शुचिजिह्वः) सत्य-भाषण से पवित्र वाणीयुक्त (सुदक्षः) अच्छे बल वाला (अदब्धव्रतप्रमतिः) रक्षा करने योग्य धर्माचरणरूपी व्रतों से उत्तम बुद्धि युक्त (वसिष्ठः) अत्यन्त बसने (सहस्रम्भरः) असंख्य शुभगुणों को धारण करने वाला (होता) शुभगुणों का ग्राहक पुरुष निरन्तर (न्यसदत्) स्थित होवे तो वह संपूर्ण सुख को प्राप्त होजावे ॥ ३६ ॥

भावार्थः—जब माता पिता अपने पुत्र तथा कन्याओं को अच्छी शिक्षा देने पीछे विद्वान् और विदुषी के समीप बहुत काल तक स्थितिपूर्वक पढ़वावें तब वे कन्या और पुत्र सूर्य्य के समान अपने कुल और देश के प्रकाशक हों ॥ ३६ ॥

संसीदस्वेत्यस्य प्रस्कण्व ऋषिः। अग्निर्देवता। निचृदार्षी बृहती छन्दः। मध्यमः स्वरः॥

अथेहाध्यापकः कीदृशः स्यादित्याह ॥

इस पठन पाठन विषय में अध्यापक कैसा होवे यह वि० ॥

सꣳ सीदस्व महाँ २ असि शोचस्व देववीतमः । विधूममग्ने अरुषं मियेध्य सृज प्रशस्त दर्शतम् ॥ ३७ ॥

सम् । सीदस्व । महान् । असि । शोचस्व । देववीतमइति देवऽवीतमः । वि । धूमम् । अग्ने । अरुषम् । मियेध्य । सृज । प्रशस्तेति प्रऽशस्त । दर्शतम् ॥ ३७ ॥

पदार्थः—(सम्) (सीदस्व) अध्यापने आस्स्व (महान्) महागुणविशिष्टः (असि) (शोचस्व) पवित्रो भव (देववीतमः) देवैर्विद्वद्भिः कमनीयतमः (विधूमम्) विगतमलम् (अग्ने) विद्वत्तम (अरुषम्) शोभनस्वरूपम् । अरुषमिति रूपना० । निघं० ३ । ७ । (मियेध्य) मिनोति प्रक्षिपति दुष्टान् तत्सम्बुद्धौ । अत्र बाहुलकादौणादिक एध्य प्रत्ययः किच्च (सृज) निष्पादयस्व (प्रशस्त) श्लाघ्य (दर्शतम्) द्रष्टव्यम् ॥ ३७ ॥

अन्वयः—हे प्रशस्त मियेध्याग्ने देववीतमस्त्वं विधूमं दर्शतमरुषं सृज शोचस्व च यतस्त्वं महान् विद्वानसि तस्मादध्यापने संसीदस्व ॥ ३७ ॥

भावार्थः—यो मनुष्यो विदुषां प्रियतमः सुरूपगुणलावण्यसंपन्नः पवित्रोपचितो महानाप्तो विद्वान् भवेत्स एव शास्त्राण्यध्यापयितुं शक्नोति ॥ ३७ ॥

पदार्थः—हे (प्रशस्त) प्रशंसा के योग्य (मियेध्य) दुष्टों को पृथक् करने वाले (अग्ने) तेजस्वी विद्वान् (देववीतमः) विद्वानों को अत्यन्त इष्ट आप (विधूमम्) निर्मल (दर्शतम्) देखने योग्य (अरुषम्) सुन्दर रूप को (सृज) सिद्ध कीजिये तथा (शोचस्व) पवित्र हूजिये । जिस कारण आप (महान्) बड़े २ गुणों में युक्त विद्वान् (असि) हैं इसलिये पढ़ाने की गद्दी पर (संसीदस्व) अच्छे प्रकार स्थित हूजिये ॥ ३७ ॥

भावार्थः—जो मनुष्य विद्वानों का अत्यन्त प्रिय अच्छे रूप गुण और लावण्य से युक्त पवित्र बड़ा धर्मात्मा आप्त विद्वान् होवे वही शास्त्रों के पढ़ाने को समर्थ होता है ॥ ३७ ॥

अपोदेवीरित्यस्य सिन्धुद्वीप ऋषिः । आपो देवताः । न्यङ्कुसारिणी बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

अथ जलादिपदार्थशोधनेन प्रजासु किं जायत इत्याह ॥
आगे जल आदि पदार्थों के शोधने से प्रजा में क्या होता है इस वि० ॥

अपो देवीरुपसृज मधुमतीरयक्ष्माय प्रजाभ्यः ।
तासामास्थानादुज्जिहतामोषधयः सुपिप्पलाः ॥३८॥

अपः । देवीः । उप । सृज । मधुमतीरिति मधुऽमतीः । अयक्ष्माय । प्रजाभ्य इति प्रऽजाभ्यः । तासाम् । आस्थानादित्याऽस्थानात् । उत् । जिहताम् । ओषधयः । सुपिप्पला इति सुऽपिप्पलाः ॥ ३८ ॥

पदार्थः—(अपः) जलानि (देवीः) दिव्यानि पवित्राणि (उप) (सृज) निष्पादय (मधुमतीः) प्रशस्ता मधवो मधुरादयो गुणा विद्यन्ते यासु ताः (अयक्ष्माय) यक्ष्मादिरोगनिवारणाय (प्रजाभ्यः) पालनीयाभ्यः (तासाम्) अपाम् (आस्थानात्) आस्थायाः (उत्) (जिहताम्) प्राप्नुवन्तु (ओषधयः) सोमादयः (सुपिप्पलाः) शोभनानि पिप्पलानि फलानि यासां ताः ॥ ३८ ॥

अन्वयः—हे सद्वैद्य त्वं मधुमतीर्देवीरप उपसृज यतस्तासामास्थानात्सुपिप्पला ओषधयः प्रजाभ्योऽयक्ष्मायोज्जिहताम् ॥ ३८ ॥

भावार्थः—राज्ञा विविधा वैद्याः संरक्षणीयाः । एके सुगन्धादिहोमेन वायुवृष्ट्योषधीः शुद्धाः संपादयेयुः । अपरे सन्तो भिषजो विद्वांसो निदाना-दिद्वारा सर्वान् प्राणिनोऽरोगान् सततं रक्षयेयुः । नैतत्कर्मणा विना सर्व-प्रसुखं कदाचित्संपद्यते ॥ ३८ ॥

पदार्थः—हे श्रेष्ठ वैद्य पुरुष आप (मधुमतीः) प्रशंसित मधुर आदि गुणयुक्त (देवीः) पवित्र (अपः) जलों को (उपसृज) उत्पन्न कीजिये जिस से (तासाम्) उन जलों के (आस्थानात्) आश्रय से (सुपिप्पलाः) सुन्दर फलों वाली (ओषधयः) सोमलता आदि ओषधियों को (प्रजाभ्यः) रक्षा करने योग्य प्राणियों के (अयक्ष्माय) यक्ष्मा आदि रोगों की निवृत्ति के लिये (उज्जिहताम्) प्राप्त हूजिये ॥ ३८ ॥

भावार्थः—राजा को चाहिये कि दो प्रकार के वैद्य रक्खे । एक तो सुग-न्ध आदि पदार्थों के होम से वायु वर्षा जल और ओषधियों को शुद्ध करें । दूसरे श्रेष्ठ विद्वान् वैद्य होकर निदान आदि के द्वारा सब प्राणियों को रोगरहित रक्खें । इस कर्म के बिना संसार में सार्वजनिक सुख नहीं हो सकता ॥ ३८ ॥

सन्त इत्यस्य सिन्धुद्वीप ऋषिः । वायुर्देवता । विराट्त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

अथ स्त्रीपुरुषयोः कर्त्तव्यकर्माह ॥

अब स्त्रीपुरुष का कर्त्तव्य कर्म अगले मन्त्र में कहा है ॥

सन्ते वायुर्मातरिश्वा दधातूत्तानाया हृदयं यद्विकस्तम् । यो देवानां चरसि प्राणथेन कस्मै देव वषडस्तु तुभ्यम् ॥ ३९ ॥

सम् । ते । वायुः । मातरिश्वा । दधातु । उत्तानायाः । हृदयम् । यत् । विकस्तमिति विऽकस्तम् । यः । देवानाम् । चरसि । प्राणथेन । कस्मै । देव । वषट् । अस्तु । तुभ्यम् ॥ ३८ ॥

पदार्थः—(सम्) (ते) तव (वायुः) पवनः (मातरिश्वा) यो मातर्य्यन्तरिक्षे श्वसिति सः (दधातु) धरतु पुष्णातु वा (उत्तानायाः) उत्कृष्टस्थानः शुभलक्षणविस्तारो यस्या राज्यास्तस्याः (हृदयम्) अन्तःकरणम् (यत्) (विकस्तम्) विविधतया कस्यते शिष्यते यत् तत् (यः) विद्वान् (देवानाम्) धार्मिकाणां विदुषाम् (चरसि) गच्छसि प्राप्नोषि (प्राणथेन) येन प्राणन्ति सुखयन्ति तेन (कस्मै) सुखस्वरूपाय (देव) दिव्यसुखप्रद (वषट्) क्रियाकौशलम् (अस्तु) (तुभ्यम्) ॥ ३९ ॥

अन्वयः—हे पत्नि उत्तानायास्ते यद्विकस्तं हृदयं तद्यथाऽशोधितो मातरिश्वा वायुः संदधातु हे देवपते स्वामिन् यस्त्वं प्राणथेन देवानां यद्विकस्तं हृदयं चरसि तस्मै कस्मै तुभ्यं मत्तो वषडस्तु ॥ ३९ ॥

भावार्थः—पूर्णयुवा पुरुषो ब्रह्मचारिण्या सह विवाहं कुर्यात्तस्या अप्रियं कदाचिन्नाचरेत् । या स्त्री कन्या ब्रह्मचारिणा सहोपयमं कुर्यात्तस्यानिष्टं मनसापि न चिन्तयेत्। एवं प्रमुदितौ सन्तौ परस्परं संप्रीत्या गृहकृत्यानि संसाधयेताम् ॥ ३९ ॥

पदार्थः—हे पत्नि रानी (उत्तानायाः) बड़े शुभलक्षणों के विस्तार से युक्त (ते) आप का (यत्) जो (विकस्तम्) अनेक प्रकार से शिक्षा को प्राप्त हुआ (हृदयम्) अन्तःकरण हो उस को यज्ञ से शुद्ध हुआ (मातरिश्वा) आकाश में चलने वाला (वायुः) पवन (संदधातु) अच्छे प्रकार पुष्ट करे हे (देव) अच्छे सुख देने हारे पति स्वामी (यः) जो विद्वन् आप (प्राणथेन) सुख के हेतु प्राणवायु से (देवानाम्) धर्मात्मा विद्वानों का जिस अनेक प्रकार से शिक्षित हृदय को (चरसि) प्राप्त होते हो उस (कस्मै) सुखस्वरूप (तुभ्यम्) आपके लिये मुझ से (वषट्) क्रिया की कुशलता (अस्तु) प्राप्त होवे ॥ ३९ ॥

भावार्थः—पूर्ण जवान पुरुष जिस ब्रह्मचारिणी कुमारी कन्या के साथ विवाह करे उस के साथ विरुद्ध कभी न करे। जो कन्या पूर्ण युवती स्त्री जिस कुमार ब्रह्मचारी के साथ विवाह करे उस का अनिष्ट कभी मन से भी न विचारे इस प्रकार दोनों परस्पर प्रसन्न हुए प्रीति के साथ घरके कार्य्य संभालें ॥ ३९ ॥

सुजात इत्यस्य सिन्धुद्वीप ऋषिः । अग्निर्देवता । भुरिगनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर भी उक्त विषय का उपदेश अ० ॥

सुजातो ज्योतिषा सह शर्म वरूथमासदत्स्वः ।
वासो अग्ने विश्वरूपꣳ सं व्ययस्व विभावसो ॥४०॥

सुजात इति सुऽजातः । ज्योतिषा । सह । शर्म । वरूथम् । आ । असदत् । स्वरिति स्वः । वासः । अग्ने । विश्वरूपमिति विश्वऽरूपम् । सम् । व्ययस्व । विभावसो इति विभाऽवसो ॥४०॥

पदार्थः—(सुजातः) सुष्ठुप्रसिद्ध (ज्योतिषा) विद्याप्रकाशेन (सह) (शर्म) गृहम् (वरूथम्) वरम् (आ) (असदत्) सीद (स्वः) सुखम् (वासः) वस्त्रम् (अग्ने) अग्निरिव प्रकाशमान (विश्वरूपम्) विविधस्वरूपम् (सम्) (व्ययस्व) धरस्व (विभावसो) विविधया भया दीप्त्या सहितं वसु धनं यस्य तत्सम्बुद्धौ ॥ ४० ॥

अन्वयः—हे विभावसोऽग्ने ज्योतिषा सह सुजातस्त्वं स्वर्वरूथं शर्मासदत्सीद विश्वरूपं वासो संव्ययस्व ॥ ४० ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—विवाहितौ स्त्रीपुरुषौ यथा सूर्यो भास्वरतया सर्वं प्रकाशते तथा सुवस्त्रालंकारैरुज्ज्वलौ भूत्वा गृहादीनि वस्तूनि सदा पवित्राणि रक्षेताम् ॥ ४० ॥

पदार्थः—हे (विभावसो) प्रकाशसहित धन से युक्त (अग्ने) अग्नि के तुल्य तेजस्वी (ज्योतिषा) विद्या-प्रकाश के साथ (सुजातः) अच्छे प्रसिद्ध आप (स्वः) सुखदायक (वरूथम्) श्रेष्ठ (शर्म) घर को (आसदत्)

अच्छे प्रकार प्राप्त हूजिये (विश्वरूपम्) अनेक चित्र विचित्ररूपी (वासः) वस्त्र को (संव्ययस्व) धारण कीजिये ॥ ४० ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु०—विवाहित स्त्री पुरुषों को चाहिये कि जैसे सूर्य्य अपने प्रकाश से सब जगत् को प्रकाशित करता है वैसे ही अपने सुन्दर वस्त्र और आभूषणों से शोभायमान होके घर आदि वस्तुओं को सदा पवित्र रक्खें ॥ ४० ॥

उदुतिष्ठेत्यस्य विश्वमना ऋषिः । अग्निर्देवता । भुरिगनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनर्विद्वत्कृत्यमाह ॥
फिर भी विद्वानों का कृत्य अगले मन्त्र में कहा है ॥

उदु॑ तिष्ठ स्वध्वरावा॑ नो दे॒व्या धि॒या। दृ॒शे च॑ भा॒सा बृ॑ह॒ता सु॑शु॒क्वनि॒राग्ने॑ याहि सुश॒स्तिभिः॑॥४१॥

उत् । ऊँ इत्यूँ । ति॒ष्ठ । स्व॒ध्व॒रेति॑ सुऽअध्वर । अव॑ । नः॒ । दे॒व्या । धि॒या । दृ॒शे । च॒ । भा॒सा । बृ॒ह॒ता । सु॒शु॒क्वनि॒रिति॑ सुऽशुक्व॑निः । आ । अ॒ग्ने॒ । या॒हि॒ । सु॒श॒स्तिभि॒रिति॑ सुश॒स्तिऽभिः॑ ॥ ४१ ॥

पदार्थः—(उत्) (उ) (तिष्ठ) (स्वध्वर) शोभना अध्वरा अहिंसनीया माननीया व्यवहारा यस्य तत्सम्बुद्धौ (अव) रक्ष । अत्र द्व्यचोतस्तिङः इति दीर्घः (नः) अस्मान् (देव्या) शुद्धविद्याशिक्षायुक्तया (धिया) प्रज्ञया क्रियया वा (दृशे) द्रष्टुम् (च) (भासा) प्रकाशेन (बृहता) महता (सुशुक्वनिः) सुष्ठु शुचां पावकानां वनिः संभक्ता (आ) (अग्ने) विद्वन् (याहि) प्राप्नुहि (सुशस्तिभिः) शोभनैः प्रशंसितैर्गुणैः ॥४१॥

अन्वयः—हे स्वध्वर सज्जन विद्वन् गृहस्थ त्वं सततमुत्तिष्ठ सर्वदा प्रयतस्व। देव्या धिया नोऽव। हे अग्ने अग्निवत्प्रकाशमान सुशुक्वनिस्त्वमु दृशे बृहता भासा सूर्य इव सुशस्तिभिः सर्वा विद्या याहि। अस्माँश्च प्रापय ॥ ४१ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—विद्वद्भिः शुद्धविद्याप्रज्ञादानेन सर्वे सततं संरक्ष्याः। नहि सुशिक्षामन्तरा मनुष्याणां सुखायान्यत् किंचिद्धरणमस्ति तस्मादालस्यकपटादीनि कुकर्माणि विहाय विद्याप्रचाराय सदा प्रयतितव्यम् ॥ ४१ ॥

पदार्थः—हे (स्वध्वर) अच्छे माननीय व्यवहार करने वाले सज्जन विद्वन् गृहस्थ आप निरन्तर (उत्तिष्ठ) पुरुषार्थ से उन्नति को प्राप्त हो के अन्य मनुष्यों को प्राप्त सदा किया कीजिये (देव्या) शुद्ध विद्या और शिक्षा से युक्त (धिया) बुद्धि वा क्रिया से (नः) हम लोगों की (अव) रक्षा कीजिये हे (अग्ने) अग्नि के समान प्रकाशमान (सुशुक्वनिः) अच्छे पवित्र पदार्थों के विभाग करने हारे आप (उ) तर्क के साथ (दृशे) देखने को (बृहता) बड़े (भासा) प्रकाशरूप सूर्य के तुल्य (सुशस्तिभिः) सुन्दर प्रशंसित गुणों के साथ सब विद्याओं को (याहि) प्राप्त हूजिये। और हमारे लिये भी सब विद्याओं को प्राप्त कीजिये ॥ ४१ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु०—विद्वान् लोगों को चाहिये कि शुद्ध विद्या और बुद्धि के दान से सब मनुष्यों की निरन्तर रक्षा करें। क्योंकि अच्छी शिक्षा के विना मनुष्यों के सुख के लिये और कोई भी आश्रय नहीं है। इसलिये सब को उचित है कि आलस्य और कपट आदि कुकर्मों को छोड़ के विद्या के प्रचार के लिये सदा प्रयत्न किया करें ॥ ४१ ॥

ऊर्ध्व इत्यस्य कण्वऋषिः। अग्निर्देवता। उपरिष्टाद्बृहती छन्दः। मध्यमः स्वरः ॥

पुनर्विद्वत्कृत्यमाह ॥

फिर भी उक्त विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

ऊर्ध्व ऊ षु ण ऊतये तिष्ठा देवो न सविता । ऊर्ध्वो वाजस्य सनिता यदञ्जिभिर्वाघद्भिर्विह्वयामहे ॥ ४२ ॥

ऊर्ध्वः । ऊँ इत्यूँ । सु । नः । ऊतये । तिष्ठ । देवः । न । सविता । ऊर्ध्वः । वाजस्य । सनिता । यत् । अञ्जिभिरित्यञ्जिऽभिः । वाघद्भिरिति वाघत्ऽभिः । विह्वयामह इति विऽह्वयामहे ॥ ४२ ॥

पदार्थः—(ऊर्ध्वः) उपरिस्थः (उ) (सु) (नः) अस्माकम् (ऊतये) रक्षणाद्याय (तिष्ठ) द्व्यचोऽतस्तिङ इति दीर्घः (देवः) द्योतकः (न) इव (सविता) भास्करः (ऊर्ध्वः) उत्कृष्टः (वाजस्य) विज्ञानस्य (सनिता) संभाजकः (यत्) यः (अञ्जिभिः) व्यक्तिकारकैः किरणैः (वाघद्भिः) युद्धविद्याकुशलैर्मेधाविभिः (विह्वयामहे) विशेषेण स्पर्द्धामहे ॥ ४२ ॥

अन्वयः—हे विद्वन्नध्यापक त्वमूर्ध्वः सविता देवो न न ऊतये सुतिष्ठ सुस्थिरो भव । यद्यस्त्वमञ्जिभिर्वाघद्भिः सह वाजस्य सनिता भव तमु वयं विह्वयामहे ॥ ४२ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—अध्यापकोपदेशका जना यथा सविता भूमिचन्द्रादिभ्य उपरिस्थः सन् स्वज्योतिषा सर्वं संरक्ष्य प्रकाशयति तथोत्कृष्टगुणैर्विद्यान्यायं प्रकाश्य सर्वाः प्रजाः सदा सुशोभयेयुः ॥ ४२ ॥

पदार्थः—हे अध्यापक विद्वान् आप (ऊर्ध्वः) ऊपर आकाश में रहने वाले (देवः) प्रकाशक (सविता) सूर्य के (न) समान (नः) हमारी (ऊतये) रक्षा आदि के लिये (सुतिष्ठ) अच्छे प्रकार स्थित हूजिये (यत्) जो आप (अञ्जिभिः) प्रकट करने हारे किरणों के सदृश (वाघद्भिः) युद्ध-

विद्या में कुशल बुद्धिमानों के साथ (वाजस्य) विज्ञान के (सनिता) सेवने-हारे हूजिये (उ) उसी को हम लोग (विह्वयामहे) विशेष करके बुलावें हैं॥ ४२॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु०—अध्यापक और उपदेशक विद्वान् को चाहिये कि जैसे सूर्य भूमि और चन्द्रमा आदि लोकों से ऊपर स्थित होके अपनी किरणों से सब जगत् की रक्षा के लिये प्रकाश करता है। वैसे उत्तम गुणों से विद्या और न्याय का प्रकाश करके सब प्रजाओं को सदा सुशोभित करें॥ ४२॥

स जात इत्यस्य त्रित ऋषिः। अग्निर्देवता। विराट्त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

अथ जनकापत्यव्यवहारमाह॥

अब पिता पुत्र का व्यवहार अगले मन्त्र में कहा है॥

स जातो गर्भो असि रोदस्योरग्ने चारुर्विभृत ओषधीषु। चित्रः शिशुः परि तमांसि अक्तून् प्र मातृभ्यो अधि कनिक्रदद् गाः॥ ४३॥

सः। जातः। गर्भः। असि। रोदस्योः। अग्ने। चारुः। विभृत इति विऽभृतः। ओषधीषु। चित्रः। शिशुः। परि। तमांसि। अक्तून्। प्र। मातृभ्य इति मातृऽभ्यः। अधि। कनिक्रदत्। गाः॥ ४३॥

पदार्थः—(सः) (जातः) प्रसिद्धः (गर्भः) यो गीर्यते स्वीक्रियते सः (असि) (रोदस्योः) द्यावापृथिव्योः (अग्ने) विद्वन् (चारुः) सुन्दरः (विभृतः) विशेषेण धृतः पोषितो वा (ओषधीषु) सोमादिषु (चित्रः)

अद्भुतः (शिशुः) बालकः (परि) (तमांसि) रात्रीः (अक्तून्) अन्धकारान् (प्र) (मातृभ्यः) मान्यकर्त्रीभ्यः (अधि) (कनिक्रदत्) गच्छन् (गाः) गच्छति । अत्राऽडभावः ॥ ४३ ॥

अन्वयः—हे अग्ने यस्त्वं यथा रोदस्योर्जातश्चारुरोषधीषु विभृतश्चित्रो गर्भोऽर्को मातृभ्यस्तमांस्यक्तून् पर्य्यधिकनिक्रदत्सन् गा गच्छति तथाभूतः शिशुर्गा विद्याः प्राप्नुहि ॥ ४३ ॥

भावार्थः—यथा ब्रह्मचर्य्यादिशुभनियमैर्जनितः पुत्रो विद्या अधीत्य पितरौ सुखयति तथैव जनकौ प्रजाः सुखयेताम् ॥ ४३ ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) विद्वन् जो आप जैसे (रोदस्योः) आकाश और पृथिवी में (जातः) प्रसिद्ध (चारुः) सुन्दर (ओषधीषु) सोमलतादि ओषधियों में (विभृतः) विशेष करके धारण वा पोषण किया (चित्रः) आश्चर्यरूप (गर्भः) स्वीकार करने योग्य सूर्य्य (मातृभ्यः) मान्य करने हारी माता अर्थात् किरणों से (तमांसि) रात्रियों तथा (अक्तून्) अन्धेरों को (पर्य्यधिकनिक्रदत्) सब ओर से अधिक करके चलता हुआ (गाः) चलाता है वैसे ही (शिशुः) बालक (गाः) विद्या को प्राप्त होवें ॥ ४३ ॥

भावार्थः—जैसे ब्रह्मचर्य्य आदि अच्छे नियमों से उत्पन्न किया पुत्र विद्या पढ़ के माता पिता को सुख देता है वैसे ही माता पिता को चाहिये कि प्रजा को सुख देवें ॥ ४३ ॥

स्थिरो भवेत्यस्य त्रित ऋषिः । अग्निर्देवता । विराडनुष्टुप्छन्दः गान्धारः स्वरः ॥

अथ पितरौ स्वापत्यानि कथं शिक्षयातामित्यु० ॥

अब माता पिता अपने सन्तानों को किस प्रकार शिक्षा करें यह वि० ॥

स्थिरो भव वीड्वङ्ग आशुर्भव वाज्यर्वन् ।
पृथुर्भव सुषदस्त्वमग्नेः पुरीषवाहणः ॥ ४४ ॥

स्थिरः । भव । वीड्वङ्गइतिं वीडुऽअंङ्गः । आशुः । भव । वाजी । अर्वन् । पृथुः । भव । सुषदः । सुसदइतिं सुसदः । त्वम् । अग्नेः । पुरीषवाहणः । पुरीषवाहनइतिं पुरीषऽवाहनः ॥ ४४ ॥

पदार्थः—(स्थिरः) निश्चलः (भव) (वीड्वङ्गः) वीडूनि दृढानि बलिष्ठान्यङ्गानि यस्य सः (आशुः) शीघ्रकारी (भव) (वाजी) प्राप्तनीतिः (अर्वन्) विज्ञानयुक्त (पृथुः) विस्तृतसुखः (भव) (सुषदः) यः शोभनेषु व्यवहारेषु सीदति सः (त्वम्) (अग्नेः) पावकस्य (पुरीषवाहणः) यः पुरीषाणि पालनादीनि कर्माणि वाहयति प्रापयति सः ॥ ४४ ॥

अन्वयः—हे अर्वन् पुत्र त्वं विद्याग्रहणाय स्थिरो भव वाजी वीड्वङ्ग आशुर्भव । त्वमग्नेः सुषदः पुरीषवाहणः पृथुर्भव ॥ ४४ ॥

भावार्थः—हे सुसन्ताना युष्माभिर्ब्रह्मचर्येण शरीरबलं विद्यासुशिक्षाभ्यामात्मबलं पूर्णं दृढं कृत्वा स्थिरतया रक्षा विधेया । आग्नेयाऽस्त्रादिना शत्रुविनाशश्चेति मातापितरः स्वसन्तानान् सुशिक्षेयुः ॥ ४४ ॥

पदार्थः—हे (अर्वन्) विज्ञानयुक्त पुत्र तू विद्या-ग्रहण के लिये (स्थिरः) दृढ़ (भव) हो (वाजी) नीति को प्राप्त होके (वीड्वङ्गः) दृढ़ अति बलवान् अवयवों से युक्त (आशुः) शीघ्र कर्म करने वाला (भव) हो तू (अग्नेः) अग्नीसंबन्धी (सुषदः) सुन्दर व्यवहारों में स्थित और (पुरीषवाहणः) पालन आदि शुभ कर्मों को प्राप्त कराने वाला (पृथुः) सुख का विस्तार करने हारा (भव) हो ॥ ४४ ॥

भावार्थः—हे अच्छे सन्तानो ! तुम को चाहिये कि ब्रह्मचर्य्य सेवन से शरीर का बल और विद्या तथा अच्छी शिक्षा से आत्मा का बल पूर्ण दृढ़ कर स्थिरता से रक्षा करो और आग्नेय आदि अस्त्र विद्या से शत्रुओं का विनाश करो इस प्रकार माता पिता अपने सन्तानों को शिक्षा करें ॥ ४४ ॥

शिव इत्यस्य चित्र ऋषिः । अग्निर्देवता । विराट्पथ्या बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

पुनस्तैः प्रजासु कथं वर्त्तितव्यमित्याह ॥
फिर उन को प्रजा में कैसे वर्त्तना चाहिये इस वि० ॥

शिवो भव प्रजाभ्यो मानुषीभ्यस्त्वमङ्गिरः । मा द्यावापृथिवी अभि शोचीर्मान्तरिक्षं मा वनस्पतीन् ॥ ४५ ॥

शिवः । भव । प्रजाभ्य इति प्रजाऽभ्यः । मानुषीभ्यः । त्वम् । अङ्गिरः । मा । द्यावापृथिवी इति द्यावापृथिवी । अभि । शोचीः । मा । अन्तरिक्षम् । मा । वनस्पतीन् ॥ ४५ ॥

पदार्थः—(शिवः) कल्याणकारी मङ्गलमयः (भव) (प्रजाभ्यः) प्रसिद्धाभ्यः (मानुषीभ्यः) मनुष्यादिभ्यः (त्वम्) (अङ्गिरः) प्राण इव प्रिय (मा) निषेधे (द्यावापृथिवी) विद्युद्भूमी (अभि) आभ्यन्तरे (शोचीः) शोकं कुर्याः (मा) (अन्तरिक्षम्) अवकाशम् (मा) (वनस्पतीन्) वटादीन् ॥ ४५ ॥

अन्वयः—हे अङ्गिरस्त्वं मानुषीभ्यः प्रजाभ्यः शिवो भव द्यावापृथिवी माभिशोचीरन्तरिक्षं माभिशोचीर्वनस्पतीन्माभिशोचीः ॥ ४५ ॥

भावार्थः—सन्तानैः प्रजाः प्रति मङ्गलाचरणेन भूत्वा पृथिव्यादीनां मध्ये निश्शोकैः स्थातव्यम् । किन्त्वेतेषां रक्षा विद्योपकारायोत्साहतया प्रयतितव्यम् ॥ ४५ ॥

पदार्थः—हे (अङ्गिरः) प्राणों के समान प्रिय सुसन्तान तू (मानुषीभ्यः) मनुष्य आदि (प्रजाभ्यः) प्रसिद्ध प्रजाओं के लिये (शिवः) कल्याणकारी

मङ्गलमय (भव) हो (द्यावापृथिवी) बिजुली और भूमि के विषय में (मा) मत (अभिशोचीः) अतिशोच मत कर (अन्तरिक्षम्) अवकाश के विषय में (मा) मत शोच कर और (वनस्पतीन्) वट आदि वनस्पतियों का शोच मत कर ॥ ४५ ॥

भावार्थः—सुखन्ताओं को चाहिये कि प्रजा के प्रति मङ्गलाचारी हो के पृथिवी आदि पदार्थों के विषय में शोकरहित होवें। किन्तु इन सब पदार्थों की रक्षा विधान कर उपकार के लिये उत्साह के साथ प्रयत्न करें ॥ ४५ ॥

प्रैतु वाजीत्यस्य त्रितऋषिः । अग्निर्देवता । ब्राह्मी बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

पुनः स एव विषय उपदिश्यते ॥

फिर भी उक्त वि० ॥

प्रैतु वाजी कनिक्रदन्नानदद्रासभः पत्वा । भरन्नग्निं पुरीष्यं मा पाद्यायुषः पुरा । वृषाग्निं वृषणं भरन्नपां गर्भं समुद्रियम् । अग्न आ याहि वीतये ॥ ४६ ॥

प्र । एतु । वाजी । कनिक्रदत् । नानदत् । रासभः । पत्वा । भरन् । अग्निम् । पुरीष्यम् । मा । पादि । आयुषः । पुरा । वृषा । अग्निम् । वृषणम् । भरन् । अपाम् । गर्भम् । समुद्रियम् । अग्ने । आ । याहि । वीतये ॥ ४६ ॥

पदार्थः—(प्र) (एतु) गच्छतु (वाजी) अश्वः (कनिक्रदत्) गच्छन् (नानदत्) भृशं शब्दं कुर्वन् (रासभः) दातुं योग्यः (पत्वा)

पतति गच्छतीति (भरन्) धरन् (अग्निम्) विद्युतम् (पुरीष्यम्) पुरीषेषु पालनेषु साधुम् (मा) (पादि) गच्छ (आयुषः) नियतवर्षाज्जीवनात् (पुरा) पूर्वम् (वृषा) बलिष्ठः (अग्निम्) सूर्य्याख्यम् (वृषणम्) वर्षयितारम् (भरन्) (अपाम्) जलानाम् (गर्भम्) (समुद्रियम्) समुद्रे भवम् (अग्ने) विद्वन् (आ) (याहि) प्राप्नुहि (वीतये) विविधसुखानां व्याप्तये ॥ ४६ ॥

अन्वयः—हे अग्ने सुसन्तान भवान् कनिक्रदन्नानदद्रासभः पत्वा वाजीवायुषः पुरा मा मैतु । पुरीष्यमग्निं भरन्मा पादि । इतस्ततो मागच्छ वृषापां गर्भं समुद्रियं वृषणमग्निं भरन् सन् वीतय आयाहि ॥ ४६ ॥

भावार्थः—मनुष्या विषयलोलुपतात्यागेन ब्रह्मचर्येण पूर्णजीवनं धृत्वाऽग्न्यादिपदार्थविज्ञानाद्धर्म्यं व्यवहारमुन्नयेयुः ॥ ४६ ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) विद्वन् उत्तम सन्तान तू (कनिक्रदत्) चलते और (नानदत्) शीघ्र शब्द करते हुए (रासभः) देने योग्य (पत्वा) चलने वाले वा (वाजी) घोड़ा के समान (आयुषः) नियत वर्षों की अवस्था से (पुरा) पहिले (मा) न (मैतु) मरे (पुरीष्यम्) रक्षा के हेतु पदार्थों में उत्तम (अग्निम्) बिजुली (भरन्) धारण करता हुआ (मापादि) इधर उधर मत भाग जैसे (वृषा) अतिबलवान् (अपाम्) जलों के (समुद्रियम्) समुद्र में हुए (गर्भम्) स्वीकार करने योग्य (वृषणम्) वर्षा करने हारे (अग्निम्) सूर्य्य को (भरन्) धारण करता हुआ (वीतये) सुखों की व्याप्ति के लिये (आयाहि) अच्छे प्रकार प्राप्त हो ॥ ४६ ॥

भावार्थः—राजा आदि मनुष्यों को योग्य है कि अपने सन्तानों को विषयों की लोलुपता से छुड़ा के ब्रह्मचर्य्य के साथ पूर्ण अवस्था को धारण कर अग्नि आदि पदार्थों के विज्ञान से धर्मयुक्त व्यवहार की उन्नति करावें ॥ ४६ ॥

ऋतमित्यस्य त्रितऋषिः । अग्निर्देवता । विराड्ब्राह्मी त्रिष्टुप्छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

मनुष्यैः किं किमाचरणीयं किं किं च त्यक्तव्यमित्याह ॥

मनुष्यों को क्या २ आचरण करना और क्या २ छोड़ना चाहिये यह वि० ॥

ऋतꣳ सत्यमृतꣳ सत्यमग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वद्भरामः । ओषधयः प्रतिमोदध्वमग्निमेतꣳ शिवमायन्तमभ्यत्र युष्माः । व्यस्यन् विश्वा अनिरा अमीवा निषीदन्नो अप दुर्मतिं जहि ॥ ४७ ॥

ऋतम् । सत्यम् । ऋतम् । सत्यम् । अग्निम् । पुरीष्यम् । अङ्गिरस्वत् । भरामः । ओषधयः । प्रति । मोदध्वम् । अग्निम् । एतम् । शिवम् । आयन्तमित्याऽयन्तम् । अभि । अत्र । युष्माः । व्यस्यन्निति विऽअस्यन् । विश्वाः । अनिराः । अमीवाः । निषीदन् । निसीदन्निति निऽसीदन् । नः । अप । दुर्मतिमिति दुःऽमतिम् । जहि ॥ ४७ ॥

पदार्थः—(ऋतम्) यथार्थम् (सत्यम्) अविनश्वरम् (ऋतम्) अव्यभिचारी (सत्यम्) सत्सु पुरुषेषु साधु सत्यं मानं भाषणं कर्म च (अग्निम्) विद्युतम् (पुरीष्यम्) पालनसाधनेषु भवम् (अङ्गिरस्वत्) वायुवत् (भरामः) धरामः (ओषधयः) यवादयः (प्रति) (मोदध्वम्) सुखयत (अग्निम्) (एतम्) पूर्वोक्तम् (शिवम्) मङ्गलकारिणम् (आयन्तम्) प्राप्नुवन्तम् (अभि) आभिमुख्ये (अत्र) (युष्माः) युष्मान् । अत्र वाच्छन्दसीति शसो नादेशाभावः (व्यस्यन्) विविधतया प्रक्षिपन् (विश्वाः) सर्वाः (अनिराः) नितरां दातुमयोग्याः (अमीवाः) रोगपीडाः

(निषीदन्) अवस्थिताः सन् (नः) अस्माकम् (अप) दूरीकरणे (दुर्मतिम्) दुष्टां मतिम् (जहि) नाशय ॥ ४७ ॥

अन्वयः—हे सन्ताना यथा वयमृतं सत्यमृतं सत्यं पुरीष्यमग्निमङ्गिरस्वद्भरामः । एतमायन्तं शिवमग्निं भूत्वा यूयमप्यभिमोदध्वम् । या ओषधयो युष्मान् प्रति प्राप्नुवन्ति ता वयं भरामः । हे वैद्य त्वं विश्वा अनिरा अमीवा व्यस्यन्नत्र निषीदन्नो दुर्मतिमपजहि दूरीकुर्विरत्येनं प्रार्थयत ॥ ४७ ॥

भावार्थः—मनुष्या ऋतं सत्यं परं सत्यं कारणं ब्रह्मापरमृतं सत्यमव्यक्तं जीवाख्यं सत्यभाषणादिकं प्रकृतिजमग्न्योषधिसमूहं च विद्यया शरीरस्य ज्वरादिरोगानात्मनोऽविद्यादींश्च निरस्य मादकद्रव्यत्यागेन सुमतिं संपाद्य सुखं प्राप्य नित्यं मोदन्तां मा कदाचिदेतद्विपरीताचरणेन सुखं हित्वा दुःखसागरे पतन्तु ॥ ४७ ॥

पदार्थः—हे सुसन्तानो जैसे हम लोग (ऋतम्) यथार्थ (सत्यम्) नाशरहित (ऋतम्) अव्यभिचारी (सत्यम्) सत्पुरुषों में श्रेष्ठ तथा सत्य मानना बोलना और करना (पुरीष्यम्) रक्षा के साधनों में उत्तम (अग्निम्) बिजुली को (अङ्गिरस्वत्) वायु के तुल्य (भरामः) धारण करते हैं (एतम्) इस पूर्वोक्त (आयन्तम्) प्राप्त हुए (शिवम्) मङ्गलकारी (अग्निम्) बिजुली को प्राप्त हो के तुम लोग भी (अभिमोदध्वम्) आनन्दित रहो जो (ओषधयः) जो आदि ओषधि (युष्माः) तुम्हारे (प्रति) लिये प्राप्त होवें उन को हम लोग धारण करते हैं वैसे तुम भी करो । हे वैद्य आप (विश्वाः) सब (अनिराः) जो निरन्तर देने योग्य न हों (अमीवाः) ऐसी रोगों की पीड़ा (व्यस्यन्) अनेक प्रकार से अलग करते और (अत्र) इस आयुर्वेद विद्या में (निषीदन्) स्थित हो के (नः) हम लोगों की (दुर्मतिम्) दुष्ट बुद्धि को (अपजहि) सब प्रकार दूर कीजिये इस प्रकार इस वैद्य की प्रार्थना करो ॥ ४७ ॥

भावार्थः—हे मनुष्यो तुम लोगों को उचित है कि यथार्थ अविनाशी परकारण ब्रह्म दूसरा कारण यथार्थ अविनाशी अव्यक्त जीव सत्य भाषणादि तथा प्रकृति से उत्पन्न हुए अग्नि और ओषधि आदि पदार्थों के धारण से शरीर के ज्वर आदि रोगों और आत्मा के अविद्या आदि दोषों को छुड़ा के मद

आदि द्रव्यों के त्याग से अच्छी बुद्धि कर और सुख को प्राप्त हो के नित्य आनन्द में रहो। और कभी इससे विपरीत आचरण कर सुख को छोड़ के दुःख-सागर में मत गिरो॥ ४७॥

ओषधय इत्यस्य त्रित ऋषिः। अग्निर्देवता। भुरिगनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः॥

स्त्रियोऽपि किं किमाचरेयुरित्याह॥

स्त्रियों को क्या २ आचरण करना चाहिये यह वि०॥

ओषधयः प्रतिगृभ्णीत पुष्पवतीः सुपिप्पलाः। अयं वो गर्भ ऋत्वियः प्रत्नꣳसधस्थमासदत्॥ ४८॥

ओषधयः। प्रति। गृभ्णीत। पुष्पवतीरिति पुष्पऽवतीः। सुपिप्पला इति सुऽपिप्पलाः। अयम्। वः। गर्भः। ऋत्वियः। प्रत्नम्। सधस्थमिति सधऽस्थम्। आ। असदत्॥ ४८॥

पदार्थः—(ओषधयः) सोमाद्याः (प्रति) (गृभ्णीत) गृह्णीत (पुष्पवतीः) प्रशस्तानि पुष्पाणि यासां ताः (सुपिप्पलाः) शोभनफलाः (अयम्) (वः) युष्माकम् (गर्भः) (ऋत्वियः) ऋतुः प्राप्तोऽस्य सः (प्रत्नम्) पुरातनम् (सधस्थम्) सहस्थानम् (आ) (असदत्) प्राप्नुयात्॥ ४८॥

अन्वयः—हे स्त्रियो यूयं या ओषधयः सन्ति याभ्योऽयमृत्वियो गर्भो वः प्रत्नं सधस्थं गर्भाशयमासदत्ताः पुष्पवतीः सुपिप्पला ओषधीः प्रति गृभ्णीत॥ ४८॥

भावार्थः—मातापितृभ्यां कन्याभ्यो व्याकरणादिकमध्याप्य वैद्यकशास्त्रमप्यध्यापनीयम् । यत इमा आरोग्यकारिका गर्भसंपादिनीरोषधीर्विज्ञाय सुसन्तानान्युत्पाद्य सततं मोदेरन् ॥ ४८ ॥

पदार्थः—हे स्त्रियो तुम लोग जो (ओषधयः) सोमलता आदि ओषधि हैं जिन से (अयम्) यह (ऋत्वियः) ठीक ऋतु काल को प्राप्त हुआ (गर्भः) गर्भ (वः) तुम्हारे (प्रत्नम्) प्राचीन (सधस्थम्) नियत स्थान गर्भाशय को प्राप्त होवे उन (पुष्पवतीः) श्रेष्ठ पुष्पों वाली (सुपिप्पलाः) सुन्दर फलों से युक्त ओषधियों को (प्रतिगृभ्णीत) निश्चय करके ग्रहण करो ॥ ४८ ॥

भावार्थः—माता पिता को चाहिये कि अपनी कन्याओं को व्याकरणादि शास्त्र पढ़ा के वैद्यक शास्त्र पढ़ावें । जिससे ये कन्या लोग रोगों का नाश और गर्भ का स्थापन करने वाली ओषधियों को जान और अच्छे सन्तानों को उत्पन्न करके निरन्तर आनन्द भोगें ॥ ४८ ॥

विपाजसेत्यस्योत्कील ऋषिः । अग्निर्देवता । त्रिष्टुप्छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

विवाहसमये स्त्रीपुरुषौ किं किं प्रतिजानीयातामित्यु० ॥

विवाह के समय स्त्री और पुरुष क्या २ प्रतिज्ञा करें यह वि० ॥

विपाजसा पृथुना शोशुचानो बाधस्व द्विषो रक्षसो अमीवाः । सुशर्मणो बृहतः शर्मणि स्याम्ग्नेरहꣳसुहवस्य प्रणीतौ ॥ ४९ ॥

वि । पाजसा । पृथुना । शोशुचानः । बाधस्व । द्विषः । रक्षसः । अमीवाः । सुशर्म्मणऽइति सुऽशर्मणः । बृहतः । शर्म-

षि । स्याम । अग्नेः । अहम् । सुहवस्येति सुऽहवस्य । प्रणीतौ । प्रनीताविति प्रऽनीतौ ॥ ४६ ॥

पदार्थः—(वि) विविधेन (पाजसा) बलेन । पातेर्बले जुट् च । उ० ४ । १०२ । इत्यसुन् । पाजइति बलना० । निघं० २ । ६ । (पृथुना) विस्तीर्णेन (शोशुचानः) भृशं शुचिः सन् (बाधस्व) (द्विषः) शत्रुभूता व्यभिचारिणीर्वृषलीः (रक्षसः) दुष्टाः (अमीवाः) रोगइव प्राणिनां पीडकाः (सुशर्मणः) सुशोभितगृहस्य (बृहतः) महतः (शर्मणि) सुख- ... स्याम्) वर्त्तेय (अग्नेः) अग्निवद्देदीप्यमानस्य (अहम्) ...स्य) शोभनो हवो ग्रहणं दानं वा यस्य तस्य (प्रणीतौ) ...नीतौ ॥ ४६ ॥

अन्वयः—हे पते यदि त्वं पृथुना विपाजसा बलेन सह ...शुचानः सदा वर्त्तेथा अमीवा रक्षसो द्विषो बाध न तर्हि बृहतः सुशर्मणः सुहवस्याग्नेस्ते शर्मणि प्रणीतौ चाहं पत्नी स्याम् ॥ ४६ ॥

भावार्थः—विवाहसमये पुरुषेण स्त्रिया च व्यभिचारत्यागस्य प्रतिज्ञां कृत्वा व्यभिचारिणीनां स्त्रीणां लम्पटानां पुरुषाणां च सर्वथा संगं त्यक्त्वा परस्परमप्यतिविषयासक्तिं विहाय ऋतुगामिनौ भूत्वाऽन्योऽन्यं प्रीत्या वीर्यवदपत्यान्युत्पादयेताम् । नहि व्यभिचारेण तुल्यं स्त्रियाः पुरुषस्य चाप्रियमनायुष्यमकीर्तिकरं कर्म विद्यते तस्मादेतत्सर्वथा त्यक्त्वा धर्माचारिणौ भूत्वा दीर्घायुषौ स्याताम् ॥ ४६ ॥

पदार्थ—हे पते जो आप (पृथुना) विस्तृत (वि) विविध प्रकार के (पाजसा) बल के साथ (शोशुचानः) शीघ्र शुद्ध सदा वर्त्ते और (अमीवाः) रोगों के समान प्राणियों को पीड़ा देने हारी (रक्षसः) दुष्ट (द्विषः) शत्रुरूप व्यभिचारिणी स्त्रियों को (बाधस्व) ताड़ना देवें तो मैं (बृहतः) बड़े (सुशर्मणः) अच्छे शोभायमान (सुहवस्य) सुन्दर लेना देना व्यवहार जिस में हो ऐसे (अग्नेः) अग्नि के तुल्य प्रकाशमान आपके (शर्मणि) सुख-

कारक घर में और (प्रणीतौ) उत्तम धर्मयुक्त नीति में आप की स्त्री (स्याम्) होऊं ॥ ४६ ॥

भावार्थः—विवाह समय में स्त्री पुरुष को चाहिये कि व्यभिचार छोड़ने की प्रतिज्ञा कर व्यभिचारिणी स्त्री और लम्पट पुरुषों का संग सर्वथा छोड़ आपस में भी अतिविषयासक्ति को छोड़ और ऋतुगामी होके परस्पर प्रीति के साथ पराक्रम वाले सन्तानों को उत्पन्न करें। क्योंकि स्त्री या पुरुष के लिये अप्रिय, आयु का नाशक, निन्दा के योग्य कर्म व्यभिचार के समान दूसरा कोई भी न[illegible] है इसलिये इस व्यभिचार कर्म को सब प्रकार छोड़ और धर्माचरण करने [illegible] हो के पूर्ण अवस्था के सुख को भोगें ॥ ४६ ॥

आपो हिष्ठेत्यस्य सिन्धुद्वीपं ऋषिः। आपो देवता। गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः ॥

पुनः [illegible]तविवाहाः स्त्रीपुरुषा अन्योन्यं कथं वर्त्तेरन्नित्याह ॥

[illegible] स्त्री और पुरुष आपस में कैसे वर्त्ते यह वि० ।

आपो हिष्ठा मयोभुवस्तानं ऊर्जे दधातन। महे रणाय चक्षसे ॥ ५० ॥

आपः। हि। स्थ। मयोभुवइति मयःऽभुवः। ताः। नः। ऊर्जे। दधातन। महे। रणाय। चक्षसे ॥ ५० ॥

पदार्थः—(आपः) आप इव शुभगुणव्यापिकाः (हि) खलु (स्थ) भवन्ति [illegible] अन्येषामपीति दीर्घः (मयोभुवः) सुखं भावुकाः (ताः) (नः) अस्माकम् (ऊर्जे) बलयुक्ताय (दधातन) धरत (महे) महते (रणाय) संग्रामाय (चक्षसे) ख्यातुं योग्याय ॥ ५० ॥

अन्वयः—हे जलवद्वर्त्तमाना आप इव याः स्त्रियो यूयं मयोभुवः स्थ ता ऊर्जे महे रणाय चक्षसे नो दधातन ॥ ५० ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—यथा स्त्रियः स्वपतीन् प्रीणयेयुस्तथैव पतयः स्वस्य स्त्रियः सदा सुखयन्तु। एते युद्धकर्मण्यपि पृथक् न वसेयुरर्थात्स-हैव सदा वर्त्तेरन् ॥ ५० ॥

पदार्थः—हे (आपः) जलों के समान शुभ गुणों में व्याप्त होने वाली श्रेष्ठ स्त्रियो जो तुम लोग (मयोभुवः) सुख भोगने वाली (स्थ) हो (ताः) वे तुम (ऊर्जे) बलयुक्त पराक्रम और (महे) बड़े २ (चक्षसे) कहने योग्य (रणाय) संग्राम के लिये (नः) हम लोगों को (हि) निश्चय करके (दधा-तन) धारण करो ॥ ५० ॥

भावार्थः—इस मंत्र में वाचकलु०—जैसे स्त्री अपने पतियों को रक्खें वैसे पति भी अपनी २ स्त्रियों को सदा सुख देवें। ये दोनों युद्धकर्म में पृथक् २ न वसें। अर्थात् इकट्ठे ही सदा वर्त्ताव रक्खें ॥ ५० ॥

यो व इत्यस्य सिन्धुद्वीप ऋषिः। आ[illegible] देवता। गाय[illegible] छन्दः। [illegible] षड्जः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर भी वही उक्त विषय अगले मंत्र में कहा है ॥

यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः। उशतीरिव मातरः ॥ ५१ ॥

यः। वः। शिवतम इति शिवऽतमः। रसः। तस्य। भाजयत। इह। नः। उशतीरिवेत्युशतीःऽइव। मातरः ॥ ५१ ॥

पदार्थः—(यः) (वः) युष्माकम् (शिवतमः) अतिशयेनसुखकारी (रसः) आनन्दः (तस्य) (भाजयत) सेवयत (इह) अस्मिन् गृहाश्रमे (नः) अस्माकमस्मान् वा (उशतीरिव) यथा कामयमानाः (मातरः) जनन्यः ॥ ५१ ॥

अन्वयः—हे स्त्रियो यो न इह यः शिवतमो रसोऽस्ति तस्य मातरः पुत्रानुशतीरिव भाजयत ॥ ५१ ॥

भावार्थः—स्त्रीनिर्मातापितरौ पुत्रानिव स्वं स्वं पतिं स्वा स्वा पत्नी प्रीत्या सेवताम् । एवमेव स्वां स्वां स्त्रियं पतिरच यथा जलानि तृषातुरान् प्राणिनस्तृप्यन्ति तथैव सुशीलतयानन्देन तृप्ताः सन्तु ॥ ५१ ॥

पदार्थः—हे स्त्रियो (यः) तुम्हारा और (नः) हमारा (इह) इस गृहाश्रम में (शिवतमः) अत्यन्त सुखकारी (रसः) कर्त्तव्य आनन्द है (तस्य) उस का (मातरः) (उशतीरिव) जैसे कामयमान माता अपने पुत्रों को सेवन करती है वैसे (भाजयत) सेवन करो ॥ ५१ ॥

भावार्थः—स्त्रियों को चाहिये कि जैसे माता पिता अपने पुत्रों का सेवन करते हैं वैसे पतियों को प्रीतिपूर्वक सेवा करें। ऐसे ही अपनी २ स्त्रियों की पति भी सेवें जैसे प्यासे प्राणियों को जल तृप्त करता है वैसे अच्छे स्वभाव के आनन्द से स्त्री पुरुष भी परस्पर प्रसन्न रहें ॥ ५१ ॥

तस्मा इत्यस्य सिन्धुद्वीप ऋषिः । आपो देवताः । गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर उक्त विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

तस्मा अरं॑ङ्गमाम वो॒ यस्य॒ क्षया॑य॒ जिन्व॑थ । आपो॑ ज॒नय॑था च नः ॥ ५२ ॥

तस्मै॑ । अर॑म् । ग॒मा॒म॒ । वः॒ । यस्य॑ । क्षया॑य । जिन्व॑थ । आप॑ः । ज॒नय॑थ । च॒ । नः॒ ॥ ५२ ॥

पदार्थः—(तस्मै) वक्ष्यमाणाय (अरम्) अलम् । अत्र कपिलकादित्वाल्लत्वम् (गमाम) गच्छेम (वः) युष्मान् (यस्य) जनस्य (क्षयाय) निवासार्थाय गृहाय (जिन्वथ) प्रीणयत (आपः) जलानीव (जनयथ) उत्पादयत । अत्रान्येषामपीति दीर्घः (च) सुखादीनां समुच्चये (नः) अस्माकम् ॥ ५२ ॥

अन्वयः—हे आपो जलवद्वर्त्तमानाः या यूयं नः क्षया[य] जिन्वथ जनयथ च ता वो युष्मान्वयमरं गमाम यस्य प्रतिज्ञातस्य ध[र्म्यव्यव]हारस्य पालिका भवत तस्यैव वयमपि भवेम ॥ ५२ ॥

भावार्थः—पुरुषो यस्याः स्त्रियः पतिर्यस्य पुरुषस्य क[स्याश्चित् स्त्री] पत्नी भवेत्स सा च परस्परस्यानिष्टं कदापि न कुर्य्यात् । एवं [सुखसन्तानै]रलंकृतौ भूत्वा धर्मेण गृहकृत्यानि कुर्य्याताम् ॥ ५२ ॥

पदार्थः—हे (आपः) जलों के समान शान्त स्व... [स्त्री] लोगो जो तुम लोग (नः) हम लोगों के (क्षयाय) निवासस्थान के लिये (जिन्वथ) तृप्त और (जनयथ) अच्छे सन्तान उत्पन्न करो उन (वः) तुम लोगों को हम लोग (अरम्) सामर्थ्य के साथ (गमाम) प्राप्त होवें । जिस धर्मयुक्त व्यवहार की प्रतिज्ञा करो उसका पालन करने वाली होओ और उसी का पालन करने वाले हम लोग भी होवें ॥ ५२ ॥

भावार्थः—जिस पुरुष की जो स्त्री वा जिस स्त्री का जो पुरुष हो वे आपस में किसी का अनिष्ट-चिन्तन कदापि न करें ऐसे ही सुख और सन्तानों से शोभायमान हो के धर्म्म से घर के कार्य्य करें ॥ ५२ ॥

मित्र इत्यस्य सिन्धुद्वीप ऋषिः । मित्रो देवता । उपरिष्टाद्-बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर भी वही विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

मित्रः सꣳसृज्य पृथिवीं भूमिं च ज्योतिषा सह । सुजातं जातवेदसमयक्ष्माय त्वा सꣳसृजामि प्रजाभ्यः ॥ ५३ ॥

मित्रः । सꣳसृज्येति सम्ऽसृज्य । पृथिवीम् । भूमिम् । च । ज्योतिषा । सह । सुजातमिति सुऽजातम् । जातवेदसमिति जातऽवेदसम् । अयक्ष्माय । त्वा । सम् । सृजामि । प्रजाभ्य इति प्रऽजाभ्यः ॥ ५३ ॥

पदार्थः—(मित्रः) सर्वेषां सुहृत्सन् (संसृज्य) संसर्गं भूत्वा (पृथिवीम्) अन्तरिक्षम् (भूमिम्) क्षितिम् (च) (ज्योतिषा) विद्यान्यायसुशिक्षाप्रकाशेन (सह) (सुजातम्) सुष्ठुप्रसिद्धम् (जातवेदसम्) उत्पन्नं वेदविज्ञानम् (अयक्ष्माय) आरोग्याय (त्वा) त्वाम् (सम्) (सृजामि) निष्पादयामि (प्रजाभ्यः) पालनीयाभ्यः ॥ ५३ ॥

अन्वयः—हे पते यस्त्वं मित्रः प्रजाभ्योऽयक्ष्माय ज्योतिषा सह पृथिवीं भूमिं च संसृज्य मां सुखयसि । तं सुजातं जातवेदसं त्वाऽहमप्येतदर्थं संसृजामि ॥ ५३ ॥

भावार्थः—स्त्रीपुरुषाभ्यां सद्गुणविद्वत्संगाच्छ्रेष्ठाचारं कृत्वा शरीरात्मनोरारोग्यं संपाद्य सुप्रजा उत्पादनीयाः ॥ ५३ ॥

पदार्थः—हे पते जो आप (मित्रः) सब के मित्र हो के (प्रजाभ्यः) पालने योग्य प्रजाओं को (अयक्ष्माय) आरोग्य के लिये (ज्योतिषा) विद्या और न्याय की अच्छी शिक्षा के प्रकाश के (सह) साथ (पृथिवीम्) अन्तरिक्ष (च) और (भूमिम्) पृथिवी के साथ (संसृज्य) सम्बन्ध करके मुझ

को सुख देते हो। उस (सुजातम्) अच्छे प्रकार प्रसिद्ध (जातवेदसम्) वेदों के जानने हारे (रुद्राः) आपको मैं (संसृजामि) प्रसिद्ध करती हूं ॥ ५३ ॥

भावार्थः—स्त्रीपुरुषों को चाहिये कि श्रेष्ठ गुणवान् विद्वानों के संग से शुद्ध आचार का ग्रहण कर शरीर और आत्मा के आरोग्य को प्राप्त हो के अच्छे २ सन्तानों को उत्पन्न करें ॥ ५३ ॥

रुद्रा इत्यस्य सिन्धुद्वीप ऋषिः। रुद्रा देवताः। अनुष्टुप्छन्दः। गान्धारः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर भी वही वि० ॥

रुद्राः सꣳसृज्यं पृथिवीं बृहज्ज्योतिः समीधिरे। तेषां भानुरजंस्र इच्छुक्रो देवेषु रोचते ॥ ५४ ॥

रुद्राः। सꣳसृज्येतिं सम्ऽसृज्यं। पृथिवीम्। बृहत्। ज्योतिः। सम्। ईधिरे। तेषाम्। भानुः। अजस्रः। इत्। शुक्रः। देवेषु। रोचते ॥ ५४ ॥

पदार्थः—(रुद्राः) यथा प्राणरूपा वायवः (संसृज्य) सूर्य्यमुत्पाद्य (पृथिवीम्) भूमिम् (बृहत्) महत् (ज्योतिः) प्रकाशम् (सम्) (ईधिरे) दीपयन्ति (तेषाम्) वायूनां सकाशादुत्पाद्य (भानुः) सूर्य्यः (अजस्रः) बहुरजस्रं प्रकाशो निरन्तरः विद्यते यस्मिन् सः। अत्र अर्शआदित्वादच् (इत्) इव (शुक्रः) भास्वरः (देवेषु) दिव्येषु पृथिव्यादिषु (रोचते) प्रकाशते ॥ ५४ ॥

अन्वयः—हे स्त्रीपुरुषा यथा रुद्राः सूर्य्यं संसृज्य पृथिवीं बृहज्ज्योतिः समीधिरे तेषां सकाशादुत्पन्नः शुक्रो भानुर्देवेष्वजस्रो रोचत इदिव विद्यान्या-

यार्कंमुत्पाद्य प्रजाजनान् प्रकाशयत तेभ्यः प्रजासु दिव्यानि सुखानि प्रचारयत ॥ ५४ ॥

भावार्थः—अत्रोपमालं०—यथा वायुः सूर्य्यस्य सूर्य्यः प्रकाशस्य प्रकाशश्चाक्षुषव्यवहारस्य च कारणमस्ति तथैव स्त्रीपुरुषाः परस्परस्य सुखस्य साधनोपसाधनकारिणो भूत्वा सुखानि साधयेयुः ॥ ५४ ॥

पदार्थः—हे स्त्रीपुरुषो (इव) जैसे (रुद्राः) प्राण वायु के अवयवरूप समानादि वायु (संसृज्य) सूर्य्य को उत्पन्न करके (पृथिवीम्) भूमि को (बृहत्) बड़े (ज्योतिः) प्रकाश के साथ (समीधिरे) प्रकाशित करते हैं (तेषाम्) उन से उत्पन्न हुआ (शुक्र) कान्तिमान् (भानुः) सूर्य्य (देवेषु) दिव्य पृथिवी आदि में (अजस्रः) निरन्तर (रोचते) प्रकाश करता है वैसे ही विद्यारूपी न्याय-सूर्य्य को उत्पन्न कर के प्रजापुरुषों को प्रकाशित और उन से प्रजाओं में दिव्य सुख का प्रचार करो ॥ ५४ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में उपमालं०—जैसे वायुसूर्य्य का सूर्य्य प्रकाश का प्रकाश नेत्रों से देखने के व्यवहार का कारण है वैसे ही स्त्री पुरुष आपस के सुख के साधन उपसाधन करनेवाले हो के सुखों को सिद्ध करें ॥ ५४ ॥

संसृष्टामित्यस्य सिन्धुद्वीप ऋषिः । सिनीवाली देवता ।
विराडनुष्टुप्छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

स्त्रीभिः किं भूताः सेविका रक्षणीया इत्याह ॥
स्त्रियों को कैसी दासी रखनी चाहिये यह वि० ।

सꣳसृष्टां वसुभी रुद्रैर्धीरैः कर्मण्यां मृदम् ।
हस्ताभ्यां मृद्वीं कृत्वा सिनीवाली कृणोतु ताम् ॥५५॥

सꣳसृष्टामिति सम्ऽसृष्टाम् । वसुभिरिति वसुऽभिः । रुद्रैः । धीरैः । कर्मण्याम् । मृदम् । हस्ताभ्याम् । मृद्वीम् । कृत्वा । सिनीवाली । कृणोतु । ताम् ॥ ५५ ॥

पदार्थः—(संसृष्टाम्) सम्यक् सुशिक्षया निष्पादिताम् (वसुभिः) कृतेन चतुर्विंशतिवर्षब्रह्मचर्य्येण मातापितृभिः (रुद्रैः) सेवितेन चतुश्चत्वारिंशद्वर्षब्रह्मचर्येण विद्याबलयुक्तैः (धीरैः) सुसंयमैः (कर्मण्याम्) या कर्मभिः संपद्यते ताम् । अत्र कर्मवेषाद्यत् । अ० ५ । १ । १०० । इति कर्मशब्दात् संपादिन्यर्थे यत् (मृदम्) कोमलाङ्गीम् (हस्ताभ्याम्) (मृद्वीम्) मृदुगुणस्वभावाम् (कृत्वा) (सिनीवाली) या सिनीः प्रेमबद्धाः कन्या बलयति सा (कृणोतु) करोतु (ताम्) ॥ ५५ ॥

अन्वयः—हे पते भवान् शिल्पी हस्ताभ्यां कर्मण्यां मृदमिव धीरैर्वसुभी रुद्रैर्या शिक्षया संसृष्टां मृद्वीं कृणोतु या सिनीवाली वर्तते तां स्त्रियं कृत्वा सुखयतु ॥ ५५ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०-यथा कुलालादिभिः शिल्पिभिर्जलेन मृत्तिकां कोमलां कृत्वा तत्संभूतान् घटादीन् रचयित्वा सुखकार्य्याणि साध्नुवन्ति तथैव विद्वद्भिर्मातापितृभिः शिक्षिता हृद्याः कन्याः ब्रह्मचारिणो विवाहाय संगृह्य गृहकृत्यानि साध्नुवन्तु ॥ ५५ ॥

पदार्थः—हे पते आप जैसे कारीगर मनुष्य (हस्ताभ्याम्) हाथों से (कर्मण्याम्) क्रिया से सिद्ध की हुई (मृदम्) मट्टी को योग्य करता है वैसे (धीरैः) अच्छा संयम रखने (वसुभिः) जो चौबीस वर्ष ब्रह्मचर्य्य के सेवन से विद्या को प्राप्त हुए (रुद्रैः) और जिन्होंने चवालीस वर्ष ब्रह्मचर्य्य के सेवन से विद्या बल को पूर्ण किया हो उन्हों से (संसृष्टाम्) अच्छी शिक्षा को प्राप्त हुई हो उस ब्रह्मचारिणी युवती को (मृद्वीम्) कोमल गुण स्वभाव वाली (कृणोतु) कीजिये और जो स्त्री (सिनीवाली) प्रेमबद्ध कन्याओं को बलवान् करने वाली है (ताम्) उस को अपनी स्त्री करके सुखी कीजिये ॥ ५५ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में वाचकलु०-जैसे कुम्हार आदि कारीगर लोग जल मट्टी को कोमल कर उससे घड़े आदि पदार्थ बना के सुख के काम सिद्ध करते हैं वैसे ही विद्वान् माता पिता से शिक्षा को प्राप्त हुई हृदय को प्रिय

ब्रह्मचारिणी कन्याओं को पुरुष लोग विवाह के लिये ग्रहण कर के सब काम सिद्ध करें ॥ ५५ ॥

सिनीवालीत्यस्य सिन्धुद्वीप ऋषिः । अदितिर्देवता । विराडनुष्टुप्छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनस्तदेवाह ॥

फिर भी पूर्वोक्त वि० ॥

सिनीवाली सुकपर्दा सुकुरीरा स्वौपशा । सा तुभ्यमदिते मह्योखां दधातु हस्तयोः ॥ ५६ ॥

सिनीवाली । सुकपर्देति सुऽकपर्दा । सुकुरीरेति सुऽकुरीरा । स्वौपशेति सुऽऔपशा । सा । तुभ्यम् । अदिते । महि । आ । उखाम् । दधातु । हस्तयोः ॥ ५६ ॥

पदार्थः—(सिनीवाली) प्रेमास्पदादया (सुकपर्दा) सुकेशी (सुकुरीरा) शोभनानि कुरीराण्यलंकृतान्याभूषणानि यया सा । कृञ उच्च । उ० ४ । ३४ । इति ईरन्प्रत्ययः (स्वौपशा) उपसमीपे शयति तनूकरोति यया पाकक्रियया सोपशा तस्या इदं कर्म औपशं तच्छोभनं विद्यते यस्याः सा (सा) (तुभ्यम्) (अदिते) अखण्डितानन्दे (महि) पूज्ये (आ) (उखाम्) सूपादिसाधनीं स्थालीम् (दधातु) (हस्तयोः) ॥ ५६ ॥

अन्वयः—हे महादिते या सिनीवाली सुकपर्दा सुकुरीरा स्वौपशा यस्यै तुभ्यं हस्तयोरुखां दधातु सा त्वया संसेव्या ॥ ५६ ॥

भावार्थः—सतीभिः स्त्रीभिः सुशिक्षिताश्चतुराः परिचारिका रक्षणीयाः । यतः सर्वाः पाचकादिसेवा यथाकालं स्युः ॥ ५६ ॥

पदार्थः—हे (महि) सत्कार के योग्य (अदिते) अखंडित आनन्द भोगने वाली स्त्री जो (सिनीवाली) प्रेम से युक्त (सुकपर्दा) अच्छे केशों वाली (सुकुरीरा) सुन्दर श्रेष्ठ कर्मों को सेवने हारी और (स्वौपशा) अच्छे स्वादिष्ठ भोजन के पदार्थ बनाने वाली जिस (तुभ्यम्) तेरे (हस्तयोः) हाथों में (उखाम्) दाल आदि रांधने की बटलोई को (दधातु) धारण करे (सा) उस का तू सेवन कर ॥ ५६ ॥

भावार्थः—श्रेष्ठ स्त्रियों को उचित है कि अच्छी शिक्षित चतुर दासियों को रक्खें कि जिससे सब पाक आदि की सेवा ठीक २ समय पर होती रहे ॥ ५६ ॥

उखामित्यस्य सिन्धुद्वीप ऋषिः । अदितिर्देवता । भुरिग्बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥
फिर भी वही वि० ॥

उखां कृणोतु शक्त्या बाहुभ्यामदितिर्धिया । माता पुत्रं यथोपस्थे साग्निं बिभर्त्तु गर्भआ मखस्य शिरोऽसि ॥ ५७ ॥

उखाम् । कृणोतु । शक्त्या । बाहुभ्यामिति बाहुभ्याम् । अदितिः । धिया । माता । पुत्रम् । यथा । उपस्थ इत्युपऽस्थे । सा । अग्निम् । बिभर्त्तु । गर्भे । आ । मखस्य । शिरः । असि ॥ ५७ ॥

पदार्थः—(उखाम्) पाकस्थालीम् (कृणोतु) (शक्त्या) पाकविद्यासामर्थ्येन (बाहुभ्याम्) (अदितिः) जननी (धिया) प्रज्ञया कर्मणा

वा (माता) (पुत्रम्) (यथा) (उपस्थे) स्वाङ्के (सा) पत्नी (अग्निम्) अग्निमिव वर्त्तमानं वीर्य्यम् (बिभर्तु) (गर्भे) कुक्षौ (आ) (मखस्य) यज्ञस्य (शिरः) उत्तमाङ्गवद्वर्त्तमानः (असि) ॥ ५७ ॥

अन्वयः—हे गृहस्थ यतस्त्वं मखस्य शिरोऽसि तस्माद्भवान् धिया शक्त्या बाहुभ्यामुखां कृणोतु । याऽदितिस्ते स्त्री वर्त्तते सा गर्भे यथा मातोपस्थे पुत्रं धरति तथाऽग्निमाबिभर्तु ॥ ५७ ॥

भावार्थः—अत्रोपमालं०-कुमारौ कन्यावरौ ब्रह्मचर्य्येण विद्यासुशिक्षे पूर्णे कृत्वा बलबुद्धिपराक्रमयुक्तसन्तानोत्पादनाय विवाहं कृत्वा वैद्यकशास्त्ररीत्या महौषधिजं पाकं विधाय विधिवद्गर्भाधानं कृत्वोत्तरपथ्यं विदध्याताम् । परस्परं सुहृत्तया वर्त्तित्वाऽपत्यस्य गर्भाधानादिकर्माणि कुर्यातम् ॥ ५७ ॥

पदार्थः—हे गृहस्थ पुरुष जिस कारण तू (मखस्य) यज्ञ के (शिरः) उत्तमाङ्ग के समान (असि) है इस कारण आप (धिया) बुद्धि वा कर्म से तथा (शक्त्या) पाकविद्या के सामर्थ्य और (बाहुभ्याम्) दोनों बाहुओं से (उखाम्) पकाने की बटलोई को (कृणोतु) सिद्ध कर जो (अदितिः) जननी आपकी स्त्री है (सा) वह (गर्भे) अपनी कोख में (यथा) जैसे माता (उपस्थे) अपनी गोद में (पुत्रम्) पुत्र को सुखपूर्वक बैठावे वैसे (अग्निम्) अग्नि के समान तेजस्वी वीर्य्य को (बिभर्तु) धारण करे ॥ ५७ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में उपमालं०—कुमार स्त्रीपुरुषों को योग्य है कि ब्रह्मचर्य के साथ विद्या और अच्छी शिक्षा को पूर्ण कर बल बुद्धि और पराक्रमयुक्त सन्तान उत्पन्न होने के लिये वैद्यकशास्त्र की रीति से बड़ी २ ओषधियों से पाक बना के और विधिपूर्वक गर्भाधान करके पीछे पथ्य से रहें । और आपस में मित्रता के साथ वर्त्त के पुत्रों के गर्भाधानादि कर्म किया करें ॥ ५७ ॥

वसवस्त्वेत्यस्य सिन्धुद्वीप ऋषिः । वस्वादयो लिङ्गोक्ता देवताः । पूर्वार्द्धस्योत्तरार्द्धस्य चोत्कृती छन्दसी । षड्जः स्वरः ॥

पुनर्दम्पती किङ्कृत्या किङ्कुर्य्यातामित्यु० ॥

फिर स्त्री पुरुष क्या करके क्या करें यह वि० ॥

वसवस्त्वा कृण्वन्तु गायत्रेण छन्दसाऽङ्गिरस्वद्ध्रुवासि पृथिव्यसि धारया मयि प्रजाꣳ रायस्पोषङ्गौपत्यꣳसुवीर्य्यꣳसजातान् यजमानाय रुद्रास्त्वा कृण्वन्तु त्रैष्टुभेन छन्दसाऽङ्गिरस्वद्ध्रुवास्यन्तरिक्षमसि धारया मयि प्रजाꣳ रायस्पोषङ्गौपत्यꣳसुवीर्य्यꣳ सजातान् यजमानायाऽऽदित्यास्त्वा कृण्वन्तु जागतेन छन्दसाऽङ्गिरस्वद्ध्रुवासि द्यौरसि धारया मयि प्रजाꣳरायस्पोषङ्गौपत्यꣳ सुवीर्य्यꣳ सजातान् यजमानाय विश्वे त्वा देवा वैश्वानराः कृण्वन्त्वानुष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वद्ध्रुवासि दिशोऽसि धारया मयि प्रजाꣳरायस्पोषङ्गौपत्यꣳसुवीर्य्यꣳ सजातान् यजमानाय ॥ ५८ ॥

वसवः । त्वा । कृण्वन्तु । गायत्रेण । छन्दसा । अङ्गिरस्वत् । ध्रुवा । असि । पृथिवी । असि । धारय । मयि । प्रजामिति प्रऽजाम् । रायः । पोषम् । गौपत्यम् । सुवीर्य्यमिति सुऽवीर्य्यम् । सजातानिति सऽजातान् । यजमानाय । रुद्राः । त्वा । कृण्वन्तु । त्रैष्टुभेन । त्रैस्तुभेनेति त्रैऽस्तुभेन । छन्दसा ।

अङ्गिरस्वत् । ध्रुवा । असि । अन्तरिक्षम् । असि । धारय । मयि । प्रजामिति प्रऽजाम् । रायः । पोषम् । गौपत्यम् । सुवीर्यमिति सुऽवीर्यम् । सजातानिति सऽजातान् । यजमानाय । आदित्याः । त्वा । कृण्वन्तु । जागतेन । छन्दसा । अङ्गिरस्वत् । ध्रुवा । असि । द्यौः । असि । धारय । मयि । प्रजामिति प्रऽजाम् । रायः । पोषम् । गौपत्यम् । सुवीर्यमिति सुवीर्यम् । सजातानिति सऽजातान् । यजमानाय । विश्वे । त्वा । देवाः । वैश्वानराः । कृण्वन्तु । आनुष्टुभेन । आनुस्तुभेनेत्यानुऽस्तुभेन । छन्दसा । अङ्गिरस्वत् । ध्रुवा । असि । दिशः । असि । धारय । मयि । प्रजामिति प्रऽजाम् । रायः । पोषम् । गौपत्यम् । सुवीर्यमिति सुऽवीर्यम् । सजातानिति सऽजातान् । यजमानाय ॥ ५८ ॥

पदार्थः—(वसवः) वसुसंज्ञका विद्वांसः (त्वा) त्वाम् (कृण्वन्तु) (गायत्रेण) वेदविहितेन (छन्दसा) (अङ्गिरस्वत्) धनंजयप्राणवत् (ध्रुवा) निश्चला (असि) (पृथिवी) पृथुसुखकारिणी (असि) (धारय) (दापय)। अत्रान्येषामपीति दीर्घः (मयि) त्वत्प्रीतायां पत्न्याम् (प्रजाम्) सुसन्तानम् (रायः) धनस्य (पोषम्) पुष्टिम् (गौपत्यम्) गोर्धेनोः पृथिव्या वाचो वा पतिस्तस्य भावम् (सुवीर्यम्) शोभनं च तद्वीर्य्यं च तत् (सजातान्) समानात्प्रादुर्भावादुत्पन्नान् (यजमानाय) विद्यासंगमयित्र आचार्य्याय (रुद्राः) रुद्रसंज्ञका विद्वांसः (त्वा) (कृण्वन्तु) (त्रैष्टुभेन) (छन्दसा) (अङ्गिरस्वत्) आकाशवत् (ध्रुवा) अक्षुब्धा (असि) (अन्तरिक्षम्) अक्षयमेघयुक्ता (असि) (धारय) (मयि) (प्रजाम्) सत्यवद्धर्मयुक्ताम् (रायः) राजश्रियः (पोषम्) (गौपत्यम्) अध्यापकत्वम् (सुवीर्यम्)

सुष्ठुपराक्रमम् (सजातान्) (यजमानाय) साङ्गोपाङ्गवेदाध्यापकाय (आदित्याः) पूर्णविद्याबलमाप्त्या विपश्चितः (त्वा) (कृण्वन्तु) (जागतेन) (छन्दसा) (अङ्गिरस्वत्) (ध्रुवा) निष्कम्पा (असि) (द्यौः) सूर्यइव वर्त्तमाना (असि) (धारय) (मयि) (प्रजाम्) सुमनाताम् । (रायः) चक्रवर्त्तिराज्यलक्ष्मयाः (पोषम्) (गौपत्यम्) सकलविद्याधिस्वमित्वम् (सुवीर्य्यम्) (सजातान्) (यजमानाय) क्रियाकौशलसारितानां सर्वासां विद्यानां प्रवक्ते (विश्वे) सर्वे (त्वा) (देवाः) उपदेशका विद्वांसः (वैश्वानराः) ये विश्वेषु नायकेषु राजन्ते (कृण्वन्तु) आनुष्टुभेन छन्दसा (अङ्गिरस्वत्) सूत्रात्मप्राणवत् (ध्रुवा) सुस्थिरा (असि) (दिशः) सर्वासु दिक्षु व्याप्तकीर्त्तिः (असि) (धारय) (मयि) (प्रजाम्) (रायः) समग्रैश्वर्यस्य (पोषम्) (गौपत्यम्) वाक्चातुर्यम् (सुवीर्य्यम्) (सजातान्) (यजमानाय) सत्योपदेशकाय ॥ ५८ ॥

अन्वयः—हे ब्रह्मचारिणि कुमारिके या त्वमङ्गिरस्वद्ध्रुवासि पृथिव्यसि तां त्वा गायत्रेणच्छन्दसा वसवो मम स्त्रियं कृण्वन्तु । हे कुमार ब्रह्मचारिन् यस्त्वमङ्गिरस्वद्ध्रुवोऽसि भूमिवत् क्षमावानसि यं त्वा वसवो गायत्रेण छन्दसा मम पतिं कृण्वन्तु स त्वं मयि प्रजां रायस्पोषं गौपत्यं सुवीर्य्यं च धारय । आवां सजातान् संतानान् सर्वान्यजमानाय विद्याग्रहणार्थं समर्पयेव । हे स्त्रि या त्वमङ्गिरस्वद्ध्रुवास्यन्तरिक्षमसि तां त्वा रुद्रास्त्रैष्टुभेन छन्दसा मम पत्नीं कृण्वन्तु । हे वीर यस्त्वमङ्गिरस्वद्ध्रुवोऽस्यन्तरिक्षमसि यं त्वा रुद्रास्त्रैष्टुभेन छन्दसा मम स्वामिनं कृण्वन्तु । स त्वं मयि प्रजां रायस्पोषं गौपत्यं सुवीर्य्यं च धारय । आवां सजातान् सुशिक्ष्य वेदशिक्षाध्ययनाय यजमानाय प्रदद्याव । हे विदुषि या त्वमङ्गिरस्वद्ध्रुवाऽसि द्यौरसि तां त्वादित्या जागतेन छन्दसा मम भार्य्यां कृण्वन्तु । हे विद्वन् यस्त्वमङ्गिरस्वद्ध्रुवोऽसि द्यौरसि यं त्वादित्या जागतेन छन्दसा ममाधिष्ठातारं कृण्वन्तु । स त्वं मयि प्रजां रायस्पोषं गौपत्यं सुवीर्य्यं च धारय । आवां सजातान् जन्मतः सूपदिश्य सर्वविद्याग्रहणार्थं यजमानाय समर्प्पयेव । हे सुभगे या त्वमङ्गिरस्वद्ध्रुवासि दिशोऽसि तां त्वा वैश्वानरा विश्वे देवा आनुष्टुभेन छन्दसा मदधीनां कृण्वन्तु । हे पुरुष यस्त्वमङ्गिरस्वद्ध्रुवोऽसि दिशोऽसि यं

त्वा वैश्वानरा विश्वेदेवा मदर्थीनं कृण्वन्तु स त्वं मयि मजा रायस्पोषं गौपत्यं सुवीर्य्यं च धारय । मावां सूपदेशार्थ सजातान् यजमानाय सम र्प्पयेव ॥ ५८ ॥

भावार्थः—मत्रोपालं०—यदा स्त्रीपुरुषौ परस्परं परीक्षां कृत्वाऽन्यो-न्यं दृढप्रीतौ स्याताम् । तदा वेदविधिना यज्ञं मतस्य वेदोक्तनियमान् स्वी-कृत्य विवाहं विधाय धर्मेण संतानान्युत्पाद्य यावदष्टवार्षिकाः पुत्राः पुत्र्यश्च भवेयुस्तावन्मातापितरौ तान् सुशिक्षयेतामत ऊर्ध्वं ब्रह्मचर्यं ग्राहयित्वा विद्याध्ययनाय स्वगृहादतिदूरे आप्तानां विदुषां विदुषीणां च पाठशालासु प्रेषयेताम् । अत्र यावतो धनस्य व्ययः कर्त्तुं योग्योऽस्ति तावन्तं कुर्य्याताम् । नहि संतानानां विद्यादानमन्तरा कश्चिदुपकारो धर्मश्चास्ति । तस्मादेतत्सततं समाचरेताम् ॥ ५८ ॥

पदार्थः—हे ब्रह्मचारिणी कुमारी स्त्री जो तू (अंगिरस्वत्) धनंजय प्राण-वायु के समतुल्य (ध्रुवा) निश्चल (असि) है और (पृथिव्यसि) विस्तृत सुख करने हारी है उस (त्वा) तुझ को (गायत्रेण) वेद में विधान किये (छन्दसा) गायत्री आदि छन्दों से (वसवः) चौबीस वर्ष ब्रह्मचर्य्य रहने वाले विद्वान् लोग मेरी स्त्री (कृण्वन्तु) करें । हे कुमार ब्रह्मचारी पुरुष जो तू (अंगिरस्वत्) प्राणवायु के समान निश्चल है और (पृथिवी) पृथिवी के समान क्षमायुक्त (असि) है जिस (त्वा) तुझ को (वसवः) उक्त वसुसंज्ञक विद्वान् लोग (गायत्रेण) वेद में प्रतिपादन किये (छन्दसा) गायत्री आदि छन्दों से मेरा पति (कृण्वन्तु) करें । सो तू (मयि) अपनी प्रिय पत्नी मुझ में (प्रजाम्) सुन्दर सन्तानों (रायः) धन की (पोषम्) पुष्टि (गौपत्यम्) गौ पृथिवी वा वाणी के स्वामिपन और (सुवीर्य्यम्) सुन्दर पराक्रम को (धारय) स्थापन कर । मैं तू दोनों (सजातान्) एक गर्भाशय से उत्पन्न हुए सब सन्तानों को (यज-मानाय) विद्या देने हारे आचार्य्य को विद्या ग्रहण के लिये समर्पण करें । हे स्त्रि जो तू (अङ्गिरस्वत्) आकाश के समान (ध्रुवा) निश्चल (असि) है और (अन्तरिक्षम्) अविनाशी प्रेमयुक्त (असि) है उस (त्वा) तुझको (रुद्राः) रुद्रसंज्ञक चवालीस वर्ष ब्रह्मचर्य्य सेवने हारे विद्वान् लोग (त्रैष्टुभेन)

वेद में कहे हुए (छन्दसा) त्रिष्टुप्छन्द से मेरी स्त्री (कृण्वन्तु) करें। हे वीर पुरुष जो तू आकाश के समान निश्चल है और दृढ़ प्रेम से युक्त है, जिस तुझ को चवालीस वर्ष ब्रह्मचर्य करने हारे विद्वान् लोग वेद में प्रतिपादन किये त्रिष्टुप्छन्द से मेरा स्वामी करें। वह तू (मयि) अपनी प्रिय पत्नी मुझ में (प्रजाम्) बल तथा सत्य धर्म से युक्त सन्तानों (रायः) राज्यलक्ष्मी की (पोषम्) पुष्टि (गौपत्यम्) पढ़ाने के अधिष्ठातृत्व और (सुवीर्यम्) अच्छे पराक्रम को (धारय) धारण कर मैं तू दोनों (सजातान्) एक उदर से उत्पन्न हुए सब सन्तानों को अच्छी शिक्षा देकर वेदविद्या की शिक्षा होने के लिये (यजमानाय) अङ्ग उपाङ्गों के सहित वेद पढ़ाने हारे अध्यापक को देवें। हे विद्वान् स्त्री जो तू (अंगिरस्वत्) आकाश के समान (ध्रुवा) अचल (असि) है (द्यौः) सूर्य के सदृश प्रकाशमान (असि) है उस (त्वा) तुझ को (आदित्याः) अड़तालीस वर्ष ब्रह्मचर्य्य करके पूर्ण विद्या और बल की प्राप्ति से आप्त सत्यवादी धर्मात्मा विद्वान् लोग (जागतेन) वेद में कहे (छन्दसा) जगती छन्द से, मेरी पत्नी (कृण्वन्तु) करें। हे विद्वान् पुरुष जो तू आकाश के तुल्य दृढ़ और सूर्य्य के तुल्य तेजस्वी है उस तुझ को अड़तालीस वर्ष ब्रह्मचर्य्य सेवने वाले पूर्ण विद्या से युक्त धर्मात्मा विद्वान् लोग वेदोक्त जगती छन्द से मेरा पति करें। वह तू (मयि) अपनी प्रिय भार्य्या मुझ में (प्रजाम्) शुभ गुणों से युक्त सन्तानों (रायः) चक्रवर्त्ति राज्यलक्ष्मी को (पोषम्) पुष्टि (गौपत्यम्) संपूर्ण विद्या के स्वामीपन और (सुवीर्यम्) सुन्दर पराक्रम को (धारय) धारण कर। मैं तू दोनों (सजातान्) अपने सन्तानों को जन्म से उपदेश करके सब विद्या ग्रहण करने के लिये (यजमानाय) क्रिया-कौशल के सहित सब विद्याओं के पढ़ाने हारे आचार्य को समर्पण करें। हे सुन्दर ऐश्वर्य्ययुक्त पत्नि जो तू (अङ्गिरस्वत्) सूत्रात्मा प्राणवायु के समान (ध्रुवा) निश्चल (असि) है और (दिशः) सब दिशाओं में कीर्तिवाली (असि) है। उस तुझ को (वैश्वानराः) सब मनुष्यों में शोभायमान (विश्वे) सब (देवाः) उपदेशक विद्वान् लोग (आनुष्टुभेन) वेद में कहे (छन्दसा) अनुष्टुप्छन्द से मेरे आधीन (कृण्वन्तु) करें। हे पुरुष जो तू सूत्रात्मा वायु के सदृश स्थित है (दिशः) सब दिशाओं में कीर्तिवाला (असि) है जिस (त्वा) तुझ को सब प्रजा में

शोभायमान सब विद्वान् लोग मेरे आधीन करें। सो आप (मयि) मुझ में (प्रजाम्) शुभलक्षणयुक्त सन्तानों (रायः) सब ऐश्वर्य्य की (पोषम्) पुष्टि (गोपत्यम्) वाणी की चतुराई और (सुवीर्य्यम्) सुन्दर पराक्रम को (धारय) धारण कर। मैं तू दोनों जने अच्छा उपदेश होने के लिये (सजातान्) अपने सन्तानों को (यजमानाय) धर्म के उपदेशक अध्यापक के समीप समर्पण करें ॥ ५८ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में उपमालंकार है। जब स्त्री पुरुष एक दूसरे की परीक्षा करके आपस में दृढ़ प्रीति वाले होवें, तब वेदोक्त रीति से यज्ञ का विस्तार और वेदोक्त नियमाऽनुसार विवाह करके धर्म से सन्तानों को उत्पन्न करें। जब कन्या पुत्र आठ वर्ष के हों तब माता पिता उनको अच्छी शिक्षा देवें। इस के पीछे ब्रह्मचर्य्य धारण करा के विद्या पढ़ने के लिये अपने घर से बहुत दूर आप्त विद्वान् पुरुषों और आप्त विद्वान् स्त्रियों की पाठशालाओं में भेज देवें। वहां पाठशाला में जितने धन का खर्च करना उचित हो उतना करें। क्योंकि सन्तानों को विद्यादान के विना कोई उपकार वा धर्म नहीं बन सकता। इसलिये इस का निरन्तर अनुष्ठान किया करें ॥ ५८ ॥

अदित्या इत्यस्य सिन्धुद्वीप ऋषिः। अदितिर्देवता। आर्षी त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

पुनस्तमेव विषयमाह॥

फिर भी वही वि० ॥

अदि॑त्यै॒ रास्ना॒स्यदि॑तिष्टे॒ बिलं॑ गृभ्णातु। कृत्वाय॒सा म॒हीमु॒खाम्मृ॒न्मयीं॒ योनि॑म॒ग्नये॑। पु॒त्रेभ्यः॒ प्राय॑च्छ॒ददि॑तिः श्र॒पया॒निति॑ ॥ ५९ ॥

अदि॑त्यै । रास्ना॑ । अ॒सि॒ । अदि॑तिः । ते॒ । बिल॑म् । गृ॒भ्णा॒तु॒ । कृ॒त्वाय॑ । सा । म॒हीम् । उ॒खाम् । मृ॒न्मयी॒मिति॑ मृ॒त्ऽमयी॑म् । योनि॑म् । अ॒ग्नये॑ । पु॒त्रेभ्यः॑ । प्र । अ॒य॒च्छ॒त् । अदि॑तिः । श्र॒पया॑न् । इति॑ ॥ ५९ ॥

पदार्थः—(अदित्यै) दिवे विद्याप्रकाशाय (रास्ना) दात्री (असि) (अदितिः) पुत्रः पुत्री च (ते) तव सकाशात् (बिलम्) भरणं धारणम् । बिलं भरं भवति बिभर्तेः । निरु० २ । १७ (गृभ्णातु) गृह्णातु (कृत्वाय) (सा) (महीम्) महतीम् (उखाम्) पाकस्थालीम् (मृन्मयीम्) मृद्विकाराम् (योनिम्) मिश्रिताम् (अग्नये) अग्निसम्बन्धे स्थापनाय (पुत्रेभ्यः) सन्तानेभ्यः (प्र) (अयच्छत्) दद्यात् (अदितिः) माता (श्रपयान्) श्रपयन्तु परिपाचयन्तु (इति) अनेन प्रकारेण ॥ ५९ ॥

अन्वयः—हे अध्यापिके विदुषि यतस्त्वमदित्यै रास्नासि तस्मात्ते तव सकाशाद्बिलं ब्रह्मचर्यधारणं कृत्वायादितिर्विद्यां गृभ्णातु साऽदितिर्भवती मृन्मयीं योनिं महीमुखामग्नये पुत्रेभ्यश्च प्रायच्छत् । विद्यासुशिक्षाभ्यां युक्ता भूत्वोखामिति श्रपयानन्नादिपाकं कुर्वन्तु ॥ ५९ ॥

भावार्थः—कुमाराः पुरुषशालां कुमार्यश्च स्त्रीशालां गत्वा ब्रह्मचर्यं विधाय सुशीलतया विद्याः पाकविधिं च गृह्णीयुः । आहारविहारानपि सुनियमेन सेवेयुः । न कदाचिद्विषयकथां शृणुयुः । मद्यमांसालस्यातिनिद्रां विहायाध्यापकसेवानुकूलताभ्यां वर्त्तित्वा सुव्रतानि धरेयुः ॥ ५९ ॥

पदार्थः—हे पढ़ाने हारी विद्वान् स्त्री जिस कारण तू (अदित्यै) विद्याप्रकाश के लिये (रास्ना) दानशील (असि) है इसलिये (ते) तुझ से (बिलम्) ब्रह्मचर्य्य को धारण (कृत्वाय) करके (अदितिः) पुत्र और कन्या विद्या को (गृभ्णातु) ग्रहण करें सो (सा) तू (अदितिः) माता (मृन्मयीम्) मट्टी की (योनिम्) मिली और पृथक् (महीम्) बड़ी (उखाम्) पकाने की

बटलोई को (अग्नये) अग्नि के निकट (पुत्रेभ्यः) पुत्रों को (प्रायच्छत्) देवे विद्या और अच्छी शिक्षा से युक्त होकर बटलोई में (इति) इस प्रकार (अपचान्) अन्नादि पदार्थों को पकाओ ॥ ५८ ॥

भावार्थः—लड़के पुरुषों और लड़कियां स्त्रियों की पाठशाला में जा ब्रह्मचर्य्य की विधिपूर्वक सुशीलता से विद्या और भोजन बनाने की क्रिया सीखें और आहार विहार भी अच्छे नियम से सेवें। कभी विषय की कथा न सुनें। मद्य मांस आलस्य और अत्यन्त निद्रा को त्याग के पढ़ाने वाले की सेवा और उस के अनुकूल वर्त्ते के अच्छे नियमों को धारण करें ॥ ५९ ॥

वसवस्त्वेत्यस्य सिन्धुद्वीप ऋषिः। वस्वादयो मन्त्रोक्ता देवताः।
स्वराट् संकृतिश्छन्दः। गान्धारः स्वरः ॥

पुनर्विद्वांसोऽध्येतृनुपदेश्यान्मनुष्यान् कथं २ शोधयेयुरित्याह ॥
फिर विद्वान् लोग पढ़ने हारे और उपदेश के योग्य मनुष्यों
को कैसे शुद्ध करें यह वि० ॥

वसंवस्त्वा धूपयन्तु गायत्रेण छन्दसाङ्गिरस्वद्रुद्रास्त्वा धूपयन्तु त्रैष्टुभेन छन्दसाऽङ्गिरस्वदादित्यास्त्वा धूपयन्तु जागतेन छन्दसाऽङ्गिरस्वत्। विश्वे त्वा देवा वैश्वानरा धूपयन्त्वानुष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वदिन्द्रस्त्वा धूपयतु वरुणस्त्वा धूपयतु विष्णुस्त्वा धूपयतु ॥ ६० ॥

वसंवः। त्वा। धूपयन्तु। गायत्रेण। छन्दसा। अङ्गिरस्वत्। रुद्राः। त्वा। धूपयन्तु। त्रैष्टुभेन। त्रैष्टुभेनेति त्रैऽ-

स्तुभेन । छन्दसा । अङ्गिरस्वत् । आदित्याः । त्वा । धूपयन्तु । जागतेन । छन्दसा । अङ्गिरस्वत् । विश्वे । त्वा । देवाः । वैश्वानराः । धूपयन्तु । आनुष्टुभेन । आनुस्तुभेनेत्यानुऽस्तुभेन । छन्दसा । अङ्गिरस्वत् । इन्द्रः । त्वा । धूपयतु । वरुणः । त्वा । धूपयतु । विष्णुः । त्वा । धूपयतु ॥ ६० ॥

पदार्थः—(वसवः) आदिमा विद्वांसः (त्वा) त्वाम् (धूपयन्तु) सुगन्धाञ्जादिभिः संस्कुर्वन्तु (गायत्रेण) वेदस्थेन (छन्दसा) (अङ्गिरस्वत्) प्राणैस्तुल्यम् (रुद्राः) मध्यमा विपश्चितः (त्वा) (धूपयन्तु) विद्यासुशिक्षाभ्यां संस्कुर्वन्तु (त्रैष्टुभेन) (छन्दसा) (अङ्गिरस्वत्) विज्ञानवत् (आदित्याः) उत्तमा विद्वांसोऽध्यापकाः (त्वा) (धूपयन्तु) सत्यव्यवहारप्रदानेन संस्कुर्वन्तु (जागतेन) (छन्दसा) (अङ्गिरस्वत्) ब्रह्माण्डस्थसूत्रात्मवायुवत् (विश्वे) सर्वे (त्वा) (देवाः) सत्योपदेशका विद्वांसः (वैश्वानराः) सर्वेषु मनुष्येष्विमे सत्यधर्मविद्याप्रकाशकाः (धूपयन्तु) सत्योपदेशेन संस्कुर्वन्तु (आनुष्टुभेन) (छन्दसा) (अङ्गिरस्वत्) विद्युद्वत् (इन्द्रः) परमैश्वर्ययुक्तः राजा (त्वा) (धूपयतु) राजविद्यया संस्करोतु (वरुणः) वरो न्यायाधीशः (त्वा) (धूपयतु) राजनीत्या संस्करोतु (विष्णुः) सकलविद्यायोगाङ्गव्यापी योगिराजः (त्वा) (धूपयतु) योगविद्याङ्गैः संस्करोतु ॥ ६० ॥

अन्वयः—हे ब्रह्मचारिन् हे ब्रह्मचारिणि वा ये वसवो गायत्रेण छन्दसा त्वाङ्गिरस्वद् धूपयन्तु । रुद्रास्त्रैष्टुभेन छन्दसा त्वाङ्गिरस्वद् धूपयन्तु । आदित्या जागतेन छन्दसा त्वाङ्गिरस्वद् धूपयन्तु । वैश्वानरा विश्वेदेवा आनुष्टुभेन छन्दसा त्वाङ्गिरस्वद् धूपयन्तु । इन्द्रस्त्वा धूपयतु । वरुणस्त्वा धूपयतु । विष्णुस्त्वा धूपयत्वेतांस्त्वं सततं सेवस्व ॥ ६० ॥

भावार्थः—सर्वेऽध्यापका अखिला अध्यापिकाश्च सर्वाभिः सत्क्रियाभिर्ब्रह्मचारिणो ब्रह्मचारिणीश्च विद्यासुशिक्षाभ्यां युक्ताः सद्यः संपादयेयुः । यत एते कृतपूर्णब्रह्मचर्या गृहाश्रमादीन् यथाकालमाचरेयुः ॥ ६० ॥

पदार्थः—हे ब्रह्मचारिणि जो (वसवः) प्रथम विद्वान् लोग (गायत्रेण) वेद के (छन्दसा) गायत्री छन्द से (त्वा) तुझ को (अङ्गिरस्वत्) प्राणों के तुल्य सुगन्धित अन्नादि पदार्थों के समान (धूपयन्तु) संस्कारयुक्त करें (रुद्राः) मध्यम विद्वान् लोग (त्रैष्टुभेन) वेदोक्त (छन्दसा) त्रिष्टुप्छन्द से (अङ्गिरस्वत्) विज्ञान के समान (त्वा) तेरा (धूपयन्तु) विद्या और अच्छी शिक्षा से संस्कार करें । (आदित्याः) सर्वोत्तम अध्यापक विद्वान् लोग (जागतेन) (छन्दसा) वेदोक्त जगती छन्द से (अङ्गिरस्वत्) ब्रह्माण्ड के शुद्ध वायु के सदृश (त्वा) तेरा (धूपयन्तु) धर्मयुक्त व्यवहार के ग्रहण से संस्कार करें (वैश्वानराः) सब मनुष्यों में सत्य धर्म और विद्या के प्रकाश करने वाले (विश्वे) सब (देवाः) सत्योपदेष्टा विद्वान् लोग (आनुष्टुभेन) वेदोक्त अनुष्टुप् (छन्दसा) छन्द से (अङ्गिरस्वत्) बिजुली के समान (त्वा) तेरा (धूपयन्तु) सत्योपदेश से संस्कार करें (इन्द्रः) परम ऐश्वर्ययुक्त राजा (त्वा) तेरा (धूपयतु) राजनीति विद्या से संस्कार करे । (वरुणः) श्रेष्ठ न्यायाधीश (त्वा) तुझ को (धूपयतु) न्यायक्रिया से संयुक्त करे । और (विष्णुः) सब विद्या और योगाङ्गों का वेत्ता योगीजन (त्वा) तुझ को (धूपयतु) योगविद्या से संस्कारयुक्त करे तू इन सब की सेवा किया कर ॥ ६० ॥

भावार्थः—सब अध्यापक स्त्री और पुरुषों को चाहिये कि सब श्रेष्ठ क्रियाओं से कन्या पुत्रों को विद्या और शिक्षा से युक्त शीघ्र करें । जिससे ये पूर्ण ब्रह्मचर्य्य ही कर के गृहाश्रम आदि का यथोक्त काल में आचरण करें ॥ ६० ॥

अदितिष्ट्वेत्यस्य सिन्धुद्वीप ऋषिः । अदित्यादयो लिंगोक्ता देवताः । भुरिक्कृतिश्छन्दः । निषादः स्वरः । उखेयक- श्रीत्युत्तरस्य प्रकृतिश्छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

विदुष्यः स्त्रियः कन्याः सुशिक्ष्य धार्मिकीर्विदुषीः
कृत्वैहिकपारलौकिकसुखं प्रापयेयुरित्याह ॥

विद्वान् स्त्रियों कन्याओं को उत्तम शिक्षा से धर्मात्मा विद्यायुक्त करके इस लोक और परलोक के सुखों को प्राप्त करावें यह वि० ॥

अदितिष्ट्वा देवी विश्वदेव्यावती पृथिव्याः सधस्थे अङ्गिरस्वत्खनत्ववट देवानां त्वा पत्नी-र्देवीर्विश्वदेव्यावतीः पृथिव्याः सधस्थे अङ्गिरस्वद्दधतूखे । धिषणास्त्वा देवीर्विश्वदेव्यावतीः पृथिव्याः सधस्थे अङ्गिरस्वदभीन्धतामुखे वरूत्रीष्ट्वा देवीर्विश्वदेव्यावतीः पृथिव्याः सधस्थे अङ्गिरस्वच्छ्रपयन्तूखे ग्नास्त्वा देवीर्विश्वदेव्यावतीः पृथिव्याः सधस्थे अंगिरस्वत् पंचन्तूखे जनयस्त्वाऽच्छिन्नपत्रा देवीर्विश्वदेव्यावतीः पृथिव्याः सधस्थे अङ्गिरस्वत्पंचन्तूखे ॥ ६१ ॥

अदितिः । त्वा । देवी । विश्वदेव्यावती । विश्वदेव्यवतीति विश्वदेव्यऽवती । पृथिव्याः । सधस्थइति सधऽस्थे । अङ्गिरस्वत् । खनतु । अवट । देवानाम् । त्वा । पत्नीः । देवीः । विश्वदेव्यावतीः । विश्वदेव्यवतीरिति विश्वदेव्यऽवतीः । पृथिव्याः । सधस्थइति सधऽस्थे । अंगिरस्वत् । दधतु । उखे । धिषणाः । त्वा । देवीः । विश्वदेव्यावतीः । विश्वदेव्यवतीरिति विश्वदेव्यऽवतीः । पृथिव्याः । सधस्थेइति सधऽस्थे । अंगिरस्वत् । अभि । इन्धताम् । उखे । वरूत्रीः । त्वा । देवीः । विश्वदेव्यावतीः । विश्वदेव्यवतीरिति विश्व-

देव्यऽवतीः । पृथिव्याः । सधस्थइति सधऽस्थे । अङ्गिरस्वत् । श्रपयन्तु । उखे । ग्नाः । त्वा । देवीः । विश्वदेव्यावतीः । विश्वदेव्यवतीरिति विश्वदेव्यऽवतीः । पृथिव्याः । सधस्थइति सधऽस्थे । अङ्गिरस्वत् । पचन्तु । उखे । जनयः । त्वा । अच्छिन्नपत्राइत्यच्छिन्नऽपत्राः । देवीः । विश्वदेव्यावतीः । विश्वदेव्यावतीरिति विश्वदेव्यऽवतीः । पृथिव्याः । सधस्थइति सधऽस्थे । अङ्गिरस्वत् । पचन्तु । उखे ॥ ६१ ॥

पदार्थः—(अदितिः) अध्यापिका (त्वा) त्वाम् (देवी) विदुषी (विश्वदेव्यावती) विश्वेषु देवेषु विद्वत्सु भवं विज्ञानं प्रशस्तं विद्यते यस्यां सा । अत्र सोमाश्वेन्द्रियविश्वदेव्यस्य मतौ । अ० ६ । ३ । १३१ । इति दीर्घत्वम् (पृथिव्याः) भूमेः (सधस्थे) सहस्थाने (अङ्गिरस्वत्) अग्निवत् (खनतु) भुवि खनित्वा कूपजलवद्विद्यायुक्तां क्रियां सम्पादयतु (अवट) अपरिभाषितानिन्दित (देवानाम्) विदुषाम् (त्वा) (पत्नीः) स्त्रीः (देवीः) विदुषीः (विश्वदेव्यावतीः) (पृथिव्याः) (सधस्थे) (अङ्गिरस्वत्) प्राणवत् (दधतु) (उखे) ज्ञानयुक्ते (धिषणाः) प्रशंसितवाग्युक्ता धियः (त्वा) (देवीः) विद्यायुक्ताः (विश्वदेव्यावतीः) (पृथिव्याः) (सधस्थे) (अङ्गिरस्वत्) (अभि) आभिमुख्ये (इन्धताम्) प्रदीपयन्तु (उखे) विज्ञानमिच्छुके (वरूत्रीः) वराः (त्वा) (देवीः) कमनीयाः (विश्वदेव्यावतीः) (पृथिव्याः) (सधस्थे) (अङ्गिरस्वत्) आदित्यवत् (श्रपयन्तु) पाचयन्तु (उखे) प्रज्ञाधारा स्थालीव विद्याधारे (ग्नाः) वेदवाचः । ग्नाइति वाङ्ना० । निघं० १ । ११ । (त्वा) (देवीः) दिव्यविद्यासम्पन्नाः (विश्वदेव्यावतीः) (पृथिव्याः) अन्तरिक्षस्य (सधस्थे) (अङ्गिरस्वत्) विद्युद्वत् (पचन्तु) परिपक्वां कुर्वन्तु (उखे) ज्ञानयुक्ते (जनयः) शुभगुणैः प्रसिद्धाः (त्वा) (अच्छिन्नपत्राः) अखण्डितानि पत्राणि वस्त्राणि यानानि वा यासां ताः

(देवीः) दिव्यगुणप्रदाः (विश्वदेव्यावतीः) (पृथिव्याः) (सधस्थे) (अङ्गिरस्वत्) ओषधरसवत् (पचन्तु) (उखे) जिज्ञासो ॥ ६१ ॥

अन्वयः—हे अवट शिशो विश्वदेव्यावत्यदितिर्देवी पृथिव्याः सधस्थे त्वाङ्गिरस्वत्खनतु । हे उखे कन्ये देवानां पत्नीर्विश्वदेव्यावतीर्देवीः पृथिव्याः सधस्थे त्वाङ्गिरस्वद्दधतु । हे उखे विश्वदेव्यावतीर्धिषणा देवीः पृथिव्याः सधस्थे त्वाङ्गिरस्वदभीन्धताम् । हे उखे विश्वदेव्यावतीर्वरूत्रीर्देवीः पृथिव्याः सधस्थे त्वाङ्गिरस्वच्छ्रपन्तु । हे उखे विश्वदेव्यावतीर्देवीर्ग्नाः पृथिव्याः सधस्थे त्वाङ्गिरस्वत् पचन्तु । हे उखे विश्वदेव्यावतीरच्छिन्नपत्रा जनयो देवीः पृथिव्याः सधस्थे त्वाङ्गिरस्वत् पचन्तु । हे उखे त्वमेताभ्यः सर्वाभ्यो ब्रह्मचर्येण विद्यां गृहाण ॥ ६१ ॥

भावार्थः—मातापित्राचार्यातिथिभिर्यथा चतुराः पाचकाः स्थाल्यादिष्वन्नादीनि संस्कृत्योत्तमानि संपादयन्ते तथैव बाल्यावस्थामारभ्य विवाहात् पूर्वं कुमाराः कुमार्यश्चात्युत्तमा भावयन्तु ॥ ६१ ॥

पदार्थः—हे (अवट) बुराई और निन्दारहित बालक (विश्वदेव्यावती) सम्पूर्ण विद्वानों में प्रशस्त ज्ञानवाली (अदितिः) अखण्ड विद्या पढ़ाने हारी (देवी) विद्वान् स्त्री (पृथिव्याः) भूमि के (सधस्थे) एक शुभस्थान में (त्वा) तुझ को (अङ्गिरस्वत्) अग्नि के समान (खनतु) जैसे भूमि को खोद के कूप जल निष्पन्न करते हैं वैसे विद्यायुक्त करे । हे (उखे) ज्ञानयुक्त कुमारी (देवानाम्) विद्वानों की (पत्नीः) स्त्री जो (विश्वदेव्यावतीः) सम्पूर्ण विद्वानों में अधिक विद्यायुक्त (देवीः) विदुषी (पृथिव्याः) पृथिवी के (सधस्थे) एक स्थान में (अङ्गिरस्वत्) प्राण के सदृश (त्वा) तुझ को (दधतु) धारण करें । हे (उखे) विज्ञान की इच्छा करने वाली (विश्वदेव्यावतीः) सब विद्वानों में उत्तम (धिषणाः) प्रशंसित वाणीयुक्त बुद्धिमती (देवीः) विद्यायुक्त स्त्री लोग (पृथिव्याः) पृथिवी के (सधस्थे) एक स्थान में (त्वा) तुझ को (अङ्गिरस्वत्) प्राण के तुल्य (अभीन्धताम्) प्रदीप्त करें । हे (उखे) अन्न आदि पकाने की बटलोई के समान विद्या को धारण करने हारी कन्ये

(विश्वदेव्यावतीः) उत्तम विदुषी (वरूत्रीः) विद्या ग्रहण के लिये स्वीकार करने योग्य (देवीः) रूपवती स्त्री लोग (पृथिव्याः) भूमि के (सधस्थे) एक शुद्ध स्थान में (त्वा) तुझ को (अङ्गिरस्वत्) सूर्य के तुल्य (धूपयन्तु) शुद्ध तेजस्विनी करें। हे (उखे) ज्ञान चाहने हारी कुमारी (विश्वदेव्यवतीः) बहुत विद्वानों में उत्तम (देवीः) शुद्ध विद्या से युक्त (ग्नाः) वेदवाणी को जानने वाली स्त्री लोग (पृथिव्याः) भूमि के एक (सधस्थे) उत्तम स्थान में (त्वा) तुझ को (अङ्गिरस्वत्) बिजुली के तुल्य (पचन्तु) दृढ़ बलधारिणी करें। हे (उखे) ज्ञान की इच्छा रखने वाली कुमारी (विश्वदेव्यावतीः) उत्तम विद्या पढ़ी (अच्छिन्नपत्राः) अखण्डित नवीन शुद्ध वस्त्रों को धारने वा यानों में चलने वाली (जनयः) शुभगुणों से प्रसिद्ध (देवीः) दिव्य गुणों को देने हारी स्त्री लोग (पृथिव्याः) पृथिवी के (सधस्थे) उत्तम प्रदेश में (त्वा) तुझ को (अङ्गिरस्वत्) ओषधियों के रस के समान (पचन्तु) संस्कारयुक्त करें। हे कुमारी कन्ये तू इन पूर्वोक्त सब स्त्रियों से ब्रह्मचर्य के साथ विद्या ग्रहण कर ॥ ६१ ॥

भावार्थः—माता पिता आचार्य्य और अतिथि अर्थात् भ्रमणशील विरक्त पुरुषों को चाहिये कि जैसे रसोइया बटलोई आदि पात्रों में अन्न का संस्कार कर के उत्तम सिद्ध करते हैं। वैसे ही बाल्यावस्था लेके विवाह से पहिले २ लड़कों और लड़कियों को उत्तम विद्या और शिक्षा से सम्पन्न करें ॥ ६१ ॥

मित्रस्येत्यस्य विश्वामित्र ऋषिः। मित्रो देवता। निचृद्गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः॥

या यस्य स्त्री सा तस्य तदैश्वर्यं सततं रक्षेदित्याह ॥

जो जिस पुरुष की स्त्री होवे वह उसके ऐश्वर्य की निरन्तर रक्षा करे यह वि० ॥

मि॒त्रस्य॑ चर्षणी॒धृतोऽवो॑ दे॒वस्य॑ सान॒सि।
द्यु॒म्नं चि॒त्रश्र॑वस्तमम् ॥ ६२ ॥

मित्रस्यं । चर्षणीधृतइतिं चर्षणिऽधृतः । अवंः । देवस्यं । सानसि । द्युम्नम् । चित्रश्रवस्तमुमितिं चित्रश्रवःऽतमम् ॥ ६२ ॥

पदार्थः—(मित्रस्य) सुहृदः (चर्षणीधृतः) सुशिक्षया मनुष्याणां धर्त्तुः (अवः) रक्ष (देवस्य) कमनीयस्य पत्युः (सानसि) संभक्तव्यं पुराणम् (द्युम्नम्) धनम् (चित्रश्रवस्तमम्) चित्राण्याश्चर्य्यभूतानि श्रवांस्यन्नादीनि यस्मात् तत् ॥ ६२ ॥

अन्वयः—हे स्त्रि त्वं चर्षणीधृतो मित्रस्य देवस्य पत्युश्चित्रश्रवस्तमं सानसि द्युम्नमवः ॥ ६२॥

भावार्थः—गृहकृत्यकुशलया स्त्रिया सर्वाण्यन्तर्गृहकृत्यानि स्वाधीनानि रक्षित्वा यथावदुन्नेयानि ॥ ६२ ॥

पदार्थः—हे स्त्री तू (चर्षणीधृतः) अच्छी शिक्षा से मनुष्यों का धारण करने हारे (मित्रस्य) मित्र (देवस्य) कमनीय अपने पति के (चित्रश्रवस्तमम्) आश्चर्य्यरूप अन्नादि पदार्थ जिससे हों ऐसे (सानसि) सेवने योग्य प्राचीन (द्युम्नम्) धन की (अवः) रक्षा कर ॥ ६२ ॥

भावार्थः—घर के काम करने में कुशल स्त्री को चाहिये कि घर के भीतर के सब काम अपने आधीन रख के ठीक २ बढ़ाया करे ॥ ६२ ॥

देवस्त्वेत्यस्य विश्वामित्र ऋषिः । सविता देवता । भुरिगनुष्टुप्छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर भी वही विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

देवस्त्वां सवितोद्वंपतु सुपाणिः स्वंङ्गुरिः सुबाहुरुत शक्त्यां । अव्यंथमाना पृथिव्यामाशा दिशऽआपृण ॥ ६३ ॥

देवः । त्वा । सविता । उत् । वपतु । सुपाणिरिति सुऽपाणिः । स्वङ्गुरिरिति सुऽअङ्गुरिः । सुबाहुरिति सुऽबाहुः । उत । शक्त्या । अव्यथमाना । पृथिव्याम् । आशाः । दिशः । आ । पृण ॥ ६३ ॥

पदार्थः—(देवः) दिव्यगुणकर्मस्वभावः पतिः (त्वा) त्वाम् (सविता) सूर्यइवैश्वर्यप्रदः (उत्) उत्कृष्टतया (वपतु) बीजवत् संतनोतु (सुपाणिः) प्रशस्तहस्तः (स्वङ्गुरिः) शोभना अङ्गुलयो यस्य सः । कपिलकादिरबाह्यस्थम् (सुबाहुः) शोभनभुजः (उत) अपि (शक्त्या) सामर्थ्येन सह वर्त्तमानो वर्त्तमाना वा (अव्यथमाना) अभीताऽचलिता सती (पृथिव्याम्) पृथिवीस्थायाम् (आशाः) इच्छाः (दिशः) काष्ठाः (आ) (पृण) पिपूर्द्धि ॥ ६३ ॥

अन्वयः—हे स्त्रि सुबाहुः सुपाणिः स्वङ्गुरिः सवितेव देवः पतिः शक्त्या पृथिव्यां त्वोद्वपतु शक्त्याऽव्यथमाना सती त्वं पत्युः सेवनेन स्वकीया आशा यशसा दिशश्च आपृण ॥ ६३ ॥

भावार्थः—स्त्रीपुरुषौ परस्परं प्रीतौ हृद्यौ सुपरीक्षितौ स्वेच्छया स्वयम्बरं विवाहं कृत्वाऽतिविषयासक्तिं विहाय ऋतुगामिनौ सन्तौ सामर्थ्यहानिं कदाचिन्न कुर्य्यातास् । नहि जितेन्द्रिययोः स्त्रीपुरुषयोरोगनाद्दुर्भावो बल- हानिश्च जायते । तस्मादेवमनुतिष्ठेताम् ॥ ६३ ॥

पदार्थः—हे स्त्रि (सुबाहुः) अच्छे जिसके भुजा (सुपाणिः) सुन्दर हाथ और (स्वङ्गुरिः) शोभायुक्त जिसकी अंगुली हों ऐसा (सविता) सूर्य के समान ऐश्वर्यदाता (देवः) अच्छे गुण कर्म और स्वभावों से युक्त पति (शक्त्या) अपने सामर्थ्य से (पृथिव्यां) पृथिवी पर स्थित (त्वा) तुझ को (उद्वपतु) वृद्धि के साथ गर्भवती करे । और तू भी अपने सामर्थ्य से (अव्यथमाना) निर्भय हुई पति के सेवन से अपनी (आशाः) इच्छा और कीर्ति से सब (दिशः) दिशाओं को (आपृण) पूरण कर ॥ ६३ ॥

भावार्थः—स्त्रीपुरुषों को चाहिये कि गृहाश्रम में प्रथम एक दूसरे को हृदय से चाहने वाले परस्पर परीक्षा कर अपनी २ इच्छा से स्वयम्बर विवाह कर अत्यन्त विषयासक्ति को त्याग ऋतुकाल में गमन करनेवाले होकर अपने सामर्थ्य की हानि कभी न करें। क्योंकि इसी से जितेन्द्रिय स्त्री पुरुष के शरीर में कोई रोग प्रगट और बल की हानि भी नहीं होती। इसलिये इस का अनुष्ठान अवश्य करना चाहिये॥ ६३॥

उत्थायेत्यस्य विश्वामित्र ऋषिः। अनुष्टुप्छन्दः। गान्धारः स्वरः॥

पुनः सा कीदृशीत्युप०॥

फिर वह कैसी होवे यह वि०॥

उत्थाय बृहती भवोदु तिष्ठ ध्रुवा त्वम्। मि-
त्रैतां त उखां परि ददाम्यभित्त्या एषा मा भेदि॥ ६४॥

उत्थाय। बृहती। भव। उत्। ऊँइत्यूँ। तिष्ठ। ध्रुवा। त्वम्। मित्र। एताम्। ते। उखाम्। परि। ददामि। अभित्त्यै। एषा। मा। भेदि॥ ६४॥

पदार्थः—(उत्थाय) आलस्यं विहाय (बृहती) महापुरुषार्थयुक्ता (भव) (उत्) (उ) (तिष्ठ) (ध्रुवा) मङ्गलकार्येषु कृतनिश्चया (त्वम्) (मित्र) सुहृद् (एताम्) (ते) तुभ्यम् (उखाम्) प्राप्तव्यां कन्याम् (परि) सर्वतः (ददामि) (अभित्त्यै) अभयाहित्याय (एषा) सत्यव्रतमाश्रिता पत्नी (मा) निषेधे (भेदि) भिद्यताम्॥ ६४॥

अन्वयः—हे विदुषि कन्ये त्वं ध्रुवा बृहती भव विवाहायोत्तिष्ठ। उत्थायैनं पतिं स्वीकुरु। हे मित्र ते एतामुखामभित्त्यै परिददामि। त्वयैषा मा भेदि॥ ६४॥

भावार्थः—कन्या वरश्च स्वमिव पुरुषं स्वकान्तां कन्यां च स्वयं परीक्ष्य स्वीकर्त्तुमिच्छेत्। यदा द्वयोर्विवाहकरणे निश्चयः स्यात् तदैव माता-पित्राचार्यादय एनयोर्विवाहं कुर्युरेतौ परस्परं भेदभावं व्यभिचारं च कदाचिन्न कुर्याताम्। किं तु स्वस्त्रीव्रतः पुमान् स्वपतिव्रता स्त्री च संगतौ स्याताम् ॥ ६४ ॥

पदार्थः—हे विदुषि कन्ये तू (ध्रुवा) मङ्गल कार्य्यों में निश्चित बुद्धिवाली और (बृहती) बड़े पुरुषार्थ से युक्त (भव) हो। विवाह करने के लिये (प्रतिष्ठ) उद्यत हो (उत्थाय) आलस्य छोड़ के उठकर इस पति का स्वीकार कर। हे (मित्र) मित्र (ते) तेरे लिये (एताम्) इस (वस्राम्) प्राप्त होने योग्य कन्या को (अभित्यै) भयरहित होने के लिये (परिददामि) सब प्रकार देता हूं (च) इसलिये तू (एषा) इस प्रत्यक्ष प्राप्त हुई स्त्री को (मा भेदि) भिन्न मत कर ॥ ६४ ॥

भावार्थः—कन्या और वर को चाहिये कि अपनी २ प्रसन्नता से कन्या पुरुष की और पुरुष कन्या की आप ही परीक्षा कर के ग्रहण करने की इच्छा करें जब दोनों का विवाह करने में निश्चय होवे तभी माता पिता और आचार्य आदि इन दोनों का विवाह करें और ये दोनों आपस में भेद वा व्यभिचार कभी न करें। किन्तु अपनी स्त्री के नियम में पुरुष और पतिव्रता स्त्री होकर मिल के चलें ॥ ६४ ॥

वसवस्त्वेत्यस्य विश्वामित्रऋषिः। वस्वादयो लिङ्गोक्ता देवताः। धृतिश्छन्दः। षड्जः स्वरः ॥

पुनस्तौ स्त्रीपुरुषौ प्रति विद्वांसः किं कुर्युरित्याह ॥
फिर उन स्त्री पुरुषों के प्रति विद्वान् लोग क्या करें इस वि० ॥

वसवस्त्वा छृन्दन्तु गायत्रेण छन्दसाऽङ्गिरस्वद्रुद्रास्त्वा छृन्दन्तु त्रैष्टुभेन छन्दसाऽङ्गिरस्व-

दादित्यास्त्वा छृन्दन्तु जागतेन छन्दसाऽङ्गिरस्वद्विश्वे त्वा देवा वैश्वानरा आछृन्दन्त्वानुष्टुभेन छन्दसाऽङ्गिरस्वत् ॥ ६५ ॥

वसवः । त्वा । आ । छृन्दन्तु । गायत्रेण । छन्दसा । अङ्गिरस्वत् । रुद्राः । त्वा । आ । छृन्दन्तु । त्रैष्टुभेन । त्रैस्तुभेनेति त्रैऽस्तुभेन । छन्दसा । अङ्गिरस्वत् । आदित्याः । त्वा । आ । छृन्दन्तु । जागतेन । छन्दसा । अङ्गिरस्वत् । विश्वे । त्वा । देवाः । वैश्वानराः । आ । छृन्दन्तु । आनुष्टुभेन । आनुस्तुभेनेत्यानुऽस्तुभेन । छन्दसा । अङ्गिरस्वत् ॥ ६५ ॥

पदार्थः—(वसवः) आदिमा विद्वांसः (त्वा) त्वां पुमांसं स्त्रियं च (आ) समन्तात् (छृन्दन्तु) सन्दीपयन्तु (गायत्रेण) गायन्ति सद्विद्या येन तेन वेदस्थविभागेन स्तोत्रेण (छन्दसा) (अङ्गिरस्वत्) अग्निवत् (रुद्राः) मध्यमा विद्वांसः (त्वा) (आ) (छृन्दन्तु) (त्रैष्टुभेन) त्रीणि कर्मोपासनाज्ञानानि स्तोभन्ते स्थिरीकुर्वन्ति येन (छन्दसा) (अंगिरस्वत्) प्राणवत् (आदित्याः) उत्तमा विपश्चितः (त्वा) (आ) (छृन्दन्तु) (जागतेन) जगद्विद्याप्रकाशकेन (छन्दसा) (अंगिरस्वत्) सूर्यवत् (विश्वे) सर्वे (त्वा) (देवाः) सदुपदेशप्रदातारः (वैश्वानराः) सर्वेषु नरेषु राजमानाः (आ) (छृन्दन्तु) (आनुष्टुभेन) विद्यां गृहीत्वा पश्चाद् दुःखानि स्तभ्नुवन्ति येन तेन (छन्दसा) (अंगिरस्वत्) समस्तौषधिरसवत् ॥ ६५ ॥

अन्वयः—हे स्त्रि पुरुष वा वसवो गायत्रेण छन्दसा यां यं त्वाऽङ्गिरस्वदाछृन्दन्तु रुद्रास्त्रैष्टुभेन छन्दसा त्वाऽङ्गिरस्वदाछृन्दन्तु । आदित्या जागतेन छन्दसा त्वाऽङ्गिरस्वदाछृन्दन्तु । वैश्वानरा विश्वेदेवा आनुष्टुभेन छन्दसा त्वाऽङ्गिरस्वदाछृन्दन्तु ॥ ६५ ॥

भावार्थः—अत्रोपमालं०—हे स्त्रीपुरुषौ युवां ये याश्च विद्वांसः विदुष्यश्च शरीरात्मबलकारोपदेशेन सुशोभयेयुस्तेषामेव सेवासङ्गौ सततं कुर्यातामू । नेतरेषां क्षुद्राणाम् ॥ ६५ ॥

पदार्थः—हे स्त्रि वा पुरुष (वसवः) प्रथम विद्वान् लोग (गायत्रेण) श्रेष्ठ विद्याओं का जिस से गान किया जावे उस वेद के विभागरूप स्तोत्र (छन्दसा) गायत्री छन्द से जिस (त्वा) तुझ को (अङ्गिरस्वत्) अग्नि के तुल्य (आच्छृन्दन्तु) प्रकाशमान करें (रुद्राः) मध्यम विद्वान् लोग (त्रैष्टुभेन) कर्म उपासना और ज्ञान जिस से स्थिर हों उस (छन्दसा) वेद के स्तोत्र भाग से (अङ्गिरस्वत्) प्राण के समान (त्वा) तुझ को (आच्छृन्दन्तु) प्रज्वलित करें (आदित्याः) उत्तम विद्वान् लोग (जागतेन) जगत् की विद्या प्रकाश करने हारे (छन्दसा) वेद के स्तोत्रभाग से (त्वा) तुझ को (अङ्गिरस्वत्) सूर्य के सदृश तेजधारी (आच्छृन्दन्तु) शुद्ध करें (वैश्वानराः) सम्पूर्ण मनुष्यों में शोभायमान (देवाः) सत्य उपदेश देने हारे (विश्वे) सब विद्वान् लोग (आनुष्टुभेन) विद्या ग्रहण के पश्चात् जिस से दुःखों को छुड़ावें उस (छन्दसा) वेदभाग से (त्वा) तुझ को (अङ्गिरस्वत्) समस्त ओषधियों के रस के समान (आच्छृन्दन्तु) शुद्ध संपादित करें ॥ ६५ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में उपमालं०—हे स्त्रीपुरुषो तुम दोनों को चाहिये कि जो विद्वान् स्त्री लोग तुम को शरीर और आत्मा का बल कराने हारे उपदेश से सुशोभित करें उनकी सेवा और सत्सङ्ग निरन्तर करो और अन्य तुच्छ बुद्धि वाले पुरुषों वा स्त्रियों का सङ्ग कभी मत करो ॥ ६५ ॥

आकूतिमित्यस्य विश्वामित्र ऋषिः । अग्न्यादयो मंत्रोक्ता देवताः । विराड्ब्राह्मी त्रिष्टुप्छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनस्ते स्त्रीपुरुषाः किं कुर्युरित्याह ॥

फिर वे स्त्री पुरुष क्या करें इस वि० ॥

आकूतिमग्निम्प्रयुजꣳ स्वाहा मनो मेधामग्निम्प्रयुजꣳस्वाहा चित्तं विज्ञातमग्निं प्रयुजꣳ स्वाहा वाचो विधृतिमग्निम्प्रयुजꣳस्वाहा। प्रजापतये मनवे स्वाहाऽग्नये वैश्वानराय स्वाहा ॥६६॥

आकूतिमित्याऽकूतिम्। अग्निम्। प्रयुजमिति प्रऽयुजम्। स्वाहा। मनः। मेधाम्। अग्निम्। प्रयुजमिति प्रऽयुजम्। स्वाहा। चित्तम्। विज्ञातमिति विऽज्ञातम्। अग्निम्। प्रयुजमिति प्रऽयुजम्। स्वाहा। वाचः। विधृतिमिति विऽधृतिम्। अग्निम्। प्रयुजमिति प्रऽयुजम्। स्वाहा। प्रजापतय इति प्रजाऽपतये। मनवे। स्वाहा। अग्नये। वैश्वानराय। स्वाहा ॥ ६६ ॥

पदार्थः—(आकूतिम्) उत्साहकारिकां क्रियाम् (अग्निम्) प्रसिद्धं पावकम् (प्रयुजम्) यः सर्वान् युनक्ति तम् (स्वाहा) सत्यया क्रियया (मनः) इच्छासाधनम् (मेधाम्) प्रज्ञाम् (अग्निम्) विद्युतम् (प्रयुजम्) (स्वाहा) सत्यया वाचा (चित्तम्) चेतति येन तत् (विज्ञातम्) (अग्निम्) अग्निमिव भास्वरम् (प्रयुजम्) व्यवहारेषु प्रयुक्तम् (स्वाहा) सत्येन व्यवहारेण (वाचः) वाण्याः (विधृतिम्) विविधं धारणम् (अग्निम्) योगाभ्यासजनितां विद्युतम् (प्रयुजम्) संप्रयुक्तम् (स्वाहा) क्रियायोगरीत्या (प्रजापतये) प्रजास्वामिने (मनवे) मननशीलाय (स्वाहा) सत्यां वाणीम् (अग्नये) विज्ञानस्वरूपाय (वैश्वानराय) विश्वेषु नरेषु राजमानाय जगदीश्वराय (स्वाहा) सत्यां क्रियाम् ॥ ६६ ॥

अन्वयः—हे स्त्रीपुरुषा भवन्तो वेदस्थैर्गायत्र्यादिभिश्छन्दोभिः स्वाहाऽऽकूतिं प्रयुजमग्निं स्वाहा मनो मेधां प्रयुजमग्निं स्वाहा चित्तं विज्ञातं प्रयुजमग्निं

मनवे प्रजापतये स्वाहाऽग्नये वैश्वानराय स्वाहा च प्राप्य सतत-माछृन्दन्तु ॥ ६६ ॥

भावार्थः—अत्राऽऽछृन्दन्त्विति पदं पूर्वमंत्रादनुवर्त्तते । मनुष्याः पुरुषार्थेन वेदादिशास्त्राण्यधीत्योत्साहादीनुत्रीय व्यवहारपरमार्थक्रियाप्रयोगेणाऽभ्युदयिकनिःश्रेयसे समाप्नुवन्तु ॥ ६६ ॥

पदार्थः—हे स्त्री पुरुषो तुम लोग वेद के गायत्री आदि मंत्रों से (स्वाहा) सत्यक्रिया से (आकूतिम्) उत्साह देने वाली क्रिया के (प्रयुजम्) प्रेरणा करने हारे (अग्निम्) प्रसिद्ध अग्नि को (स्वाहा) सत्यवाणी से (मनः) इच्छा के साधन को (मेधाम्) बुद्धि और (प्रयुजम्) सम्बन्ध करने हारी (अग्निम्) बिजुली को (स्वाहा) सत्य व्यवहारों से (विज्ञातम्) जाने हुए विषय के (प्रयुजम्) व्यवहारों में प्रयोग किये (अग्निम्) अग्नि के समान प्रकाशित (चित्तम्) चित्त को (स्वाहा) योगक्रिया की रीति से (वाचः) वाणियों को (विधृतिम्) विविध प्रकार की धारणा को (प्रयुजम्) संप्रयोग किये हुए (अग्निम्) योगाभ्यास से उत्पन्न की हुई बिजुली को (प्रजापतये) प्रजा के स्वामी (मनवे) मननशील पुरुष के लिये (स्वाहा) सत्यवाणी को और (अग्नये) विज्ञानस्वरूप (वैश्वानराय) सब मनुष्यों के बीच प्रकाशमान जगदीश्वर के लिये (स्वाहा) धर्मयुक्त क्रिया को प्राप्त करा के निरन्तर (आछृन्दन्तु) अच्छे प्रकार शुद्ध करो ॥ ६६ ॥

भावार्थः—यहां पूर्व मंत्र से (आछृन्दन्तु) इस पद की अनुवृत्ति आती है । मनुष्यों को चाहिये कि पुरुषार्थ से वेदादि शास्त्रों को पढ़ और उत्साह आदि को बढ़ा कर व्यवहार परमार्थ की क्रियाओं के सम्बन्ध से इस लोक और परलोक के सुखों को प्राप्त हों ॥ ६६ ॥

विश्वो देवस्येत्यस्यात्रेयऋषिः । सविता देवता । अनुष्टुप्छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनर्गृहस्थैः किं कार्यमित्याह ॥

फिर गृहस्थों को क्या करना चाहिये यह वि० ॥

विश्वो॑ दे॒वस्य॑ ने॒तुर्मर्तो॑ वुरीत स॒ख्यम्। विश्वो॑ रा॒य इ॑षुध्यति द्यु॒म्नं वृ॑णीत पु॒ष्यसे॒ स्वाहा॑ ॥ ६७ ॥

विश्वः॑। दे॒वस्य॑। ने॒तुः। मर्त्तः॑। वु॒री॒त॒। स॒ख्यम्। विश्वः॑। रा॒ये। इ॒षु॒ध्य॒ति॒। द्यु॒म्नम्। वृ॒णी॒त॒। पु॒ष्यसे॑। स्वाहा॑ ॥ ६७ ॥

पदार्थः—(विश्वः) सर्वः (देवस्य) सर्वजगत्प्रकाशकस्य परमेश्वरस्य (नेतुः) सर्वनायकस्य (मर्त्तः) मनुष्यः (वुरीत) स्वीकुर्यात् (सख्यम्) सख्युर्भावं कर्म वा (विश्वः) अखिलः (राये) श्रियै (इषुध्यति) बाणादीनि शस्त्राणि धरेत्। लेट्प्रयोगोऽयम् (द्युम्नम्) प्रकाशयुक्तं यशोऽन्नं वा। द्युम्नं द्योततेर्यशोऽन्नं वा। निरु० ५। ५ (वृणीत) स्वीकुर्य्यात् (पुष्यसे) पुष्टो भवेः (स्वाहा) सत्यां वाचम् ॥ ६७ ॥

अन्वयः—यथा विद्वांस्तथा विश्वो मर्त्तो नेतुर्देवस्य सख्यं वुरीत विश्वो मनुष्यो राय इषुध्यति। स्वाहा द्युम्नं वृणीत यथा चैतेन त्वं पुष्यसे तथा वयमपि भवेम ॥ ६७ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—गृहस्थैर्मनुष्यैः परमेश्वरेण सह मैत्रीं कृत्वा सत्येन व्यवहारेण श्रियं प्राप्य यशस्वीनि कर्माणि नित्यं कार्य्याणि ॥ ६७ ॥

पदार्थः—जैसे विद्वान् लोग ग्रहण करते हैं (विश्वः) सब (मर्त्तः) मनुष्य (नेतुः) सब के नायक (देवस्य) सब जगत् का प्रकाशक परमेश्वर के (सख्यम्) मित्रता को (वुरीत) स्वीकार करें (विश्वः) सब मनुष्य (राये) शोभा वा लक्ष्मी के लिये (इषुध्यति) बाणादि आयुधों को धारण करें (स्वाहा) सत्यवाणी और (द्युम्नम्) प्रकाशयुक्त यश वा अन्न को (वृणीत) ग्रहण करें। और जैसे इस से (तू) (पुष्यसे) पुष्ट होता है वैसे हम लोग भी होवें ॥ ६७ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में वाचकलु०—गृहस्थ मनुष्य को चाहिये कि परमेश्वर के साथ मित्रता कर सत्य व्यवहार से धन को प्राप्त हो के कीर्त्ति कराने हारे कर्मों को नित्य किया करें ॥ ६७ ॥

मा सिवत्यस्य आत्रेयऋषिः । अम्बा देवता । गायत्री छन्दः ।
षड्जः स्वरः ॥

पुनर्मातापितरौ प्रति पुत्रादयः किं किं ब्रूयुरित्याह ॥
फिर माता पिता के प्रति पुत्रादि क्या २ कहें यह वि० ॥

मा सु भित्था मा सु रिषोऽम्ब धृष्णु वीरयस्व सु । अग्निश्चेदं करिष्यथः ॥ ६८ ॥

मा । सु । भित्थाः । मा । सु । रिषः । अम्ब । धृष्णु । वीरयस्व । सु । अग्निः । च । इदम् । करिष्यथः ॥ ६८ ॥

पदार्थः—(मा) (सु) (भित्था) भेदं कुर्याः (मा) (सु) (रिषः) हिंस्याः (अम्ब) मातः (धृष्णु) दार्ढ्यम् (वीरयस्व) आरब्धस्य कर्मणः समाप्तिमाचर (सु) (अग्निः) पावकइव (च) (इदम्) (करिष्यथः) करिष्यमाणं साधयिष्यथः ॥ ६८ ॥

अन्वयः—हे अम्ब त्वमस्मान् विद्यातो मा सु भित्था मा सुरिषो धृष्णु सुवीरयस्व चैव कुर्वन्तौ युवां मातापुत्रावग्निरिवेदं करिष्यथः ॥ ६८ ॥

भावार्थः—माता सुसन्तानान् सुशिक्षेत यत इमे परस्परं प्रीता भवेयुर्वीरास्च यत्कर्त्तव्यं तत्कुर्युरकर्त्तव्यं च नाचरेयुः ॥ ६८ ॥

पदार्थः—हे (अम्ब) माता तू हम को विद्या से (मा) मत (सुभित्थाः) छुड़ावे और (मा) मत (सुरिषः) दुःख दे (धृष्णु) दृढ़ता से (सुवीरयस्व) सुन्दर आरम्भ किये कर्म की समाप्ति कर। ऐसे करते हुए

तुम माता और पुत्र दोनों (अग्निः) अग्नि के समान (च) (इदम्) करने योग्य इस सब कर्म को (करिष्यथः) आचरण करो॥ ६८॥

भावार्थः—माता को चाहिये कि अपने सन्तानों को अच्छी शिक्षा देवे जिससे वे परस्पर प्रीतियुक्त और वीर होवें। और जो करने योग्य है वही करें न करने योग्य कभी न करें॥ ६८॥

दृंहस्वेत्यस्यात्रेय ऋषिः। अम्बा देवता। त्रिष्टुप्छन्दः।
धैवतः स्वरः॥

पुनः पतिः स्वपत्नीं प्रति किं किं वदेदित्याह॥
फिर पति अपनी स्त्री से क्या २ कहे यह वि०॥

दृꣳहस्व देवि पृथिवि स्वस्तय आसुरी माया स्वधया कृतासि। जुष्टं देवेभ्य इदमस्तु हव्यमरिष्टा त्वमुदिहि यज्ञे अस्मिन्॥ ६९॥

दृꣳहस्व। देवि। पृथिवि। स्वस्तये। आसुरी। माया। स्वधया। कृता। असि। जुष्टम्। देवेभ्यः। इदम्। अस्तु। हव्यम्। अरिष्टा। त्वम्। उत्। इहि। यज्ञे। अस्मिन्॥ ६९॥

पदार्थः—(दृꣳहस्व) वर्द्धस्व (देवि) विद्यायुक्ते (पृथिवि) भूमिरिव पृथुविधे (स्वस्तये) सुखाय (आसुरी) येऽसुषु प्राणेषु रमन्ते तेषां स्वा (माया) प्रज्ञा (स्वधया) उदकेनान्नेन वा (कृता) निष्पादिता (असि) (जुष्टम्) सेवितम् (देवेभ्यः) विद्वद्भ्यो दिव्येभ्यो गुणेभ्यो वा (इदम्) (अस्तु) (हव्यम्) दातुं योग्यं विज्ञानम् (अरिष्टा) अहिंसिता (त्वम्) (उत्) (इहि) प्राप्नुहि (यज्ञे) संगन्तव्ये गृहाश्रमे (अस्मिन्) वर्त्तमाने॥ ६९॥

द्रुवन्नः इति द्रुऽअंन्नः । सुर्पिरांसुतिरिति सुर्पिःऽआंसुतिः । प्रत्नः । होतां । वरेण्यः । सहसः । पुत्रः । अद्भुतः ॥ ७० ॥

पदार्थः—(द्रुवन्नः) द्रवो वृक्षादय ओषधयोऽन्नानि वा यस्य सः (सर्पिरासुतिः) सर्पिषो घृतादेरासुतिः सवनं यस्य सः (प्रत्नः) पुरातनः (होता) दाता गृहीता (वरेण्यः) स्वीकर्त्तुमर्हः (सहसः) बलवतः (पुत्रः) अपत्यम् (अद्भुतः) आश्चर्यगुणकर्मस्वभावः ॥ ७० ॥

अन्वयः—हे पते द्रुन्नः सर्पिरासुतिः प्रत्नो होता वरेण्यः सहसस्पुत्रोऽद्भुतस्त्वं स्वस्तयेऽस्मिन् यज्ञ उद्दिहि उदितो भव ॥ ७० ॥

भावार्थः—अत्र स्वस्तये अस्मिन् यज्ञ उदिहीति पदचतुष्टयं पूर्वतोऽनुवर्त्तते । कन्यया यस्य पिता कृतब्रह्मचर्यो बलवान् भवेद्यः पुरुषार्थेन बह्वन्नादीन्यर्जयितुं शक्नुयात् । पवित्रस्वभावः पुरुषो भवेत्तेन साकं विवाहं कृत्वा सततं सुखं भोक्तव्यम् ॥ ७० ॥

पदार्थः—हे पते (द्रुन्नः) वृक्षादि ओषधि ही जिस के अन्न हैं ऐसे (सर्पिरासुतिः) घृत आदि पदार्थों को शोधने वाले (प्रत्नः) सनातन (होता) देने लेने हारे (वरेण्यः) स्वीकार करने योग्य (सहसः) बलवान् के (पुत्रः) पुत्र (अद्भुतः) आश्चर्य गुण कर्म और स्वभाव से युक्त आप सुख होने के लिये इस गृहाश्रम के बीच शोभायमान हूजिये ॥ ७० ॥

भावार्थः—यहां पूर्व मंत्र से (स्वस्तये) (अस्मिन्) (यज्ञे) (उदिहि) इन चार पदों की अनुवृत्ति आती है । कन्या को उचित है कि जिस का पिता ब्रह्मचर्य से बलवान् हो और जो पुरुषार्थ से बहुत अन्नादि पदार्थों को इकट्ठा कर सके उस शुद्ध स्वभाव से युक्त पुरुष के साथ विवाह करके निरन्तर सुख भोगे ॥ ७० ॥

परस्या इत्यस्य विरूपऋषिः । अग्निर्देवता । विराड्गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनः पतिः स्वपत्नीं प्रति किं किमुपदिशेदित्याह ॥

फिर पति अपनी स्त्री को क्या उपदेश करे यह वि० ॥

परस्या अधि संवतोऽवरां २ । अभ्यातर । यत्राहमस्मि तां २ । अव ॥ ७१ ॥

परस्याः । अधि । सम्वतइतिं सम्ऽवतः । अवरान् । अभि । आ । तर । यत्र । अहम् । अस्मि । तान् । अव ॥ ७१ ॥

पदार्थः—(परस्याः) प्रकृष्टायाः कन्यायाः (अधि) (संवतः) संविभक्तान् (अवरान्) नीचानुत्कृष्टगुणस्वभावान् (अभि) (आ) (तर) प्लव (यत्र) (अहम्) (अस्मि) (तान्) (अव) ॥ ७१ ॥

अन्वयः—हे कन्ये यस्याः परस्यास्तवाहमधिष्ठाता भवितुमिच्छामि सा त्वं सम्वतोऽवरानभ्यातर यत्र कुलेऽहमस्मि तानव ॥ ७१ ॥

भावार्थः—कन्यया स्वस्मा उत्कृष्टस्तुल्यो वा वरः स्वीकार्य्यो न नीचः । यस्य पाणिग्रहणं कुर्य्यात्तस्य सम्बन्धिनो मित्राणि च सर्वदा सन्तोषणीयानि ॥ ७१ ॥

पदार्थः—हे कन्ये जिस (परस्याः) उत्तम कन्या तेरा मैं (अधि) स्वामी हुआ चाहता हूं सो तू (संवत) संविभाग को प्राप्त हुए (अवरान्) नीच स्वभावों को (अभ्यातर) उल्लंघन कर (यत्र) जिस कुल में (अहम्) मैं (अस्मि) हूं (तान्) उन उत्तम मनुष्यों को (अव) रक्षा कर ॥ ७१ ॥

भावार्थः—कन्या को चाहिये कि अपने से अधिक बल और विद्या वाले वा बराबर के पति को स्वीकार करे किन्तु न्यून बल वा न्यून विद्या वाले को नहीं । जिस के साथ विवाह करे उसके सम्बन्धी और मित्रों को सब काल में प्रसन्न रक्खे ॥ ७१ ॥

परमस्या इत्यस्य वारुणिर्ऋषिः । अग्निर्देवता । भुरिगुष्णिक् छन्दः । ऋषभः स्वरः ॥

पुनः सा स्वस्वामिनं प्रति किं किमादिशेदित्याह ॥

फिर वह स्त्री अपने स्वामी से क्या २ कहे इस वि० ॥

परमस्याः परावतो रोहिदश्व इहा गहि । पुरीष्यः पुरुप्रियोऽग्ने त्वं तरा मृधः ॥ ७२ ॥

परमस्याः । परावत इति परा॒ऽवतः । रोहिदश्व इति रोहित्ऽअश्वः । इह । आ । गहि । पुरीष्यः । पुरुप्रिय इति पुरुऽप्रियः । अग्ने । त्वम् । तर । मृधः ॥ ७२ ॥

पदार्थः—(परमस्याः) अत्युत्तमगुणरूपशीलायाः (परावतः) दूरदेशात् (रोहिदश्वः) रोहितोऽग्न्यादयोऽश्वा वाहनानि यस्य सः (इह) (आ) (गहि) आगच्छ (पुरीष्यः) पुरीषेषु पालनेषु साधुः (पुरुप्रियः) पुरूणां बहूनां जनानां मध्ये प्रियः प्रीतः (अग्ने) अग्निप्रकाशवद्विज्ञानयुक्त (त्वम्) (तर) उल्लंघ । अत्र द्व्यचोतस्तिङ इति दीर्घः (मृधः) परपदार्थाभिकाङ्क्षिणः शत्रून् ॥ ७२ ॥

अन्वयः—हे अग्ने पावक इव तेजस्विन् स्वामिन् रोहिदश्वः पुरीष्यः पुरुप्रियस्त्वमिह परावतो देशात् परमस्याः कन्यायाः कीर्तिं श्रुत्वाऽऽगहि तया भार्यया सह मृधस्तर ॥ ७२ ॥

भावार्थः—मनुष्यैः स्वस्य कन्यायाः पुत्रस्य वा समीपदेशे विवाहः कदाचिन्नैव कार्यः । यावद्दूरे विवाहः क्रियते तावदेवाऽधिकं सुखं जायते निकटे कलह एव ॥ ७२ ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) पावक के समान तेजस्विन् विज्ञानयुक्त पते (रोहिदश्वः) अग्नि आदि पदार्थों रूप युक्त वाहनों से युक्त (पुरीष्यः) पालने में

श्रेष्ठ (पुरुप्रियः) बहुत मनुष्यों की प्रीति रखने वाले (त्वम्) आप (इह) इस गृहाश्रम में (परावतः) दूर देश से (परमस्याः) अति उत्तम गुण रूप और स्वभाव वाली कन्या की कीर्ति सुन के (आगहि) आइये और उस के साथ (मृधः) दूसरों के पदार्थों की आकांक्षा करने हारे शत्रुओं का (वर) तिरस्कार कीजिये ॥ ७२ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि अपनी कन्या वा पुत्र का समीप देश में विवाह कर्म न करें। जितना ही दूर विवाह किया जावे उतना ही अधिक सुख होवे निकट करने में कलह ही होता है ॥ ७२ ॥

यदग्ने इत्यस्य जमदग्निर्ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृदनुष्टुप् छन्दः । गांधारः स्वरः ॥

पुनः स्त्रीपुरुषौ प्रति सम्बन्धिनः किं किं प्रतिजानीरन्नित्याह ॥

फिर स्त्रीपुरुषों के प्रति सम्बन्धी लोग क्या २ प्रतिज्ञा करें और करावें, यह वि० ॥

यदग्ने कानि कानि चिदा ते दारूणि दध्मसि ।
सर्वं तदस्तु ते घृतं तज्जुषस्व यविष्ठ्य ॥ ७३ ॥

यत् । अग्ने । कानि । कानि । चित् । आ । ते । दारूणि । दध्मसि । सर्वम् । तत् । अस्तु । ते । घृतम् । तत् । जुषस्व । यविष्ठ्य ॥ ७३ ॥

पदार्थः—(यत्) (अग्ने) अग्निरिव वर्त्तमान (कानि) (कानि) (चित्) अपि (आ) (ते) तुभ्यं तव वा (दारूणि) काष्ठे (दध्मसि) धरामः (सर्वम्) (तत्) (अस्तु) (ते) तव (घृतम्) आज्यम् (तत्) (जुषस्व) (यविष्ठ्य) अतिशयेन युवा यविष्ठः स एव तत्सम्बुद्धौ ॥ ७३ ॥

अन्वयः—हे यविष्ठ्याग्ने विद्वन् पते स्त्रि ! वा यथा कानि कानिचिद्दस्तूनि ते सन्ति तद्वयं दारुण्यादध्मसि । यदस्माकं वस्त्वस्ति तत्सर्वं तेऽस्तु यदस्माकं घृतं तत्त्वं जुषस्व । यत्ते वस्त्वस्ति तत्सर्वमस्माकमस्तु । यत्ते घृतादिकं वस्त्वस्ति तद्वयं गृह्णीमः ॥ ७३ ॥

भावार्थः—ब्रह्मचर्यादिभिर्मनुष्यैः स्वकीयाः सर्वे पदार्थाः सर्वार्था विधातव्याः । न कदाचिदीर्ष्यया परस्परं भेत्तव्यं यतः सर्वेषां सर्वाणि सुखानि वर्धेरन् विघ्नाश्च नोत्तिष्ठेरन्नेवं स्त्रीपुरुषावपि परस्परं वर्त्तेयाताम् ॥७३॥

पदार्थः—हे (यविष्ठ्य) अत्यन्त युवावस्था को प्राप्त हुए (अग्ने) अग्नि के समान तेजस्वी विद्वान् पुरुष वा स्त्री आप जैसे (कानि कानिचित्) कोई २ भी वस्तु (ते) तेरी हैं वे हम लोग (दारुणि) काष्ठ के पात्र में (दध्मसि) धारण करें । (यत्) जो कुछ हमारी चीज़ है (तत्) सो (सर्वम्) सब (ते) तेरी (अस्तु) होवे जो हमारा (घृतम्) घृतादि उत्तम पदार्थ है (तत्) उस को तू (जुषस्व) सेवन कर । जो कुछ तेरा पदार्थ है सो सब हमारा हो । जो तेरा घृतादि पदार्थ है उसको हम ग्रहण करें ॥ ७३ ॥

भावार्थः—ब्रह्मचारी आदि मनुष्य अपने सब पदार्थ सब के उपकार के लिये रक्खें । किन्तु ईर्ष्या से आपस में कभी भेद न करें जिस से सब के लिये सब सुखों की वृद्धि होवे । और विघ्न न उठें इसी प्रकार स्त्री पुरुष भी परस्पर वर्त्तें ॥ ७३ ॥

यदत्तीत्यस्य जमदग्निर्ऋषिः । अग्निर्देवता । विराडनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर भी वही विषय अगले मंत्र में कहा है ॥

यदत्त्युपजिह्विका यद्वम्रो अतिसर्पति । सर्वं तदस्तु ते घृतं तज्जुषस्व यविष्ठ्य ॥ ७४ ॥

यत्। अत्ति। उपजिह्विकेत्युपऽजिह्विका। यत्। वम्रः। अतिसर्पतीत्यतिऽसर्पति। सर्वम्। तत्। अस्तु। ते। घृतम्। तत्। जुषस्व। यविष्ठ्य॥७४॥

पदार्थः—(यत्) (अत्ति) भुङ्क्ते (उपजिह्विका) उपगताऽनुकूला जिह्वा यस्याः पत्न्याः सा (यत्) (वम्रः) उद्गलितोदानः (अतिसर्पति) अतिशयेन गच्छति (सर्वम्) (तत्) (अस्तु) (ते) (घृतम्) (तत्) (जुषस्व) (यविष्ठ्य)॥७४॥

अन्वयः—हे यविष्ठ्य त्वमुपजिह्विका च यदत्ति वम्रो यदति सर्पति तत्सर्वं तेऽस्तु यत्ते घृतमस्ति तत्त्वं जुषस्व॥७४॥

भावार्थः—यस्मिन् पतिः प्रवर्त्तेत स्त्री च तदनुकूलौ दम्पती स्याताम्। पतिस्त्रियाः स्वं तत्पुरुषस्य पुरुषस्य स्त्रियाः भवतु नात्र कथंचिद् द्वेषो विधेयः किंतु परस्परं मिलित्वाऽऽनन्दं भुञ्जीयाताम्॥७४॥

पदार्थः—हे (यविष्ठ्य) अत्यन्त युवावस्था को प्राप्त हुए पते आप और (उपजिह्विका) जिस की जिह्वा इन्द्रिय अनुकूल अर्थात् वश में हो ऐसी स्त्री (यत्) जो (अत्ति) भोजन करे (यत्) जो (वम्रः) मुख से बाहर निकाला प्राणवायु (अतिसर्पति) अत्यन्त चलता है (तत्) वह (सर्वम्) सब (ते) तेरा (अस्तु) होवे। जो तेरा (घृतम्) घी आदि उत्तम पदार्थ है (तत्) उस को (जुषस्व) सेवन किया कर॥७४॥

भावार्थः—जिस पुरुष से पुरुष वा स्त्री का व्यवहार सिद्ध होता हो उस के अनुकूल स्त्री पुरुष दोनों वर्तें। जो स्त्री का पदार्थ है वह पुरुष का और जो पुरुष का है वह स्त्री का भी होवे। इस विषय में कभी द्वेष नहीं करना चाहिये किन्तु आपस में मिलकर आनन्द भोगें॥७४॥

अहरहरित्यस्य नाभानेदिष्ठ ऋषिः। अग्निर्देवता। विराट् त्रिष्टुप्छन्दः। धैवतः स्वरः॥

पुनर्गृहस्थाः परस्परं कथं वर्त्तेरन्नित्याह ॥

फिर गृहस्थ लोग आपस में कैसे वर्त्तें यह वि० ॥

अहरहरप्रयावं भरन्तोऽश्वायेव तिष्ठते घासमस्मै । रायस्पोषेण समिषा मदन्तोऽग्ने मा ते प्रतिवेशा रिषाम ॥ ७५ ॥

अहरहरित्यहःऽअहः । अप्रयावमित्यप्रऽयावम् । भरन्तः । अश्वायेवेत्यश्वायऽइव । तिष्ठते । घासम् । अस्मै । रायः । पोषेण । सम् । इषा । मदन्तः । अग्ने । मा । ते । प्रतिवेशा इति प्रतिऽवेशाः । रिषाम ॥ ७५ ॥

पदार्थः—(अहरहः) प्रतिदिनम् (अप्रयावम्) प्रयुवन्त्यन्यायं यस्मिन् स प्रयावो न विद्यते प्रयावो यस्मिन् गृहाश्रमे तम् (भरन्तः) धरन्तः (अश्वायेव) यथाश्वाय (तिष्ठते) वर्त्तमानाय (घासम्) भदयम् (अस्मै) गृहाश्रमाय (रायः) धनस्य (पोषेण) पुष्ट्या (सम्) (इषा) अन्नादिना (मदन्तः) हर्षन्तः (अग्ने) विद्वन् (मा) (ते) तव (प्रतिवेशाः) प्रतीता वेशा धर्मप्रवेशा येषां ते (रिषाम) हिंस्याम । अत्र लिङर्थे लुङ् ॥ ७५ ॥

अन्वयः—हे अग्नेऽहरहस्तिष्ठतेऽश्वायेवास्मा अप्रयावं घासं भरन्तो रायस्पोषेणेषा संमदन्तः प्रतिवेशाः सन्तो वयं त ऐश्वर्यं मा रिषाम ॥ ७५ ॥

भावार्थः—अत्रोपमालं०—गृहस्था यथा अश्वादिपशूनां भोजनार्थं यवदुग्धादिकमन्नपालकाः नित्यं संचिन्वन्ति तथैश्वर्यं समुन्नीय सुखयेयुः । धनमदेन केनचित्सहेर्ष्यां कदाचिन्नाकुर्युः परस्योत्कर्षं श्रुत्वा दृष्ट्वा च सदा हृष्येयुः ॥ ७५ ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) विद्वन् पुरुष (अहरहः) नित्यप्रति (विष्ठते) वर्त्तमान (अश्वायेव) जैसे घोड़े के लिये घास आदि खाने का पदार्थ आगे धरते हैं वैसे (अस्मै) इस गृहस्थ पुरुष के लिये (अप्रयावम्) अन्याय से पृथक् गृहाश्रम के योग्य (धासम्) भोगने योग्य पदार्थों को (भरन्तः) धारण करते हुए (रायः) धन की (पोषेण) पुष्टि तथा (इषा) अन्नादि से (संमदन्तः) सम्यक् आनन्द को प्राप्त हुए (प्रतिवेशा) धर्मविषयक प्रवेश के निमित्त हम लोग (ते) तेरे ऐश्वर्य को (मारिषाम) कभी नष्ट न करें ॥ ७५ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में उपमालं०—गृहस्थ मनुष्यों को चाहिये कि जैसे घोड़े आदि पशुओं के खाने के लिये जो घास आदि पदार्थों को पशुओं के पालक नित्य इकट्ठे करते हैं वैसे अपने ऐश्वर्य को बढ़ाके सुख देवें; और धन के अहंकार से किसी के साथ ईर्ष्या कभी न करें किन्तु दूसरों की वृद्धि वा धन देख के सदा आनन्द मानें ॥ ७५ ॥

नाभेत्यस्य नाभानेदिष्ठऋषिः । अग्निर्देवता । स्वराडार्षी
त्रिष्टुप्छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनरेते परस्परं कथं संवदेरन्नित्याह ॥
फिर ये मनुष्य लोग आपस में कैसे संवाद करें यह वि० ॥

नाभा॑ पृथि॒व्याः स॑मिधा॒ने अ॒ग्नौ रा॒यस्पोषा॑य बृह॒ते ह॑वामहे । इ॒र॒म्म॒दं बृ॒हदु॑क्थं॒ यज॑त्रं॒ जेता॑रम॒ग्निं पृत॑नासु सास॒हिम् ॥ ७६ ॥

नाभा॑ । पृ॒थि॒व्याः । स॒मि॒धा॒न इति॑ सम्ऽइ॒धा॒ने । अ॒ग्नौ । रा॒यः । पोषा॑य । बृ॒ह॒ते । ह॒वा॒म॒हे॒ । इ॒र॒म्म॒दमिती॑रम्ऽम॒दम् । बृ॒हदु॑क्थ॒मिति॑ बृ॒हत्ऽउ॑क्थम् । यज॑त्रम् । जे॒तार॑म् । अ॒ग्निम् । पृत॑नासु । सा॒स॒हिम् । सा॒स॒हिमिति॑ सास॒हिम् ॥ ७६ ॥

पदार्थः—(नाभा) नाभौ मध्ये (पृथिव्याः) (समिधाने) सम्यक् प्रदीप्ते (अग्नौ) वह्नौ (रायः) श्रियः (पोषाय) पोषणकराय (बृहते) महते (हवामहे) स्पर्द्धामहे (इरम्मदम्) य इरयाऽन्नेन माद्यति हर्षति तम्। अग्रेपश्येरम्मदपाणिन्धमाश्च ॥ अ० ३। २। ३७ ॥ इति खश् प्रत्ययान्तो निपातः (बृहदुक्थम्) बृहन्महदुक्थं प्रशंसनं यस्य तम् (यजत्रम्) संगन्तव्यम् (जेतारम्) जयशीलम् (अग्निम्) विद्युद्वर्त्तमानम् (पृतनासु) सेनासु (सासहिम्) अतिशयेन सोढारम् ॥ ७६ ॥

अन्वयः—हे गृहिणो यथा वयं बृहते रायस्पोषाय पृथिव्या नाभा समिधानेऽग्नौ पृतनासु सासहिमिरम्मदं बृहदुक्थं यजत्रमग्निमिव जेतारं सेनापतिं हवामहे तथा यूयमप्याह्वयत ॥ ७६ ॥

भावार्थः—भूमिराज्यं कुर्वद्भिर्नरैः शस्त्रास्त्राणि संचित्य पूर्णबुद्धिविद्याशरीरबलसहितं पुरुषं सेनापतिं विधाय निर्भयतया प्रवर्त्तन्ताम् ॥ ७६ ॥

पदार्थः—हे गृही लोगो जैसे हम लोग (बृहते) बड़े (रायः) लक्ष्मी के (पोषाय) पुष्ट करने हारे पुरुष के लिये (पृथिव्याः) पृथिवी के (नाभा) बीच (समिधाने) अच्छे प्रकार प्रज्वलित हुए (अग्नौ) अग्नि में और (पृतनासु) सेनाओं में (सासहिम्) अत्यन्त सहनशील (इरम्मदम्) अन्न से आनन्दित होने वाले (बृहदुक्थम्) बड़ी प्रशंसा से युक्त (यजत्रम्) संग्राम करने योग्य (अग्निम्) बिजुली के समान शीघ्रता करने हारे (जेतारम्) विजयशील सेनापति पुरुष को (हवामहे) बुलाते हैं। वैसे तुम लोग भी इसको बुलाओ ॥ ७६ ॥

भावार्थः—पृथिवी का राज्य करते हुए मनुष्यों को चाहिये कि आग्नेय आदि अस्त्रों और तलवार आदि शस्त्रों का संचय कर और पूर्ण बुद्धि तथा शरीरबल से युक्त पुरुष को सेनापति कर के निर्भयता के साथ वर्त्तें ॥ ७६ ॥

याः सेना इत्यस्य नाभानेदिष्ठ ऋषिः। अग्निर्देवता। भुरिगनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः ॥

पुनः पुनरेते चोरादीन् प्रयत्नेन निवर्त्तयेयुरित्याह ॥

राजपुरुषों को योग्य है कि अपने प्रयत्न से चोर आदि दुष्टों का बार २ निवारण करें यह वि० ॥

याः सेना अभीत्वरीराव्याधिनीरुगणा उत ।
ये स्तेना ये च तस्करास्ताँस्ते अग्नेऽपि दधाम्यास्ये ॥ ७७ ॥

याः । सेनाः । अभीत्वरीरित्यभिऽइत्वरीः । आव्याधिनीरित्याऽव्याधिनीः । उगणाः । उत । ये । स्तेनाः । ये । च । तस्कराः । तान् । ते । अग्ने । अपि । दधामि । आस्ये ॥७७॥

पदार्थः—(याः) (सेनाः) (अभीत्वरीः) आभिमुख्यं राजविरोधं कुर्वतीः (आव्याधिनीः) समन्ताद्बहुरोगयुक्तास्ताडितुं शीलाः (उगणाः) उद्यतायुधसमूहाः । पृषोदरादित्वादभीष्टसिद्धिः (उत) अपि (ये) (स्तेनाः) सुरङ्गं दत्त्वा परपदार्थापहारिणः (ये) (च) दस्यवः (तस्कराः) द्यूतादिकापट्येन परपदार्थापहर्त्तारः (तान्) (ते) तस्य । अत्र व्यत्ययः (अग्ने) पावकस्य (अपि) (दधामि) प्रक्षिपामि (आस्ये) प्रज्वलिते ज्वालासमूहेऽग्नौ ॥ ७७ ॥

अन्वयः—हे सेनासभापते यथाऽहं या अभीत्वरीराव्याधिनीरुगणाः सेनाः सन्ति ता उत ये स्तेना ये तस्कराश्च सन्ति ताँस्तेऽस्याग्नेः पावकस्यास्येऽपि दधामि तथा त्वमेतानिह धेहि ॥ ७७ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—धार्मिकै राजपुरुषैर्या अनुकूलाः सेनाः प्रजाश्च सन्ति ताः सततं संपूज्य या विरोधिन्यो ये च दस्यवादयश्चोरा दुष्टवाचोऽनृतवादिनो व्यभिचारिणो मनुष्या भवेयुस्तानग्निशस्त्रायुधेनानाकारैर्दण्डैर्भृशं ताडयित्वा वशं नेयाः ॥ ७७ ॥

पदार्थः—हे सेना और सभा के स्वामी जैसे मैं (याः) जो (अभीत्वरीः) सम्मुख होके युद्ध करने हारी (आव्याधिनीः) बहुत रोगों से युक्त वा ताड़ना देने हारी (उगणाः) शस्त्रों को लेके विरोध में उद्यत हुई (सेनाः) सेना हैं उन (उत) और (ये) जो (स्तेनाः) सुरङ्ग लगा के दूसरों के पदार्थों को हरने वाले (च) और (ये) जो (तस्कराः) घूस आदि कपट से दूसरों के पदार्थ लेने हारे हैं (तान्) उनको (ते) इस (अग्ने) अग्नि के (आस्ये) जलती हुई लपट में (अपिदधामि) गेरता हूं वैसे तू भी इन को इस में धरा कर॥ ७७॥

भावार्थः—इस मंत्र में वाचकलु०—धर्मात्मा राजपुरुषों को चाहिये कि जो अपने अनुकूल सेना और प्रजा हों उनका निरन्तर सत्कार करें और जो सेना तथा प्रजा विरोधी हों तथा डांकू चोर खोटे वचन बोलने हारे मिथ्यावादी व्यभिचारी मनुष्य होवें उन को अग्नि से जलाने आदि भयंकर दण्डों से शीघ्र ताड़न देकर वश में करें॥ ७७॥

दंष्ट्राभ्यामित्यस्य नाभानेदिष्ठ ऋषिः। अग्निर्देवता। भुरिगुष्णिक् छन्दः। ऋषभः स्वरः॥

पुनस्तान् कथं ताडयेयुरित्याह॥

फिर उन दुष्टों को किस २ प्रकार ताड़ना करें यह वि०॥

दंष्ट्राभ्यां मलिम्लून् जम्भ्यैस्तस्कराँ२॥ उत। हनुभ्याᳬस्तेनान्भगवस्ताँस्त्वं खाद सुखादितान्॥ ७८॥

दंष्ट्राभ्याम्। मलिम्लून्। जम्भ्यैः। तस्करान्। उत। हनुभ्यामिति हनुऽभ्याम्। स्तेनान्। भगवऽइति भगऽवः। तान्। त्वम्। खाद। सुखादितानिति सुऽखादितान्॥ ७८॥

पदार्थः—(दंष्ट्राभ्याम्) तीक्ष्णाग्राभ्यां दन्ताभ्याम् (मलिम्लून्) मलिनाचारान् सिंहादीन् (जम्भ्यैः) जम्भेषु मुखेषु भवैर्जिह्वादिभिः (तस्करान्) चोरइव वर्त्तमानान् (उत) अपि (हनुभ्याम्) ओष्ठमूलाभ्याम् (स्तेनान्) परपदार्थापहर्तॄन् (भगवः) ऐश्वर्यसम्पन्न राजन् (तान्) (त्वम्) (खाद) विनाशय (सुखादितान्) अन्यायेन परपदार्थानां भोक्तॄन् ॥७८॥

अन्वयः—हे भगवः सभासेनेश यथा त्वं जम्भ्यैर्दंष्ट्राभ्यां यान् मलिम्लून् तस्करान् हनुभ्यां सुखादितान् स्तेनान् खाद विनाशयेस्तान् वयमुत विनाशयेम ॥ ७८ ॥

भावार्थः—राजपुरुषैर्ये गवादिहिंसकाः पशवः पुरुषाश्च ये च स्तेनास्ते विविधेन बन्धनेन ताडनेन नाशनेन वा वशं नेयाः ॥ ७८ ॥

पदार्थः—हे (भगवः) ऐश्वर्य्य वाले सभा सेना के स्वामी जैसे (त्वम्) आप (जंभ्यैः) मुख के जीभ आदि अवयवों और (दंष्ट्राभ्याम्) तीक्ष्ण दांतों से जिन (मलिम्लून्) मलीन आचरण वाले सिंह आदि को और (हनुभ्याम्) मसूड़ों से (तस्करान्) चोरों के समान वर्त्तमान (सुखादितान्) अन्याय से दूसरों के पदार्थों को भोगने और (स्तेनान्) रात में भीति आदि फोड़ तोड़ के पराया माल मारने हारे मनुष्यों को (खाद) जड़ से नष्ट करें वैसे (तान्) उन को हम लोग (उत) भी नष्ट करें ॥ ७८ ॥

भावार्थः—राजपुरुषों को चाहिये कि जो गौ आदि बड़े उपकार के पशुओं को मारने वाले सिंह आदि वा मनुष्य हों उन तथा जो चोर आदि मनुष्य हैं उन को अनेक प्रकार के बन्धनों से बांध ताड़ना दे नष्ट कर वश में लावें ॥ ७८ ॥

ये जनेष्वित्यस्य नाभानेदिष्ठ ऋषिः । सेनापतिर्देवता । निचृदनुष्टुप्छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनरेते कांस्कान् निवर्त्तयेयुरित्याह ॥

फिर ये राजपुरुष किस २ का निवारण करें यह वि० ॥

ये जनेषु मलिम्लवस्तेनासुस्तस्करा वने। ये कक्षेष्वघायवुस्तांस्ते दधामि जम्भयोः ॥ ७९ ॥

ये। जनेषु। मलिम्लवः। स्तेनासः। तस्कराः। वने। ये। कक्षेषु। अघायवः। अघयव इत्यघऽयवः। तान्। ते। दधामि। जम्भयोः ॥ ७९ ॥

पदार्थः—(ये) (जनेषु) मनुष्येषु (मलिम्लवः) ये मलिनः सन्तो म्लोचन्ति गच्छन्ति ते (स्तेनासः) गुप्तचोराः (तस्कराः) प्रसिद्धाः (वने) अरण्ये (ये) (कक्षेषु) सामन्तेषु (अघायवः) आत्मनोऽघेन पापेनायुरिच्छवः (तान्) (ते) तव (दधामि) (जम्भयोः) बन्धने मुखमध्ये ग्रासमिव ॥ ७९ ॥

अन्वयः—हे सभेश सेनापतिरहं ये जनेषु मलिम्लवः स्तेनासो ये वनेतस्करा ये कक्षेष्वघायवः सन्ति तांस्ते जम्भयोर्ग्रासमिव दधामि ॥ ७९ ॥

भावार्थः—सेनापत्यादिराजपुरुषाणामिदमेव कर्त्तव्यमस्ति यद्ग्रामारण्ययोः प्रसिद्धा अप्रसिद्धाश्चोराः पापाचाराश्च पुरुषाः सन्ति तेषां राजाधीनत्वं कुर्युरिति ॥ ७९ ॥

पदार्थः—हे सभापते मैं सेनाध्यक्ष (ये) जो (जनेषु) मनुष्यों में (मलिम्लवः) मलीन स्वभाव से आते जाते (स्तेनासः) गुप्त चोर जो (वने) वन में (तस्कराः) प्रसिद्ध चोर लुटेरे और (ये) जो (कक्षेषु) कचहरी आदि में (अघायवः) पाप करते हुए जीवन की इच्छा करने वाले हैं (तान्) उन को (ते) आप के (जम्भयोः) फैलाये मुख में ग्रास के समान (दधामि) धरता हूं ॥ ७९ ॥

भावार्थः—सेनापति आदि राजपुरुषों को यही मुख्य कर्त्तव्य है कि जो ग्राम और वनों में प्रसिद्ध चोर तथा लुटेरे आदि पापी पुरुष हैं उन को राजा के आधीन करें ॥ ७९ ॥

यो अस्मभ्यमित्यस्य नाभानेदिष्ठ ऋषिः । अध्यापकोपदेशकौ देवते । अनुष्टुप्छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर भी वही वि० ॥

यो अस्मभ्यमरातीयाद्यश्च नो द्वेषते जनः । निन्दाद्यो अस्मान् धिप्साच्च सर्वं तं भस्मसा कुरु ॥ ८० ॥

यः । अस्मभ्यम् । अरातीयात् । अरातिपदिरयतीत्यराति॰यात् । यः । च । नः । द्वेषते । जनः । निन्दात् । यः । अस्मान् । धिप्सात् । च । सर्वम् । तम् । भस्मसा । कुरु ॥ ८० ॥

पदार्थः—(यः) मनुष्यः (अस्मभ्यम्) धार्मिकेभ्यः (अरातीयात्) शत्रुत्वमाचरेत् (यः) (च) (नः) अस्मान् (द्वेषते) अप्रीतयति । अत्र बहुलं छन्दसीति शपो लुगभावः (जनः) (निन्दात्) निन्देत् (यः) (अस्मान्) (धिप्सात्) दम्भितुमिच्छेत् (च) (सर्वम्) (तम्) (भस्मसा) कृत्स्नम्भस्मेति भस्मसा । अत्र छान्दसो वर्णलोप इति तलोपः (कुरु) संपादय ॥ ८० ॥

अन्वयः—हे सभासेनेश त्वं यो जनोऽस्मभ्यमरातीयाद्यो नो द्वेषते निन्दाद्य योऽस्मान् धिप्साच्छत्रोश्च तं सर्वं भस्मसा कुरु ॥ ८० ॥

भावार्थः—अध्यापकोपदेशकराजपुरुषाणामिदं योग्यमस्ति यदध्यापनेन शिक्षयोपदेशेन दण्डेन च विरोधस्य सततं विनाशकरणमिति ॥ ८० ॥

पदार्थः—हे सभा और सेना के स्वामिन् आप (यः) जो (जनः) मनुष्य (अस्मभ्यम्) हम धर्मात्माओं के लिये (अरातीयात्) शत्रुता करे

(यः) जो (नः) हमारे साथ (द्वेषत्) दुष्टता करे (च) और हमारी (निन्दात्) निन्दा करे (यः) जो (अस्मान्) हम को (धिप्सात्) दम्भ दिखावे और हमारे साथ छल करे (तम्) उस (सर्वम्) सब को (भस्मसा) जला के संपूर्ण भस्म (कुरु) कीजिये ॥ ८० ॥

भावार्थः—अध्यापक उपदेशक और राजपुरुषों को चाहिये कि पढ़ाने शिक्षा उपदेश और दण्ड से निरन्तर विरोध का विनाश करें ॥ ८० ॥

संशितमित्यस्य नाभानेदिष्ठ ऋषिः। पुरोहितयजमानौ देवते। निचृदार्षी पङ्क्तिश्छन्दः। पञ्चमः स्वरः॥

अथ पुरोहितो यजमानादिभ्यः किं किमिच्छेत्कुर्याच्चेत्याह ॥

अब पुरोहित यजमान आदि से किस २ पदार्थ की इच्छा करे ॥

सꣳशितं मे ब्रह्म सꣳशितं वीर्यं बलम्। सꣳशितं क्षत्रं जिष्णु यस्याहमस्मि पुरोहितः ॥८१॥

सꣳशितमिति सम्ऽशितम्। मे। ब्रह्म। सꣳशितमिति सम्ऽशितम्। वीर्यम्। बलम्। सꣳशितमिति सम्ऽशितम्। क्षत्रम्। जिष्णु। यस्य। अहम्। अस्मि। पुरोहित इति पुरःऽहितः ॥ ८१ ॥

पदार्थः—(संशितम्) प्रशंसनीयम् (मे) मम यजमानस्य (ब्रह्म) वेदविज्ञानम् (संशितम्) (वीर्यम्) पराक्रमः (बलम्) (संशितम्) (क्षत्रम्) क्षत्रियकुलम् (जिष्णु) जयशीलम् (यस्य) जनस्य (अहम्) (अस्मि) (पुरोहितः) यं यजमानः पुरः पूर्वं दधाति सः। पुरोहितः पुर एनं दधति। निरु० २। १२ ॥ ८१ ॥

अन्वयः—अहं यस्य पुरोहितोऽस्मि तस्य मे मम तस्य च संशितं ब्रह्म मे तस्य च संशितं वीर्य्यं संशितं बलं संशितं जिष्णु क्षत्रं चास्तु ॥ ८१ ॥

भावार्थः—यो यस्य पुरोहितो यजमानश्च भवेत्तावन्योऽन्यस्य यथा विद्यया योगबलेन धर्माचरणेन चात्मोन्नतिर्ब्रह्मचर्य्येण जितेन्द्रियत्वेनारोग्येण च शरीरस्य बलं वर्धेत तदेव कर्म सततं कुर्यातम् ॥ ८१ ॥

पदार्थः—(अहम्) मैं (यस्य) जिस यजमान पुरुष का (पुरोहितः) प्रथम धारण करने हारा (अस्मि) हूं उसका और (मे) मेरा (संशितम्) प्रशंसा के योग्य (ब्रह्म) वेद का विज्ञान और उस यजमान का (संशितम्) प्रशंसा के योग्य (वीर्य्यम्) पराक्रम प्रशंसित (बलम्) बल (संशितम्) और प्रशंसा के योग्य (जिष्णु) जय का स्वभाव वाला (क्षत्रम्) क्षत्रियकुल होवे ॥ ८१ ॥

भावार्थः—जो जिसका पुरोहित और जो जिस का यजमान हो वे दोनों आपस में जिस विद्या के योगबल और धर्माचरण से आत्मा की उन्नति और ब्रह्मचर्य्य जितेन्द्रियता तथा आरोग्यता से शरीर का बल बढ़े वही कर्म निरन्तर किया करें ॥ ८१ ॥

उदेषामित्यस्य नाभानेदिष्ठ ऋषिः । सभापतिर्यजमानो देवता । विराडनुष्टुप्छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनर्यजमानः पुरोहितं प्रति कथं वर्त्ततेत्याह ॥
फिर यजमान पुरोहित के साथ कैसे वर्त्ते यह वि० ॥

उदे॑षां वा॒हू अति॑र॒मुद्वर्चो॒ अथो॒ बल॑म् । क्षि॒णोमि॒ ब्रह्म॑णा॒मित्रा॒नुन्न॑यामि॒ स्वाँ२॥ अ॒हम् ॥ ८२ ॥

उत् । एषाम् । बाहूइतिं बाहू । अतिरम् । उत् । वर्चः । अथोइत्यर्थो । बलम् । क्षिणोमि । ब्रह्मणा । अमित्रान् । उत् । नयामि । स्वान् । अहम् ॥ ८२ ॥

पदार्थः—(उत्) (एषाम्) पूर्वोक्तानां चोरादीनां दुष्कर्मकारिणाम् (बाहू) बलवीर्ये (अतिरम्) सन्तरेयमुल्लङ्घयेयम् (उत्) (वर्चः) तेजः (अथो) आनन्तर्ये (बलम्) सामर्थ्यम् (क्षिणोमि) हिनस्मि (ब्रह्मणा) वेदेश्वरविज्ञानप्रदानेन (अमित्रान्) शत्रून् (उत्) (नयामि) ऊर्ध्वं वृणामि (स्वान्) स्वकीयान् (अहम्) ॥ ८२ ॥

अन्वयः—अहं यजमानः पुरोहितो वा ब्रह्मणैषां बाहू उदतिरम् । वर्चो बलममित्रांश्च क्षिणोम्यथो स्वान् सुहृदो वर्चो बलं चोन्नयामि मापयामि ॥ ८२ ॥

भावार्थः—राजादिभिर्यजमानैः पुरोहितादिभिश्च पापिनां सर्वस्वक्षयो धर्मात्मनां सर्वस्ववृद्धिश्च सर्वथा कार्य्या ॥ ८२ ॥

पदार्थः—(अहम्) मैं यजमान वा पुरोहित (ब्रह्मणा) वेद और ईश्वर के ज्ञान देने से (एषाम्) इन पूर्वोक्त चोर आदि दुष्टों के (बाहू) बल और पराक्रम को (उदतिरम्) अच्छे प्रकार उल्लङ्घन करूं (वर्चः) तेज तथा (बलम्) सामर्थ्य के और (अमित्रान्) शत्रुओं को (उत्क्षिणोमि) मारता हूं (अथो) इस के पश्चात् (स्वान्) अपने मित्रों के तेज और सामर्थ्य को (उन्नयामि) वृद्धि के साथ प्राप्त करूं ॥ ८२ ॥

भावार्थः—राजा आदि यजमान तथा पुरोहितों को चाहिये कि पापियों के सब पदार्थों का नाश और धर्मात्माओं के सब पदार्थों की वृद्धि सदैव सब प्रकार से किया करें ॥ ८२ ॥

अग्नपत इत्यस्य नाभानेदिष्ठ ऋषिः । यजमानपुरोहितौ देवते । उपरिष्टाद्बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

अथ मनुष्यैः कथं कथं वर्त्तितव्यमित्यु० ॥
अब मनुष्यों को इस संसार में कैसे २ वर्त्तना इस वि० ॥

अन्न॑पतेऽन्न॑स्य नो देह्यनमी॒वस्य॑ शु॒ष्मिण॑: । प्रप्र॑ दा॒तार॑ तारिष॒ ऊर्जं॑ नो धेहि द्वि॒पदे॒ चतु॑ष्पदे ॥८३॥

अन्न॑पत॒ इत्यन्न॑ऽपते । अन्न॑स्य । न॒: । दे॒हि॒ । अ॒न॒मी॒वस्य॑ । शु॒ष्मिण॑: । प्रप्रेति॒ प्रऽप्र॑ । दा॒तार॑म् । ता॒रि॒ष॒: । ऊर्ज॑म् । न॒: । धे॒हि॒ । द्वि॒पद॒ इति॑ द्वि॒ऽपदे॑ । चतु॑ष्पदे । चतु॑:पद॒ इति॒ चतु॑:ऽपदे ॥ ८३ ॥

पदार्थः—(अन्नपते) अन्नानां पालक (अन्नस्य) (नः) अस्मभ्यम् (देहि) (अनमीवस्य) रोगरहितस्य सुखकारस्य (शुष्मिणः) बहु शुष्मं बलं भवति यस्मात्तस्य (प्रप्र) अतिप्रकृष्टतया (दातारम्) (तारिषः) संतर (ऊर्जम्) पराक्रमम् (नः) अस्माकम् (धेहि) (द्विपदे) द्वौ पादौ यस्य मनुष्यादेस्तस्मै (चतुष्पदे) चत्वारः पादा यस्य गवादेस्तस्मै ॥ ८३ ॥

अन्वयः—हे अन्नपते यजमान पुरोहित वा त्वं नोऽनमीवस्य शुष्मिणोऽन्नस्य प्रप्रदेहि । अस्याऽन्नस्य दातारं तारिषः । नोऽस्माकं द्विपदे चतुष्पदे ऊर्जं धेहि ॥ ८३ ॥

भावार्थः—मनुष्यैः सदैवारोग्यबलकारकमन्नं स्वैर्भोक्तव्यमन्येभ्यः प्रदातव्यं च । मनुष्याणां पशूनां च सुखबले संवर्धनीये यत ईश्वरसृष्टिक्रमानुकूलाचरणेन सर्वेषां सुखोन्नतिः सदा वर्धेत ॥ ८३ ॥

अत्र गृहस्थराजपुरोहितसभासेनाधीशप्रजाजनकर्तव्यक-
र्मादिवर्णनादेतदध्यायोक्तार्थस्य पूर्वाध्यायोक्तार्थेन
सह संगतिरस्तीत्यवगन्तव्यम् ॥

इति श्रीमत्परिव्राजकाचार्यश्रीविरजानन्दसरस्वती-
स्वामिनां शिष्येण श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वा-
मिना निर्मिते संस्कृतार्यभाषाभ्यां विभूषिते सुप्र-
माणयुक्ते यजुर्वेदभाष्ये एकादशोऽध्यायः
पूर्त्तिमगमत् ॥ ११ ॥

पदार्थः—हे (अन्नपते) ओषधि अन्नों के पालन करने हारे यजमान वा पुरोहित आप (नः) हमारे लिये (अनमीवस्य) रोगों के नाश से सुख को बढ़ाने (शुष्मिणः) बहुत बलकारी (अन्नस्य) अन्न को (प्रप्रदेहि) अतिप्रकर्ष के साथ दीजिये । और इस अन्न के (दातारम्) देने हारे को (तारिषः) तृप्त कर तथा (नः) हमारे (द्विपदे) दो पग वाले मनुष्यादि तथा (चतुष्पदे) चार पगवाले गौ आदि पशुओं के लिये (ऊर्जम्) पराक्रम को (धेहि) धारण कर ॥ ८३ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि सदैव बलकारी आरोग्य अन्न आप सेवें और दूसरों को देवें । मनुष्य तथा पशुओं के सुख और बल बढ़ावें । जिससे ईश्वर की सृष्टिक्रमाऽनुकूल आचरण से सब के सुखों की सदा उन्नति होवे ॥ ८३ ॥

इस अध्याय में गृहस्थ राजा के पुरोहित सभा और सेना के अध्यक्ष और प्रजा के मनुष्यों को करने योग्य कर्म आदि के वर्णन से इस अध्याय में कहे अर्थ की पूर्व अध्याय के अर्थ के साथ संगति जाननी चाहिये ॥

यह यजुर्वेदभाष्य का ग्यारहवां (११) अध्याय पूरा हुआ ॥ ११ ॥

अथ द्वादशाध्यायारम्भः ॥



विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव । यद्भद्रं तन्न आ सुव ॥ १ ॥

दृशान इत्यस्य वत्सप्रीऋषिः । अग्निर्देवता । भुरिक्पङ्क्ति-
श्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

तत्रादौ विद्वद्गुणानाह ॥

अब बारहवें अध्याय का आरम्भ किया जाता है उस के प्रथम
मन्त्र में विद्वानों के गुणों का उपदेश किया है ॥

दृशानो रुक्म उर्व्या व्यद्यौद्दुर्मर्षमायुः श्रिये रुचानः । अग्निरमृतो अभवद्वयोभिर्यदेनं द्यौरजनयत्सुरेताः ॥ १ ॥

दृशानः । रुक्मः । उर्व्या । वि । अद्यौत् । दुर्मर्षमिति दुःऽमर्षम् । आयुः । श्रिये । रुचानः । अग्निः । अमृतः । अभवत् । वयोभिरिति वयःऽभिः । यत् । एनम् । द्यौः । अजनयत् । सुरेता इति सुऽरेताः ॥ १ ॥

पदार्थः—(दृशानः) दर्शकः (रुक्मः) दीप्तिमान् (उर्व्या) महत्या पृथिव्या सह (वि) (अद्यौत्) द्योतयति (दुर्मर्षम्) दुःखेन मर्षितुं सोढुं शीलम् (आयुः) अन्नम् । आयुरित्यन्नना० । निघं० २ । ७ (श्रिये) शोभायै (रुचानः) रोचकः (अग्निः) कारणाख्यः पावकः (अमृतः) नाशरहितः

(अभवत्) भवति (वयोभिः) यावज्जीवनैः (यत्) यम् (एनम्) (द्यौः) विज्ञानादिभिः प्रकाशमानः (अजनयत्) जनयति (सुरेताः) शोभनानि रेतांसि वीर्याणि यस्य सः ॥ १ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यथा दृशानो द्यौरग्निः सूर्य उर्व्या सह सर्वान्मूर्त्तान् पदार्थान् व्यद्योतयत् यः श्रियै रुचानो रुक्मो जनोऽभवद्यश्च सुरेता अमृतो दुर्मर्षमायुरजनयद्वयोभिः सह यमेनं विद्वांसमजनयच्च यूयं सततं सेवध्वम् ॥ १ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०-यथाऽस्मिन् जगति सूर्यादयः सर्वे पदार्थाः स्वदृष्टान्तैः परमेश्वरं निश्चाययन्ति तथा मनुष्या अपि भवेयुः ॥ १ ॥

पदार्थ—हे मनुष्यो जैसे (दृशानः) दिखलाने हारा (द्यौः) स्वयंप्रकाशस्वरूप (अग्निः) सूर्यरूप अग्नि (उर्व्या) अतिस्थूल भूमि के साथ सब मूर्त्तिमान् पदार्थों को (व्यद्यौत्) विविध प्रकार से प्रकाशित करता है वैसे जो (श्रियै) (रुचानः) सौभाग्यलक्ष्मी के अर्थ रुचिकर्त्ता (रुक्मः) सुशोभित जन (अभवत्) होता और जो (सुरेताः) उत्तम वीर्ययुक्त (अमृतः) नाशरहित (दुर्मर्षम्) शत्रुओं के दुःख से निवारण के योग्य (आयुः) जीवन को (अजनयत्) प्रकट करता है (वयोभिः) अवस्थाओं के साथ (एनम्) इस विद्वान् पुरुष को प्रकट करता हो उस को तुम सदा निरन्तर सेवन करो ॥१॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु०-जैसे इस जगत् में सूर्य आदि सब पदार्थ अपने २ दृष्टान्त से परमेश्वर को निश्चय कराते हैं। वैसे ही मनुष्यों को होना चाहिये ॥ १ ॥

नक्तोषासेत्यस्य कुत्सऋषिः अग्निर्देवता । भुरिगार्षीत्रिष्टुप्छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर भी वही वि० ॥

नक्तोषासा समनसा विरूपे धापयेते शिशुमेकं समीची । द्यावाक्षामा रुक्मो अन्तर्विभाति देवा अग्निन्धारयन्द्रविणोदाः ॥ २ ॥

नक्तोषासा । नक्तोषसेति नक्तोषसा । समनसेति सऽमनसा । विरूपे इति विऽरूपे । धापयेते इति धापयेते । शिशुम् । एकम् । समीची इति सम्ऽईची । द्यावाक्षामा । रुक्मः । अन्तः । वि । भाति । देवाः । अग्निम् । धारयन् । द्रविणोदा इति द्रविणऽदाः ॥ २ ॥

पदार्थः—(नक्तोषासा) नक्तं रात्रिं चोषा दिनं च ते (समनसा) समानं मनो विज्ञानं ययोस्ते (विरूपे) तमः प्रकाशाभ्यां विरुद्धरूपे (धापयेते) पाययतः (शिशुम्) बालकम् (एकम्) असहायं (समीची) ये सम्यगञ्चतः सर्वान् प्राप्नुवतस्ते (द्यावाक्षामा) प्रकाशभूमी अत्रान्येषामपीति दीर्घः (रुक्मः) रुचिकरः (अन्तः) आभ्यन्तरे (वि) (भाति) प्रकाशते (देवाः) दिव्याः प्राणाः (अग्निम्) विद्युतम् (धारयन्) धारयेयुः (द्रविणोदाः) ये द्रविणं बलं ददति ते द्रविणोदाः कस्माद्धनं द्रविणमुच्यते यदेनदभिद्रवन्ति बलं वा द्रविणं यदेनेनाभिद्रवन्ति तस्य दाता द्रविणोदाः । निरु० ८ । १ ॥ २ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यमग्निं द्रविणोदा देवा धारयन् यो रुक्मः सन्नन्तर्विभाति याः समनसा विरूपे समीची द्यावाक्षामा नक्तोषासा यथैकं शिशुं द्वे मातरौ धापयेते तथा वर्त्तमानं तं विजानन्तु ॥ २ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—यथा जननी धात्री च बालकं पालयतस्तथाहोरात्रौ सर्वान् पालयतः । यश्च विद्युद्रूपेणाभिव्याप्तोऽस्ति सोऽग्निः सूर्यादेः कारणमस्तीति सर्वे निश्चिन्वन्तु ॥ २ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो जिस (अग्निम्) बिजुली को (द्रविणोदाः) धन-दाता (देवाः) दिव्य प्राण (धारयन्) धारण करें जो (रुक्मः) रुचिकारक हो के (अन्तः) अन्तःकरण में (विभाति) प्रकाशित होता है जो (समनसा) एक विचार से विदित (विरूपे) अन्धकार और प्रकाश से विरुद्ध युक्त (सध्रीची) सब प्रकार सबको प्राप्त होने वाली (द्यावाक्षामा) प्रकाश और भूमि तथा (नक्तोषासा) रात्रि और दिन जैसे (एकम्) एक (शिशुम्) बालक को दो माता, (धापयेते) दूध पिलाती हैं वैसे उस को तुम लोग जानो ॥ २ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु०—जैसे जननी माता और धायी बालक को दूध पिलाती हैं वैसे ही दिन और रात्रि सब की रक्षा करती है और जो बिजुली के स्वरूप से सर्वत्र व्यापक है इस बात का तुम सब निश्चय करो ॥ २ ॥

विश्वारूपाणीत्यस्य श्यावाश्व ऋषिः । सविता देवता ।
विराड्जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

अथाग्रे परमात्मनः कृत्यमुपदिश्यते ॥
अब अगले मन्त्र में परमेश्वर के कर्त्तव्य का उपदेश किया है ॥

विश्वा रूपाणि प्रति मुञ्चते कविः प्रासावीद्भद्रं द्विपदे चतुष्पदे विनाकमख्यत्सविता वरेण्योऽनुप्रयाणमुषसो विराजति ॥ ३ ॥

विश्वा । रूपाणि । प्रति । मुञ्चते । कविः । प्र । असावीत् । भद्रम् । द्विपदइति द्विऽपदे । चतुष्पदे । चतुःपदइति चतुःऽपदे । वि । नाकम् । अख्यत् । सविता । वरेण्यः ।

अनु । प्रयाणम् । प्रयानमिति प्रऽयानम् । उषसः । वि । राजति ॥ ३ ॥

पदार्थः—(विश्वा) सर्वाणि (रूपाणि) (प्रति) (मुञ्चते) (कविः) क्रान्तदर्शनः क्रान्तप्रज्ञः सर्वज्ञो वा (प्र) (असावीत्) उत्पादयति (भद्रम्) भजनीयं सुखम् (द्विपदे) मनुष्याद्याय (चतुष्पदे) गवाद्याय (वि) (नाकम्) सर्वदुःखरहितम् (अख्यत्) प्रकाशयति (सविता) सकलजगत्प्रसविता जगदीश्वरः सूर्यो वा (वरेण्यः) स्वीकर्तुमर्हः (अनु) (प्रयाणम्) प्रकृष्टं प्रापणम् (उषसः) प्रभातस्य (वि) (राजति) प्रकाशते ॥ ३ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यो वरेण्यः कविः सवितोषसः प्रयाणमनुविराजति विश्वा रूपाणि प्रतिमुञ्चते । द्विपदे चतुष्पदे नाकं व्यख्यत् भद्रं प्रासावीत्तमीदृशमुत्पादकं सूर्यं परमेश्वरं विजानीत ॥ ३ ॥

भावार्थः—अत्र श्लेषालं०-येन जगदीश्वरेण सकलरूपप्रकाशकः प्राणिनां सुखहेतुः प्रकाशमानः सूर्यो रचितस्तस्यैव भक्तिं सर्वे मनुष्याः कुर्वन्त्विति ॥ ३ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो जो (वरेण्यः) ग्रहण करने योग्य (कविः) जिस की दृष्टि और बुद्धि सर्वत्र है वा सर्वज्ञ (सविता) सब संसार का उत्पादक जगदीश्वर वा सूर्य्य (उषसः) प्रातःकाल का समय (प्रयाणम्) प्राप्त करने को (अनुविराजति) प्रकाशित होता है (विश्वा) सब (रूपाणि) पदार्थों के स्वरूप (प्रतिमुञ्चते) प्रसिद्ध करता है और (द्विपदे) मनुष्यादि दो पग वाले (चतुष्पदे) तथा गौ आदि चार पग वाले प्राणियों के लिये (नाकम्) सब दुःखों से पृथक् (भद्रम्) सेवने योग्य सुख को (व्यख्यत्) प्रकाशित करता और (प्रासावीत्) उन्नति करता है ऐसे उस सूर्यलोक को उत्पन्न करने वाले ईश्वर को तुम लोग जानो ॥ ३ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में श्लेषालं०—जिस परमेश्वर ने संपूर्ण रूपवान् द्रव्यों का प्रकाशक प्राणियों के सुख का हेतु प्रकाशमान सूर्यलोक रचा है उसी की भक्ति सब मनुष्य करें ॥ ३ ॥

सुपर्णोऽसीत्यस्य श्यावाश्व ऋषिः । गरुत्मान् देवता । धृतिश्छन्दः । ऋषभः स्वरः ॥

पुनर्विद्वद्गुणा उपदिश्यन्ते ॥
फिर विद्वानों के गुणों का उप० ॥

सुपर्णोऽसि गरुत्माँस्त्रिवृत्ते शिरो गायत्रं चक्षुर्बृहद्रथन्तरे पक्षौ स्तोमऽआत्मा छन्दाᳬस्यङ्गानि यजूᳬषि नाम । साम ते तनूर्वामदेव्यं यज्ञायज्ञियं पुच्छं धिष्ण्याः शफाः । सुपर्णोऽसि गरुत्मान्दिवं गच्छ स्वः पत ॥ ४ ॥

सुपर्ण इति सुऽपर्णः । असि । गरुत्मान् । त्रिवृदिति त्रिऽवृत् । ते । शिरः । गायत्रम् । चक्षुः । बृहद्रथन्तरे इति बृहत्ऽरथन्तरे । पक्षौ । स्तोमः । आत्मा । छन्दाᳬसि । अङ्गानि । यजूᳬषि । नाम । साम । ते । तनूः । वामदेव्यमिति वामऽदेव्यम् । यज्ञायज्ञियमिति यज्ञाऽयज्ञियम् । पुच्छम् । धिष्ण्याः । शफाः । सुपर्ण इति सुऽपर्णः । असि । गरुत्मान् । दिवम् । गच्छ । स्वरिति स्वः । पत ॥ ४ ॥

पदार्थः—(सुपर्णः) शोभनानि पर्णानि लक्षणानि यस्य सः (असि) (गरुत्मान्) गुर्वात्मा (त्रिवृत्) त्रीणि कर्मोपासनाज्ञानानि वर्त्तन्ते यस्मिन् तत् (ते) तव (शिरः) शृणाति हिनस्ति दुःखानि येन तत् (गायत्रम्) गायत्र्या विहितं विज्ञानम् (चक्षुः) नेत्रमिव (बृहद्रथन्तरे) बृहद्भीरथैस्तरन्ति दुःखानि याभ्यां सामभ्यां ते (पक्षौ) पार्श्वाविव (स्तोमः) स्तोतुमर्हः ऋग्वेदः (आत्मा) स्वरूपम् (छन्दांसि) उष्णिगादीनि (अङ्गानि) श्रोत्रादीनि (यजूंषि) यजुःश्रुतयः (नाम) आख्या (साम) तृतीयो वेदः (ते) तव (तनूः) शरीरम् (वामदेव्यम्) वामदेवेन दृष्टं विज्ञातं विज्ञापितं वा (यज्ञायज्ञियम्) यज्ञाः संगन्तव्या व्यवहारा अयज्ञास्त्यक्तव्याश्च तान् यद् र्हति तत् (पुच्छम्) पुच्छमिवान्त्योऽवयवः (धिष्ण्याः) दिधिषति शब्दयन्ति यैस्ते धिषणाः खुरोपरिभागास्तेषु साधवः (शफाः) खुराः (सुपर्णः) शोभनपतनशीलः (असि) अस्ति (गरुत्मान्) गरुतः शब्दा विद्यन्ते यस्य सः (दिवम्) दिव्यं विज्ञानम् (गच्छ) प्राप्नुहि (स्वः) सुखम् (पत) गृहाण ॥ ४ ॥

अन्वयः—हे विद्वन् यतस्ते तव त्रिवृत् शिरो गायत्रं चक्षुर्बृहद्रथन्तरे पक्षौ स्तोम आत्मा छन्दांस्यङ्गानि यजूंषि नाम यज्ञायज्ञियं वामदेव्यं साम ते तनूश्चास्ति तस्मात् त्वं गरुत्मान् सुपर्णोऽस्यसि स इव त्वं दिवं गच्छ स्वः पत ॥ ४ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—यथा सुन्दरशाखापत्रपुष्पफलमूला वृक्षाः शोभन्ते तथा वेदादिशास्त्राऽध्येतारोऽध्यापकाः सुरोचन्ते यथा पशवः पुच्छाद्यवयवैः स्वकार्याणि साध्नुवन्ति । यथा च पक्षी पक्षाभ्यामाकाशमार्गेण गत्वाऽऽगत्य च मोदते तथा मनुष्या विद्यासुशिक्षाः प्राप्य पुरुषार्थेन सुखान्याप्नुवन्तु ॥ ४ ॥

पदार्थः—हे विद्वन् जिस से (ते) आपका (त्रिवृत्) तीन कर्म उपासना और ज्ञानों से युक्त (शिरः) दुःखों का जिस से नाश हो (गायत्रम्) गायत्री छन्द से कहे विज्ञानरूप अर्थ (चक्षुः) नेत्र (बृहद्रथन्तरे) बड़े २ रथों

के सहाय से दुःखों को छुड़ाने वाले (पक्षौ) इधर उधर के अवयव (स्तोमः) स्तुति के योग्य ऋग्वेद (आत्मा) अपना स्वरूप (छन्दांसि) उष्णिक् आदि छन्द (अङ्गानि) कान आदि (यजूंषि) यजुर्वेद के मन्त्र (नाम) नाम (यज्ञायज्ञियम्) ग्रहण करने और छोड़ने योग्य व्यवहारों के योग्य (वामदेव्यम्) वामदेव ऋषि ने जाने वा पढ़ाये (साम) तीसरे सामवेद (ते) आपका (तनूः) शरीर है इससे आप (गरुत्मान्) महात्मा (सुपर्णः) सुन्दर संपूर्ण लक्षणों से युक्त (असि) हैं । जिस से (धिष्ण्याः) शब्द करने के हेतुओं में साधु (शफाः) खुर तथा (पुच्छम्) बड़ी पूंछ के समान अन्त्य का अवयव है उस के समान जो (गरुत्मान्) प्रशंसित शब्दोच्चारण से युक्त (सुपर्णः) सुन्दर उड़ने वाले (असि) हैं उस पक्षी के समान आप (दिवम्) सुन्दर विज्ञान को (गच्छ) प्राप्त हूजिये और (स्वः) सुख को (पत) ग्रहण कीजिये ॥ ४ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु०—जैसे सुन्दर शाखा पत्र पुष्प फल और मूलों से युक्त वृक्ष शोभित होते हैं। वैसे ही वेदादि शास्त्रों के पढ़ने और पढ़ाने हारे सुशोभित होते हैं। जैसे पशु पूंछ आदि अवयवों से अपने काम करते और जैसे पक्षी पंखों से आकाश मार्ग से जाते आते आनन्दित होते हैं वैसे मनुष्य विद्या और अच्छी शिक्षा को प्राप्त हो पुरुषार्थ के साथ सुखों को प्राप्त हों ॥ ४ ॥

विष्णोः क्रम इत्यस्य श्यावाश्व ऋषिः । विष्णुर्देवता । भुरिगुत्कृतिश्छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनाराजधर्ममाह ॥

फिर भी अगले मन्त्र में राजधर्म का उपदेश किया है ॥

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा गायत्रं छन्द आरोह पृथिवीमनु विक्रमस्व विष्णोः क्रमोऽस्य-

भिमातिहा त्रैष्टुभं छन्द आरोहान्तरिक्षमनु विक्रमस्व । विष्णोः क्रमोऽस्यरातीयतो हन्ता जागतं छन्द आरोह दिवमनु विक्रमस्व विष्णोः क्रमोऽसि शत्रूयतो हन्ताऽऽनुष्टुभं छन्द आरोह दिशोऽनुविक्रमस्व ॥ ५ ॥

विष्णोः । क्रमः । असि । सपत्नहेति सपत्नऽहा । गायत्रम् । छन्दः । आ । रोह । पृथिवीम् । अनु । वि । क्रमस्व । विष्णोः । क्रमः । असि । अभिमातिहेत्यभिमातिऽहा । त्रैष्टुभम् । त्रैस्तुभमिति त्रैऽस्तुभम् । छन्दः । आ । रोह । अन्तरिक्षम् । अनु । वि । क्रमस्व । विष्णोः । क्रमः । असि । अरातीयतः । अरातियत इत्यरातिऽयतः । हन्ता । जागतम् । छन्दः । आ । रोह । दिवम् । अनु । वि । क्रमस्व । विष्णोः । क्रमः । असि । शत्रूयत । शत्रुयत इति शत्रुऽयतः । हन्ता । आनुष्टुभम् । आनुस्तुभमित्यानुऽस्तुभम् । छन्दः । आ । रोह । दिशः । अनु । वि । क्रमस्व ॥ ५ ॥

पदार्थः—(विष्णोः) व्यापकस्य जगदीश्वरस्य (क्रमः) व्यवहारः (असि) (सपत्नहा) यः सपत्नानरीन् हन्ति सः (गायत्रम्) गायत्रीनिष्पन्नमर्थम् (छन्दः) स्वच्छम् (आ) (रोह) आरूढो भव (पृथिवीम्) पृथिव्यादिकम् (अनु) (वि) (क्रमस्व) व्यवहर (विष्णोः) व्यापकस्य कारणस्य (क्रमः) अवस्थान्तरम् (असि) (अभिमातिहा) योऽ-

भिमातीनभिमानयुक्तान् हन्ति (त्रैष्टुभम्) त्रिभिः सुखैः संबद्धम् (छन्दः) बलप्रदम् (आ) (रोह) (अन्तरिक्षम्) आकाशम् (अनु) (वि) (क्रमस्व) (विष्णोः) व्याप्तुं शीलस्य विद्युद्रूपाग्नेः (क्रमः) (असि) (अरातीयतः) विद्यादिदानं कर्त्तुमनिच्छतः (हन्ता) नाशकः (जागतम्) जगज्जानाति येन तत् (छन्दः) सृष्टिविद्याबलकरं (आ) (रोह) (दिवम्) सूर्यादिज्योतिः (अनु) (वि) (क्रमस्व) (विष्णोः) हिरण्यगर्भस्य वायोः (क्रमः) (असि) (शत्रूयतः) आत्मनः शत्रुमाचरतः (हन्ता) (आनुष्टुभम्) अनुकूलतया स्तोभते सुखं बध्नाति येन तत् (छन्दः) आनन्दकरम् (आ) (रोह) (दिशः) पूर्वादीन् (अनु) (वि) (क्रमस्व) मपक्रमस्व ॥ ५ ॥

अन्वयः—हे विद्वन् यतस्त्वं विष्णोः क्रमः सपत्नहाऽसि । तस्माद् गायत्रं छन्द आरोह । पृथिवीमनुविक्रमस्व । यतस्त्वं विष्णोः क्रमोऽभिमातिहासि तस्मात्त्वं त्रैष्टुभं छन्द आरोहान्तरिक्षमनुविक्रमस्व यतस्त्वं विष्णोः क्रमोऽरातीयहन्ताऽसि तस्माज्जागतं छन्द आरोह दिवमनुविक्रमस्व यस्त्वं विष्णोः क्रमः शत्रूयतो हन्ताऽसि स त्वमानुष्टुभं छन्द आरोह दिशोऽनुविक्रमस्व ॥ ५ ॥

भावार्थः—मनुष्यैर्वेदविद्यया भूगर्भादिविद्या निश्चित्य पराक्रमेणोत्कीय रोगाः शत्रवश्च निहन्तव्याः ॥ ५ ॥

पदार्थः—हे विद्वन् पुरुष जिससे आप (विष्णोः) व्यापक जगदीश्वर के (क्रमः) व्यवहार से शोधक (सपत्नहा) और शत्रुओं के मारने हारे (असि) हो इस से (गायत्रम्) गायत्री मन्त्र से निकले (छन्दः) शुद्ध अर्थ पर (आरोह) आरूढ़ हूजिये (पृथिवीम्) पृथिव्यादि पदार्थों से (अनुविक्रमस्व) अपने अनुकूल व्यवहार साधिये तथा जिस कारण आप (विष्णोः) व्यापक कारण के (क्रमः) कार्य्यरूप (अभिमातिहा) अभिमानियों को मारने हारे (असि) हैं इस से आप (त्रैष्टुभम्) तीन प्रकार के सुखों से संयुक्त (छन्दः) बलदायक वेदार्थ को (आरोह) ग्रहण और (अन्तरिक्षम्) आ-

काश को (अनुविक्रमस्व) अनुकूलव्यवहार में युक्त कीजिये जिस से आप (विष्णोः) व्यापनशील विजुली रूप अग्नि के (क्रमः) जानने हारे (अरातीयतः) विद्या आदि दान के विरोधी पुरुष के (हन्ता) नाश करने हारे (असि) हैं इस से आप (जागतम्) जगत् को जानने का हेतु (छन्दः) सृष्टि विद्या को यक्षयुक्त करने हारे विज्ञान को (आरोह) प्राप्त हूजिये और (दिवम्) सूर्य आदि अग्नि को (अनुविक्रमस्व) अनुक्रम से उपयुक्त कीजिये जो आप (विष्णोः) हिरण्यगर्भ वायु के (क्रमः) ज्ञापक तथा (शत्रूयतः) अपने को शत्रु का आचरण करने वाले पुरुषों के (हन्ता) मारने वाले (असि) हैं सो आप (आनुष्टुभम्) अनुकूलता के साथ सुख सम्बन्ध के हेतु (छन्दः) आनन्दकारक वेदभाग को (आरोह) उपयुक्त कीजिये और (दिशः) पूर्व आदि दिशाओं के (अनुविक्रमस्व) अनुकूल प्रयत्न कीजिये ॥ ५ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि वेदविद्या से भूगर्भ विद्याओं का निश्चय तथा पराक्रम से वन की वसाति करके रोग और शत्रुओं का नाश करें ॥ ५ ॥

अक्रन्ददित्यस्य वत्सप्रीऋषिः । अग्निर्देवता । निचृदार्षी त्रिष्टुप्छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर भी वही वि० ॥

अक्रन्ददग्निस्तनयन्निव द्यौः क्षामा रेरिहद्वीरुधः समञ्जन् । सद्यो जज्ञानो वि हीमिद्धो अख्यदा रोदसी भानुना भात्यन्तः ॥ ६ ॥

अक्रन्दत् । अग्निः । स्तनयन्निवेति स्तनयन्ऽइव । द्यौः । क्षामा । रेरिहत् । वीरुधः । समञ्जन्निति सम्ऽअञ्जन् ।

स॒द्यः । ज॒ज्ञा॒नः । वि । हि । ई॒म् । इ॒द्धः । अख्य॑त् । आ ।
रोद॑सी॒इति॒ रोद॑सी । भा॒नुना॑ । भा॒ति॒ । अ॒न्तरित्य॒न्तः ॥ ६ ॥

पदार्थः—(अक्रन्दत्) प्राप्नोति (अग्निः) विद्युत् (स्तनयन्निव) यथा दिव्यं शब्दं कुर्वन् (द्यौः) सूर्यप्रकाशः (क्षामा) क्षामा पृथिवी । क्षमेति पृथिवीना० । निघं० १ । १ । अत्रान्येषामपीत्युपधादीर्घः । (रेरिहत्) भृशं फलानि ददाति (वीरुधः) वृक्षान् (समंजन्) सम्यक् प्रकाशयन् (सद्यः) समानेऽहि (जज्ञानः) प्रादुर्भूतः सन् (वि) (हि) खलु (ईम्) सर्वतः (इद्धः) प्रदीप्तः (अख्यत्) प्रकाशयति (आ) (रोदसी) द्यावापृथिव्यौ (भानुना) स्वदीप्त्या (भाति) प्रकाशते (अन्तः) मध्ये वर्त्तमानः सन् ॥ ६ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यः सभेशः सद्यो जज्ञानो द्योरग्निः स्तनयन्निवारीनाक्रन्दद्यथा क्षामा वीरुधस्तथा प्रजाभ्यःसुखानि रेरिहत् यथा सवितेद्धः समंजन् रोदसी व्यख्यद्भानुनाऽन्तराभाति तथा यः शुभगुणकर्मस्वभावैः प्रकाशते तं हि राजकर्मसु प्रयुङ्ध्वम् ॥ ६ ॥

भावार्थः—अत्रोपमावाचकलु०—हे मनुष्या यथा सूर्यः सर्वलोकमध्यस्थः सर्वान् प्रकाशयाकर्षति यथा पृथिवी बहुफलदा वर्त्तते तथाभूताः पुरुषाः राज्यकार्य्येषु सम्यगुपयोक्तव्याः ॥ ६ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो जो सभापति (सद्यः) एक दिन में (जज्ञानः) प्रसिद्ध हुआ (द्यौः) सूर्य प्रकाश रूप (अग्निः) विद्युत् अग्नि के समान (स्तनयन्निव) शब्द करता हुआ शत्रुओं को (अक्रन्दत्) प्राप्त होता है जैसे (क्षामा) पृथिवी (वीरुधः) वृक्षों को फल फूलों से युक्त करती है वैसे प्रजाओं के लिये सुखों को (रेरिहत्) अच्छे बुरे कर्मों का शीघ्र फल देता है जैसे सूर्य (इद्धः) प्रदीप्त और (समंजन्) सम्यक् पदार्थों को प्रकाशित करता हुआ (रोदसी) आकाश और पृथिवी को (व्यख्यत्) प्रसिद्ध करता और (भानुना) अपनी दीप्ति के साथ (अन्तः) सब लोकों के बीच (आभाति) प्रकाशित

होता है। वैसे जो सभापति शुभ गुण कर्मों से प्रकाशित हो उसको तुम लोग राजकार्यों में संयुक्त करो ॥ ६ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में उपमा और वाचकलु०—हे मनुष्यो जैसे सूर्य सब लोकों के बीच में स्थित हुआ सब को प्रकाशित और आकर्षण करता है और जैसे पृथिवी बहुत फलों को देती है। वैसे ही मनुष्य को राज्य के कार्यों में अच्छे प्रकार से उपयुक्त करो ॥ ६ ॥

अग्न इत्यस्य वत्सप्री ऋषिः। अग्निर्देवता। भुरिगार्ष्यनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः ॥

पुनर्विद्वद्गुणानुपदिशति ॥

फिर विद्वानों के गुणों का उपदेश अगले मंत्र में करता है ॥

अग्ने॑ऽभ्यावर्त्तिन्न॒भि मा॒ नि व॑र्त्त॒स्वायु॑षा॒ वर्च॑सा प्र॒जया॒ धने॑न। स॒न्या मे॒धया॑ र॒य्या पोषे॑ण ॥ ७ ॥

अग्ने॑। अ॒भ्या॒व॒र्त्ति॒न्नित्य॑भिऽआवर्त्तिन्। अ॒भि। मा॒। नि। व॒र्त्त॒स्व॒। आयु॑षा। वर्च॑सा। प्र॒जयेति॑प्र॒ऽजया॑। धने॑न। स॒न्या। मे॒धया॑। र॒य्या। पोषे॑ण ॥ ७ ॥

पदार्थः—(अग्ने) विद्वन् (अभ्यावर्त्तिन्) आभिमुख्येन वर्त्तितुं शीलमस्य तत्सम्बुद्धौ (अभि) (मा) माम् (नि) नितराम् (वर्त्तस्व) (आयुषा) चिरंजीवनेन (वर्चसा) अध्ययनादिना (प्रजया) सन्तानेन (धनेन) (सन्या) सर्वासां विद्यानां संविभागकर्त्र्या (मेधया) प्रज्ञया (रय्या) विद्याश्रिया (पोषेण) पुष्ट्या ॥ ७ ॥

अन्वयः—हे अभ्यावर्त्तिन्नग्ने पुरुषार्थिन् विद्वंस्त्वमायुषा वर्चसा प्रजया धनेन सन्या मेधया रय्या पोषेण च सहाभिनिवर्त्तस्व मां चैतैः संयोजय ॥ ७ ॥

भावार्थः—मनुष्यैर्भूगर्भादिविद्यया विनैश्वर्य्यं प्राप्तुं नैव शक्येत न प्रज्ञया विना विद्या भवितुं शक्या ॥ ७ ॥

पदार्थः—हे (अभ्यावर्त्तिन्) सन्मुख हो के वर्त्तने वाले (अग्ने) तेजस्वी पुरुषार्थी विद्वान् पुरुष आप (आयुषा) बड़े जीवन (वर्चसा) अन्न तथा पढ़ने आदि (प्रजया) सन्तानों (धनेन) धन (सन्या) सब विद्याओं का विभाग करने हारी (मेधया) बुद्धि (रय्या) विद्या की शोभा और (पोषेण) पुष्टि के साथ (अभिनिवर्त्तस्व) निरन्तर वर्त्तमान हूजिये और (मा) मुझ को भी इन उक्त पदार्थों से संयुक्त कीजिये ॥ ७ ॥

भावार्थः—मनुष्य लोग भूगर्भादि विद्या के विना ऐश्वर्य्य को प्राप्त और बुद्धि के विना विद्या भी नहीं हो सकती ॥ ७ ॥

अग्ने अङ्गिरइत्यस्य वत्सप्रीऋषिः । अग्निर्देवता । आर्षी त्रिष्टुप् छन्दः । निषादः स्वरः ॥

पुनर्विद्याभ्यासमाह ॥

फिर विद्याभ्यास करना चाहिये यह वि० ॥

अग्नें अङ्गिरः शतं ते सन्त्वावृतः सहस्रं त उपावृतः । अधा पोषस्य पोषेण पुनर्नो नष्टमा कृधि पुनर्नो रयिमा कृधि ॥ ८ ॥

अग्ने । अङ्गिरः । शतम् । ते । सन्तु । आवृत इत्याऽवृतः । सहस्रम् । ते । उपावृत इत्युपऽआवृतः । अध । पोषस्य ।

पोषेण । पुनः । नः । नष्टम् । आ । कृधि । पुनः । नः । रयिम् । आ । कृधि ॥ ८ ॥

पदार्थः—(अग्ने) पदार्थविद्यावित् (अङ्गिरः) विद्यारसयुक्त (शतम्) (ते) तव (सन्तु) (आवृतः) आवृत्तिरूपाः क्रियाः (सहस्रम्) (वे) (उपावृतः) ये भोगा उपावर्त्तन्ते (अध) अथ निपातस्य चेति दीर्घः (पोषस्य) पोषकस्य जनस्य (पोषेण) पालनेन (पुनः) (नः) अस्मभ्यम् (नष्टम्) अदृष्टं विज्ञानम् (आ) समन्तात् (कृधि) कुरु (पुनः) (नः) अस्मभ्यम् (रयिम्) प्रशस्तां श्रियम् (आ) (कृधि) कुरु ॥ ८ ॥

अन्वयः—हे अग्नेऽङ्गिरो विद्वन् यस्य पुरुषार्थिनस्ते तवाऽग्नेरिव शतमावृतः सहस्रं ते तवोपावृतः सन्तु । अध त्वमेतैः पोषस्य पोषेण नष्टमपि नः पुनराकृधि रयिं पुनराकृधि ॥ ८ ॥

भावार्थः—मनुष्यैर्विद्यासु शतश आवृत्तीः कृत्वा शिल्पविद्यासु सहस्रमुपावृत्तीश्च गुप्तागुप्ता विद्याः प्रकाश्य सर्वेषां श्रीसुखं जननीयम् ॥ ८ ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) पदार्थविद्या के जानने हारे (अङ्गिरः) विद्या के रसिक विद्वान् पुरुष जिस पुरुषार्थी (ते) आप की अग्नि के समान (शतम्) सैकड़ों (आवृतः) आवृत्तिरूप क्रिया और (सहस्रम्) हज़ारह (वे) आप के (उपावृतः) आवृत्तिरूप सुखों के भोग (सन्तु) होवें (अध) इस के पश्चात् आप इन से (पोषस्य) पोषक मनुष्य की (पोषेण) रक्षा से (नष्टम्) परोक्ष भी विज्ञान को (नः) हमारे लिये (पुनः) फिर भी (आकृधि) अच्छे प्रकार कीजिये तथा बिगड़ी हुई (रयिम्) प्रशंसित शोभा को (पुनः) फिर भी (नः) हमारे अर्थ (आकृधि) अच्छे प्रकार कीजिये ॥ ८ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को योग्य है कि विद्याओं में सैकड़ों आवृत्ति और शिल्प विद्याओं में हज़ारह प्रकार की प्रवृत्ति से विद्याओं का प्रकाश करके सब प्राणियों के लिये लक्ष्मी और सुख उत्पन्न करें ॥ ८ ॥

पुनरूर्जेत्यस्य वत्सप्री ऋषिः । अग्निर्देवता ।
निचृदार्षी गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनरध्यापककृत्यमाह ॥
फिर पढ़ाने हारे का कर्त्तव्य अगले मंत्र में कहा है ॥

पुन॑रू॒र्जा नि व॑र्त्तस्व॒ पुन॑रग्न इ॒षायु॑षा ।
पुन॑र्नः पाह्य॒ꣳहसः॑ ॥ ९ ॥

पुनः॑ । ऊ॒र्जा । नि । व॒र्त्त॒स्व॒ । पुनः॑ । अ॒ग्ने॒ । इ॒षा । आयु॑षा । पुनः॑ । नः॒ । पा॒हि॒ । अꣳह॑सः ॥ ९ ॥

पदार्थः—(पुनः) (ऊर्जा) पराक्रमयुक्तानि कर्माणि (नि) (वर्त्तस्व) (पुनः) (अग्ने) विद्वन् (इषा) इच्छया (आयुषा) अन्नेन (पुनः) (नः) अस्मान् (पाहि) रक्ष (अंहसः) पापात् ॥ ९ ॥

अन्वयः—हे अग्ने त्वं नोऽस्मानंहसः पुनर्निवर्त्तस्व पुनरस्मान् पाहि पुनरिषाऽऽयुषोर्जा मापय ॥ ९ ॥

भावार्थः—विद्वांसः सर्वानुपदेश्यान् मनुष्यान् पापात्सततं निवर्त्य शरीरात्मबलयुक्तान् संपादयन्तु स्वयं च पापान्निवृत्ताः परमपुरुषार्थिनः स्युः ॥ ९ ॥

पदार्थ—हे (अग्ने) अग्नि के समान तेजस्वी अध्यापक विद्वान् आप (नः) हम लोगों को (अंहसः) पापों से (पुनः) वार २ (निवर्त्तस्व) बचाइये (पुनः) फिर हम लोगों की (पाहि) रक्षा कीजिये और (पुनः) फिर (इषा) इच्छा तथा (आयुषा) अन्न से (ऊर्जा) पराक्रमयुक्त कर्मों को प्राप्त कीजिये ॥ ९ ॥

भावार्थः—विद्वान् लोगों को चाहिये कि सब उपदेश के योग्य मनुष्यों को पापों से निरन्तर हटा के शरीर और आत्मा के बल से युक्त करें और आप भी पापों से बच के परम पुरुषार्थी होवें ॥ ९ ॥

सह रय्येत्यस्य वत्सप्री ऋषिः । अग्निर्देवता ।
निचृद् गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥
फिर भी उक्त वि० ॥

सह रय्या निर्वर्त्तस्वाग्ने पिन्वस्व धारया ।
विश्वप्स्न्या विश्वतस्परि ॥ १० ॥

सह । रय्या । नि । वर्त्तस्व । अग्ने । पिन्वस्व । धारया । विश्वप्स्न्येति विश्वऽप्स्न्या । विश्वतः । परि ॥ १० ॥

पदार्थः—(सह) (रय्या) धनेन (नि) (वर्त्तस्व) (अग्ने) विद्वन् (पिन्वस्व) सेवस्व (धारया) धरति सकला विद्या यया सा वाक् तया । धारेति वाङ्ना० । निघं० १ । ११ (विश्वप्स्न्या) विश्वं सर्वं भोग्यं वस्तु प्सायते भक्ष्यते यया (विश्वतः) सर्वतः (परि) ॥ १० ॥

अन्वयः—हे अग्ने विद्वँस्त्वं दुष्टाद्व्यवहारान्निवर्त्तस्व विश्वप्स्न्या धारया रय्या च सह विश्वतः परिपिन्वस्व सर्वदा सुखानि सेवस्व ॥ १० ॥

भावार्थः—न खलु विद्वांसः कदाचिदप्यधर्ममाचरेयुः । न चान्यानुपदिशेयुः । एवं सकलशास्त्रविद्याविराजमानाः सन्तः प्रशंसिताः स्युः ॥ १० ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) तेजस्वी विद्वन् पुरुष आप दुष्ट व्यवहारों से (निवर्त्तस्व) पृथक् हूजिये (विश्वप्स्न्या) सब भोगने योग्य पदार्थों को भुगवाने

हारी (धारया) संपूर्ण विद्याओं के धारण करने का हेतु वाणी तथा (रय्या) धन के (सह) साथ (विश्वतः) सब ओर से (परि) सब प्रकार (पिन्वस्व) सुखों का सेवन कीजिये ॥ १० ॥

भावार्थः—विद्वान् पुरुषों को चाहिये कि कभी अधर्म्म का आचरण न करें। और दूसरों को वैसा उपदेश भी न करें इस प्रकार सब शास्त्र और विद्याओं से विराजमान हुए प्रशंसा के योग्य होवें ॥ १० ॥

आ त्वेत्यस्य ध्रुव ऋषिः। अग्निर्देवता। आर्ष्यनुष्टुप्छन्दः।
गान्धारः स्वरः ॥

पुनः प्रजाकर्म्माह ॥

फिर राजा और प्रजा के कर्मों का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

आ त्वाहार्षमन्तरभूर्ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलिः। विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधिभ्रशत् ॥ ११ ॥

आ। त्वा। अहार्षम्। अन्तः। अभूः। ध्रुवः। तिष्ठ। अविचाचलिरित्यविऽचाचलिः। विशः। त्वा। सर्वाः। वाञ्छन्तु। मा। त्वत्। राष्ट्रम्। अधि। भ्रशत् ॥ ११ ॥

पदार्थः—(आ) (त्वा) त्वां राजानम् (अहार्षम्) हरेयम् (अन्तः) सभामध्ये (अभूः) भवेः (ध्रुवः) न्यायेन राज्यपालने निश्चितः (तिष्ठ) स्थिरो भव (अविचाचलिः) सर्वथा निश्चलः (विशः) प्रजाः (त्वा) त्वाम् (सर्वाः) अखिलाः (वाञ्छन्तु) अभिलषन्तु (मा) न (त्वत्) (राष्ट्रम्) राज्यम् (अधि) (भ्रशत्) नष्टं स्यात् ॥ ११ ॥

अन्वयः—हे शुभगुणलक्षण सभेश राजन् त्वा राज्यपालनायाहमन्तराहार्षम् । त्वमन्तरभूः । अविचाचलिर्ध्रुवस्तिष्ठ । सर्वा विशस्त्वा वाञ्छन्तु । त्वत् तव सकाशाद्राष्ट्रं माऽधिभ्रशत् ॥ ११ ॥

भावार्थः—उत्तमाः प्रजाजनाः सर्वोत्तमं पुरुषं सभाध्यक्षं राजानं कृत्वाऽनुपदिशन्तु । त्वं जितेन्द्रियः सन् सर्वदा धर्मात्मा पुरुषार्थी भवेः । न तवानाचाराद्राष्ट्रं कदाचिद्भ्रष्टं भवेद्यतः सर्वाः प्रजास्त्वदनुकूलाः स्युः ॥ ११ ॥

पदार्थः—हे शुभ गुण और लक्षणों से युक्त सभापति राजा (त्वा) आप को राज्य की रक्षा के लिये मैं (अन्तः) सभा के बीच (आहार्षम्) अच्छे प्रकार ग्रहण करूं । आप सभा में (अभूः) विराजमान हूजिये (अविचाचलिः) सर्वथा निश्चल (ध्रुवः) न्याय से राज्यपालन में निश्चितबुद्धि होकर (तिष्ठ) स्थिर हूजिये (सर्वाः) सम्पूर्ण (विशः) प्रजा (त्वा) आप को (वाञ्छन्तु) चाहना करें (त्वत्) आप के पालने से (राष्ट्रम्) राज्य (माधिभ्रशत्) नष्टभ्रष्ट न होवे ॥ ११ ॥

भावार्थः—उत्तम प्रजाजनों को चाहिये कि सब से उत्तम पुरुष को सभाध्यक्ष राजा मान के उस को उपदेश करें कि आप जितेन्द्रिय हुए सब काल में धार्मिक पुरुषार्थी हूजिये । आप के बुरे आचरणों से राज्य कभी नष्ट न होवे । जिस से सब प्रजापुरुष आप के अनुकूल वर्त्तें ॥ ११ ॥

उदुत्तममित्यस्य शुनःशेप ऋषिः । वरुणो देवता ।
विराडार्षी त्रिष्टुप्छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर भी वही वि० ॥

उदु॑त्त॒मं व॑रुण॒ पाश॑म॒स्मदवा॑ध॒मं वि म॑ध्य॒मं श्र॑थाय । अथा॑व॒यमा॑दित्य व्र॒ते तवाना॑गसो॒ अदि॑तये स्याम ॥ १२ ॥

उत् । उत्तममित्युत्ऽतमम् । वरुण । पाशम् । अस्मत् । अव । अधमम् । वि । मध्यमम् । श्रथाय । श्रथयेति श्रथय । अथ । वयम् । आदित्य । व्रते । तव । अनागसः । अदितये । स्याम ॥ १२ ॥

पदार्थः—(उत्) (उत्तमम्) (वरुण) शत्रूणां बन्धक (पाशम्) बन्धनम् (अस्मत्) अस्माकं सकाशात् (अव) (अधमम्) निकृष्टम् (वि) (मध्यमम्) मध्यस्थम् (श्रथाय) विमोचय (अथ) पश्चात्। अत्र निपातस्य चेति दीर्घः (वयम्) प्रजास्थाः (आदित्य) अविनाशिस्वरूप सूर्य इव सत्यन्यायप्रकाशक (व्रते) सत्यन्यायपालननियमे (तव) (अनागसः) अनपराधिनः (अदितये) पृथिवीराज्याय। अदितिरिति पृथिवीना०। निघं० १।१ (स्याम) भवेम ॥ १२ ॥

अन्वयः—हे वरुणादित्य त्वमस्मदधमं मध्यममुत्तमं पाशमुदवविश्रथाय। अथ वयमदितये तव व्रतेऽनागसः स्याम ॥ १२ ॥

भावार्थः—परमेश्वरस्य गुणकर्मस्वभावानुकूला धार्मिका जनाः सत्याचरणे वर्त्तमानाः सन्तः पापबन्धान्मुक्ताः सुखिनो भवन्ति तथैवोत्तमं राजानं प्राप्य प्रजाजना आनन्दिता जायन्ते ॥ १२ ॥

पदार्थः—हे (वरुण) शत्रुओं को बांधने (आदित्य) स्वरूप से अविनाशी सूर्य के समान सत्य न्याय का प्रकाशक सभापति विद्वन् आप (अस्मत्) हम से (अधमम्) निकृष्ट (मध्यमम्) मध्यस्थ और (उत्तमम्) उत्तम (पाशम्) बन्धन को (उदवविश्रथाय) विविध प्रकार से छुड़ाइये (अथ) इस के पश्चात् (वयम्) हम प्रजा के पुरुष (अदितये) पृथिवी के अखण्डित (राज्य के लिये (तव) आप के (व्रते) सत्य न्याय के पालनरूप नियम में (अनागसः) अपराधरहित (स्याम) होवें ॥ १२ ॥

भावार्थः—जैसे ईश्वर के गुण कर्म और स्वभाव के अनुकूल सत्य आचरणों में वर्त्तमान हुए धर्मात्मा मनुष्य पाप के बन्धनों से छूट के सुखी होते हैं वैसे ही उत्तम राजा को प्राप्त हो के प्रजा के पुरुष आनन्दित होते हैं ॥ १२ ॥

अग्रे बृहन्नित्यस्य त्रितऋषिः । अग्निर्देवता । भुरिगार्षी पंक्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर भी वही वि० ॥

अग्रे॑ बृ॒हन्नु॒षसा॑मू॒र्ध्वो अ॑स्थान्निर्जग॒न्वान् तम॑सो॒ ज्योति॒षागा॑त् । अ॒ग्निर्भा॒नुना॒ रुश॑ता॒ स्वङ्ग॒ आ जा॒तो विश्वा॒ सद्मा॑न्यप्राः ॥ १३ ॥

अग्रे॑ । बृ॒हन् । उ॒षसा॑म् । ऊ॒र्ध्वः । अ॒स्था॒त् । नि॒र्ज॒ग॒न्वानिति॑ निःऽज॒ग॒न्वान् । तम॑सः । ज्योति॑षा । आ । अ॒गा॒त् । अ॒ग्निः । भा॒नुना॑ । रुश॑ता । स्वङ्ग॒ इति॑ सुऽअङ्गः॑ । आ । जा॒तः । विश्वा॑ । सद्मा॑नि । अ॒प्राः ॥ १३ ॥

पदार्थः—(अग्रे) अग्रतः (बृहन्) महान् (उषसाम्) प्रभातानाम् (ऊर्ध्वः) उपर्य्याकाशस्थः (अस्थात्) तिष्ठति (निर्जगन्वान्) निर्गतः सन् (तमसः) अन्धकारात् (ज्योतिषा) प्रकाशेन (आ) (अगात्) प्राप्नोति (अग्निः) पावकः (भानुना) दीप्त्या (रुशता) सुरूपेण (स्वङ्गः) शोभनान्यङ्गानि यस्य सः (आ) (जातः) निष्पन्नः (विश्वा) (सद्मानि) साकाराणि स्थानानि (अप्राः) व्याप्नोति ॥ १३ ॥

अन्वयः—हे राजन् यस्त्वमग्रे यथा सूर्यः स्वङ्ग आजातो बृहन्नुषसामूर्ध्वोऽस्थाद्रुशता भानुना ज्योतिषा तमसो निर्जगन्वानागाद्विश्वा सद्मान्यप्रास्तद्वत्प्रजायां भव ॥ १३ ॥

भावार्थः—यः सूर्यवत्सद्गुणैर्महान् सत्पुरुषाणां शिक्षयोत्कृष्टो दुर्व्यसनेभ्यः पृथग्वर्त्तमानः सत्यन्यायप्रकाशितः सुन्दराङ्गः प्रसिद्धः सर्वैः सत्कर्त्तुं योग्यो विदितवेदितव्यो दूतैः सर्वजनहृदयाशयाविच्छुद्धन्यायेन प्रजा व्याप्नोति स एव राजा भवितुं योग्यः ॥ १३ ॥

पदार्थः—हे राजन् जो आप (अग्रे) पहिले से जैसे सूर्य्य (स्वङ्गः) सुन्दर अवयवों से युक्त (आजातः) प्रकट हुआ (बृहन्) बड़ा (उषसाम्) प्रभातों के (ऊर्ध्वः) ऊपर आकाश में (अस्थात्) स्थिर होता और (रुशता) सुन्दर (भानुना) दीप्ति तथा (ज्योतिषा) प्रकाश से (तमसः) अन्धकार को (निर्जगन्वान्) निरन्तर पृथक् करता हुआ (आगात्) सब लोक लोकान्तरों को प्राप्त होता है (विश्वा) सब (सद्मानि) स्थूल स्थानों को (अप्राः) प्राप्त होता है उसके समान प्रजा के बीच आप हूजिये ॥ १३ ॥

भावार्थः—जो सूर्य्य के समान श्रेष्ठ गुणों से प्रकाशित सत्पुरुषों की शिक्षा से उत्कृष्ट बुरे व्यसनों से अलग सत्य न्याय से प्रकाशित सुन्दर अवयवों वाला सर्वत्र प्रसिद्ध सबके सत्कार और जानने योग्य व्यवहारों का ज्ञाता और दूतों के द्वारा सब मनुष्यों के आशय को जानने वाला शुद्ध न्याय से प्रजाओं में प्रवेश करता है वही पुरुष राजा होने के योग्य होता है ॥ १३ ॥

हंस इत्यस्य त्रितऋषिः। जीवेश्वरौ देवते। स्वराड् जगती छन्दः। निषादः स्वरः॥

अथात्मलक्षणान्याह ॥

अब अगले मन्त्र में परमात्मा और जीव के लक्षण कहे हैं ॥

हꣳसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत्। नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत् ॥ १४ ॥

हꣳसः । शुचिषत् । शुचिसदिति शुचिऽसत् । वसुः । अन्तरिक्षसदित्यन्तरिक्षऽसत् । होता । वेदिषत् । वेदिसदिति वेदिऽसत् । अतिथिः । दुरोणसदिति दुरोणऽसत् । नृषत् । नृसदिति नृऽसत् । वरसदिति वरऽसत् । ऋतसदित्यृतऽसत् । व्योमसदिति व्योमऽसत् । अब्जा इत्यप्ऽजाः । गोजा इति गोऽजाः । ऋतजा इत्यृतऽजाः । अद्रिजा इत्यद्रिऽजाः । ऋतम् । बृहत् ॥ १४ ॥

पदार्थः—(हंसः) दुष्टकर्महन्ता (शुचिषत्) शुचिषु पवित्रेषु व्यवहारेषु वर्त्तमानः (वसुः) सज्जनेषु निवसिता तेषां निवासयिता वा (अन्तरिक्षसत्) यो धर्मावकाशे सीदति (होता) सत्यस्य ग्रहीता ग्राहयिता वा (वेदिषत्) या वेद्यां जगत्यां यज्ञशालायां वा सीदति (अतिथिः) अविद्यमाना तिथिर्यस्य स राज्यरक्षणाय यथासमयं भ्रमणकर्त्ता (दुरोणसत्) यो दुरोणे सर्वर्त्तुसुखप्रापके गृहे सीदति सः (नृषत्) यो नायकेषु सीदति सः (वरसत्) य उत्तमेषु विद्वत्सु सीदति (ऋतसत्) य ऋते सत्ये संस्थितः (व्योमसत्) यो व्योमवद्व्यापके परमेश्वरे सीदति (अब्जाः) योऽपः प्राणान् जनयति (गोजाः) यो गा इन्द्रियाणि पशून् वा जनयति (ऋतजाः) य ऋतं सत्यं ज्ञानं जनयति सः (अद्रिजाः) योऽद्रीन्मेघान् जनयति (ऋतम्) सत्यम् (बृहत्) महत् ॥ १४ ॥

अन्वयः—हे प्रजाजना यूयं यो हंसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसन्नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं

बृहद् ब्रह्म जीवश्चास्ति यस्तौ जानीयात् तं सभाधीशं राजानं कृत्वा सततमानन्दत ॥ १४ ॥

भावार्थः—य ईश्वरवत्प्रजाः पालयितुं सुखयितुं शक्नुयात्स एव राजा भवितुं योग्यः स्यान्न राज्ञा विना प्रजाः सुखिन्यो भवितुमर्हन्ति ॥ १४ ॥

पदार्थः—हे प्रजा के पुरुषो तुम लोग जो (हंसः) दुष्ट कर्मों का नाशक (शुचिषत्) पवित्र व्यवहारों में वर्त्तमान (वसुः) सज्जनों में वसने वा धन को वसाने वाला (अन्तरिक्षसत्) धर्म के अवकाश में स्थित (होता) सत्य का ग्रहण करने और कराने वाला (वेदिषत्) सब पृथिवी वा यज्ञ के स्थान में स्थित (अतिथिः) पूजनीय वा राज्य की रक्षा के लिये यथोचित समय में भ्रमण करने वाला (दुरोणसत्) ऋतुओं में सुखदायक आकाश में व्याप्त वा घर में रहने वाला (नृषत्) सेना आदि के नायकों का अधिष्ठाता (वरसत्) उत्तम विद्वानों की आज्ञा में स्थित (ऋतसत्) सत्याचरणों में आरूढ़ (व्योमसत्) आकाश के समान सर्वव्यापक ईश्वर वा जीवस्थित (अब्जाः) प्राणों के प्रकट करने हारा (गोजाः) इन्द्रिय वा पशुओं को प्रसिद्ध करने हारा (ऋतजाः) सत्य विज्ञान को उत्पन्न करने हारा (अद्रिजाः) मेघों का वर्षाने वाला विद्वान् (ऋतम्) सत्यस्वरूप (बृहत्) अनन्त ब्रह्म और जीव को जाने उस पुरुष को सभा का स्वामी राजा बना के निरन्तर आनन्द में रहो ॥ १४ ॥

भावार्थः—जो पुरुष ईश्वर के समान प्रजाओं को पालने और सुख देने को समर्थ हो वही राजा होने के योग्य होता है। और ऐसे राजा के विना प्रजाओं को सुख भी नहीं हो सकता ॥ १४ ॥

सीद त्वमित्यस्य त्रितऋषिः। अग्निर्देवता। विराट् त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः ॥

पुनर्मातृकृत्यमाह ॥

माता का कर्म अगले० ॥

सीद त्वं मातुरस्या उपस्थे विश्वान्यग्ने वयुनानि विद्वान् । मैनां तपसा मार्चिषाऽभिशोचीरन्तरस्याᳬं शुक्रज्योतिर्वि भाहि ॥ १५ ॥

सीद । त्वम् । मातुः । अस्याः । उपस्थ इत्युपऽस्थे । विश्वानि । अग्ने । वयुनानि । विद्वान् । मा । एनाम् । तपसा । मा । अर्चिषा । अभि । शोचीः । अन्तः । अस्याम् । शुक्रज्योतिरिति शुक्रऽज्योतिः । वि । भाहि ॥ १५ ॥

पदार्थः—(सीद) तिष्ठ (त्वम्) (मातुः) जनन्याः (अस्याः) प्रत्यक्षाया भूमेरिव (उपस्थे) समीपे (विश्वानि) सर्वाणि (अग्ने) विद्वन् धर्मात्मन् (वयुनानि) प्रज्ञानानि (विद्वान्) यो वेत्ति सः (मा) (एनाम्) (तपसा) सन्तापेन (मा) (अर्चिषा) तेजसा (अभि) (शोचीः) शोकयुक्तां कुर्याः (अन्तः) आभ्यन्तरे (अस्याम्) मातरि (शुक्रज्योतिः) शुक्रं शुद्धाचरणं ज्योतिः प्रकाशो यस्य सः (वि) (भाहि) प्रकाशय ॥ १५ ॥

अन्वयः—हे अग्ने त्वमस्यां मातरि सत्यां विद्यादि प्रकाशितो भवास्या भूमेरिव शुक्रज्योतिर्विद्वान् मातुरुपस्थे सीद । अस्याः सकाशाद्विश्वानि वयुनानि प्राप्नुहि । एनामन्तर्वा तपसार्चिषा माभिशोचीः किन्त्वेतच्छिक्षां प्राप्य विभाहि ॥ १५ ॥

भावार्थः—यो विदुष्या मात्रा विद्यासुशिक्षां प्रापितो मातृसेवको जननीवत् प्रजाः पालयेत् [redacted] राज्यैश्वर्येण प्रकाशेत ॥ १४ ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) विद्या को चाहने वाले पुरुष (त्वम्) आप (अस्याम्) इस माता के विद्यमान होने में (विभाहि) प्रकाशित हो (शुक्रज्योतिः)

शुद्ध आचरणों के प्रकाश से युक्त (विद्वान्) विद्यावान् आप पृथिवी के समान आधार (मातुः) इस माता की (उपस्थे) गोद में (सीद) स्थित हूजिये। इस माता से (विश्वानि) सब प्रकार की (वयुनानि) बुद्धियों को प्राप्त हूजिये। इस माता को (अन्तः) अन्तःकरण में (मा) मत (तपसा) सन्ताप से तथा (अर्चिषा) तेज से (मा) मत (अभिशोचीः) शोकयुक्त कीजिये। किन्तु इस माता से शिक्षा को प्राप्त होके प्रकाशित हूजिये ॥ १५ ॥

भावार्थः—जो विद्वान् माता ने विद्या और अच्छी शिक्षा से युक्त किया माता का सेवक जैसे माता पुत्रों को पालती है वैसे प्रजाओं का पालन करे वह पुरुष राजा के ऐश्वर्य्य से प्रकाशित होवे ॥ १५ ॥

अन्तरग्न इत्यस्य त्रितऋषिः। अग्निर्देवता। विराडनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः ॥

पुना राजकर्म्माह ॥

फिर राजा क्या करे इस वि० ॥

अन्तरग्ने रुचा त्वमुखायाः सदने स्वे।
तस्यास्त्वꣳ हरसा तपञ्जातवेदः शिवो भव ॥ १६ ॥

अन्तः। अग्ने। रुचा। त्वम्। उखायाः। सदने। स्वे। तस्याः। त्वम्। हरसा। तपन्। जातवेद इति जातऽवेदः। शिवः। भव ॥ १६ ॥

पदार्थः—(अन्तः) मध्ये (अग्ने) विद्वन् (रुचा) प्रीत्या (त्वम्) (उखायाः) प्राप्तायाः प्रजायाः (सदने) अवस्थानस्थाने (स्वे) स्वकीये (तस्याः) (त्वम्) (हरसा) ज्वलनेन। हर इति ज्वलतो ना०। १। १७। (तपन्) दुष्टान् सन्तापयन् (जातवेदः) जाता विदिता वेदा यस्य तत्संबुद्धौ (शिवः) मङ्गलकारी (भव) ॥ १६ ॥

अन्वयः—हे जातवेदोऽग्ने यस्त्वं यस्या उखाया अधोऽग्निरिव स्वे सदने तपन् सभ्यन्ताच्चा वर्त्तेथास्तस्या हरसा सन्तपँस्त्वं शिवो भव ॥१६॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०-यथा सभाध्यक्षो राजान्यायासने स्थित्वा परमरुच्या राज्यपालनकृत्यानि कुर्यात्तथा प्रजा राजानं सुखयन्ती सती दुष्टान् संतापयेत् ॥ १६ ॥

पदार्थः—हे (जातवेदः) वेदों के ज्ञाता (अग्ने) तेजस्वी विद्वान् आप जिस (उखायाः) प्राप्त हुई प्रजा के नीचे के अग्नि के समान (स्वे) अपने (सदने) रहने के स्थान में (तपन्) शत्रुओं को संताप कराते हुए (अन्तः) मध्य में (रुचा) प्रीति से वर्त्तो (तस्याः) उस प्रजा के (हरसा) प्रज्वलित तेज से आप शत्रुओं का निवारण करते हुए (शिवः) मङ्गलकारी (भव) हूजिये ॥ १६ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु०-जैसे सभाध्यक्ष राजा को चाहिये कि न्याय करने की गद्दी पर बैठ के अत्यन्त प्रीति के साथ राज्य के पालन रूप कार्यों को करे वैसे प्रजाओं को चाहिये कि राजा को सुख देती हुई दुष्टों को ताड़ना करें ॥ १६ ॥

शिवो भूत्वेत्यस्य त्रितऋषिः । अग्निर्देवता । विराडनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर भी वही वि० ॥

शिवो भूत्वा मह्यमग्ने अथो सीद शिवस्त्वम् ।
शिवाः कृत्वा दिशः सर्वाः स्वं योनिमिहासदः ॥ १७ ॥

शिवः । भूत्वा । मह्यम् । अग्ने । अथोइत्यथो । सीद । शिवः । त्वम् । शिवाः । कृत्वा । दिशः । सर्वाः । स्वम् । योनिम् । इह । आ । असदः ॥ १७ ॥

पदार्थः—(शिवः) स्वयं मङ्गलाचारी (भूत्वा) (मह्यम्) प्रजाजनाय (अग्ने) शत्रुविदारक (अथो) (सीद) (शिवः) मङ्गलकारी (त्वम्) (शिवाः) मङ्गलचारिणीः (कृत्वा) (दिशः) या दिश्यन्त उपदिश्यन्ते दिग्भिः सहचरितत्वात् प्रजाः (सर्वाः) (स्वम्) (योनिम्) राजधर्मासनम् (इह) अस्मिन् जगति (आ) (असदः) आस्व ॥ १७ ॥

अन्वयः—हे अग्ने त्वं मह्यं शिवो भूत्वेह शिवः सन् सर्वा दिशः शिवाः कृत्वा स्वं योनिमासदोऽथो राजधर्मे सीद ॥ १७ ॥

भावार्थः—राजा स्वयं धार्मिको भूत्वा प्रजाजनानपि धार्मिकान् संपाद्य न्यायासनमधिष्ठाय सततं न्यायं कुर्यात् ॥ १७ ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) अग्नि के समान शत्रुओं को जलाने वाले विद्वान् पुरुष (त्वम्) आप (मह्यम्) हम प्रजाजनों के लिये (शिवः) मङ्गलाचरण करने हारे (भूत्वा) होकर (इह) इस संसार में (शिवः) मङ्गलकारी हुए (सर्वाः) सब (दिशः) दिशाओं में रहने हारी प्रजाओं को (शिवाः) मङ्गलाचरण से युक्त (कृत्वा) करके (स्वम्) अपने (योनिम्) राजधर्म के आसन पर (आसदः) बैठिये । और (अथो) इसके पश्चात् राजधर्म में (सीद) स्थिर हूजिये ॥ १७ ॥

भावार्थः—राजा को चाहिये कि आप धर्मात्मा होके प्रजा के मनुष्यों को धार्मिक कर और न्याय की गद्दी पर बैठ के निरन्तर न्याय किया करे ॥ १७ ॥

दिवस्परीत्यस्य वत्सप्रीऋषिः । अग्निर्देवता । निचृदार्षी त्रिष्टुप्छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुना राजविषयमाह ॥

फिर राजधर्म का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

दि॒वस्परि॑ प्रथ॒मं ज॑ज्ञे अ॒ग्निर॒स्मद्द्वि॒तीयं॒ परि॑ जा॒तवे॑दाः । तृ॒तीय॑म॒प्सु नृ॒मणा॒ अज॑स्र॒मिन्धा॑न एनं जरते स्वा॒धीः ॥ १८ ॥

दि॒वः । परि॑ । प्र॒थ॒मम् । ज॒ज्ञे । अ॒ग्निः । अ॒स्मत् । द्वि॒तीय॑म् । परि॑ । जा॒तवे॑दा॒ इति॑ जा॒तऽवे॑दाः । तृ॒तीय॑म् । अ॒प्स्वित्य॒प्ऽसु । नृ॒मणा॑ । नृ॒मना॒ इति॑ नृ॒ऽमनाः॑ । अज॑स्रम् । इन्धा॑नः । ए॒न॒म् । ज॒र॒ते॒ । स्वा॒धीरिति॑ सु॒ऽआ॒धीः ॥ १८ ॥

पदार्थः—(दिवः) विद्युतः (परि) उपरि (प्रथमम्) (जज्ञे) जायते (अग्निः) (अस्मत्) अस्माकं सकाशात् (द्वितीयम्) (परि) (जातवेदाः) जातप्रज्ञानः (तृतीयम्) (अप्सु) प्राणेषु जलेषु वा (नृमणाः) नृषु नायकेषु मनो यस्य सः (अजस्रम्) निरन्तरम् (इन्धानः) प्रदीपयन् (एनम्) (जरते) स्तौति (स्वाधीः) शोभनाध्यानयुक्ताः प्रजाः ॥ १८ ॥

अन्वयः—हे सभेश योऽग्निरिव त्वं दिवस्परि जज्ञे तमेनं प्रथमं यो जातवेदास्त्वमस्मज्जज्ञे तमेनं द्वितीयं यो नृमणास्त्वमप्सु जज्ञे तमेनं तृतीयमजस्रमिन्धानो विद्वान् परिजरते स त्वं स्वाधीः प्रजाः स्तुहि ॥ १८ ॥

भावार्थः—मनुष्यैरादौ ब्रह्मचर्येण विद्यासुशिक्षा द्वितीयेन गृहाश्रमेणैश्वर्यं तृतीयेन वानप्रस्थेन तपश्चर्यां चतुर्थेन संन्यासाश्रमेण नित्यं वेदविद्याधर्मप्रकाशनं च कर्त्तव्यम् ॥ १८ ॥

पदार्थः—हे सभापति राजन् जो (अग्निः) अग्नि के समान आप (अस्मत्) हम लोगों से (दिवः) बिजुली के (परि) ऊपर (जज्ञे) प्रकट होते हैं उन (एनम्) आप को (प्रथमम्) पहिले जो (जातवेदाः) बुद्धिमानों में प्रसिद्ध उत्पन्न हुए उस आप को (द्वितीयम्) दूसरे जो (नृमणाः) मनुष्यों में

विचारशील आप (तृतीयम्) तीसरे (अप्सु) प्राण वा जल क्रियाओं में विदित हुए उस आप को (अजस्रम्) निरन्तर (इन्धानः) प्रकाशित करता हुआ विद्वन् (जरते) सब प्रकार स्तुति करता है सो आप (स्वाधीः) सुन्दर ध्यान से युक्त प्रजाओं को प्रकाशित कीजिये ॥ १८ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये प्रथम ब्रह्मचर्याश्रम के सहित विद्या तथा शिक्षा का ग्रहण दूसरे गृहाश्रम से धन का संचय तीसरे वानप्रस्थ आश्रम से तप का आचरण और चौथे संन्यास लेकर वेदविद्या और धर्म का नित्य प्रकाश करें ॥ १८ ॥

विद्मा त इत्यस्य वत्सप्रीऋषिः । अग्निर्देवता । निचृदार्षी त्रिष्टुप्छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर भी वही वि० ॥

विद्मा ते अग्ने त्रेधा त्रयाणि विद्मा ते धाम विभृता पुरुत्रा । विद्मा ते नाम परमं गुहा यद्विद्मा तमुत्सं यत आजगन्थ ॥ १९ ॥

विद्म । ते । अग्ने । त्रेधा । त्रयाणि । विद्म । ते । धाम । विभृतेति विऽभृता । पुरुत्रेति पुरुऽत्रा । विद्म । ते । नाम । परमम् । गुहा । यत् । विद्म । तम् । उत्सम् । यतः । आजगन्थेत्याऽजगन्थ ॥ १९ ॥

पदार्थः—(विद्म) जानीयाम । अत्र चतसृषु क्रियासु संहितायां द्व्यचोऽतस्तिङ इति दीर्घः । विदो लटो वेति णलादय आदेशाः (ते) तव (अग्ने) विद्वन् (त्रेधा) त्रिभिः प्रकारैः (त्रयाणि) त्रीणि (विद्म) (ते) तव (धाम)

धामानि (विभृता) विशेषेण धर्तुं योग्यानि (पुरुत्रा) पुरूणि बहूनि (विद्म) (ते) (नाम) (परमम्) (गुहा) गुहायां स्थितं गुप्तम् (यत्) (विद्म) (तम्) (उत्सम्) कूपइवार्द्रीकरम् । उत्स इति कूपना० । निघं० ३ । २३ । (यतः) यस्मात् (आजगन्थ) आगच्छेः ॥ १६ ॥

अन्वयः—हे अग्ने ते तव यानि त्रेधा त्रयाणि कर्माणि सन्ति तानि वयं विद्म । हे स्थानेश ते यानि विभृता पुरुत्रा धाम सन्ति तानि वयं विद्म । हे विद्वँस्ते तव यद्गुहा परमं नामास्ति तद्वयं विद्म । यतस्त्वमाजगन्थ तं त्वामुत्समिव विद्म विजानीयाः ॥ १६ ॥

भावार्थः—प्रजास्थैर्जनैराज्ञा च राजनीतिकर्माणि स्थानानि सर्वेषां नामानि च विज्ञेयानि । यथा कूपोत्पन्नाः कूपजलमुत्कृष्य क्षेत्रादीनि तर्पयन्ति तथैव प्रजास्थैर्धनादिभी राजा तर्पणीयो राज्ञा प्रजाश्च तर्पणीयाः ॥ १६ ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) विद्वान् पुरुष (ते) आप के जो (त्रेधा) तीन प्रकार से (त्रयाणि) तीन कर्म हैं उन को हम लोग (विद्म) जानें । हे स्थानों के स्वामी (ते) आप के जो (विभृता) विशेष करके धारण करने योग्य (पुरुत्रा) बहुत (धाम) नाम जन्म और स्थानरूप हैं उन को हम लोग (विद्म) जानें हे विद्वान् पुरुष (ते) आपका (यत्) जो (गुहा) बुद्धि में स्थित गुप्त (परमम्) श्रेष्ठ (नाम) नाम है उस को हम लोग (विद्म) जानें (यतः) जिस कारण आप (आजगन्थ) अच्छे प्रकार प्राप्त होवें (तम्) उस (उत्सम्) कूप के तुल्य तर करने हारे आप को (विद्म) हम लोग जानें ॥ १६ ॥

भावार्थः—प्रजा के पुरुष और राजा को योग्य है कि राजनीति के कामों सब स्थानों और सब पदार्थों के नामों को जानें । जैसे कुए से जल निकाल खेत आदि को तृप्त करते हैं वैसे ही धनादि पदार्थों से प्रजा राजा को और राजा प्रजाओं को तृप्त करे ॥ १६ ॥

समुद्र इत्यस्य वत्सप्री ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृदार्षी त्रिष्टुप्छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुना राजप्रजासम्बन्धमाह ॥

फिर भी राजा और प्रजा के सम्बन्ध का उप० ॥

समुद्रे त्वा नृमणा अप्स्वन्तर्नृचक्षा ईधे दिवो अग्न ऊधन्। तृतीये त्वा रजसि तस्थिवांसमपामुपस्थे महिषा अवर्धन् ॥ २० ॥

समुद्रे। त्वा। नृमणाः। नृमना इति नृऽमनाः। अप्स्वित्यप्ऽसु। अन्तः। नृचक्षा इति नृऽचक्षाः। ईधे। दिवः। अग्ने। ऊधन्। तृतीये। त्वा। रजसि। तस्थिवांसमिति तस्थिऽवांसम्। उपस्थ इत्युपऽस्थे। महिषाः। अवर्धन् ॥२०॥

पदार्थः—(समुद्रे) अन्तरिक्षे (त्वा) त्वाम् (नृमणाः) नायकेषु मनो यस्य सः (अप्सु) प्राणेषु जलेषु वा (अन्तः) मध्ये (नृचक्षाः) नृषु मनुष्येषु चक्षो दर्शनं यस्य सः (ईधे) प्रदीपये (दिवः) सूर्यप्रकाशस्य (अग्ने) विद्वान् (ऊधन्) ऊधनि उषसि। ऊध इत्युषसो ना०। निघं० १। ८। (तृतीये) त्रयाणां पूरके (त्वा) त्वाम् (रजसि) लोके (तस्थिवांसम्) तिष्ठन्तम् (अपाम्) जलानाम् (उपस्थे) समीपे (महिषाः) महान्तो विद्वांसः। महिष इति महन्ना०। निघं० ३। ३। (अवर्धन्) वर्धयेरन् ॥ २० ॥

अन्वयः—हे अग्ने नृमणा अहं यं त्वा समुद्रेऽग्निमिवेधे नृचक्षा अहमप्स्वन्तरीधे दिव ऊधनीधे तृतीये रजसि तस्थिवांसं सूर्यमिव यं त्वामपामुपस्थे महिषा अवर्धन् स त्वमस्मान् सततं वर्धय ॥ २० ॥

भावार्थः—प्रजासु वर्त्तमानाः सर्वे प्रधानपुरुषा राजवर्गं नित्यं वर्द्धयेयुः राजपुरुषाः प्रजापुरुषांश्च ॥ २० ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) विद्वन् पुरुष (नृमणाः) नायक पुरुषों को विचारने वाला मैं जिस (त्वा) आप को (समुद्रे) आकाश में अग्नि के

समान (ईंधे) प्रदीप्त करता हूं (नृचक्षः) बहुत मनुष्यों का देखने वाला मैं (अप्सु) प्राण वा जलों के (अन्तः) बीच प्रकाशित करता हूं (दिवः) सूर्य के प्रकाश के (ऊधन्) प्रातःकाल में प्रकाशित करता हूं (तृतीये) तीसरे (रजसि) लोक में (तस्थिवांसम्) स्थित हुए सूर्य के तुल्य जिस आप को (अपाम्) जलों के (उपस्थे) समीप (महिषः) महात्मा विद्वान् लोग (अवर्धन्) उन्नति को प्राप्त करें सो आप हम लोगों की निरन्तर उन्नति कीजिये ॥ २० ॥

भावार्थः—प्रजा के बीच वर्तमान सब श्रेष्ठ पुरुष राजकार्यों को और राजपुरुष प्रजापुरुषों को नित्य बढ़ाते रहें ॥ २० ॥

अक्रन्ददित्यस्य वत्सप्रीऋषिः । अग्निर्देवता । निचृदार्षी त्रिष्टुप्छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

अथ मनुष्याः कीदृशा भवेयुरित्यु० ॥

अब मनुष्यों को कैसा होना चाहिये यह वि० ॥

अक्रन्ददग्निस्तनयन्निव द्यौः क्षामा रेरिहद्वीरुधः समञ्जन् । सद्यो जज्ञानो वि हीमिद्धो अख्यदा रोदसी भानुना भात्यन्तः ॥ २१ ॥

अक्रन्दत् । अग्निः । स्तनयन्निवेति स्तनयन्ऽइव । द्यौः । क्षामा । रेरिहत् । वीरुधः । समञ्जन्निति सम्ऽअञ्जन् । सद्यः । जज्ञानः । वि । हि । ईम् । इद्धः । अख्यत् । आ । रोदसीइति रोदसी । भानुना । भाति । अन्तरित्यन्तः ॥ २१ ॥

पदार्थः—(अक्रन्दत्) गमयति (अग्निः) विद्युत् (स्तनयन्निव) यथा शब्दयन् (द्यौः) सूर्यः (क्षामाः) पृथिवीः । अत्रान्येषामपीत्युपधादीर्घः ।

सुपामिति विभक्तिलोपः (रेरिहत्) ताडयति (वीरुधः) ओषधीः । वीरुध ओषधयो भवन्ति विरोहणात् । निरु० ६ । ३ । (समञ्जन्) प्रकटयन् (सद्यः) शीघ्रम् (जज्ञानः) जायमानः (वि) (हि) प्रसिद्धौ (ईम्) सर्वतः (इद्धः) प्रदीप्यमानः (अख्यत्) ख्याति (आ) (रोदसी) प्रकाशभूमी (भानुना) किरणसमूहेन (भाति) राजति (अन्तः) मध्ये ॥ २१ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यूयं यथा द्यौः सूर्योऽग्निस्स्तनयन्निव वीरुधः समञ्जन् सन् सद्यो ह्यक्रन्दत् । क्षामा रेरिहदयं जज्ञान इद्धः सन् भानुना रोदसी ईं व्यख्यत् । ब्रह्माण्डस्यान्तरा भातीति तथा भवत ॥ २१ ॥

भावार्थः—ईश्वरेण यद्यः सूर्य उत्पादितः स विद्युदिव सर्वान् लोकानाकृष्य संप्रकाश्यौषध्यादिवृद्धिहेतुः सन् सर्वभूगोलानां मध्ये यथा विराजते तथा राजादिभिर्भवितव्यम् ॥ २१ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो जैसे (द्यौः) सूर्यलोक (अग्निः) विद्युत् अग्नि (स्तनयन्निव) शब्द करते हुए के समान (वीरुधः) ओषधियों को (समञ्जन्) प्रकट करता हुआ (सद्यः) शीघ्र (हि) ही (अक्रन्दत्) पदार्थों को इधर उधर चलाता (क्षामा) पृथिवी को (रेरिहत्) कंपाता और यह (जज्ञानः) प्रसिद्ध हुआ (इद्धः) प्रकाशमान होकर (भानुना) किरणों के साथ (रोदसी) प्रकाश और पृथिवी को (ईम्) सब ओर से (व्यख्यत्) विख्यात करता है । और ब्रह्माण्ड के (अन्तः) बीच (आभाति) अच्छे प्रकार शोभायमान होता है वैसे तुम लोग भी होओ ॥ २१ ॥

भावार्थः—ईश्वर ने जिसलिये सूर्यलोक को उत्पन्न किया है इसीलिये यह बिजुली के समान सब लोकों का आकर्षण कर और ओषधि आदि पदार्थों को बढ़ाने का हेतु और सब भूगोलों के बीच जैसे शोभायमान होता है वैसे राजा आदि पुरुषों को भी होना चाहिये ॥ २१ ॥

श्रीणामित्यस्य वत्सप्रीऋषिः अग्निर्देवता । निचृदार्षी त्रिष्टुप्छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

अत्र राजकर्मणि कीदृग्जनोऽभिषेचनीय इत्याह ॥

इन राजकार्यों में कैसे पुरुष को राजा बनावें यह वि० ॥

श्रीणामुदारो धरुणो रयीणां मनीषाणां प्रार्पणः सोमगोपाः । वसुः सूनुः सहसो अप्सु राजा विभात्यग्रं उषसामिधानः ॥ २२ ॥

श्रीणाम् । उदार इत्युत्ऽआरः । धरुणः । रयीणाम् । मनीषाणाम् । प्रार्पण इति प्रऽअर्पणः । सोमगोपा इति सोमऽगोपाः । वसुः । सूनुः । सहसः । अप्स्वित्यप्ऽसु । राजा । वि । भाति । अग्रे । उषसाम् । इधानः ॥ २२ ॥

पदार्थः—(श्रीणाम्) लक्ष्मीणां मध्ये (उदारः) य उत्कृष्टं परीक्ष्यं ऋच्छति ददाति (धरुणः) धर्त्ताऽऽधारभूतः (रयीणाम्) धनानाम् (मनीषाणाम्) प्रज्ञानाम् । याभिर्मन्यन्ते जानन्ति ता मनीषाः प्रज्ञास्तासाम् (प्रार्पणः) प्रापकः (सोमगोपाः) सोमानामोषधीनामैश्वर्य्याणां वा रक्षकः (वसुः) कृतब्रह्मचर्य्यः (सूनुः) सुतः (सहसः) बलवतः पितुः (अप्सु) प्राणेषु (राजा) प्रकाशमानः (वि) (भाति) प्रदीप्यते (अग्रे) संमुखे (उषसाम्) प्रभातानाम् (इधानः) प्रदीप्यमानः ॥ २१ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यूयं यो जन उषसामग्र इधानः सूर्य इव श्रीणामुदारो रयीणां धरुणो मनीषाणां प्रार्पणः सोमगोपाः सहसः सूनुर्वसुः सन्नप्सु राजा विभाति तं सर्वाध्यक्षं कुरुत ॥ २२ ॥

भावार्थः—मनुष्यैर्यः सुपात्रेभ्यो दाता धनस्य व्यर्थव्ययस्याकर्त्ता सर्वेषां विद्याबुद्धिप्रदः कृतब्रह्मचर्यस्य जितेन्द्रियस्य तनयो योगाङ्गानुष्ठानेन

प्रकाशमानः सूर्यवत् शत्रुगणकर्मस्वभावानां मध्ये देदीप्यमानो पितृवत् प्रजापालको जनोऽस्ति स राज्यकरणायाभिषेचनीयः ॥ २१ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो तुम लोगों को चाहिये कि जो पुरुष (उषसाम्) प्रभात समय के (अग्रे) आरम्भ में (इधानः) प्रदीप्यमान सूर्य के समान (श्रीणाम्) सब उत्तम लक्ष्मियों के मध्य (उदारः) परीक्षित पदार्थों का देने (रयीणाम्) धनों का (धरुणः) धारण करने (मनीषाणाम्) बुद्धियों का (प्रार्पणः) प्राप्त कराने और (सोमगोपाः) ओषधियों वा ऐश्वर्यों की रक्षा करने (सहसः) ब्रह्मचर्य किये जितेन्द्रिय बलवान् पिता का (सूनुः) पुत्र (वसुः) ब्रह्मचर्याश्रम करता हुआ (अप्सु) प्राणों में (राजा) प्रकाशयुक्त होकर (विभाति) शुभ गुणों का प्रकाश करता हो उस को सब का अध्यक्ष करो ॥ २२ ॥

भावार्थः—सब मनुष्यों को उचित है कि सुपात्रों को दान देने धन का व्यर्थ खर्च न करने सब को विद्या बुद्धि देने जिसने ब्रह्मचर्याश्रम सेवन किया हो अपने इन्द्रिय जिस के वश में हो योग के यम आदि आठ अङ्गों के सेवन से प्रकाशमान सूर्य के समान अच्छे गुण कर्म और स्वभावों से सुशोभित और पिता के समान अच्छे प्रजाओं का पालन करने हारा पुरुष हो उसको राज्य करने के लिये स्थापित करें ॥ २२ ॥

विश्वस्येत्यस्य वत्सप्रीऋषिः । अग्निर्देवता । आर्षी-
त्रिष्टुप्छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर भी वही वि० ॥

विश्वस्य केतुर्भुवनस्य गर्भ आ रोदसी अपृणाज्जायमानः । वीडुं चिदद्रिमभिनत् परायन् जना यदग्निमयजन्त पञ्च ॥ २३ ॥

विश्वस्य । केतुः । भुवनस्य । गर्भः । आ । रोदसी इति रोदसी । अपृणात् । जायमानः । वीडुम् । चित् । अद्रिम् । अभिनत् । परायन्निति पराऽयन् । जनाः । यत् । अग्निम् । अयजन्त । पञ्च ॥ २३ ॥

पदार्थः—(विश्वस्य) (केतुः) (भुवनस्य) भवन्ति भूतानि यस्मिंस्तस्य लोकमात्रस्य (गर्भः) अन्तःस्थः (आ) (रोदसी) प्रकाशभूमी (अपृणात्) प्रपूर्यात् (जायमानः) उत्पद्यमानः (वीडुम्) दृढबलम् (चित्) इव (अद्रिम्) मेघम् (अभिनत्) भिन्द्यात् (परायन्) परेतः सन् (जनाः) (यत्) यां (अग्निम्) विद्युतम् (अयजन्त) संगमयन्ति (पञ्च) प्राणाः ॥ २३ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यो विद्वान् विश्वस्य भुवनस्य केतुगर्भो जायमानः परायन् रोदसी आपृणाद्वीडुमद्रिमभिनत् पञ्चजना अग्निमयजन्त चिदिव विद्यादिशुभगुणान् प्रकाशयेत्तं न्यायाधीशं मन्यध्वम् ॥ २३ ॥

भावार्थः—अत्रोपमालं०—यथा भुवनस्य मध्ये सूर्य आकर्षणेन सर्वविद्याप्रापको राज्यधर्त्ता शत्रुच्छेदकः सुखानां जनयिता गर्भस्य मातेव प्रजापालको विद्वान् भवेत् तं राज्याधिकारिणं कुर्यात् ॥ २३ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो तुम लोग (यत्) जो विद्वान् (विश्वस्य) सब (भुवनस्य) लोकों का (केतुः) पिता के समान रक्षक प्रकाशने हारा (गर्भः) सब के मध्य में रहने (जायमानः) उत्पन्न होने वाला (परायन्) शत्रुओं को प्राप्त होता हुआ (रोदसी) प्रकाश और पृथिवी को (आपृणात्) पूरण कर्त्ता हो (वीडुम्) अत्यन्त बलवान् (अद्रिम्) मेघ को (अभिनत्) छिन्न भिन्न करे (पंच) पांच (जनाः) प्राण (अग्निम्) बिजुली को (अयजन्त) संयुक्त करते हैं (चित्) इसी प्रकार जो विद्या आदि शुभ गुणों का प्रकाश करे उस को न्यायाधीश राजा मानो ॥ २३ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में उपमालं०—जैसे ब्रह्माण्ड के बीच सूर्यलोक अपनी आकर्षण शक्ति से सब का धारण करता और मेघ को काटने वाला तथा प्राणों से प्रसिद्ध हुए के समान सब विद्याओं को जताने और जैसे माता गर्भ की रक्षा करे वैसे प्रजा का पालने हारा विद्वान् पुरुष हो उस को राज्याधिकार देना चाहिये ॥ २३ ॥

उशिगित्यस्य वत्सप्री ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृदार्षी त्रिष्टुप्छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनर्मनुष्यैः किं कर्त्तव्यमित्याह ॥

फिर मनुष्यों को क्या करना चाहिये यह वि० ॥

उशिक् पावको अरतिः सुमेधा मर्त्येष्वग्निरमृतो निधायि । इयर्त्ति धूममरुषम्भरिभ्रदुच्छुक्रेण शोचिषा द्यामिनक्षन् ॥ २४ ॥

उशिक् । पावकः । अरतिः । सुमेधा इति सुऽमेधाः । मर्त्येषु । अग्निः । अमृतः । नि । धायि । इयर्त्ति । धूमम् । अरुषम् । भरिभ्रत् । उत् । शुक्रेण । शोचिषा । द्याम् । इनक्षन् ॥ २४ ॥

पदार्थः—(उशिक्) कामयमानः (पावकः) पवित्रकर्त्ता (अरतिः) ज्ञाता (सुमेधाः) शोभनप्रज्ञः (मर्त्येषु) (अग्निः) कारणरूपः (अमृतः) अविनाशी (नि) (धायि) निधीयते (इयर्त्ति) प्राप्नोति (धूमम्) (अरुषम्) रूपम् (भरिभ्रत्) अत्यन्तं धरन् पुष्यन् (उत्) (शुक्रेण) आशुकरेण (शोचिषा) दीप्त्या (द्याम्) सूर्यम् (इनक्षन्) व्याप्नुवन् । इनक्षतीति व्याप्तिकर्मा० । निघं० २ । १८ ॥ २४ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यूयमीश्वरेण मर्त्येषु य उशिक् पावकोऽरतिः सुमेधाऽमृतोऽग्निर्निधायि यः शुक्रेण शोचिषा द्यामिनक्षन् धूमरुषं भरिभ्रदुदियर्त्ति तमीश्वरमुपाध्वमुपकुरुत वा ॥ २४ ॥

भावार्थः—मनुष्यैरीश्वरसृष्टानां पदार्थानां कारणकार्यपुरस्सरं विज्ञानं कृत्वा प्रज्ञोन्नेया ॥ २४ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो तुम लोग ईश्वर ने (मर्त्येषु) मनुष्यों में जो (उशिक्) मानने योग्य (पावकः) पवित्र करने हारा (अरतिः) ज्ञान वाला (सुमेधाः) अच्छी बुद्धि से युक्त (अमृतः) मरणधर्मरहित (अग्निः) आकाररूप ज्ञान का प्रकाश (निधायि) स्थापित किया है जो (शुक्रेण) शीघ्रकारी (शोचिषा) प्रकाश से (द्याम्) सूर्यलोक को (इनक्षन्) व्याप्त होता हुआ (धूमम्) धुंए (अरुषम्) रूप को (भरिभ्रत्) अत्यन्त धारण वा पुष्ट करता हुआ (उदियर्त्ति) प्राप्त होता है उसी ईश्वर की उपासना करो वा उस अग्नि से उपकार लेओ ॥ २४ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि कार्य्य कारण के अनुसार ईश्वर के रचे हुए सब पदार्थों को ठीक २ जान के अपनी बुद्धि बढ़ावें ॥ २४ ॥

दृशान इत्यस्य वत्सप्रीर्ऋषिः । अग्निर्देवता । भुरिक्पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

पुनर्नरैः किं किं वेद्यमित्याह ॥

फिर मनुष्यों को क्या २ जानना चाहिये यह वि० ॥

दृशानो रुक्म उर्व्या व्यद्यौद्दुर्मर्षमायुः श्रिये रुचानः। अग्निरमृतोऽअभवद्वयोभिर्यदेनं द्यौरजनयत्सुरेताः ॥ २५ ॥

दृशानः । रुक्मः । उर्व्या । वि । अद्यौत् । दुर्मर्षमिति दुःऽमर्षम् । आयुः । श्रिये । रुचानः । अग्निः । अमृतः । अभवत् । वयोभिरिति वयःऽभिः । यत् । एनम् । द्यौः । अजनयत् । सुरेता इति सुऽरेताः ॥ २५ ॥

पदार्थः—(दृशानः) दर्शकः (रुक्मः) (उर्व्या) पृथिव्या सह (वि) (अद्यौत्) प्रकाशयति (दुर्मर्षम्) दुर्गतो मर्षः सेचनं यस्मात्तत् (आयुः) जीवनम् (श्रिये) शोभायै (रुचानः) प्रदीपकः (अग्निः) तेजः (अमृतः) नाशरहितः (अभवत्) (वयोभिः) व्यापकैर्गुणैः (यत्) यस्मात् (एनम्) (द्यौः) स्वप्रकाशः (अजनयत्) जनयति (सुरेताः) शोभनानि रेतांसि वीर्याणि यस्य सः ॥ २५ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यूयं यथो दृशानो रुक्मः श्रिये रुचानोऽमृतो दुर्मर्षमायुः कुर्वन्नमृतोऽग्निरुर्व्या सह व्यद्यौद्वयोभिः सहाभवत् । यद्द्यौः सुरेता जगदीश्वरो यदेनमजनयत्तं तत्त्वां च विजानीत ॥ २५ ॥

भावार्थः—हे मनुष्या जगत्स्रष्टारमनादिमीश्वरमनादिजगत्कारणं गुणकर्मस्वभावैः सह विज्ञायोपासत उपयुञ्जते च ते दीर्घायुषः श्रीमन्तो जायन्ते ॥ २५ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो तुम लोग (यत्) जिस कारण (दृशानः) दिखाने हारा (रुक्मः) रुचि का हेतु (श्रिये) शोभा का (रुचानः) प्रकाशक (दुर्मर्षम्) सब दुःखों से रहित (आयुः) जीवन करता हुआ (अमृतः) नाशरहित (अग्निः) तेजस्वरूप (उर्व्या) पृथिवी के साथ (व्यद्यौत्) प्रकाशित होता है (वयोभिः) व्यापक गुणों के साथ (अभवत्) उत्पन्न होता और जो (द्यौः) प्रकाशक (सुरेताः) सुन्दर पराक्रम वाला जगदीश्वर (यत्) जिस के लिये (एनम्) इस अग्नि को (अजनयत्) उत्पन्न करता है उस ईश्वर आयु और विद्युत् रूप अग्नि को जानो ॥ २५ ॥

भावार्थः—जो मनुष्य गुण कर्म और स्वभावों के सहित जगत् रचने वाले अनादि ईश्वर और जगत् के कारण को ठीक २ जान के उपासना करते और उपयोग लेते हैं वे चिरंजीव होकर लक्ष्मी को प्राप्त होते हैं ॥ २५ ॥

यस्त इत्यस्य वत्सप्रीर्ऋषिः । अग्निर्देवता । विराडार्षी त्रिष्टुप्छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनर्विद्वद्भिः कीदृशः पाचकः स्वीकार्य इत्याह ॥
फिर विद्वान् लोग कैसे रसोइया का स्वीकार करें यह वि० ॥

यस्ते अद्य कृणवद्भद्रशोचेऽपूपं देव घृतवन्तमग्ने । प्र तं नय प्रतरं वस्यो अच्छाभिसुम्नं देवभक्तं यविष्ठ ॥ २६ ॥

यः । ते । अद्य । कृणवत् । भद्रशोचइति भद्रऽशोचे । अपूपम् । देव । घृतवन्तमिति घृतऽवन्तम् । अग्ने । प्र । तम् । नय । प्रतरमिति प्रऽतरम् । वस्यः । अच्छ । अभि । सुम्नम् । देवभक्तमिति देवऽभक्तम् । यविष्ठ ॥ २६ ॥

पदार्थः—(यः) (ते) तव (अद्य) (कृणवत्) कुर्यात् (भद्रशोचे) भद्रा भजनीया शोचिर्दीप्तिर्यस्य तत्सम्बुद्धौ (अपूपम्) (देव) दिव्यभोगप्रद (घृतवन्तम्) बहु घृत विद्यते यस्मिन् तम् (अग्ने) विद्वन् (प्र) (तम्) (नय) प्राप्नुहि (प्रतरम्) पाकस्य संतारकम् (वस्यः) अतिशयितं वसु तत् (अच्छ) (अभि) (सुम्नम्) सुखस्वरूपम् (देवभक्तम्) देवैर्विद्वद्भिः सेवितम् (यविष्ठ) अतिशयेन युवन् ॥ २६ ॥

अन्वयः—हे भद्रशोचे यविष्ठ देवाग्ने यस्ते तव घृतवन्तमभिसुम्नं वस्यो देवभक्तमपूपमच्छ कृणवत्तं प्रतरं पाककर्त्तारं त्वमद्य प्रणय ॥ २६ ॥

भावार्थः—मनुष्यैर्विद्वत्सुशिक्षितोऽत्युत्तमानां व्यञ्जनानां सुस्वादिष्ठाना- मन्नानां रुचिकराणां निर्माता पाककर्त्ता संग्राह्यः ॥ २६ ॥

पदार्थः—हे (भद्रशोचे) सेवने योग्य दीप्ति से युक्त (यविष्ठ) तरुण अवस्था वाले (देव) दिव्य भोगों के दाता (अग्ने) विद्वान् पुरुष (यः) जो (ते) आपका (घृतवन्तम्) बहुत घृत आदि पदार्थों से संयुक्त (अभि) सब प्रकार से (सुम्नम्) सुखरूप (देवभक्तम्) विद्वानों के सेवने योग्य (अपूपम्) भोजन के योग्य पदार्थों वाला (वस्यः) अत्यन्त भोग्य (अच्छ) अच्छे २ पदार्थों को (कृणवत्) बनावे (तम्) उस (प्रवरम्) पाक बनाने हारे पुरुष को आप (अद्य) आज (प्रणय) प्राप्त हूजिये ॥ २६ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि विद्वानों से अच्छी शिक्षा को प्राप्त हुए अति उत्तम व्यञ्जन और शष्कुली आदि तथा शाक आदि स्वादु से युक्त रुचिकारक पदार्थों को बनाने वाले पाचक पुरुष का ग्रहण करें ॥ २६ ॥

आतमित्यस्य वत्सप्रीर्ऋषिः । अग्निर्देवता । विराडार्षी त्रिष्टुप्छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर वही वि० ॥

आ तं भज सौश्रवसेष्वग्न उक्थउक्थ आ भज शस्यमाने । प्रियः सूर्ये प्रियो अग्ना भवात्युज्जातेन भिनददुज्जनित्वैः ॥ २७ ॥

आ । तम् । भज । सौश्रवसेषु । अग्ने । उक्थउक्थइत्यु- क्थेऽउक्थे । आ । भज । शस्यमाने । प्रियः । सूर्ये । प्रियः ।

अग्ना । भ॒वा॒ति॒ । उ॒त । जा॒तेन॑ । भि॒नद॑त् । उ॒त । जनि॑त्वैः॒रिति॑ जनि॑ऽत्वैः ॥ २७ ॥

पदार्थः—(आ) (तम्) (भज) सेवस्व (सौश्रवसेषु) (अग्ने) विद्वन् (उक्थउक्थे) वक्तुं योग्ये योग्ये व्यवहारे (आ) (भज) (शस्यमाने) स्तूयमाने (प्रियः) कान्तः (सूर्ये) सूरिषु स्तोतृषु भवे (प्रियः) सेवनीयः (अग्ना) अग्नौ (भवाति) भवेत् (उत) (जातेन) (भिनदत्) भिन्द्यात् (उत) (जनित्वैः) जनिष्यमाणैः ॥ २७ ॥

अन्वयः—हे अग्ने विद्वंस्त्वं यः सौश्रवसेषु वर्त्तमानस्तमाभज यः शस्यमान उक्थउक्थे प्रियः सूर्येऽग्ना च प्रियो जातेन जनित्वैः सहोत्पन्नानुद्भिनदत्तं त्वमाभज ॥ २८ ॥

भावार्थः—मनुष्यैर्यः पाककरणे साधुः सर्वस्य प्रियोऽन्नव्यञ्जनानां भेदकः पाचको भवेत्स स्वीकर्त्तव्यः ॥ २७ ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) विद्वान् पुरुष आप जो (सौश्रवसेषु) सुन्दर धनवालों में वर्त्तमान हो (तम्) उस को (आभज) सेवन कीजिये जो (शस्यमाने) स्तुति के योग्य (उक्थे उक्थे) अत्यन्त कहने योग्य व्यवहार में (प्रियः) प्रीति रक्खे (सूर्ये) स्तुतिकारक पुरुषों में हुए व्यवहार (अग्ना) और अग्निविद्या में (प्रियः) सेवने योग्य (जातेन) उत्पन्न हुए और (जनित्वैः) उत्पन्न होने वालों के साथ (उद्भवाति) उत्पन्न होवे और शत्रुओं को (उद्भिनदत्) उद्भिन्न भिन्न करे (तम्) उस को आप (आभज) सेवन कीजिये ॥ २७ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि जो पाक करने में साधु सब का हितकारी अन्न और व्यंजनों को अच्छे प्रकार बनाने उसको अवश्य ग्रहण करें ॥ २७ ॥

त्वामग्न इत्यस्य वत्सप्रीऋषिः । अग्निर्देवता । विराडार्षी त्रिष्टुप्छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनर्मनुष्यैर्विद्याः कथं वर्द्धनीया इत्याह ॥

फिर मनुष्य लोग विद्या को किस प्रकार बढ़ावें इस वि० ॥

त्वामग्ने यजमाना अनु द्यून् विश्वा वसु दधिरे वार्याणि । त्वया सह द्रविणमिच्छमाना व्रजं गोमन्तमुशिजो वि वव्रुः ॥ २८ ॥

त्वाम् । अग्ने । यजमानाः । अनु । द्यून् । विश्वा । वसु । दधिरे । वार्याणि । त्वया । सह । द्रविणम् । इच्छमानाः । व्रजम् । गोमन्तमिति गोऽमन्तम् । उशिजः । वि । वव्रुः ॥ २८ ॥

पदार्थः—(त्वाम्) (अग्ने) विद्वन् (यजमानाः) संगन्तारः (अनु) (द्यून्) दिनानि (विश्वा) सर्वाणि (वसु) वसूनि द्रव्याणि (दधिरे) धरेयुः (वार्याणि) स्वीकर्त्तुमर्हाणि (त्वया) (सह) साकम् (द्रविणम्) धनम् (इच्छमानाः) व्यत्ययेनाऽऽत्मनेपदम् (व्रजम्) मेघम् (गोमन्तम्) प्रशस्ता गावः किरणा यस्मिंस्तम् (उशिजः) मेधाविनः । उशिगिति मेधाविना० । निघं० ३ । १५ । (वि) (वव्रुः) वृणुयुः ॥ २८ ॥

अन्वयः—हे अग्ने विद्वन् यं त्वामाश्रित्योशिजो यजमानास्त्वया सह याननुद्यून् विश्वा वार्याणि वसु दधिरे द्रविणमिच्छमाना गोमन्तं व्रजं विवव्रुस्तथाभूता वयमपि भवेम ॥ २८ ॥

भावार्थः—मनुष्यैः प्रयतमानानां विदुषां संगात्पुरुषार्थेन प्रतिदिनं विद्यासुखे वर्द्धनीये ॥ २८ ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) विद्वान् पुरुष जिस (त्वाम्) आप का आश्रय लेकर (उशिजः) बुद्धिमान् (यजमानाः) संगतिकारक लोग (त्वया) आप

के (सह) साथ (विश्वा) सब (वार्याणि) ग्रहण करने योग्य (अनुद्यून्) दिनों में (वसु) द्रव्यों को (दधिरे) धारण करें (द्रविणम्) धन की (इच्छमानाः) इच्छा करते हुए (गोमन्तम्) सुन्दर किरणों के रूप से युक्त (व्रजम्) मेघ वा गोस्थान को (वित्रुः) विविध प्रकार से ग्रहण करें वैसे हम लोग भी होवें ॥ २८ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि प्रयत्नशील विद्वानों के सङ्ग से पुरुषार्थ के साथ विद्या और सुख को नित्यप्रति बढ़ाते जावें ॥ २८ ॥

अस्तावीत्यस्य वत्सप्रीऋषिः । अग्निर्देवता । विराडार्षी त्रिष्टुप्छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनस्तत्संगेन किं भवतीत्याह ॥

फिर उन विद्वानों के संग से क्या होता है यह वि० ॥

अस्ताव्यग्निर्नराᳬसुशेवो वैश्वानर ऋषिभिः सोमगोपाः । अद्वेषे द्यावापृथिवी हुवेम देवा धत्त रयिमस्मे सुवीरम् ॥ २९ ॥

अस्तावि । अग्निः । नराम् । सुशेवऽइति सुऽशेवः । वैश्वानरः । ऋषिभिरित्यृषिऽभिः । सोमगोपाइति सोमऽगोपाः । अद्वेषेइत्यद्वेषे । द्यावापृथिवीइति द्यावापृथिवी । हुवेम । देवाः । धत्त । रयिम् । अस्मेइत्यस्मे । सुवीरमिति सुऽवीरम् ॥ २९ ॥

पदार्थः—(अस्तावि) स्तूयते (अग्निः) परमेश्वरः (नराम्) नायकानां विदुषाम् (सुशेवः) सुसुखः । शेवमिति सुखना० । निघं० ३ । ६ ।

(वैश्वानरः) विश्वे सर्वे नरा यस्मिन् स एव (ऋषिभिः) वेदार्थविद्भिर्विद्वद्भिः (सोमगोपाः) ऐश्वर्यपालकाः (अद्वेषे) द्वेषमनर्हे प्रीतिविषये (द्यावापृथिवी) राजनीतिभूराज्ये (हुवेम) स्वीकुर्याम (देवाः) शत्रून् विजिगीषमाणाः (धत्त) धरत (रयिम्) राज्यश्रियम् (अस्मे) अस्मभ्यम् (सुवीरम्) शोभना वीरा यस्मात्तम् ॥ २९ ॥

अन्वयः—हे देवा यैर्युष्माभिर्ऋषिभिर्यो नरां सुशेवो वैश्वानरोऽग्निरस्तावि ये यूयमस्मे सुवीरं रयिं धत्त तदाश्रिताः सोमगोपा वयमद्वेषे द्यावापृथिवी हुवेम ॥ २९ ॥

भावार्थः—ये सच्चिदानन्दस्वरूपेश्वरसेवका धार्मिका विद्वांसः सन्ति ते परोपकारत्वादाप्ता भवन्ति नह्येतेषां संगमन्तरा सुस्थिरे विद्याराज्ये कर्त्तुं शक्नुवन्ति ॥ २९ ॥

पदार्थः—हे (देवाः) शत्रुओं को जीतने की इच्छा वाले विद्वानो जिन (ऋषिः) ऋषि तुम लोगों ने (नराम्) नायक विद्वानों में (सुशेवः) सुन्दर सुखयुक्त (वैश्वानरः) सब मनुष्यों के आधार (अग्निः) परमेश्वर की (अस्तावि) स्तुति की है जो तुम लोग (अस्मे) हमारे लिये (सुवीरम्) जिस से सुन्दर वीर पुरुष हों उस (रयिम्) राज्यलक्ष्मी को (धत्त) धारण करो उस के आश्रित (सोमगोपाः) ऐश्वर्य के रक्षक हम लोग (अद्वेषे) द्वेष करने के अयोग्य प्रीति के विषय में (द्यावापृथिवी) प्रकाशरूप राजनीति और पृथिवी के राज्य का (हुवेम) ग्रहण करें ॥ २९ ॥

भावार्थः—जो सच्चिदानन्दस्वरूप ईश्वर के सेवक धर्मात्मा विद्वान् लोग हैं वे परोपकारी होने से आप्त यथार्थवक्ता होते हैं ऐसे पुरुषों के सत्संग के विना स्थिर विद्या और राज्य को कोई भी नहीं कर सकता ॥ २९ ॥

समिधाग्निमित्यस्य विरूपाक्ष ऋषिः । अग्निर्देवता । गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनर्मनुष्याणां के सेवनीयाः सन्तीत्याह ॥

फिर मनुष्य किन का सेवन करें यह वि० ॥

समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम् ।
आस्मिन् हव्या जुहोतन ॥ ३० ॥

समिधेति सम्ऽइधा । अग्निम् । दुवस्यत । घृतैः । बोधयत । अतिथिम् । आ । अस्मिन् । हव्या । जुहोतन ॥ ३० ॥

पदार्थः—(समिधा) सम्यगग्निसंस्कृतेनान्नादिना (अग्निम्) उपदेशकं विद्वांसम् (दुवस्यत) सेवध्वम् (घृतैः) घृतादिभिः (बोधयत) चेतयत (अतिथिम्) अनियततिथिमुपदेशकम् (आ) (अस्मिन्) (हव्या) दातुमर्हाणि (जुहोतन) दत्त ॥ ३० ॥

अन्वयः—हे गृहस्था यूयं समिधाग्निमिवान्नादिनोपदेशकं दुवस्यत घृतैरतिथिं बोधयत । अस्मिन् हव्या जुहोतन ॥ ३० ॥

भावार्थः—मनुष्यैः सत्पुरुषाणामेव सेवा कार्या सत्पात्रेभ्य एव दानं च देयम् । यथाग्नौ घृतादिकं हुत्वा संसारोपकारं जनयन्ति तथैव विद्वत्सुसमानि दानानि संस्थाप्यैतैर्जगति विद्यासुशिक्षे वर्धनीये ॥ ३० ॥

पदार्थः—हे गृहस्थो तुम लोग जैसे (समिधा) अच्छे प्रकार इन्धनों से (अग्निम्) अग्नि को प्रकाशित करते हैं वैसे उपदेश करनेवाले विद्वान् पुरुष की (दुवस्यत) सेवा करो और जैसे सुसंस्कृत अन्न तथा (घृतैः) घी आदि पदार्थों से अग्नि में होम करके जगदुपकार करते हैं वैसे (अतिथिम्) जिस के आने जाने के समय का नियम न हो उस उपदेशक पुरुष को (बोधयत)

स्वागत उत्साहादि से चैतन्य करो और (अस्मिन्) इस जगत् में (हव्या) देने योग्य पदार्थों को (आजुहोतन) अच्छे प्रकार दिया करो ॥ ३० ॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि सत्पुरुषों ही की सेवा और सुपात्रों ही को दान दिया करें जैसे अग्नि में घी आदि पदार्थों का हवन करके संसार का उपकार करते हैं वैसे ही विद्वानों में उत्तम पदार्थों का दान करके जगत् में विद्या और अच्छी शिक्षा को बढ़ा के विश्व को सुखी करें ॥ ३० ॥

उदुत्वेत्यस्य तापसऋषिः । अग्निर्देवता । विराडनुष्टुप् छन्दः ।
गान्धारः स्वरः ॥

विद्वान् स्वतुल्यानन्यान् विदुषः कुर्य्यात् ॥
विद्वान् पुरुष को चाहिये कि अपने तुल्य अन्य मनुष्यों को
विद्वान् करें यह वि० ॥

उदु त्वा विश्वे देवा अग्ने भरन्तु चित्तिभिः ।
स नो भव शिवस्त्वꣳसुप्रतीको विभावसुः ॥३१॥

उत् । ऊँइत्यूँ । त्वा । विश्वे । देवाः । अग्ने । भरन्तु । चित्तिभिरिति चित्तिऽभिः । सः । नः । भव । शिवः । त्वम् । सुप्रतीकइति सुऽप्रतीकः । विभावसुरिति विभाऽवसुः ॥ ३१ ॥

पदार्थः—(उत्) (उ) (त्वा) (विश्वे) सर्वे (देवाः) विद्वांसः (अग्ने) विद्वन् (भरन्तु) पुष्णन्तु (चित्तिभिः) सम्यग् विज्ञानैरुत्तर (सः) (नः) अस्मभ्यम् (भव) (शिवः) मङ्गलोपदेष्टा (त्वम्) (सुप्रतीकः) शोभनानि प्रतीकानि लक्षणानि यस्य सः (विभावसुः) येन विविधा भा विद्यादीप्तिर्वास्यते ॥ ३१ ॥

अन्वयः—हे अग्ने विद्वन् ये त्वा विश्वे देवाश्चित्तिभिरुद्भरन्तु स विभावसुः सुप्रतीकस्त्वं नः शिवो भव ॥ ३१ ॥

भावार्थः—यो यथा विद्वद्भ्यो विद्यां संचिनोति तथैवान्यान् विद्या-संचितान् संपादयेत् ॥ ३१ ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) विद्वन् जिस (त्वा) आपको (विश्वे) सब (देवाः) विद्वान् लोग (चित्तिभिः) अच्छे विज्ञानों के साथ अग्नि के समान (वर्द्धयन्तु) पुष्ट करें (सः) सो (विभावसुः) जिस से विविध प्रकार की शोभा वा विद्या प्रकाशित हों (सुप्रतीकः) सुन्दर लक्षणों से युक्त (त्वम्) आप (नः) हम लोगों के लिये (शिवः) मङ्गलमय वचनों के उपदेशक (भव) हूजिये ॥ ३१ ॥

भावार्थः—जो मनुष्य जैसे विद्वानों से विद्या का संचय करता है वह वैसे ही दूसरों के लिये विद्या का प्रचार करे ॥ ३१ ॥

प्रेदग्न इत्यस्य तापस ऋषिः । अग्निर्देवता । विराडनुष्टुप्छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुना राजा किं कृत्वा किं प्राप्नुयादित्याह ॥
फिर राजा क्या करके किस को प्राप्त होवे यह वि० ॥

प्रेद॑ग्ने॒ ज्योति॑ष्मान् याहि शि॒वेभि॑र॒र्चिभि॒ष्ट्वम् । बृ॒हद्भि॑र्भा॒नुभि॒र्भास॒न् । मा हि॑ꣳसीस्त॒न्वा॒ प्र॒जाः ॥ ३२ ॥

प्र । इत् । अ॒ग्ने॒ । ज्योति॑ष्मान् । या॒हि॒ । शि॒वेभिः॑ । अ॒र्चि॒भि॒रित्य॒र्चिऽभिः॑ । त्वम् । बृ॒हद्भि॒रिति॑ बृ॒हत्ऽभिः॑ । भा॒नुभि॒रिति॑ भा॒नुऽभिः॑ । भास॑न् । मा । हि॒ꣳसीः॒ । त॒न्वा॒ । प्र॒जा इति॑ प्र॒ऽजाः ॥ ३२ ॥

पदार्थः—(प्र) (इत्) (अग्ने) विद्याप्रकाशक (ज्योतिष्मान्) बहूनि ज्योतींषि विज्ञानानि विद्यन्ते यस्य सः (याहि) प्राप्नुहि (शिवेभिः)

मङ्गलकारकैः (अर्चिभिः) पूजितैः (त्वम्) (बृहद्भिः) महद्भिः (भानुभिः) विद्याप्रकाशकैर्गुणैः (भासन्) प्रकाशकः सन् (मा) (हिंसीः) हिंस्याः (तन्वा) शरीरेण (प्रजाः) पालनीयाः ॥ ३२ ॥

अन्वयः—हे अग्ने विद्वंस्त्वं यथा ज्योतिष्मान् सूर्यः शिवेभिरर्चिभिर्बृहद्भिर्भानुभिरिदेव भासन्वर्त्तते तथा प्रयाहि तन्वा प्रजा माहिंसीः ॥ ३२ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—हे सराजपुरुष राजंस्त्वं शरीरेणानपराधिनः कस्यापि प्राणिनो हिंसामकृत्वा विद्यान्यायप्रकाशेन प्रजाः पालयन् जीवन्नभ्युदयं भुक्त्वा मुक्तिसुखं प्राप्नुयाः ॥ ३२ ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) विद्या प्रकाश करने हारे विद्वन् (त्वम्) तू जैसे (ज्योतिष्मान्) सूर्य्यज्योतियों से युक्त (शिवेभिः) मंगलकारी (अर्चिभिः) सत्कार के साधन (बृहद्भिः) बड़े २ (भानुभिः) प्रकाशगुणों से (इत्) ही (भासन्) प्रकाशमान है वैसे (प्रयाहि) सुखों को प्राप्त हूजिये और (तन्वा) शरीर से (प्रजाः) पालने योग्य प्राणियों को (मा) मत (हिंसीः) मारिये ॥ ३२ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में वाचकलु०—हे सेनापति आदि राजपुरुषों के सहित राजन् आप अपने शरीर से किसी अनपराधी प्राणी को न मार के विद्या और न्याय के प्रकाश से प्रजाओं का पालन करके जीवते हुए संसार के सुख को और शरीर छूटने के पश्चात् मुक्ति के सुख को प्राप्त हूजिये ॥ ३२ ॥

अक्रन्ददित्यस्य वत्सप्रीऋषिः । अग्निर्देवता । निचृदार्षी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

राज्यप्रबन्धः कथं कार्य्य इत्यु० ॥

राज्य का प्रबन्ध कैसे करें यह वि० ॥

अक्र॑न्दद॒ग्निस्त॒नय॑न्निव॒ द्यौः क्षामा॒ रेरि॑ह॒द्वी॒रुधः॑ सम॒ञ्जन् । स॒द्यो ज॑ज्ञा॒नो वि हीमि॒द्धो अख्य॒दा रोद॑सी भा॒नुना॑ भात्य॒न्तः ॥ ३३ ॥

अक्रन्दत् । अग्निः । स्तनयन्निवेति स्तनयन्ऽइव । द्यौः । क्षामा । रेरिहत् । वीरुधः । समञ्जन्निति सम्ऽअञ्जन् । सद्यः । जज्ञानः । वि । हि । ईम् । इद्धः । अख्यत् । आ । रोदसीइति रोदसी । भानुना । भाति । अन्तरित्यन्तः ॥ ३२ ॥

पदार्थः—(अक्रन्दत्) विजानाति (अग्निः) शत्रुदाहको विद्वान् (स्तनयन्निव) विद्युद्वद्गर्जयन् (द्यौः) विद्यान्यायप्रकाशकः (क्षामा) भूमिम् (रेरिहत्) भृशं युध्यस्व (वीरुधः) वनस्थान् वृक्षान् (समञ्जन्) सम्यक् रक्षन् (सद्यः) तूर्णम् (जज्ञानः) राजनीत्या प्रादुर्भूतः (वि) (हि) खलु (ईम्) सर्वतः (इद्धः) शुभलक्षणैः प्रकाशितः (अख्यत्) धर्म्यानुपदेशान् प्रकथयेः (आ) (रोदसी) अग्निभूमी (भानुना) पुरुषार्थप्रकाशेन (भाति) (अन्तः) राजधर्ममध्ये स्थितः ॥ ११ ॥

अन्वयः—हे प्रजाजना युष्माभिर्यथा द्यौरग्निः स्तनयन्निवाक्रन्दद्वीरुधः समञ्जन् क्षामा रेरिहत् जज्ञान इद्धः सद्यो व्यख्यत् भानुना हि रोदसी अन्तराभाति तथा ॥ राजा भवितुं योग्योऽस्तीति वेद्यम् ॥ १२ ॥

भावार्थः—अत्रोपमावाचकलु०—नहि वनवृक्षरक्षणेन वृष्टिबाहुल्यमारोग्यं तद्विद्व्यवहारवद्धर्मसमाचारग्रहणेन शत्रुविनाशनेन राज्ये विद्यान्यायप्रकाशेन च विना सुराज्यं च जायते ॥ ११ ॥

पदार्थः—हे प्रजा के लोगो तुम लोगों को चाहिये कि जैसे (द्यौः) सूर्य प्रकाशकर्त्ता है वैसे विद्या और न्याय का प्रकाश करने और (अग्निः) पावक के तुल्य शत्रुओं का नष्ट करने हारा विद्वान् (स्तनयन्निव) बिजुली के समान (अक्रन्दत्) गर्जता और (वीरुधः) वन के वृक्षों की (समञ्जन्) अच्छे प्रकार रक्षा करता हुआ (क्षामा) पृथिवी पर (रेरिहत्) युद्ध करे (जज्ञानः) राजनीति से प्रसिद्ध हुआ (इद्धः) शुभ लक्षणों से प्रकाशित (सद्यः) शीघ्र (व्यख्यत्) धर्मयुक्त उपदेश करे तथा (भानुना) पुरुषार्थ के प्रकाश से (हि) ही (रोदसी) अग्नि और भूमि को (अन्तः) राजधर्म में स्थिर करता हुआ

(भासति) अच्छे प्रकार प्रकाश करता है वह पुरुष राजा होने के योग्य है ऐसा निश्चित जानो ॥ ३३ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में उपमा और वाचकलु०—वन के वृक्षों की रक्षा के विना बहुत वर्षा और रोगों की न्यूनता नहीं होती और बिजुली के तुल्य दूर के समाचारों से शत्रुओं को मारने और विद्या तथा न्याय के प्रकाश के विना अच्छा स्थिर राज्य ही नहीं हो सकता ॥ ३३ ॥

प्रप्रायमित्यस्य वसिष्ठ ऋषिः । अग्निर्देवता । आर्षी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनः कीदृशं जनं राजव्यवहारे नियुञ्जीरन्नित्याह ॥
फिर कैसे पुरुष को राजव्यवहार में नियुक्त करें यह वि० ॥

प्रप्रायमग्निर्भरतस्य शृण्वे वि यत्सूर्यो न रोचते बृहद्भाः । अभि यः पूरुं पृतनासु तस्थौ दीदाय दैव्यो अतिथिः शिवो नः ॥ ३४ ॥

प्रप्रेति प्रऽप्र । अयम् । अग्निः । भरतस्य । शृण्वे । वि । यत् । सूर्यः । न । रोचते । बृहत् । भाः । अभि । यः । पूरुम् । पृतनासु । तस्थौ । दीदाय । दैव्यः । अतिथिः । शिवः । नः ॥ ३४ ॥

पदार्थः—(प्रप्र) अतिप्रकर्षेण (अयम्) (अग्निः) सेनेशः (भरतस्य) पालितव्यस्य राज्यस्य (शृण्वे) (वि) (यत्) यः (सूर्यः) सविता (न) इव (रोचते) प्रकाशते (बृहद्भाः) महाप्रकाशः (अभि) (यः) (पूरुम्) पूर्णबलं सेनाध्यक्षम् । पूरव इति मनुष्यना० । निघं० २ । ३ । (पृतनासु) सेनासु (तस्थौ) तिष्ठेत् (दीदाय) धर्मं प्रकाशयेत् (दैव्यः)

देवेषु विद्वत्सु प्रीतः (अतिथिः) नित्यं भ्रमणकर्त्ता विद्वान् (शिवः) मङ्गलप्रदः (नः) अस्मान् ॥ ३४ ॥

अन्वयः—हे राजप्रजाजना यूयं यथोऽयमग्निः सूर्यो न पृहद्भाः प्रम रोचते । यो नः पृतनासु पूरुमभि तस्थौ देव्योऽतिथिः शिवो विद्या दीदाय । यस्ते विजयो विद्या च श्रूयेत स लब्धलक्षः कुलीनः सेनायां योधयिताऽधिकर्त्तव्यः ॥ ३४ ॥

भावार्थः—अत्रोपमालं०—यस्य पुण्यकीर्त्तेः पुरुषस्य शत्रुषु विजयो विद्याप्रचारश्च श्रूयते सकुलीनः सेनाया योधयिताऽधिकर्त्तव्यः ॥ ३४ ॥

पदार्थः—हे राजा और प्रजा के पुरुषो तुम लोगों को चाहिये कि (यत्) जो (अयम्) यह (अग्निः) सेनापति (सूर्यः) सूर्य के (न) समान (बृहद्भाः) अत्यन्त प्रकाश से युक्त (प्रम) अतिप्रकर्ष के साथ (रोचते) प्रकाशित होता है (यः) जो (नः) हमारी (पृतनासु) सेनाओं में (पूरुम्) पूर्ण बलयुक्त सेनाध्यक्ष के निकट (अभितस्थौ) सब प्रकार स्थित होवे (देव्य.) विद्वानों का प्रिय (अतिथिः) नित्य भ्रमण करने हारा अतिथि (शिवः) मङ्गलदाता विद्वान् पुरुष (दीदाय) विद्या और धर्म को प्रकाशित करे जिस का मैं (भरतस्य) सेवने योग्य राज्य का रक्षक (शृण्वे) सुनता हूं उस को सेना का अधिपति करो ॥ ३४ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में उपमालं०—मनुष्यों को चाहिये कि जिस पुण्यकीर्ति पुरुष का शत्रुओं में विजय और विद्याप्रचार सुनाजावे उस कुलीन पुरुष का सेना को युद्ध कराने हारा अधिकारी करें ॥ ३४ ॥

आप इत्यस्य वशिष्ठऋषिः । आपो देवताः । आर्षीत्रिष्टुप्छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

अथ सर्वैर्मनुष्यैः स्वयंवरो विवाहः कार्य इत्याह ॥

अब सब मनुष्यों को स्वयम्वर विवाह करना चाहिये यह वि० ॥

आपो॑ देवीः प्रति॑गृभ्णीत॒ भस्मै॒तत्स्यो॒ने कृ॑णुध्वꣳसुर॒भा उ॑ लो॒के । तस्मै॑ नमन्तां॒ जन॑यः सु॒पत्नी॑र्मा॒तेव॑ पु॒त्रं बि॑भृता॒प्स्वे॑नत् ॥ ३५ ॥

आपः । देवीः । प्रति । गृभ्णीत । भस्म । एतत् । स्योने । कृणुध्वम् । सुरभौ । ऊँ इत्यूँ । लोके । तस्मै । नमन्ताम् । जनयः । सुपत्नीरिति सुऽपत्नीः । मातेवेति माताऽइव । पुत्रम् । बिभृत । अप्स्वित्यप्ऽसु । एनत् ॥ ३५ ॥

पदार्थः—(आपः) पवित्रजलानीव सकलशुभगुणव्यापिकाः कन्याः (देवीः) दिव्यरूपसुशीलाः (प्रति) (गृभ्णीत) स्वीकुर्वीत (भस्म) प्रदीपकं तेजः (एतत्) (स्योने) सुखकारिके (कृणुध्वम्) (सुरभौ) ऐश्वर्यप्रकाशके । अत्र सुर ऐश्वर्यदीप्त्योरित्यस्माद्धातोरौणादिकोऽभिच् प्रत्ययः (उ) (लोके) द्रष्टव्ये (तस्मै) (नमन्ताम्) नम्राः सन्तु (जनयः) विद्यासुशिक्षया प्रादुर्भूताः (सुपत्नीः) शोभनाश्च ताः पत्न्यश्च ताः (मातेव) (पुत्रम्) (बिभृत) धरत (अप्सु) प्राणेषु (एनत्) अपत्यम् ॥ ३५ ॥

अन्वयः—हे विद्वांसो मनुष्या या आपो देवीः सुरभौ लोके पतीन् सुखिनः कुर्वन्ति ताः प्रतिगृभ्णीतैताः सुखिनीः कृणुध्वम् । यदेतद्भस्मादि तस्मै याः सुपत्नीर्जनयो नमन्ति ताः प्रतिपद्यन्तोऽपि नमन्ताम् उभये मिलित्वा पुत्रं मातेवाप्स्वेनद्बिभृत ॥ ३५ ॥

भावार्थः—अत्रोपमालं॰—मनुष्यैः परस्परं प्रसन्नतया स्वयम्बरं विवाहं विधाय धर्म्येण सन्तानानुत्पाद्यैतान्विदुषः कृत्वा गृहाश्रमैश्वर्यमुन्नेयम् ॥ ३५ ॥

पदार्थः—हे विद्वान् मनुष्यो जो (आपः) पवित्र जलों के तुल्य संपूर्ण शुभगुण और विद्याओं में व्याप्त बुद्धि (देवीः) सुन्दर रूप और स्वभाव वाली कन्या

(सुरभौ) ऐश्वर्य्य के प्रकाश से युक्त (लोके) देखने योग्य लोकों में अपने पतियों को प्रसन्न करें उन को (प्रतिगृभ्णीत) स्वीकार करो तथा उन को सुखयुक्त (कृणुध्वम्) करो जो (एतत्) यह (भाग) प्रकाशक तेज है (तस्मै) उस के लिये जो (सुपत्नीः) सुन्दर (जनयः) विद्या और अच्छी शिक्षा से प्रसिद्ध हुई स्त्री समर्थी हैं उन के प्रति आप लोग भी (नमस्ताम्) नम्र हूजिये (व) और तुम स्त्री पुरुष दोनों मित्र के (पुत्रम्) पुत्र को (मातेव) माता के तुल्य (अप्सु) प्राणों में (एनत्) इस पुत्र को (बिभृत) धारण करो ॥ ३५ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में उपमालं०—मनुष्यों को चाहिये कि परस्पर प्रसन्नता के साथ स्वयंवर विवाह धर्म के अनुसार पुत्रों को उत्पन्न और उन को विद्वान् करके गृहाश्रम के ऐश्वर्य्य की उन्नति करें ॥ ३५ ॥

अप्स्वग्न इत्यस्य विरूप ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृद्गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

अथ जीवाः कथं २ पुनर्जन्म प्राप्नुवन्तीत्याह ॥

अब जीव किस २ प्रकार पुनर्जन्म को प्राप्त होते हैं यह वि० ॥

अप्स्वग्ने सधिष्टव सौषधीरनुरुध्यसे । गर्भे सन् जायसे पुनः ॥ ३६ ॥

अप्स्वित्यप्ऽसु । अग्ने । सधिः । तव । सः । ओषधीः । अनु । रुध्यसे । गर्भे । सन् । जायसे । पुनरिति पुनः ॥ ३६ ॥

पदार्थः—(अप्सु) जलेषु (अग्ने) अग्निवद्वर्त्तमान विद्वन् (सधिः) योद्धा । अत्र वर्णव्यत्ययेन हस्य धः । इञ् प्रत्ययः (तव) (सः) सोऽचि लोप चेत्पादपूरणमिति सन्धिः (ओषधीः) सोमादीन् (अनु) (रुध्यसे) (गर्भे) कुक्षौ (सन्) (जायसे) (पुनः) ॥ ३६ ॥

अन्वयः—हे अग्ने अग्निरिव जीव सधिर्यस्त्वमप्सु गर्भे ओषधीरनुरुध्यसे स त्वं गर्भे स्थितः सन् पुनर्जायसे । इत्यनेकक्रमानुक्रमौ तव स्त इति जानीहि ॥ ३६ ॥

भावार्थः—ये जीवाः शरीरं त्यजन्ति ते वाय्वोषध्यादिषु च भ्रान्त्वा गर्भं प्राप्य यथासमयं सशरीरा भूत्वा पुनर्जायन्ते ॥ ३६ ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) अग्नि के तुल्य विद्वन् जीव जो तू (सधिः) सहनशील (अप्सु) जलों में (ओषधीः) सोमलता आदि ओषधियों को (अनुरुध्यसे) प्राप्त होता है (सः) गर्भ में (सन्) स्थित होकर (पुनः) फिर २ जन्म मरण (तव) तेरे हैं ऐसा जान ॥ ३६ ॥

भावार्थः—जो जीव शरीर को छोड़ते हैं वे वायु और ओषधि आदि पदार्थों में भ्रमण करते २ गर्भाशय को प्राप्त होके नियत समय पर शरीर धारण कर के प्रकट होते हैं ॥ ३६ ॥

गर्भो असीत्यस्य विरूप ऋषिः । अग्निर्देवता । भुरिगार्ष्युष्णिक् छन्दः । ऋषभः स्वरः ॥

पुनर्जीवस्य क क गतिर्भवतीत्याह ॥

फिर जीव कहां २ आता है यह वि० ॥

गर्भो अस्योषधीनां गर्भो वनस्पतीनाम् । गर्भो विश्वस्य भूतस्याग्ने गर्भो अपामसि ॥ ३७॥

गर्भः । असि । ओषधीनाम् । गर्भः । वनस्पतीनाम् । गर्भः । विश्वस्य । भूतस्य । अग्ने । गर्भः । अपाम् । असि ॥ ३७ ॥

पदार्थः—(गर्भः) योऽनर्थान् गिरति विनाशयति सः । गर्भो गृभेर्गृणात्यर्थे गिरत्यनर्थानिति यदा हि स्त्री गुणान् गृह्णाति गुणाश्चास्या गृह्यन्तेऽथ

गर्भो भवति । निरु० १० । २२ । (असि) (ओषधीनाम्) सोमयवादीनाम् (गर्भः) (वनस्पतीनाम्) अश्वत्थादीनाम् (गर्भः) (विश्वस्य) सर्वस्य (भूतस्य) उत्पन्नस्य (अग्ने) देहान्तप्रापक जीव (गर्भः) (अपाम्) प्राणानां जलानां वा (असि) ॥ ३७ ॥

अन्वयः—हे अग्ने अग्नितुल्यजीव यतस्त्वमग्निरिवौषधीनां गर्भो वनस्पतीनां गर्भः । विश्वस्य भूतस्य गर्भोऽपां गर्भश्चासि तस्मात्त्वमजोऽसि ॥ ३७॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—हे मनुष्या ये विद्युद्वत्सर्वान्तर्गता जीवा जन्मवन्तः सन्ति तान् जानन्त्विति ॥ ३७ ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) दूसरे शरीर को प्राप्त होने वाले जीव जिस से तू अग्नि के समान जो (ओषधीनाम्) सोमलता आदि वा यवादि ओषधियों के (गर्भः) दोषों के शोधक (गर्भ) गर्भ (वनस्पतीनाम्) पीपल आदि वनस्पतियों के बीच (गर्भः) शोधक (विश्वस्य) सब (भूतस्य) उत्पन्न हुए संसार के मध्य (गर्भः) ग्रहण करने हारा और जो (अपाम्) प्राण वा जलों का (गर्भः) गर्भ रूप भीतर रहने हारा (असि) है इसलिये तू अज अर्थात् स्वयं जन्मरहित (असि) है ॥ ३७ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु०—हे मनुष्यो तुम लोगों को चाहिये कि जो बिजुली के समान सब के अन्तर्गत जीव जन्म लेने वाले हैं उन को जानो ॥ ३७ ॥

प्रसद्येत्यस्य विरूपऋषिः । अग्निर्देवता । निचृदार्च्यनुष्टुप्छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

मरणान्ते शरीरस्य का गतिः कार्य्येत्याह ॥

मरण समय में शरीर का क्या होना चाहिये यह वि० ॥

प्रसद्य भस्मना योनिमपश्च पृथिवीमग्ने।
सꣳसृज्य मातृभिष्ट्वं ज्योतिष्मान्पुनरासदः॥३८॥

प्रसद्येति प्रऽसद्य । भस्मना । योनिम् । अपः । च । पृथिवीम् । अग्ने । सꣳसृज्येति सम्ऽसृज्य । मातृभिरिति मातृऽभिः । त्वम् । ज्योतिष्मान् । पुनः । आ । असदः ॥ ३८ ॥

पदार्थः—(प्रसद्य) प्रगत्य (भस्मना) दग्धेन (योनिम्) देहधारणकारणम् (अपः) (च) अग्न्यादिकम् (पृथिवीम्) (अग्ने) प्रकाशमान (संसृज्य) संसर्गीभूत्वा (मातृभिः) (त्वम्) (ज्योतिष्मान्) प्रशस्तप्रकाशयुक्तः (पुनः) पश्चात् (आ) (असदः) प्राप्नोषि ॥ ३८ ॥

अन्वयः—हे अग्ने सूर्य्य इव ज्योतिष्माँस्त्वं भस्मना पृथिवीं चापश्च योनिं प्रसद्य मातृभिः सह संसृज्य पुनरासदः ॥ ३८ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०–हे जीवा भवन्तो यदा शरीरं त्यजत तदैतद्भस्मीभूतं सत्पृथिव्यादिना सह संयुनक्तु यूयमात्मानश्चाम्बाशरीरेषु गर्भाशयं प्रविश्य पुनः सशरीराः सन्तो विद्यमाना भवन्तीति ॥ ३८ ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) प्रकाशमान पुरुष सूर्य्य के समान (ज्योतिष्मान्) प्रशंसित प्रकाश से युक्त जीव तू (भस्मना) शरीर दाह के पीछे (पृथिवीम्) पृथिवी (च) अग्नि आदि और (अपः) जलों के बीच (योनिम्) देह धारण के कारण को (प्रसद्य) प्राप्त हो और (मातृभिः) माताओं के उदर में वास करके (पुनः) फिर (आसदः) शरीर को प्राप्त होता है ॥ ३८ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में वाचकलु०–हे जीवो तुम लोग जब शरीर को छोड़ो तब यह शरीर राख रूप करके पृथिवी आदि पांच भूतों के साथ युक्त करो। तुम और तुम्हारे आत्मा माता के शरीर में गर्भाशय में पहुंच फिर शरीर धारण किये हुए विद्यमान होते हो ॥ ३८ ॥

पुनरासद्येत्यस्य विरूप ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृदनुष्टुप्छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

अथ मातापित्रपत्यानि परस्परं कथं वर्त्तेरन्नित्याह ॥

अब माता पिता और पुत्र आपस में कैसे वर्त्तें यह वि० ॥

पुनरासद्य सदनमपश्च पृथिवीमग्ने । शेषे मातुर्यथोपस्थेऽन्तरस्याᳬशिवतमः ॥ ३६ ॥

पुनः । आसद्येत्याऽसद्य । सदनम् । अपः । च । पृथिवीम् । अग्ने । शेषे । मातुः । यथा । उपस्थ इत्युपऽस्थे । अस्याम् । शिवतम इति शिवऽतमः ॥ ३६ ॥

पदार्थः—(पुनः) (आसद्य) आगत्य (सदनम्) गर्भस्थानम् (अपः) (च) भोजनादिकम् (पृथिवीम्) भूमितलम् (अग्ने) इच्छादिगुणप्रकाशित (शेषे) स्वपिषि (मातुः) जनन्याः (यथा) (उपस्थे) उत्सङ्गे (अन्तः) आभ्यन्तरे (अस्याम्) मातरि (शिवतमः) अतिशयेन मङ्गलकारी ॥ ३९ ॥

अन्वयः—हे अग्ने यतस्त्वमपः पृथिवीं च सदनं पुनरासद्य स्यामन्तः शिवतमः सन् यथा बालो मातुरुपस्थे शेषे तस्मादस्यां शिवतमो भव ॥ ३९ ॥

भावार्थः—पुत्रैर्यथा मातरः स्वापत्यानि सुखयन्ति तथैवानुकूलया सेवया स्वमातरः सततमानन्दयितव्याः । न कदाचिन्मातापितृभ्यां विरोधः समाचरणीयः । न च मातापितृभ्यामेतेऽधर्मकुशिक्षायुक्ताः कदाचित्कार्य्याः ॥ ३६ ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) इच्छा आदि गुणों से प्रकाशित जन जिस कारण तू (पुनः) फिर २ (आसद्य) प्राप्त हो के (अस्याम्) इस माता के (अन्तः)

गर्भाशय में (शिवतमः) मंगलकारी हो के (यथा) जैसे बालक (मातुः) माता की (उपस्थे) गोद में (शेवे) सोता है वैसे ही माता की सेवा में मङ्गलकारी हो ॥ ३९ ॥

भावार्थः—पुत्रों को चाहिये कि जैसे माता अपने पुत्रों को सुख देती है वैसे ही अनुकूल सेवा से अपनी माताओं को निरन्तर आनंदित करें । और माता पिता के साथ विरोध कभी न करें । और माता पिता को भी चाहिये कि अपने पुत्रों को अधर्म और कुशिक्षा से युक्त कभी न करें ॥ ३९ ॥

पुनरूर्जेत्यस्य वत्सप्रीर्ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृदार्षीगायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनर्जनकजनन्यौ परस्परं वर्त्तमानं योग्यं कार्य्यमित्याह ॥

फिर पुत्रों को माता पिता के विषय में परस्पर योग्यवर्त्तमान करना चाहिये यह वि० ॥

पुन॑रू॒र्जा नि व॑र्त्तस्व॒ पुन॑रग्न इ॒षायु॑षा । पुन॑र्नः पाह्य॒ꣳहसः॑ ॥ ४० ॥

पुन॒रिति॒ पुनः॑ । ऊ॒र्जा । नि । व॒र्त्त॒स्व॒ । पुनः॑ । अ॒ग्ने॒ । इ॒षा । आयु॑षा । पुनः॑ । नः॒ । पा॒हि॒ । अꣳह॑सः ॥ ४० ॥

पदार्थः—(पुनः) (ऊर्जा) पराक्रमेण (नि) (वर्त्तस्व) (पुनः) (अग्ने) (इषा) अन्नेन (आयुषा) जीवनेन (पुनः) (नः) अस्मभ्यम् (पाहि) (अंहसः) पापाचरणात् ॥ ४० ॥

अन्वयः—हे अग्ने मातः पितश्च त्वमिषायुषा सह नो वर्द्धय पुनरंहसः पाहि । हे पुत्र त्वमूर्जा सह निवर्त्तस्व । पुनर्नोऽस्मानंहसः पाहि ॥ ४० ॥

भावार्थः—यथा विद्वांसो मातापितरः सुसन्तानान् विद्यया सुशिक्षया दुष्टाचारात् पृथग्रक्षेयुस्तथाऽपत्यान्यप्येतान् पापाचरणात्सततं पृथग्रक्षेयुः। नैवं विना सर्वे धर्माचारिणो भवितुं शक्नुवन्ति ॥ ४० ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) तेजस्विन् माता पिता आप (इषायुषा) अन्न और जीवन के साथ (नः) हम लोगों को बढ़ाइये (पुनः) बारंबार (अंहसः) दुष्ट आचरणों से (पाहि) रक्षा कीजिये। हे पुत्र तू (ऊर्जा) पराक्रम के साथ पापों से (निवर्त्तस्व) अलग हूजिये और (पुनः) फिर हम लोगों को भी पापों से पृथक् रखिये ॥ ४० ॥

भावार्थः—जैसे विद्वान् माता पिता अपने सन्तानों को विद्या और अच्छी शिक्षा से दुष्टाचारों से पृथक् रक्खें वैसे ही सन्तानों को भी चाहिये कि इन माता पिताओं को बुरे व्यवहारों से निरन्तर बचावें। क्योंकि इस प्रकार किये विना सब मनुष्य धर्मात्मा नहीं हो सकते ॥ ४० ॥

सह रय्येत्यस्य वत्सप्रीर्ऋषिः। अग्निर्देवता। निचृद्गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः ॥

विद्वद्भिः कथं वर्त्तितव्यमित्याह ॥

विद्वानों को कैसे वर्त्तना चाहिये यह० ॥

सह र॒य्या नि व॑र्त्त॒स्वाग्ने॒ पिन्व॑स्व॒ धार॑या विश्वप्स्न्या॑ वि॒श्वत॒स्परि॑ ॥ ४१ ॥

स॒ह। र॒य्या। नि। व॒र्त्त॒स्व॒। अग्ने॑। पिन्व॑स्व। धार॑या। वि॒श्वप्स्न्येति॑ वि॒श्वऽप्स्न्या॑। वि॒श्वतः॑। परि॑ ॥ ४१ ॥

पदार्थः—(सह) (रय्या) श्रीप्राप्त्या (नि) (वर्त्तस्व) (अग्ने) विद्वन् (पिन्वस्व) सेवस्व (धारया) सुसंस्कृतया वाचा (विश्वप्स्न्या)

विश्वान् सर्वान् भोगान् यया प्साति तया (विश्वतः) सर्वस्य जगतः (परि) मध्ये ॥ ४१ ॥

अन्वयः—हे अग्ने त्वं विश्वप्स्न्या रथ्या धारया सह विश्वतस्परि नि-षर्त्स्वास्मान् पिन्वस्व च ॥ ४१ ॥

भावार्थः—विद्वद्भिर्मनुष्यैरस्मिन् जगति सुबुद्ध्या पुरुषार्थेन श्रीमन्तो भूत्वाऽन्येऽपि धनवन्तः संपादनीयाः ॥ ४१ ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) विद्वान् पुरुष आप (विश्वप्स्न्या) सब पदार्थों के भोगने का साधन (धारया) अच्छी संस्कृत वाणी के (सह) साथ (वि-श्वतस्परि) सब संसार के बीच (नि) निरन्तर (षर्त्स्व) वर्त्तमान हूजिये और हम लोगों का (पिन्वस्व) सेवन कीजिये ॥ ४१ ॥

भावार्थः—विद्वान् मनुष्यों को चाहिये कि इस जगत् में अच्छी बुद्धि और पुरुषार्थ के साथ श्रीमान् होकर अन्य मनुष्यों को भी धनवान् करें ॥ ४१ ॥

बोधा म इत्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । अग्निर्देवता ।
विराडार्षी त्रिष्टुप्छन्दः । धैवतः स्वरः ॥
मनुष्याः परस्परमध्ययनाध्यापनं कथं कुर्युरित्याह ॥
मनुष्य लोग आपस में कैसे पढ़ें और पढ़ावें इस वि० ॥

बोधा मे अस्य वचसो यविष्ठ मंहिष्ठस्य प्रभृतस्य स्वधावः । पीयति त्वो अनु त्वो गृणाति वन्दारुष्टे तन्वं वन्दे अग्ने ॥ ४२ ॥

बोध । मे । अस्य । वचसः । यविष्ठ । मंहिष्ठस्य । प्रभृतस्येति प्रऽभृतस्य । स्वधावइति स्वधाऽवः । पीयति ।

स्वः । अनु । स्वः । गृणाति । वन्दारुः । ते । तन्वम् । वन्दे । अग्ने ॥ ४२ ॥

पदार्थः—(बोध) अवगच्छ । अत्र द्व्यचोऽतस्तिङ इति दीर्घः (मे) मम (अस्य) वर्त्तमानस्य (वचसः) (यविष्ठ) अतिशयेन युवन् (मंहिष्ठस्य) अतिशयेन भाषितुं योग्यस्य महतः (प्रभृतस्य) प्रकर्षेण धारकस्य पोषकस्य वा (स्वधावः) प्रशस्ता स्वधा बह्वन्नानि विद्यन्ते यस्य सः (पीयति) निन्देत् । अत्रानेकार्था अपि धातवो भवन्तीति निन्दार्थः (त्वः) कश्चित् निन्दकः (अनु) पश्चात् (त्वः) कश्चित् (गृणाति) स्तुयात् (वन्दारुः) अभिवादनशीलः (ते) तव (तन्वम्) शरीरम् (वन्दे) स्तुवे (अग्ने) श्रोतः ॥ ४२ ॥

अन्वयः—हे यविष्ठ स्वधावोऽग्ने त्वं मे मम प्रभृतस्य मंहिष्ठस्यास्य वचसोऽभिप्रायं बोध । यदि त्वो यं त्वां पीयति निन्देत्त्वोऽनुगृणाति स्तुयात् तस्य ते तव तन्वं वन्दारुरहं वन्दे ॥ ४२ ॥

भावार्थः—यदा कश्चित्कंचिदध्यापयेदुपदिशेद्वा तदाऽध्येता श्रोता च ध्यानं दत्वाऽधीयीत शृणुयाच्च यदा सत्यासत्ययोर्निर्णयः स्यात्तदा सत्यं गृहीयादसत्यं त्यजेदेवं कृते सति कश्चिन्निन्द्यात् कश्चित्स्तुयात्तथापि कदाचित्सत्यं न त्यजेदनृतं च न भजेदिदमेव मनुष्यस्यासाधारणो गुणः ॥ ४२ ॥

पदार्थः—हे (यविष्ठ) अत्यन्त ज्वान (स्वधावः) प्रशंसित बहुत अन्नों वाले (अग्ने) उपदेश के योग्य श्रोता जन तू (मे) मेरे (प्रभृतस्य) अच्छे प्रकार से धारण वा पोषण करने वाले (मंहिष्ठस्य) अत्यन्त कहने योग्य बड़े वेरी जो (त्वः) यह निन्दक पुरुष (पियति) निन्दा करे (त्वः) कोई (अनु) परोक्ष में (गृणाति) स्तुति करे उस (ते) आप के (तन्वम्) शरीर को (वन्दारुः) अभिवादनशील मैं स्तुति करता हूं ॥ ४२ ॥

भावार्थः—जब कोई किसी को पढ़ावे वा उपदेश करे तब पढ़ने वाला ध्यान देकर पढ़े वा सुने । जब सत्य वा मिथ्या का निश्चय हो जावे तब सत्य

ग्रहण और असत्य का त्याग कर देवे। ऐसे करने में कोई निन्दा और कोई स्तुति करे तो कभी न छोड़े और मिथ्या का ग्रहण कभी न करे। यही मनुष्यों के लिये विशेष गुण है ॥ ४२ ॥

स बोधीत्यस्य सोमाहुतिर्ऋषिः। अग्निर्देवता। आर्चीपंक्तिश्छन्दः। पंचमः स्वरः ॥

मनुष्याः किं कृत्वा किं प्राप्नुयुरित्याह ॥
मनुष्य लोग क्या करके किस को प्राप्त हों यह वि० ॥

सबोधि सूरिर्मघवा वसुपते वसुदावन् ।
युयोध्युस्मद्द्वेषांꣳसि विश्वकर्मणे स्वाहा ॥ ४३ ॥

सः। बोधि। सूरिः। मघवेति मघऽवा। वसुपत इति वसुऽपते। वसुदावन्निति वसुऽदावन्। युयोधि। अस्मत्। द्वेषांꣳसि। विश्वकर्मण इति विश्वऽकर्मणे। स्वाहा ॥ ४३ ॥

पदार्थः—(सः) श्रोता वक्ता च (बोधि) बुध्येत (सूरिः) मेधावी (मघवा) पूजितविद्यायुक्तः (वसुपते) वसूनां धनानां पालक (वसुदावन्) वसूनि धनानि सुपात्रेभ्यो ददाति तत्सम्बुद्धौ (युयोधि) वियोजय (अस्मत्) अस्माकं सकाशात् (द्वेषांसि) द्वेषयुक्तानि कर्माणि (विश्वकर्मणे) अखिलशुभकर्मानुष्ठानाय (स्वाहा) सत्यां वाणीम् ॥ ४३ ॥

अन्वयः—हे वसुपते वसुदावन् यो मघवा सूरिर्भवान्सत्यं बोधि स विश्वकर्मणे स्वाहोपदिशन्संस्त्वमस्मद् द्वेषांसि वियुयोधि सततं दूरीकुरु ॥४३॥

भावार्थः—ये मनुष्या ब्रह्मचर्य्येण जितेन्द्रिया भूत्वा द्वेषं विहाय सर्वेभ्योपदिश्य श्रुत्वा च प्रयतन्ते त एव धार्मिका विद्वांसोऽखिलं सत्यासत्यं ज्ञातुमुपदेष्टुं चार्हन्ति नेतरे हठाभिमानयुक्ताः क्षुद्राशयाः ॥ ४३ ॥

पदार्थः—हे (वसुपते) धनों के पालक (वसुदावन्) सुपुत्रों के लिये धन देने वाले जो (मघवा) प्रशंसित विद्या से युक्त (सूरिः) बुद्धिमान् आप सत्य को (बोधि) जानें (सः) सो आप (विश्वकर्मणे) संपूर्ण शुभ कर्मों के अनुष्ठान के लिये (स्वाहा) सत्य वाणी का उपदेश करते हुए आप (अस्मत्) हम से (द्वेषांसि) द्वेषयुक्त कर्मों को (वियुयोधि) पृथक् कीजिये ॥ ४३ ॥

भावार्थः—जो मनुष्य ब्रह्मचर्य के साथ जितेन्द्रिय हो द्वेष को छोड़ धर्मानुसार उपदेश कर और सुन के प्रयत्न करते हैं वे ही धर्मात्मा विद्वान् लोग संपूर्ण सत्य असत्य के जानने और उपदेश करने के योग्य होते हैं और अन्य हठ अभिमानयुक्त क्षुद्र पुरुष नहीं ॥ ४३ ॥

पुनस्त्वेत्यस्य सोमाहुतिर्ऋषिः । अग्निर्देवता । स्वराडार्षी त्रिष्टुप्छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

कीदृशा मनुष्याः सत्यसंकल्पा भवन्तीत्यु० ॥

कैसे मनुष्यों के संकल्प सिद्ध होते हैं इस वि० ॥

पुनस्त्वाऽऽदित्या रुद्रा वसवः समिन्धतां पुनर्ब्रह्माणो वसुनीथ यज्ञैः । घृतेन त्वं तन्वं वर्धयस्व सत्याः सन्तु यजमानस्य कामाः ॥ ४४ ॥

पुनरिति पुनः । त्वा । आदित्याः । रुद्राः । वसवः । सम् । इन्धताम् । पुनः । ब्रह्माणः । वसुनीथेति वसुऽनीथ । यज्ञैः । घृतेन । त्वम् । तन्वम् । वर्धयस्व । सत्याः । सन्तु । यजमानस्य । कामाः ॥ ४४ ॥

पदार्थः—(पुनः) अध्ययनाध्यापनाभ्यां पश्चात् (त्वा) त्वाम् (आदित्याः) पूर्णविद्याबलयुक्ताः (रुद्राः) मध्यस्थाः (वसवः) प्रथमे

च विद्वांसः (सम्) (इन्धताम्) प्रकाशयन्तु (पुनः) (ब्रह्माणः) चतुर्वेदाध्ययनेन ब्रह्मा इति संज्ञां प्राप्ताः (वसुनीथ) वेदादिशास्त्रबोधाख्यं सुवर्णादिधनं च यो नयति तत्सम्बुद्धौ (यज्ञैः) अध्ययनाध्यापनादिक्रियाख्यैः (घृतेन) सुसंस्कृतेनाज्यादिना जलेन वा (त्वम्) अध्यापकः श्रोता वा (तन्वम्) शरीरम् (वर्धयस्व) (सत्याः) सत्सु धर्मेषु साधवः (सन्तु) भवन्तु (यजमानस्य) यज्ञं संगन्तुं विदुषः पूजितुं च शीलं यस्य तस्य (कामाः) अभिलाषाः ॥ ४४ ॥

अन्वयः—हे वसुनीथ त्वं यज्ञैर्घृतेन च तन्वं शरीरं नित्यं वर्धयस्व पुनस्त्वामादित्या रुद्रा वसवो ब्रह्माणः समिन्धताम् । एवमनुष्ठानाद्यजमानस्य कामाः सत्याः सन्तु ॥ ४४ ॥

भावार्थः—ये प्रयत्नेन सर्वा विद्या अधीत्याध्याप्य च पुनः पुनः सत्संगं कुर्वन्ति । कुपथ्यविषयत्यागेन शरीरात्मनोरारोग्यं वर्धयित्वा नित्यं पुरुषार्थमनुतिष्ठन्ति तेषामेव संकल्पाः सत्याः भवन्ति नेतरेषाम् ॥ ४४ ॥

पदार्थः—हे (वसुनीथ) वेदादि शास्त्रों के बोधरूप और सुवर्णादि धन प्राप्त कराने वाले आप (यज्ञैः) पढ़ने पढ़ाने आदि क्रियारूप यज्ञों और (घृतेन) अच्छे संस्कार किये हुए घी आदि वा जल से (तन्वम्) शरीर को नित्य (वर्धयस्व) बढ़ाइये (पुनः) पढ़ने पढ़ाने के पीछे (त्वा) आप को (आदित्याः) पूर्ण विद्या के बल से युक्त (रुद्राः) मध्यस्थ विद्वान् और (वसवः) प्रथम विद्वान् लोग (ब्रह्माणः) चार वेदों को पढ़ के ब्रह्मा की पदवी को प्राप्त हुए विद्वान् (समिन्धताम्) सम्यक् प्रकाशित करें । इस प्रकार के अनुष्ठान से (यजमानस्य) यज्ञ सत्संग और विद्वानों का सत्कार करने वाले पुरुष की (कामाः) कामना (सत्याः) सत्य (सन्तु) होवें ॥ ४४ ॥

भावार्थः—जो मनुष्य प्रयत्न के साथ सब विद्याओं को पढ़ और पढ़ा के बारंबार सत्संग करते हैं कुपथ्य और विषय के त्याग से शरीर तथा आत्मा के रोग को हटा के नित्य पुरुषार्थ का अनुष्ठान करते हैं उन्हीं के संकल्प सत्य होते हैं दूसरों के नहीं ॥ ४४ ॥

अपेतेत्यस्य सोमाहुतिर्ऋषिः । पितरो देवताः । निचृदार्षी त्रिष्टुप्छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

अथ जन्यजनकाः किं किं कर्माचरेयुरित्याह ॥

सन्तान और पिता माता परस्पर किन २ कर्मों का आचरण करें यह वि० ॥

अपे॑त॒ वीत॒ वि च॑ सर्प॒तातो ये॒ऽत्र॒ स्थ पु॑रा॒णा ये च॒ नूत॑नाः । अदा॑द्य॒मो॒ऽव॒सानं॑ पृथि॒व्या अक्र॑न्नि॒मं पि॒तरो॑ लो॒कम॒स्मै ॥ ४५ ॥

अप॑ । इ॒त॒ । वि । इ॒त॒ । वि । च॒ । सर्प॑त॒ । अतः॑ । ये । अत्र॑ । स्थ । पु॒रा॒णाः । ये । च॒ । नूत॑नाः । अदा॑त् । य॒मः । अ॒व॒सान॒मित्य॑व॒ऽसान॑म् । पृ॒थि॒व्याः । अक्र॑न् । इ॒मम् । पि॒तरः॑ । लो॒कम् । अ॒स्मै ॥ ४५ ॥

पदार्थः—(अप) (इत) त्यजत (वि) (इत) विविधतया मानुत (वि) (च) (सर्पत) गच्छत (अतः) कारणात् (ये) (अत्र) अस्मिन्समये (स्थ) भवथ (पुराणाः) प्रागधीतविद्याः (ये) (च) (नूतनाः) संप्रतिगृहीतविद्याः (अदात्) दद्यात् (यमः) उपरतः परीक्षकः (अवसानम्) अवकाशमधिकारं वा (पृथिव्याः) भूमेर्मध्ये वर्त्तमानाः (अक्रन्) कुर्वन्तु (इमम्) प्रत्यक्षम् (पितरः) जनका अध्यापका उपदेशकाः परीक्षका वा (लोकम्) आर्षं दर्शनम् (अस्मै) सत्यसंकल्पाय ॥ ४५ ॥

अन्वयः—हे विद्वांसो येऽत्र पृथिव्या मध्ये पुराणा ये च नूतनाः पितरः स्थ तेऽस्मै इमं लोकमक्रन् । यानस्मान्यमोऽवसानमदाद् ये यूयमतोऽधर्मादपेत धर्मं वीताश्चैव च विसर्पत ॥ ४५ ॥

भावार्थः—अयमेव मातापित्राचार्याणां परमो धर्मोऽस्ति यत्सन्तानेभ्यो विद्यासुशिक्षाप्राप्तिकारणं येऽधर्मान्मुक्ता धर्मेण युक्ताः परोपकारप्रिया

वृद्धा युवानश्च विद्वांसः सन्ति ते सततं सत्योपदेशेनाविद्यां निवर्त्य विद्यां सनपित्वा कृतकृत्या भवन्तु ॥ ४५ ॥

पदार्थः—हे विद्वान् लोगो (ये) जो (अत्र) इस समय (पृथिव्याः) भूमि के बीच वर्त्तमान (पुराणाः) प्रथम विद्या पढ़ चुके (च) और (ये) जो (नूतनाः) वर्त्तमान समय में विद्याभ्यास करने हारे (स्थिरः) विद्या पढ़ने उपदेश करने और परीक्षा करने वाले (स्थ) होवें (ते) वे (अस्मै) इस सत्यसंकल्पी मनुष्य के लिये (इमम्) इस (लोकम्) वैदिक ज्ञान सिद्ध लोक को (अक्रन्) सिद्ध करें जिन तुम लोगों को (यमः) प्राप्त हुआ परीक्षक पुरुष (अवसानम्) अवकाश वा अधिकार को (अदात्) देवे वे तुम लोग (अतः) इस अधर्म से (अपेत) पृथक् रहो और धर्म्म को (वीत) विशेष कर प्राप्त होओ (अत्र) और इसी में (विसर्पत) विशेषता से गमन करो ॥ ४५ ॥

भावार्थः—माता पिता और आचार्य्य का यही परम धर्म है जो सन्तानों के लिये विद्या और अच्छी शिक्षा का प्राप्त कराना । जो अधर्म से पृथक् और धर्म्म से युक्त परोपकार में प्रीति रखने वाले वृद्ध और ज्वान विद्वान् लोग हैं वे निरन्तर सत्य उपदेश से अविद्या का निवारण और विद्या की प्रवृत्ति कर के कृतकृत्य होवें ॥ ४५ ॥

संज्ञानमित्यस्य सोमाहुतिर्ऋषिः । अग्निर्देवता ।
भुरिगार्षी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

अध्येत्रध्यापकाः किं कृत्वा सुखिनः स्युरित्याह ॥
पढ़ने पढ़ाने वाले क्या करके सुखी हों इस वि० ॥

संज्ञानमसि कामधरणम्मयि ते कामधरणम्भूयात् । अग्नेर्भस्मास्यग्नेः पुरीषमसि चितस्थ परिचितं ऊर्ध्वचितः श्रयध्वम् ॥ ४६ ॥

संज्ञानमितिसम्ऽज्ञानम् । असि । कामधरणमितिकामऽधरणम् । मयि । ते । कामधरणमिति कामऽधरणम् । भूयात् । अग्नेः । भस्म । असि । अग्नेः । पुरीषम् । असि । चितः । स्थ । परिचित इति परिऽचितः । ऊर्ध्वचित इत्यूर्ध्वऽचितः । श्रयध्वम् ॥ ४६ ॥

पदार्थः—(संज्ञानम्) सम्यग्विज्ञानम् (असि) (कामधरणम्) संकल्पानामाधारणम् (मयि) (ते) तव (कामधरणम्) (भूयात्) (अग्नेः) पावकस्य (भस्म) दग्धशेषः (असि) (अग्नेः) विद्युतः (पुरीषम्) पूर्णं बलम् (असि) (चितः) संचिताः (स्थ) भवत (परिचितः) परितः सर्वतः संचेतारः (ऊर्ध्वचितः) ऊर्ध्वं संचिन्वन्तः (श्रयध्वम्) सेवध्वम् ॥ ४६ ॥

अन्वयः—हे विद्वंस्त्वं यत्संज्ञानं प्राप्तोऽसि । यत्त्वमग्नेर्भस्मास्याग्नेर्पुरीषमाप्तोसि तन्मां प्रापय । यस्य ते तव यत्कामधरणमस्ति तत्कामधरणं मयि भूयाद्यथा यूयं विद्यादिशुभगुणैश्चिताः परिचित ऊर्ध्वचितः स्थ पुरुषार्थमाश्रयध्वं तथा वयमपि भवेम ॥ ४६ ॥

भावार्थः—जिज्ञासवः सदा विदुषां सकाशाद्विद्याः प्राप्यैवं पृच्छेयुर्यावद्युष्मासु पदार्थविज्ञानमस्ति तावत्सर्वमस्मासु धत्त । यावतीर्हस्तक्रिया भवन्तो जानन्ति तावतीरस्मान् शिक्षत यथा वयं भवदाश्रिता भवेम तथैव भवन्तोऽप्यस्मत्कृपाश्रयाः सन्तु ॥ ४६ ॥

पदार्थः—हे विद्वन् आप जिस (संज्ञानम्) पूरे विज्ञान को प्राप्त (असि) हुए हो जो आप (अग्नेः) अग्नि से हुई (भस्म) राख के समान दोषों का भस्म करता (असि) हो (अग्नेः) बिजुली के जिस (पुरीषम्) पूर्ण बल को प्राप्त हुए (असि) हो उस विज्ञान भस्म और बल को मेरे लिये भी दीजिये जिस (ते) आप का जो (कामधरणम्) संकल्पों का आधार अन्तःकरण है

वह (कामधरणम्) कामना का आधार (मयि) मुझ में (भूयात्) होवे। जैसे तुम लोग विद्या आदि शुभगुणों से (चितः) इकट्ठे हुए (परिचितः) सब पदार्थों को सब ओर से इकट्ठे करने हारे (उर्ध्वचितः) उत्कृष्ट गुणों के संचय-कर्त्ता पुरुषार्थ को (श्रयध्वम्) सेवन करो वैसे हम लोग भी करें ॥ ४६ ॥

भावार्थः—जिज्ञासु मनुष्यों को चाहिये कि सदैव विद्वानों से विद्या की इच्छा कर प्रश्न किया करें जितना तुम लोगों में पदार्थों का विज्ञान है उतना सब तुम लोग हम लोगों में धारण करो और जितनी हस्तक्रिया आप जानते हैं उतनी सब हम लोगों को दिखाइये ॥ ४६ ॥

अयं स इत्यस्य विश्वामित्र ऋषिः। अग्निर्देवता। आर्षी त्रिष्टुप्छन्दः। धैवतः स्वरः॥

मनुष्यैरुत्तमाचरणानुकरणं कार्य्यमित्याह॥

मनुष्यों को उत्तम आचरणों के अनुसार वर्त्तना चाहिये यह वि० ॥

अयꣳसो अग्निर्यस्मिन्त्सोममिन्द्रः सुतं दधे जठरे वावशानः। सहस्रियं वाजमत्यं न सप्तिꣳ ससवान्त्सन्त्स्तूयसे जातवेदः॥ ४७॥

अयम्। सः। अग्निः। यस्मिन्। सोमम्। इन्द्रः। सुतम्। दधे। जठरे। वावशानः। सहस्रियम्। वाजम्। अत्यम्। न। सप्तिम्। ससवानिति ससऽवान्। सन्। स्तूयसे। जातवेद इति जातऽवेदः॥ ४७॥

पदार्थः—(अयम्) (सः) (अग्निः) (यस्मिन्) (सोमम्) सर्वौषध्यादिरसम् (इन्द्रः) सूर्य्यः (सुतम्) निष्पन्नम् (दधे) धरे (जठरे) उदरे।

जठरमुदरम् भवति जग्धमस्मिन् ध्रियते धीयते वा। निरु० ४।७। (वावशानः) भृशं कामयमानः (सहस्त्रियम्) सहवर्त्तमानाम् भार्य्याम् (वाजम्) अन्नादिकम् (अत्यम्) अतितुं व्याप्तुं योग्यम् (न) इव (सप्तिम्) अश्वम् (ससवान्) ददत् (सन्) (स्तूयसे) प्रशस्यसे (जातवेदः) उत्पन्नविज्ञान ॥ ४७ ॥

अन्वयः—हे जातवेदो यथा ससवान्त्संस्त्वं स्तूयसेऽयमग्निरिन्द्रश्च यस्मिन् सोमं दधाति यं सुतं जठरेऽहं दधे। सोऽहं वावशानः सन् सहस्त्रियं दधे। त्वया सह वाजमत्यं न सप्तिं दधे। तादृशस्त्वं भव ॥ ४७ ॥

भावार्थः—अत्रोपमावाचकलु०—यथा विद्युत्सूर्यौ सर्वान् रसान् गृहीत्वा जगद्रक्षतो यथा पत्या सह स्त्री स्त्रिया सह पतिश्चानन्दं भुङ्क्ते तथाऽहमेतद्दधे। यथा सद्गुणैर्युक्तस्त्वं स्तूयसे तथाऽहमपि प्रशंसितो भवेयम् ॥ ४७ ॥

पदार्थः—हे (जातवेदः) विज्ञान को प्राप्त हुए विद्वान् जैसे (ससवान्) दान देते (सन्) हुए आप (स्तूयसे) प्रशंसा के योग्य हो (अयम्) यह (अग्निः) अग्नि और (इन्द्रः) सूर्य्य (यस्मिन्) जिस में (सोमम्) सब ओषधियों के रस को धारण करता है जिस (सुतम्) सिद्ध हुए पदार्थ को (जठरे) पेट में मैं (दधे) धारण करता हूं (सः) वह मैं (वावशानः) शीघ्र कामना करता हुआ (सहस्त्रियम्) साथ वर्त्तमान अपनी स्त्री को धारण करता हूं आप के साथ (वाजम्) अन्न आदि पदार्थों को (अत्यम्) व्याप्त होने योग्य के (न) समान (सप्तिम्) घोड़े को (दधे) धारण करता हूं वैसा ही तू भी हो ॥ ४७ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में वाचकलुप्तोप० और उपमालं०—जैसे बिजुली और सूर्य, सब रसों का ग्रहण कर जगत् को रक्षायुक्त करते हैं वा जैसे पति के साथ स्त्री और स्त्री के साथ पति आनन्द भोगते हैं वैसे मैं इस सब का धारण करता हूं जैसे श्रेष्ठ गुणों से युक्त आप प्रशंसा के योग्य हो वैसे मैं भी प्रशंसा के योग्य होऊं ॥ ४७ ॥

अग्ने यत्त इत्यस्य विश्वामित्र ऋषिः। अग्निर्देवता। भुरिगार्षी पङ्क्तिश्छन्दः। पञ्चमः स्वरः॥

अध्यापकैर्निष्कपटत्वेन सर्वे विद्यार्थिनः पाठनीया इत्याह॥

अध्यापक लोगों को निष्कपट से सब विद्यार्थीजन पढ़ाने चाहियें यह वि०॥

अग्ने यत्ते दिवि वर्चः पृथिव्यां यदोषधीष्वप्स्वा यजत्र। येनान्तरिक्षमुर्वाततन्थ त्वेषः स भानुरर्णवो नृचक्षाः॥ ४८॥

अग्ने। यत्। ते। दिवि। वर्चः। पृथिव्याम्। यत्। ओषधीषु। अप्स्वित्यप्ऽसु। आ। यजत्र। येन। अन्तरिक्षम्। उरु। आततन्थेत्याऽततन्थ। त्वेषः। सः। भानुः। अर्णवः। नृचक्षा इति नृऽचक्षाः॥ ४८॥

पदार्थः—(अग्ने) विद्वन् (यत्) यस्य (ते) तव (दिवि) द्योतनात्मके विद्युदादौ (वर्चः) विज्ञानप्रकाशः (पृथिव्याम्) भूमौ (यत्) (ओषधीषु) यवादिषु (अप्सु) प्राणेषु जलेषु वा (आ) (यजत्र) संगन्तुं योग्य (येन) (अन्तरिक्षम्) आकाशम् (उरु) बहु (आ, ततन्थ) समन्तात्तनु (त्वेषः) प्रकाशः (सः) (भानुः) प्रभाकरः (अर्णवः) अर्णांसि बहून्युदकानि विद्यन्ते यस्मिन् सः। अर्णसो लोपश्च। अ० ५। २। १०९। इति मत्वर्थे वः सलोपश्च (नृचक्षाः) नॄन् चष्टे सः॥ ४८॥

अन्वयः—हे यजत्राग्ने यद्यस्य ते तवाऽग्नेरिव दिवि वर्चः यत् पृथिव्यामोषधीष्वप्सु वर्चोऽस्ति येन नृचक्षा भानुरर्णवो येनान्तरिक्षमुर्वाततन्थ तथा स त्वं सदस्मासु धेहि॥ ४८॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—अस्मिन् जगति यस्य सृष्टिपदार्थविज्ञानं यादृशं स्यात्तादृशं सद्योऽन्यान् ग्राहयेत्। यदि न ग्राहयेत्तर्हि तन्नष्टं सदन्यैः प्राप्तुमशक्यं स्यात् ॥ ४८ ॥

पदार्थः—हे (यजत्र) संगम करने योग्य (अग्ने) विद्वन् (यत्) जिस (ते) आप का अग्नि के समान (दिवि) द्योतनशील आत्मा में (वर्चः) विज्ञान का प्रकाश (यत्) जो (पृथिव्याम्) पृथिवी (ओषधिषु) यवादि ओषधियों और (अप्सु) प्राणों वा जलों में (वर्चः) तेज है (येन) जिससे (नृचक्षाः) मनुष्यों को दिखाने वाला (भानुः) सूर्य (अर्णवः) बहुत जलों को वर्षाने हारा (त्वेषः) प्रकाश है (येन) जिससे (अन्तरिक्षम्) आकाश को (उरु) बहुत (आ, ततन्थ) विस्तारयुक्त करते हो (सः) सो आप वह सब हम लोगों में धारण कीजिये ॥ ४८ ॥

भावार्थः—यहां वाचकलु०—इस जगत् में जिस को सृष्टि के पदार्थों का विज्ञान जैसा होवे वैसा ही शीघ्र दूसरों को बतावे जो कदाचित् दूसरों को न बतावे तो वह नष्ट हुआ किसी को प्राप्त नहीं हो सके ॥ ४८ ॥

अग्ने दिवऽइत्यस्य विश्वामित्रऋषिः। अग्निर्देवता। भुरिगार्षी पंक्तिश्छन्दः। पञ्चमः स्वरः॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर भी वही वि० ॥

अग्ने दिवो अर्णमच्छा जिगास्यच्छा देवाँ२॥ ऊचिषे धिष्ण्या ये। या रोचने परस्तात् सूर्यस्य याश्चावस्तादुपतिष्ठन्त आपः ॥ ४९ ॥

अग्ने। दिवः। अर्णम्। अच्छ। जिगासि। अच्छ। देवान्। ऊचिषे। धिष्ण्याः। ये। याः। रोचने। परस्तात्।

सूर्यस्य । याः । च । अवस्तात् । उपतिष्ठन्त इत्युपऽतिष्ठन्ते । आपः ॥ ४९ ॥

पदार्थः—(अग्ने) विद्वन् (दिवः) प्रकाशात् (अर्णम्) विज्ञानम् (अच्छ) (जिगासि) स्तौषि (अच्छ) (देवान्) दिव्यगुणान् विदुषो विद्यार्थिनो वा (ऊचिषे) वक्षि (धिष्ण्याः) ये धिष्णिषन्ति वदन्ति ते धिषणास्वेषु साधवः । अत्र धिषधातोर्बाहुलकादौणादिकः कनिन् ततो यत् (ये) (याः) (रोचने) प्रकाशे (परस्तात्) परतः (सूर्यस्य) (याः) (च) (अवस्तात्) अधस्थाः (उपतिष्ठन्ते) (आपः) प्राणा जलानि वा ॥४९॥

अन्वयः—हे अग्ने यस्त्वं दिवोऽर्णं या आपः सूर्यस्य रोचने परस्ताद्याश्चावस्तादुपतिष्ठन्ते ता अच्छ जिगासि । ये धिष्ण्याः सन्ति तान् देवान् प्रत्यर्णमच्छोचिषे स त्वमस्माकमुपदेष्टा भव ॥ ४९ ॥

भावार्थः—ये सुविचारेण विद्युतः सूर्यकिरणेषूपर्य्यधःस्थानां जलानां वायूनां च बोधं यथा प्राप्नुवन्ति तेऽन्यान् प्रति सम्यगुपदिशन्तु ॥४९॥

पदार्थः—हे (अग्ने) विद्वान् जो आप (दिवः) प्रकाश से (अर्णम्) विज्ञान को (याः) जो (आपः) प्राण वा जल (सूर्यस्य) सूर्य के (रोचने) प्रकाश में (परस्तात्) पर हैं (च) और (याः) जो (अवस्तात्) नीचे (उपतिष्ठन्ते) समीप में स्थित हैं उन को (अच्छ) सम्यक् (जिगासि) स्तुति करते हो (ये) जो (धिष्ण्याः) बोलने वाले हैं उन (देवान्) दिव्यगुण विद्यार्थियों वा विद्वानों के प्रति विज्ञान को (अच्छ) अच्छे प्रकार (ऊचिषे) कहते हो सो आप हमारे लिये उपदेश कीजिये ॥ ४९ ॥

भावार्थः—जो अच्छे विचार से बिजुली और सूर्य के किरणों में ऊपर नीचे रहने वाले जलों और वायुओं के बोध को प्राप्त होते हैं वे दूसरों को निरन्तर उपदेश करें ॥ ४९ ॥

पुरीष्यास इत्यस्य विश्वामित्र ऋषिः । अग्निर्देवता । आर्षी पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

मनुष्यैर्द्वेषादिकं विहायानन्दितव्यमित्यु० ॥

मनुष्यों को द्वेषादिक छोड़ के आनन्द में रहना चाहिये इस विषय का उपदेश अगले मंत्र में किया है ॥

पुरीष्यासो अग्नयः प्रावणेभिः सजोषसः ।
जुषन्तां यज्ञमद्रुहोऽनमीवा इषो महीः ॥ ५० ॥

पुरीष्यासः । अग्नयः । प्रावणेभिरिति प्रऽवणेभिः । सजोषसइति सऽजोषसः । जुषन्ताम् । यज्ञम् । अद्रुहः । अनमीवाः । इषः । महीः ॥ ५० ॥

पदार्थः—(पुरीष्यासः) पूर्णासु गुणक्रियासु भवाः (अग्नयः) वह्नय इव वर्त्तमाना विद्वांसः (प्रावणेभिः) विज्ञानैः । अत्रान्येषामपीति दीर्घत्वम् (सजोषसः) समानसेवाप्रीतयः (जुषन्ताम्) सेवन्ताम् (यज्ञम्) विद्याविज्ञानदानग्रहणाख्यम् (अद्रुहः) द्रोहरहिताः (अनमीवाः) अरोगाः (इषः) इच्छाः (महीः) महतीः ॥ ५० ॥

अन्वयः—सर्वे मनुष्याः प्रावणेभिः सह वर्धमाना अनमीवा अद्रुहः सजोषसः पुरीष्यासोऽग्नय इव सन्तो यज्ञं महीरिषो जुषन्ताम् ॥ ५० ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—यथा विद्युदविरुद्धा सती समानसेव्या सर्वान् पदार्थान् सेवते तथैव रोगद्रोहादिदोषै रहिताः परस्परं प्रीतिमन्तो भूत्वा विज्ञानवृद्धिकरं यज्ञं सततं महान्ति सुखानि सततं भुञ्जीरन् ॥ ५० ॥

पदार्थः—सब मनुष्यों को चाहिये कि (प्रावणेभिः) विज्ञानों के साथ वर्त्तमान हुए (अनमीवाः) रोगरहित (अद्रुहः) द्रोह से पृथक् (सजोषसः) एक प्रकार की सेवा और प्रीति वाले (पुरीष्यासः) पूर्ण गुणक्रियाओं में निपुण (अग्नयः) अग्नि के समान वर्त्तमान तेजस्वी विद्वान् लोग (यज्ञम्) विद्याविज्ञान दान

और महत्स्वरूप यज्ञ और (मही) बड़ी २ (इषः) इच्छाओं को (जुषन्ताम्) सेवन करें ॥ ५० ॥

भावार्थः—इस मंत्र में वाचकलु०—जैसे बिजुली अनुकूल हुई समान भाव से सब पदार्थों का सेवन करती है वैसे ही रोग द्रोहादि दोषों से रहित आपस में प्रीति वाले हो के विद्वान् लोग विज्ञान बढ़ाने वाले यज्ञ को विस्तृत करके बड़े २ सुखों को निरन्तर भोगें ॥ ५० ॥

इडामग्न इत्यस्य विश्वामित्र ऋषिः । अग्निर्देवता । भुरिगार्षी पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

मनुष्यैर्गर्भाधानादिसंस्कारैरपत्यानि संस्कर्त्तव्यानीत्याह ॥

मनुष्य गर्भाधानादि संस्कारों से बालकों का संस्कार करें यह वि० ॥

इडामग्ने पुरुदꣳसꣳ सनिं गोः शश्वत्तमꣳ हवमानाय साध । स्यान्नः सूनुः तनयो विजावाऽग्ने सा ते सुमतिर्भूत्वस्मे ॥ ५१ ॥

इडाम् । अग्ने । पुरुदꣳसमिति पुरुऽदꣳसम् । सनिम् । गोः । शश्वत्तममिति शश्वत्ऽतमम् । हवमानाय । साध । स्यात् । नः । सूनुः । तनयः । विजावेति विजाऽवा । अग्ने । सा । ते । सुमतिरिति सुऽमतिः । भूतु । अस्मे इत्यस्मे ॥ ५१ ॥

पदार्थः—(इडाम्)-स्तोतुमर्हां वाचम् (अग्ने) विद्वन् (पुरुदंसम्) पुरूणि बहूनि दंसानि कर्म्माणि भवन्ति यस्मात् (सनिम्) संविभागम् (गोः) वाचः (शश्वत्तमम्) अतिशयितमनादिरूपं वेदबोधम् (हवमानाय) विद्यां स्पर्द्धमानाय (साध) साध्नुहि । अत्र व्यत्ययेन शप्

(स्यात्) भवेत् (नः) अस्माकं (सूनुः) उत्पन्नः (तनयः) पुत्रः (विजावा) विविधैश्वर्य्यजनकः (अग्ने) अध्यापक (सा) (ते) तव (सुमतिः) शोभना प्रज्ञा (भूतु) भवतु। अत्र शपो लुक्। भूसुवोस्तिङीति गुणाभावः (अस्मे) अस्माकम्॥ ५१॥

अन्वयः—हे अग्ने ते सा सुमतिरस्मे भूतु यया ते नोऽस्माकं सू यो विजावा तनयः स्यात्। तया त्वं तस्मै हवमानायेडां गोः शश्वत्तमं पुरुदंससं सनिं साधाग्ने वयं च साध्नुयाम॥ ५१॥

भावार्थः—मातापितृभ्यामाचार्य्येण च सावधानतया गर्भाधानादिसंस्काररीत्या सुसन्तानानुत्पाद्य वेदेश्वरविद्यायुक्ता धीरुत्पाद्या। नहीदृशोऽन्यो धर्मोऽपत्यसुखनिर्वर्त्तक इति निश्चेतव्यम्॥ ५१॥

पदार्थः—हे (अग्ने) विद्वन् (ते) आपकी (सा) वह (सुमतिः) सुन्दर बुद्धि (अस्मे) हम लोगों के लिये (भूतु) होवे जिससे आपका (नः) और हमारा जो (विजावा) विविध प्रकार के ऐश्वर्यों का उत्पादक (सूनुः) उत्पन्न होने वाला (तनयः) पुत्र (स्यात्) होवे उस बुद्धि से उस (हवमानाय) विद्या ग्रहण करते हुए के लिये (इडाम्) स्तुति के योग्य वाणी को (गोः) वाणी के सम्बन्धी (शश्वत्तमम्) अनादि रूप अत्यन्त वेदज्ञान को और (पुरुदंसम्) बहुत कर्म जिससे सिद्ध हों ऐसे (सनिम्) ऋग्वेदादि वेदविभाग को (साध) सिद्ध कीजिये और हे अध्यापक हम लोग भी सिद्ध करें॥ ५१॥

भावार्थः—माता पिता और आचार्य्य को चाहिये कि सावधानी से गर्भाधान आदि संस्कारों की रीति के अनुकूल अच्छे सन्तान उत्पन्न करके उन में वेद ईश्वर और विद्यायुक्त बुद्धि उत्पन्न करें क्योंकि ऐसा अन्य धर्म अपत्य सुख का हितकारी कोई नहीं है ऐसा निश्चय रखना चाहिये॥ ५१॥

अयन्त इत्यस्य विश्वामित्र ऋषिः। अग्निर्देवता। निचृदार्ष्यनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः॥

अथ जन्यजनकानां कर्त्तव्यं कर्माह ॥

अब माता पिता और पुत्रादिकों को परस्पर क्या करना चाहिये यह वि० ॥

अयन्ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो अरोचथाः।
तं जानन्नग्न आ रोहाथा नो वर्धया रयिम्॥ ५२॥

अयम्। ते। योनिः। ऋत्वियः। यतः। जातः। अरोचथाः। तम्। जानन्। अग्ने। आ। रोह। अथ। नः। वर्धय। रयिम्॥ ५२॥

पदार्थः—(अयम्) (ते) तव (योनिः) दुःखवियोजकः सुखसंयोजको व्यवहारः (ऋत्वियः) ऋतुसमयोऽस्य प्राप्तः। अत्र छन्दसि घसिति घस् प्रत्ययः (यतः) यस्मात् (जातः) प्रादुर्भूतः सन् (अरोचथाः) प्रदीप्येथाः (तम्) (जानन्) (अग्ने) अग्निरिव स्वच्छात्मन् (आ) (रोह) आरूढो भव (अथ) अनन्तरम्। अत्र निपातस्य चेति संहितायां दीर्घः (नः) अस्मभ्यम् (वर्धय) अत्रान्येषामपीति संहितायां दीर्घत्वम् (रयिम्) प्रशस्तां श्रियम्॥ ५२॥

अन्वयः—हे अग्ने त्वं यस्ते तव ऋत्वियोऽयं योनिरस्ति यतो जातस्त्वमरोचथाः। तं जानंस्त्वमारोहाथ नो रयिं वर्धय॥ ५२॥

भावार्थः—हे मातापित्राचार्या यूयं पुत्रान् पुत्रींश्च धर्म्येण ब्रह्मचर्येण सेवितेन सद्विद्या जनयित्वोपदिशत। हे सन्ताना यूयं सद्विद्यया सदाचारेणास्मान् सुसेवया धनेन च सततं सुखयतेति॥ ५२॥

पदार्थः—हे (अग्ने) अग्नि के समान शुद्ध अन्तःकरण वाले विद्वान् पुरुष जो (ते) आपका (ऋत्वियः) ऋतुकाल में प्राप्त हुआ (अयम्) यह प्रत्यक्ष (योनिः) दुःखों का नाशक और सुखदायक व्यवहार है (यतः) जिस से (जातः) उत्पन्न हुए आप (अरोचथाः) प्रकाशित होवें (तम्) उस को

(जानन्) जानते हुए आप (आरोह) शुभगुणों पर आरूढ़ हूजिये (अथ) इस के पश्चात् (नः) हम लोगों के लिये (रयिम्) प्रशंसित लक्ष्मी को (वर्धय) बढ़ाइये ॥ ५२ ॥

भावार्थः—हे माता पिता और आचार्य्य ! तुम लोग पुत्र और कन्याओं को धर्मानुकूल सेवन किये ब्रह्मचर्य से श्रेष्ठविद्या को प्रसिद्ध कर उपदेश करो। हे सन्तानो ! तुम लोग सत्यविद्या और सदाचार के साथ हम को अच्छी सेवा और धन से निरन्तर सुखयुक्त करो ॥ ५२ ॥

चिदसीत्यस्य विश्वामित्र ऋषिः । अग्निर्देवता । स्वराडनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

कन्याभिः किं कृत्वा किं कार्य्यमित्याह ॥

कन्याओं को क्या करके क्या करना चाहिये यह वि० ॥

चिद॑सि॒ तया॑ दे॒वत॑याऽङ्गिर॒स्वद् ध्रु॒वा सी॑द । परि॒चिद॑सि॒ तया॑ दे॒वत॑याऽङ्गिर॒स्वद् ध्रु॒वा सी॑द ॥५३॥

चित् । अ॒सि॒ । तया॑ । दे॒वत॑या । अ॒ङ्गि॒र॒स्वत् । ध्रु॒वा । सी॒द॒ । प॒रि॒चिदिति॑ परि॒ऽचित् । अ॒सि॒ । तया॑ । दे॒वत॑या । अ॒ङ्गि॒र॒स्वत् । ध्रु॒वा । सी॒द॒ ॥ ५३ ॥

पदार्थः—(चित्) संज्ञाता (असि) (तया) (देवतया) दिव्यगुणप्रापिकया (अङ्गिरस्वत्) प्राणवत् (ध्रुवा) निश्चला (सीद) भव (परिचित्) विद्यापरिचयं प्राप्ता (असि) (तया) धर्मानुष्ठानयुक्तया क्रियया (देवतया) दिव्यसुखप्रदया (अङ्गिरस्वत्) हिरण्यगर्भवत् (ध्रुवा) निष्कम्पा (सीद) अवतिष्ठस्व ॥ ५३ ॥

अन्वयः—हे कन्ये या चिदसि सा त्वं तया देवतया सहाङ्गिरस्वत् ध्रुवा सीद। हे ब्रह्मचारिणि या त्वं परिचिदसि सा तया देवतया सहाङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद॥ ५३॥

भावार्थः—सर्वैर्मातापित्रादिभिरध्यापिकाभिर्विदुषीभिश्च कन्याः संबोधनीयाः भो कन्या यूयं यदि पूर्णेनाखण्डितेन ब्रह्मचर्येणाखिला विद्याः सुशिक्षाः प्राप्य युवतयो भूत्वा स्वसदृशैर्वरैः स्वयंवरं विवाहं कृत्वा गृहाश्रमं कुर्यात तर्हि सर्वाणि सुखानि लभेध्वं सन्तानाश्च जायेरन्॥ ५३॥

पदार्थः—हे कन्ये जो तू (चित्) चिताई (असि) हुई (तया) उस (देवतया) दिव्यगुण प्राप्त कराने हारी विदुषी स्त्री के साथ (अङ्गिरस्वत्) प्राणों के तुल्य (ध्रुवा) निश्चल (सीद) स्थिर हो। हे ब्रह्मचारिणी जो तू (परिचित्) विविध विद्या को प्राप्त हुई (असि) है सो तू (तया) उस (देवतया) धर्मानुष्ठान से युक्त दिव्यसुखदायक क्रिया के साथ (अङ्गिरस्वत्) ईश्वर के समान (ध्रुवा) अचल (सीद) अवस्थित हो॥ ५३॥

भावार्थः—सब माता पिता और पढ़ानेहारी विद्वान् स्त्रियों को चाहिये कि कन्याओं को सम्यक् बुद्धिमती करें। हे कन्या लोगो तुम जो पूर्ण अखंडित ब्रह्मचर्य से संपूर्ण विद्या और अच्छी शिक्षा को प्राप्त युवति होकर अपने तुल्य वरों के साथ स्वयंवर विवाह करके गृहाश्रम का सेवन करो तो सब सुखों को प्राप्त हो और सन्तान भी अच्छे होवें॥ ५३॥

लोकं पृणेत्यस्य विश्वामित्र ऋषिः। अग्निर्देवता।
विराडनुष्टुप् छन्दः। गांधारः स्वरः॥

पुनस्तमेव विषयमाह॥

फिर भी वही विषय अगले मंत्र में कहा है॥

लोकं पृण छिद्रं पृणाथो सीद ध्रुवा त्वम्।
इन्द्राग्नी त्वा बृहस्पतिरस्मिन् योनावसीषदन्॥ ५४॥

लोकम् । पृण । छिद्रम् । पृण । अथो इत्यथो । सीद ।
ध्रुवा । त्वम् । इन्द्राग्नी इतीन्द्राग्नी । त्वा । बृहस्पतिः ।
अस्मिन् । योनौ । असीषदन् । असीषदन्नित्यसीसदन् ॥ ५४ ॥

पदार्थः—(लोकम्) संप्रेक्षितव्यम् (पृण) सर्पय (छिद्रम्) छिनत्ति यत्तत् (पृण) पिपूर्द्धि (अथो) (सीद) (ध्रुवा) दृढनिश्चया (त्वम्) (इन्द्राग्नी) मातापितरौ (त्वा) त्वाम् (बृहस्पतिः) बृहत्या वेदवाचः पालिकाऽध्यापिका (अस्मिन्) विद्याबोधे (योनौ) बन्धच्छेदके मोक्षप्रापके (असीषदन्) प्रापयन्तु ॥ ५४ ॥

अन्वयः—हे कन्ये यां त्वा योनावस्मिन्निन्द्राग्नी बृहस्पतिश्चासीषदन् तस्मिन् त्वं ध्रुवा सीदाथो छिद्रं पृण लोकं पृण ॥ ५४ ॥

भावार्थः—मातापित्राचार्यैरीदृशी धर्म्या विद्याशिक्षा क्रियेत यां स्वीकृत्य सर्वाः कन्या निश्चिन्ता भूत्वा सर्वाणि दुर्व्यसनानि त्यक्त्वा समावर्त्तनानन्तरं स्वयंवरं विवाहं कृत्वा पुरुषार्थेनानन्दयेयुः ॥ ५४ ॥

पदार्थः—हे कन्ये जिस (त्वा) तुझ को (योनौ) बन्ध के छेदक मोक्ष प्राप्ति के हेतु (अस्मिन्) इस विद्या के बोध में (इन्द्राग्नी) माता पिता तथा (बृहस्पतिः) बड़ी २ वेदवाणियों की रक्षा करने वाली अध्यापिका स्त्री (असीषदन्) प्राप्त करावें उस में (त्वम्) तू (ध्रुवा) दृढ़ निश्चय के साथ (सीद) स्थित हो (अथो) इस के अनन्तर (छिद्रम्) छिद्र को (पृण) पूर्ण कर और (लोकम्) देखने योग्य प्राणियों को (पृण) तृप्त कर ॥ ५४ ॥

भावार्थः—माता पिता और आचार्यों को चाहिये कि इस प्रकार की धर्मयुक्त विद्या और शिक्षा करें कि जिस को ग्रहण कर कन्या लोग चिन्ता रहित हो सब बुरे व्यसनों को त्याग और समावर्तन संस्कार के पश्चात् स्वयंवर विवाह करके पुरुषार्थ के साथ आनन्द में रहें ॥ ५४ ॥

ता अस्येत्यस्य प्रियमेधा ऋषिः । आपो देवता । विराडनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर भी उसी विषय का उपदेश अगले मंत्र में किया है ॥

ता अ॒स्य सूद॑दोहसः॒ सोम॑ꣳ श्रीणन्ति॒ पृश्न॑यः ।
जन्म॑न्दे॒वानां॒ विश॑स्त्रि॒ष्वा रो॑च॒ने दि॒वः ॥ ५५ ॥

ताः । अ॒स्य । सूद॑दोहस॒ इति॒ सूद॑ऽदोहसः । सोम॑म् । श्री॒ण॒न्ति॒ । पृश्न॑यः । जन्म॑न् । दे॒वाना॑म् । विशः॑ । त्रि॒षु । आ । रो॒च॒ने । दि॒वः ॥ ५५ ॥

पदार्थः—(ताः) ब्रह्मचारिणीः (अस्य) गृहाश्रमस्य (सूददोहसः) सूदाः सुष्ठु पाचका दोहसो गवादिदोग्धारश्च यासां ताः (सोमम्) सोमरसान्वितं पाकम् (श्रीणन्ति) परिपक्वं कुर्वन्ति (पृश्नयः) सुस्पर्शास्तन्वङ्ग्यः । अत्र स्पृशधातोर्निः प्रत्ययः सलोपश्च (जन्मन्) जन्मनि प्रादुर्भावे (देवानाम्) दिव्यानां विदुषां पतीनाम् (विशः) प्रजाः (त्रिषु) भूतभविष्यद्वर्त्तमानेषु कालावयवेषु (आ) (रोचने) रुचिकरे व्यवहारे (दिवः) दिव्यस्य ॥ ५५ ॥

अन्वयः—या देवानां सूददोहसः पृश्नयः पत्न्यो जन्मन् द्वितीये विद्याजन्मनि विदुष्यो भूत्वा दिवोऽस्य सोमं श्रीणन्ति आ आरोचने त्रिषु सुखदा भवन्ति विशश्च प्राप्नुवन्ति ॥ ५५ ॥

भावार्थः—यदा सुशिक्षितानां विदुषां यूनां स्वसदृशा रूपगुणसम्पन्नाः स्त्रियो भवेयुस्तदा गृहाश्रमे सर्वदा सुखं सुसन्तानाश्च जायेरन् । नह्येवं विना वर्त्तमानेऽभ्युदयो मरणानन्तरं निःश्रेयसं च प्राप्तुं शक्यम् ॥ ५५ ॥

पदार्थः—जो (देवानाम्) दिव्य विद्वान् पतियों की (सूददोहसः) सुन्दर रसोया और गौ आदि के दुहने वाले सेवकों वाली (पृश्नयः) कोमल शरीर सूक्ष्म अङ्ग युक्त स्त्री दूसरे (जन्मन्) विद्यारूप जन्म में विदुषी हो के (दिवः) दिव्य (अस्य) इस गृहाश्रम के (सोमम्) उत्तम ओषधियों के रस से युक्त भोजन (श्रीणन्ति) पकाती हैं (ताः) वे ब्रह्मचारिणी (आरोचने) अच्छी रुचिकारक व्यवहार में (त्रिषु) तीनों अर्थात् गत आगामी और वर्त्तमान काल-विभागों में सुख देने वाली होती तथा (विशः) उत्तम सन्तानों को भी प्राप्त होती हैं ॥ ५५ ॥

भावार्थः—जब अच्छी शिक्षा को प्राप्त हुए युवा विद्वानों की अपने सदृश रूप और गुण से युक्त स्त्री होवें तो गृहाश्रम में सर्वदा सुख और अच्छे सन्तान उत्पन्न होवें। इस प्रकार किये विना संसार का सुख और शरीर छूटने के पश्चात् मोक्ष कभी प्राप्त नहीं हो सकता ॥ ५५ ॥

इन्द्रं विश्वेत्यस्य सुतजेतृमधुच्छन्दा ऋषिः। इन्द्रो देवता।
निचृदनुष्टुप्छन्दः। गान्धारः स्वरः॥

कुमारकुमारीभिरित्थं कर्त्तव्यमित्याह ॥
कुमार और कुमारियों को इस प्रकार करना चाहिये यह विषय
अगले मंत्र में कहा है ॥

इन्द्रं॒ विश्वा॑ अवीवृधन्त्समु॒द्रव्य॑चसं॒ गिरः॑।
र॒थीत॑मꣳ र॒थीनां॒ वाजा॑नाꣳ सत्प॑तिं॒ पति॑म् ॥५६॥

इन्द्र॑म्। विश्वाः॑। अ॒वी॒वृ॒ध॒न्। स॒मु॒द्रव्य॑चस॒मिति॑ समु॒द्रऽव्य॑चसम्। गिरः॑। र॒थीत॑मम्। र॒थित॑म॒मिति॑ र॒थिऽत॑मम्। र॒थीना॑म्। र॒थिना॒मिति॑ र॒थिना॑म्। वाजा॑नाम्। सत्प॑ति॒मिति॒ सत्ऽप॑तिम्। पति॑म् ॥ ५६ ॥

पदार्थः—(इन्द्रम्) परमैश्वर्य्यम् (विश्वाः) अखिलाः (अवीवृधन्) वर्धेयुः (समुद्रव्यचसम्) समुद्रस्य व्यचसो व्याप्तय इव यस्मिँस्तम् (गिरः) वेदविद्यासंस्कृता वाचः (रथीतमम्) अतिशयेन प्रशस्तरथयुक्तम् (रथीनाम्) प्रशस्तानां वीराणाम्। अत्र छन्दसीवनिपाविति ईकारः (वाजानाम्) संग्रामाणां मध्ये (सत्पतिम्) सत ईश्वरस्य वेदस्य धर्मस्य जनस्य वा पालकम् (पतिम्) अखिलैश्वर्य्यस्य स्वामिनम्॥ ५६॥

अन्वयः—हे स्त्रीपुरुषा यूयं यथा विश्वा गिरः समुद्रव्यचसं वाजानां रथीनां मध्ये रथीतमं सत्पतिं पतिमवीवृधँस्तथा सर्वान्वर्धयत॥ ५६॥

भावार्थः—ये कुमारा याश्च कुमार्य्यो दीर्घेण ब्रह्मचर्य्येण सांगोपाङ्गान् वेदानधीत्य स्वप्रसन्नतया स्वयंवरं विवाहं कृत्वैश्वर्य्याय प्रयतेरन्। धर्म्येण व्यवहारेणाव्यभिचारतया सुसन्तानानुत्पाद्य परोपकारे प्रवर्त्तेरँस्त इहामुत्र सुखमश्नुवीरन् नेतरेऽविद्वांसः॥ ५६॥

पदार्थः—हे स्त्री पुरुषो जैसे (विश्वाः) सब (गिरः) वेदविद्या से संस्कार की हुई वाणी (समुद्रव्यचसम्) समुद्र की व्याप्ति के समान व्याप्ति जिसमें हो उस (वाजानाम्) संग्रामों और (रथीनाम्) प्रशंसित रथों वाले वीर पुरुषों में (रथीतमम्) अत्यन्त प्रशंसित रथवाले (सत्पतिम्) सत्य ईश्वर वेद धर्म वा श्रेष्ठ पुरुषों के रक्षक (पतिम्) सब ऐश्वर्य के स्वामि को (अवीवृधन्) बढ़ावें और (इन्द्रम्) परम ऐश्वर्य्य को बढ़ावें वैसे सब प्राणियों को बढ़ाओ॥ ५६॥

भावार्थ—जो कुमार और कुमारी दीर्घ ब्रह्मचर्य सेवन से साङ्गोपाङ्ग वेदों को पढ़ और अपनी २ प्रसन्नता से स्वयंवर विवाह करके ऐश्वर्य के लिये प्रयत्न करें। धर्मयुक्त व्यवहार से व्यभिचार को छोड़ के सुन्दर सन्तानों को उत्पन्न करके परोपकार करने में प्रयत्न करें वे इस संसार और परलोक में सुख भोगें। और इन से विरुद्ध जनों को नहीं हो सकता॥ ५६॥

समितमित्यस्य मधुच्छन्दा ऋषिः। अग्निर्देवता। भुरिगुष्णिक् छन्दः। ऋषभः स्वरः॥

अथ विवाहं कृत्वा कथं वर्त्तितव्यमित्याह ॥

पश्चात् विवाह करके कैसे वर्तें इस विषय का उपदेश अगले मंत्र में किया है ॥

समितꣳसंकल्पेथाꣳसंप्रियौ रोचिष्णू सुमनस्यमानौ । इषमूर्जमभि संवसानौ ॥ ५७ ॥

सम् । इतम् । सम् । कल्पेथाम् । संप्रियाविति सम्ऽप्रियौ । रोचिष्णू इति रोचिष्णू । सुमनस्यमानाविति सुऽमनस्यमानौ । इषम् । ऊर्जम् । अभि । संवसानाविति सम्ऽवसानौ ॥ ५७ ॥

पदार्थः—(सम्) एकीभावम् (इतम्) प्राप्नुतम् (सम्) समानाभिप्राये (कल्पेथाम्) समर्थयताम् (संप्रियौ) परस्परं सम्यक्प्रीतियुक्तौ (रोचिष्णू) विषयासक्तिविरहत्वेन देदीप्यमानौ (सुमनस्यमानौ) सुमनसौ सखायौ विद्वांसाविवाचरन्तौ (इषम्) इच्छाम् (ऊर्जम्) पराक्रमम् (संवसानौ) सम्यक्सुवस्त्रालंकारैराच्छादितौ ॥ ५७ ॥

अन्वयः—हे विवाहितौ स्त्रीपुरुषौ युवां संप्रियौ रोचिष्णू सुमनस्यमानौ संवसानौ सन्ताविषं समितमूर्जमभि संकल्पेथाम् ॥ ५७ ॥

भावार्थः—यदि स्त्रीपुरुषौ सर्वथा विरोधं विहायान्योन्यस्य प्रियाचरणे रतौ विद्याविचारयुक्तौ सुवस्त्रालंकृतौ भूत्वा प्रयतेतां तदा गृहे कल्याणारोग्यं वर्धेताम् । यदि च विद्वेषिणौ भवेतां तदा दुःखसागरे संमग्नौ भवेताम् ॥ ५७ ॥

पदार्थः—हे विवाहित स्त्रीपुरुषो तुम (संप्रियौ) आपस में सम्यक् प्रीति वाले (रोचिष्णू) विषयासक्ति से पृथक् प्रकाशमान (सुमनस्यमानौ) मित्र विद्वान् पुरुषों के समान वर्त्तमान (संवसानौ) सुन्दर वस्त्र और आभूषणों से युक्त हुए

(इषम्) इच्छा को (समितम्) इकट्ठे प्राप्त होओ और (ऊर्जम्) पराक्रम को (आभे) सन्मुख (संकल्पेथाम्) एक अभिप्राय में समर्पित करो ॥ ५७ ॥

भावार्थः—जो स्त्रीपुरुष सर्वथा विरोध को छोड़ के एक दूसरे की प्रीति में तत्पर विद्या के विचार से युक्त तथा अच्छे २ वस्त्र और आभूषण धारण करने वाले हो के प्रयत्न करें तो घर में कल्याण और आरोग्य बढ़े। और जो परस्पर विरोधी हों तो दुःखसागर में अवश्य डूबें ॥ ५७ ॥

संवामित्यस्य मधुच्छन्दा ऋषिः। अग्निर्देवता। भुरिगुपरिष्टाद् बृहती छन्दः। मध्यमः स्वरः ॥

अध्यापकोपदेशका यावत्सामर्थ्यं तावद् वेदाध्ययनोपदेशौ कुर्युरित्याह ॥

अध्यापक और उपदेशक लोगों को चाहिये कि जितना सामर्थ्य हो उतना ही वेदों को पढ़ावें और उपदेश करें यह विषय अगले मंत्र में कहा है ॥

सं वां मनांथ्सि सं व्रता समु चित्तान्याकरम्। अग्ने पुरीष्याधिपा भव त्वं न इषमूर्जं यजमानाय धेहि ॥ ५८ ॥

सम्। वाम्। मनांथ्सि। सम्। व्रता। सम्। ऊँइत्यूँ। चित्तानि। आ। अकरम्। अग्ने। पुरीष्य। अधिपा इत्यधिऽपाः। भव। त्वम्। नः। इषम्। ऊर्जम्। यजमानाय। धेहि ॥ ५८ ॥

पदार्थः—(सम्) एकस्मिन् धर्मे (वाम्) युवयोः (मनांसि) संकल्पविकल्पात्मकान्यन्तःकरणवृत्तयः (सम्) (व्रता) सत्यभाषणादीनि (सम्)

(च) समुच्चये (चित्तानि) संज्ञातानि धर्म्याणि कर्माणि (आ) समन्तात् (अकरम्) कुर्याम् (अग्ने) उपदेशकाचार्य (पुरीष्य) पुरीषेषु पालकेषु व्यवहारेषु भवस्तत्संबुद्धौ (अधिपाः) अधिकः पालकः (भव) (त्वम्) (नः) अस्माकम् (इषम्) अन्नादिकम् (ऊर्जम्) शरीरात्मबलम् (यजमानाय) धर्मेण संगन्तुं शीलाय (धेहि) ॥ ५८ ॥

अन्वयः—हे स्त्रीपुरुषौ यथाऽहमाचार्यो वां समनांसि संव्रतोसंचित्ता-न्याकरं तथा युवां मम प्रियमाचरेतं हे पुरीष्याग्ने त्वं नोऽधिपा भव यजमानायेषमूर्जं च धेहि ॥ ५८ ॥

भावार्थः—उपदेशका यावच्छक्यस्तावत् सर्वेषामेकधर्म्येकर्म्यमेकनिष्ठां तुल्यसुखदुःखे यथा स्यात्तथा शिक्षयेयुः । सर्वे स्त्रीपुरुषा आप्तविद्वांसमेवोपदेष्टारमध्यापकं सेवेरन् स चैतेषामैश्वर्यपराक्रमवृद्धिं कुर्यात् । नैकधर्मादिभिर्विनाऽस्मासु सौहार्दं जायते । नैतेन विना सततं सुखं च ॥ ५८ ॥

पदार्थः—हे स्त्रीपुरुषो जैसे मैं आचार्य (वाम्) तुम दोनों के (समनांसि) एकधर्म्म में तथा संकल्प विकल्प आदि अन्तःकरण की वृत्तियों को (संव्रता) सत्यभाषणादि (च) और (सम्, चित्तानि) सम्यक् जाने हुए कर्मों में (आ) अच्छे प्रकार (अकरम्) करूं । वैसे तुम दोनों मेरी प्रीति के अनुकूल विचारो हे (पुरीष्य) रक्षा के योग्य व्यवहारों में हुए (अग्ने) उपदेशक आचार्य वा राजन् (त्वम्) आप (नः) हमारे (अधिपाः) अधिक रक्षा करने हारे (भव) हूजिये (यजमानाय) धर्मानुकूल सत्संग के स्वभाव वाले पुरुष वा ऐसी स्त्री के लिये (इषम्) अन्न आदि उत्तम पदार्थ और (ऊर्जम्) शरीर तथा आत्मा के बल को (धेहि) धारण कीजिये ॥ ५८ ॥

भावार्थः—उपदेशक मनुष्यों को चाहिये कि जितना सामर्थ्य हो उतना सब मनुष्यों का एक धर्म्म एक कर्म्म एक प्रकार की चित्तवृत्ति और बराबर सुख दुःख जैसे हों वैसे ही शिक्षा करें । सब स्त्री पुरुषों को योग्य है कि आप्त विद्वान् ही को उपदेशक और अध्यापक मान के सेवन करें और उपदेशक वा अध्यापक इन के ऐश्वर्य्य और पराक्रम को बढ़ावें । और सब मनुष्यों के एक

धर्म आदि के विना आत्माओं में मित्रता नहीं होती और मित्रता के विना निरन्तर सुख भी नहीं हो सकता ॥ ५८ ॥

अग्ने त्वमित्यस्य मधुच्छन्दा ऋषिः । अग्निर्देवता । भुरिगुष्णिक् छन्दः । ऋषभः स्वरः ॥

केऽध्यापनोपदेशाय नियोजनीया इत्याह ॥

किन को पढ़ाने और उपदेश के लिये नियुक्त करना चाहि० ॥

अग्ने त्वं पुरीष्यो रयिमान् पुष्टिमाँ२॥ असि शिवाः कृत्वा दिशः सर्वाः स्वं योनिमिहासदः ॥ ५९ ॥

अग्ने । त्वम् । पुरीष्यः । रयिमानिति रयिऽमान् । पुष्टिमानिति पुष्टिऽमान् । असि । शिवाः । कृत्वा । दिशः । सर्वाः । स्वम् । योनिम् । इह । आ । असदः ॥ ५९ ॥

पदार्थः—(अग्ने) उपदेशक विद्वन् (त्वम्) (पुरीष्यः) ऐश्वर्य-पालनेषु भवः (रयिमान्) विद्याविज्ञानधनयुक्तः (पुष्टिमान्) प्रशस्तशरीरात्मबलसहितः (असि) (शिवाः) कल्याणोपदेशयुक्ताः (कृत्वा) (दिशः) उपदेष्टव्याः प्रजाः (सर्वाः) समग्राः (स्वम्) स्वकीयम् (योनिम्) सुखसाधकं दुःखविच्छेदकमुपदेशम् (इह) अस्मिन् संसारे (आ) (असदः) आरुह ॥ ५९ ॥

अन्वयः—हे अग्ने यतस्त्वमिह पुरीष्यो रयिमान् पुष्टिमानसि तस्मात्सर्वा दिशः शिवाः कृत्वा स्वं योनिमासदः ॥ ५९ ॥

भावार्थः—राजप्रजाजनैर्येऽत्र जितेन्द्रिया धार्मिकाः परोपकारप्रिया विद्वांसो भवेयुस्ते प्रजासु धर्मोपदेशाय नियोजनीयाः । उपदेशकाश्च प्रयत्नेन सर्वान् शिवैकधर्मयुक्तान् सततमविरोधिनः सुखिनः संपादयेयुः ॥ ५९ ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) उपदेशक विद्वन् जिस से (त्वम्) आप (इह) इस संसार में (पुरीष्यः) एक मत के पालने में तत्पर (रयिमान्) विद्या विज्ञान और धन से युक्त और (पुष्टिमान्) प्रशंसित शरीर और आत्मा के बल से सहित (असि) हैं इसलिये (सर्वाः) सब (दिशः) उपदेश के योग्य प्रजा (शिवाः) कल्याणरूपी उपदेश से युक्त (कृत्वा) करके (स्वम्) अपने (योनिम्) सुखदायक दुःखनाशक उपदेश के घर को (आसदः) प्राप्त हूजिये ॥ ५६ ॥

भावार्थः—राजा और प्रजाजनों को चाहिये कि जो जितेन्द्रिय धर्मात्मा परोपकार में प्रीति रखने वाले विद्वान् होवें उनको प्रजा में धर्मोपदेश के लिये नियुक्त करें और उपदेशकों को चाहिये कि प्रयत्न के साथ सब को अच्छी शिक्षा से एकधर्म में निरन्तर विरोध को छोड़ के सुखी करें ॥ ५६ ॥

भवतमित्यस्य मधुच्छन्दा ऋषिः । दम्पती देवता । आर्षी पंक्तिश्छन्दः । पंचमः स्वरः ॥

पुनः सर्वैर्विद्याप्रदानायाप्ता विद्वांसः प्रार्थनीया इत्याह ॥
फिर सब को चाहिये कि विद्या देने के लिये आप्त विद्वानों की प्रार्थना करें इस वि० ॥

भवतन्नः समनसौ सचेतसावरेपसौ । मा यज्ञꣳ हिꣳसिष्टं मा यज्ञपतिं जातवेदसौ शिवौ भवतमद्य नः ॥ ६० ॥

भवतम् । नः । समनसाविति सऽमनसौ । सचेतसाविति सऽचेतसौ । अरेपसौ । मा । यज्ञम् । हिꣳसिष्टम् । मा । यज्ञपतिमिति यज्ञऽपतिम् । जातवेदसाविति जातऽवेदसौ । शिवौ । भवतम् । अद्य । नः ॥ ६० ॥

पदार्थः—(भवतम्) (नः) अस्मभ्यम् (समनसौ) समानविचारौ (सचेतसौ) समानसंज्ञानौ (अरेपसौ) अनपराधिनौ (मा) (यज्ञम्) संगन्तव्यं धर्मम् (हिंसिष्टम्) हिंस्यातम् (मा) (यज्ञपतिम्) उपदेशेन धर्मरक्षकम् (जातवेदसौ) उत्पन्नाऽखिलविज्ञानौ (शिवौ) मंगलकारिणौ (भवतम्) (अद्य) (नः) अस्मभ्यम् ॥ ६० ॥

अन्वयः—हे विवाहितौ स्त्रीपुरुषौ युवां नः समनसौ सचेतसावरेपसौ भवतम् । यज्ञं मा हिंसिष्टं यज्ञपतिं मा हिंसिष्टम् । अद्य नो जातवेदसौ शिवौ भवतम् ॥ ६० ॥

भावार्थः—स्त्रीपुरुषजनैः सत्योपदेशायाध्यापनाय पूर्णविद्याः प्रगल्भाः निष्कपटा आप्ता नित्यं प्रार्थनीया विद्वांसस्तु सर्वेभ्य एवमुपदिशेयुर्यतः सर्वे धर्माचारिणः स्युः ॥ ६० ॥

पदार्थः—हे विवाह किये हुए स्त्रीपुरुषो तुम दोनों (नः) हम लोगों के लिये (समनसौ) एक से विचार और (सचेतसौ) एक से बोध वाले (अरेपसौ) अपराधरहित (भवतम्) हूजिये (यज्ञम्) प्राप्त होने योग्य धर्म को (मा) मत (हिंसिष्टम्) बिगाड़ो और (यज्ञपतिम्) उपदेश से धर्म के रक्षक पुरुष को (मा) मत मारो (अद्य) आज (नः) हमारे लिये (जातवेदसौ) संपूर्ण विज्ञान को प्राप्त हुए (शिवौ) मंगलकारी (भवतम्) हूजिये ॥ ६० ॥

भावार्थः—स्त्रीपुरुषजनों को चाहिये कि सत्य उपदेश और पढ़ाने के लिये सब विद्याओं से युक्त प्रगल्भ निष्कपट धर्मात्मा सत्यप्रिय पुरुषों की नित्य प्रार्थना और उन की सेवा करें । और विद्वान् लोग सब के लिये ऐसा उपदेश करें कि जिस से सब धर्माचरण करने वाले हो जावें ॥ ६० ॥

मातेवेत्यस्य मधुच्छन्दा ऋषिः । पत्नी देवता । आर्षी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

माता किंवत्संतानान् पालयतीत्याह ॥

माता किस के तुल्य सन्तानों को पालती है यह वि० ॥

मातेव पुत्रं पृथिवी पुरीष्यमग्निꣳ स्वे योनावभारुखा । तां विश्वैर्देवैर्ऋतुभिः संविदानः प्रजापतिर्विश्वकर्म्मा वि मुञ्चतु ॥ ६१ ॥

मातेवेति माताऽइव । पुत्रम् । पृथिवी । पुरीष्यम् । अग्निम् । स्वे । योनौ । अभाः । उखा । ताम् । विश्वैः । देवैः । ऋतुभिरित्यृतुऽभिः । संविदान इति सम्ऽविदानः । प्रजापतिरिति प्रजाऽपतिः । विश्वकर्म्मेति विश्वऽकर्मा । वि । मुञ्चतु ॥ ६१ ॥

पदार्थः—(मातेव) (पुत्रम्) (पृथिवी) भूमिवद्वर्त्तमाना विदुषी स्त्री (पुरीष्यम्) पुष्टिकरेषु गुणेषु भवम् (अग्निम्) विद्युतमिव सुप्रकाशम् (स्वे) स्वकीये (योनौ) गर्भाशये (अभाः) पुष्णाति धरति वा (उखा) प्राप्तुमर्हा (ताम्) (विश्वैः) सर्वैः (देवैः) दिव्यैर्गुणैः सह (ऋतुभिः) वसन्ताद्यैः (संविदानः) सम्यग्ज्ञापयन् (प्रजापतिः) परमेश्वरः (विश्वकर्म्मा) अखिलोत्तमक्रियः (वि) विरुद्धार्थे (मुञ्चतु) ॥ ६१ ॥

अन्वयः—योखा पृथिवीवद्वर्त्तमाना स्त्री स्वे योनौ पुरीष्यमग्निं पुत्रं मातेवाभा धरति तां संविदानो विश्वकर्मा प्रजापतिर्विश्वैर्देवैर्ऋतुभिः सह सततं दुःखाद्विमुञ्चतु पृथग्रक्षतु ॥ ६१ ॥

भावार्थः—अत्रोपमालं०—यथा जननी सन्तानानुत्पाद्य पालयति तथैव पृथिवीकारणरूपां विद्युतं प्रकटय्य रक्षति यथा परमेश्वरो याथातथ्येन पृथिव्यादिगुणान् जानाति प्रतिनियतसमयमृत्वादीन् पृथिव्यादींश्च धृत्वा स्वस्वनियतपरिधौ चालयित्वा प्रलयसमये भिनत्ति तथैव विद्वद्भिरप्युद्यमेनैतान् विदित्वा कार्य्यसिद्धये प्रयतितव्यम् ॥ ६१ ॥

पदार्थः—जो (उखा) जानने योग्य (पृथिवी) भूमि के समान वर्त्तमान विद्वान् स्त्री (स्वे) अपने (योनौ) गर्भाशय में (पुरीष्यम्) पुष्टिकारक गुणों में हुए (अग्निम्) बिजुली के तुल्य अच्छे प्रकाश से युक्त गर्भरूप (पुत्रम्) पुत्र को (मातेव) माता के समान (अभाः) पुष्ट वा धारण करती है (ताम्) उस को (संविदानः) सम्यक् बोध करता हुआ (विश्वकर्मा) सब उत्तम कर्म करने वाला (प्रजापतिः) परमेश्वर (विश्वैः) सब (देवैः) दिव्य-गुणों और (ऋतुभिः) वसन्त आदि ऋतुओं के साथ निरन्तर दुःख से (वि,मुञ्चतु) छुड़ावे ॥ ६१ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में उपमालं०—जैसे माता सन्तानों को उत्पन्न कर पालती है वैसे ही पृथिवी कारणरूप बिजुली को प्रसिद्ध करके रक्षा करती है। जैसे परमेश्वर ठीक २ पृथिवी आदि के गुणों को जानता और नियत समय पर मरे हुओं और पृथिवी आदि को धारण कर अपनी २ नियत अवधि से पहले के प्रलय समय में सब को भिन्न करता है वैसे ही विद्वानों को चाहिये कि अपनी बुद्धि के अनुसार इन सब पदार्थों को जान के कार्यसिद्धि के लिये प्रयत्न करें ॥ ६१ ॥

असुन्वन्तमित्यस्य मधुच्छन्दा ऋषिः । निर्ऋतिर्देवता । निचृत् त्रिष्टुप्छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

स्त्रियः कीदृशान्पतीनिच्छेयुरित्याह ॥

स्त्री लोग कैसे पतियों की इच्छा न करें यह वि०॥

असुन्वन्तमयजमानमिच्छ स्तेनस्येत्यामन्विहि तस्करस्य । अन्यमस्मदिच्छ सा त इत्या नमो देवि निर्ऋते तुभ्यमस्तु ॥ ६२ ॥

असुन्वन्तम् । अयजमानम् । इच्छ । स्तेनस्य । इत्याम् । अनु । इहि । तस्करस्य । अन्यम् । अस्मत् । इच्छ । सा ।

ते । इत्या । नमः । देवि । निर्ऋत इति निःऽऋते । तुभ्यम् । अस्तु ॥ ६२ ॥

पदार्थः—(असुन्वन्तम्) अभिषवादिक्रियानुष्ठानरहितम् (अयजमानम्) अदातारम् (इच्छ) (स्तेनस्य) अप्रसिद्धचोरस्य (इत्याम्) एतुमर्हां क्रियाम् (अनु) (इहि) गच्छ (तस्करस्य) प्रसिद्धचोरस्य (अन्यम्) भिन्नम् (अस्मत्) (इच्छ) (सा) (ते) तव (इत्या) एतुमर्हा क्रिया (नमः) अन्नम् (देवि) विदुषि (निर्ऋते) निरये सत्याचारे पृथिवीवद्वर्त्तमाने (तुभ्यम्) (अस्तु) भवतु ॥ ६२ ॥

अन्वयः—हे निर्ऋते देवि त्वमस्मत्स्तेनस्य तस्करस्य सम्बन्धिनं विहायान्यमिच्छासुन्वन्तमयजमानं मेच्छ । यामित्यामन्विहि सेत्या तेऽस्तु नमश्च तस्यै तुभ्यमस्तु ॥ ६२ ॥

भावार्थः—हे स्त्रियो यूयमपुरुषार्थिनः स्तेनसम्बन्धिनः पुरुषान् पतीन् मेच्छत । आप्तनीतीन् गृहीत यथा पृथिव्यनेकोत्तमफलप्रदानेन जनान् रञ्जयति तथा भवत । एवंभूताभ्यो युष्मभ्यं वयं नमः कुर्मः । यथा वयमलसेभ्यः स्तेनेभ्यश्च पृथग् वर्त्तेमहि तथा यूयमपि वर्त्तध्वम् ॥ ६२ ॥

पदार्थः—हे (निर्ऋते) पृथिवी के तुल्य वर्त्तमान (देवि) विद्वान् स्त्री तू (अस्मत्) हम से भिन्न (स्तेनस्य) अप्रसिद्ध चोर और (तस्करस्य) प्रसिद्ध चोर के सम्बन्धी को छोड़ के (अन्यम्) भिन्न की (इच्छ) इच्छा कर और (असुन्वन्तम्) अभिषव आदि क्रियाओं के अनुष्ठान से रहित (अयजमानम्) दानधर्म से रहित पुरुष की (इच्छ) इच्छा मत कर और तू जिस (इत्याम्) प्राप्त होने योग्य क्रिया को (अन्विहि) ढूंढे (सा) वह (इत्या) क्रिया (ते) तेरी हो तथा उस (तुभ्यम्) तेरे लिये (नमः) अन्न वा सत्कार (अस्तु) होवे ॥ ६२ ॥

भावार्थः—हे स्त्रियो तुम लोगों को चाहिये कि पुरुषार्थरहित चोरों के सम्बन्धी पुरुषों को अपने पति करने की इच्छा न करो । आप्त पुरुषों की नीति

के तुल्य नीति वाले पुरुषों को ग्रहण करो। जैसे पृथिवी अनेक उत्तम फलों के दान से मनुष्यों को संयुक्त करती है वैसी होओ। ऐसे गुणों वाली तुम को हम लोग नमस्कार करते हैं। जैसे हम लोग आलसी चोरों के साथ न वर्त्तें वैसे तुम लोग भी मत वर्त्तो॥ ६२॥

नमः सुत इत्यस्य मधुच्छन्दा ऋषिः। निर्ऋतिर्देवता। भुरिगार्षी पङ्क्तिश्छन्दः। पञ्चमः स्वरः॥

पुनरेताः कथं भवेयुरित्याह॥

फिर वे स्त्री कैसी हों इस विषय का उपदेश अगले मंत्र में किया है॥

नमः सु ते निर्ऋते तिग्मतेजोऽयस्मयं विचृता बन्धमेतम्। यमेन त्वं यम्या संविदानोत्तमे नाके अधि रोहयैनम्॥ ६३॥

नमः। सु। ते। निर्ऋत इति निःऽऋते। तिग्मतेज इति तिग्मऽतेजः। अयस्मयम्। वि। चृत। बन्धम्। एतम्। यमेन। त्वम्। यम्या। संविदानेति सम्ऽविदाना। उत्तम इत्युत्ऽतमे। नाके। अधि। रोहय। एनम्॥ ६३॥

पदार्थः—(नमः) अन्नादिकम् (सु) (ते) तव (निर्ऋते) निरन्तरामृतं सत्यं यस्याः तत्सम्बुद्धौ (तिग्मतेजः) तीव्राणि तेजांसि यस्मात्तत् (अयस्मयम्) सुवर्णादिप्रकृतम्। अयइति हिरण्यना०। निघं० १। २। (वि) (चृत) विमुञ्च। द्व्यचोऽतस्तिङ इति दीर्घः (बन्धम्) बध्नाति येन तं (एतम्) यमेन न्यायाधीशेन (त्वम्) (यम्या) न्यायकर्त्र्या (संविदाना) सम्यक्कृतप्रतिज्ञा (उत्तमे) (नाके) आनन्दे मोक्षाख्ये सति (अधि) (रोहय) (एनम्)॥ ६३॥

अन्वयः—हे निर्ऋते यस्यास्ते तिग्मतेजोऽयस्मयं नमोऽस्ति सा त्वमेतं बन्धं सुविचृत । यमेन यम्या सह च संविदाना सत्येनं पतिमुत्तमे नाकेऽधिरोहय ॥ ६३ ॥

भावार्थः—हे स्त्रियो यूयं यथेयं पृथिवी तेजः सुवर्णान्नादिसंबन्धास्ति तथा भवत यथा युष्माकं पतयो न्यायाधीशा भूत्वा सापराधानपराधिनां सत्यन्यायेन विवेचनं कृत्वा सापराधान् दण्डयन्ति निरपराधिनः सत्कुर्वन्ति युष्मानुत्तमानानन्दान् प्रददति तथा यूयमपि भवत ॥ ६३ ॥

पदार्थः—हे (निर्ऋते) निरन्तर सत्य आचरणों से युक्त स्त्री जिस (ते) तेरे (तिग्मतेजः) तीव्र तेजों वाले (अयस्मयम्) सुवर्णादि और (नमः) अन्नादि पदार्थ हैं सो (त्वम्) तू (एतम्) इस (बन्धम्) बांधने के हेतु अज्ञान का (सुविचृत) अच्छे प्रकार (यमेन) न्यायाधीश तथा (यम्या) न्याय करने हारी स्त्री के साथ (संविदाना) सम्यक् बुद्धियुक्त होकर (एनम्) इस अपने पति को (उत्तमे) उत्तम (नाके) आनन्द भोगने में (अधिरोहय) आरूढ़ कर ॥ ६३ ॥

भावार्थः—हे स्त्रियो तुम को चाहिये कि जैसे यह पृथिवी अग्नि तथा सुवर्ण अन्नादि पदार्थों से सम्बन्ध रखती है वैसे तुम भी होओ । जैसे तुम्हारे पति न्यायाधीश होकर अपराधी और अपराधरहित मनुष्यों का सत्य न्याय से विचार कर के अपराधियों को दण्ड देते और अपराधरहितों का सत्कार करते हैं तुम लोगों के लिये अत्यन्त आनन्द देते हैं वैसे तुम लोग भी होओ ॥६३॥

यत्पास्य इत्यस्य मधुच्छन्दा ऋषिः । निर्ऋतिर्देवता ।
आर्षी त्रिष्टुप्छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

कस्मै प्रयोजनाय दम्पती भवेतामित्युपदिश्यते ॥

किस प्रयोजन के लिये स्त्री पुरुष संयुक्त होवें यह विषय अगले मंत्र में कहा है ॥

यस्यास्ते घोर आसन् जुहोम्येषां बन्धानामवसर्जनाय । यां त्वा जनो भूमिरिति प्रमन्दते निर्ऋतिं त्वाहं परि वेद विश्वतः ॥ ६४ ॥

यस्याः । ते । घोरे । आसन् । जुहोमि । एषाम् । बन्धानाम् । अवसर्जनायेत्यवऽसर्जनाय । याम् । त्वा । जनः । भूमिः । इति । प्रमन्दत इति प्रऽमन्दते । निर्ऋतिमिति निःऽऋतिम् । त्वा । अहम् । परि । वेद । विश्वतः ॥ ६४ ॥

पदार्थः—(यस्याः) सुव्रतायाः स्त्रियाः (ते) तव (घोरे) भयानके (आसन्) आस्ये मुखे (जुहोमि) ददामि (एषाम्) वर्त्तमानानाम् (बन्धानाम्) दुःखकारकत्वेन निरोधकानाम् (अवसर्जनाय) त्यागाय (याम्) (त्वा) त्वाम् (जनः) (भूमिः) (इति) इव (प्रमन्दते) आनन्दयति (निर्ऋतिम्) भूमिमिव (त्वा) (अहम्) (परि) सर्वतः (वेद) जानीयाम् (विश्वतः) सर्वतः ॥ ६४ ॥

अन्वयः—हे घोरे पत्नि यस्यास्त आसन्नेषां बन्धानामवसर्जनायामृतात्मकपदार्थादिकं जुहोमि यो जनो भूमिरिति यां त्वा प्रमन्दते तामहं विश्वतो निर्ऋतिमिव त्वा परि वेद सा त्वमित्थं मां विद्धि ॥ ६४ ॥

भावार्थः—अत्रोपमावाचकलुप्तोपमालं०—यथा पतयः स्वानन्दाय स्त्रियो गृह्णन्ति तथैव तस्मै स्त्रियोऽपि पतीन् गृह्णीयुः । अत्र गृहाश्रमे पतिव्रता स्त्री स्त्रीव्रतः पतिश्च सुखनिधिरिव भवति क्षेत्रभूता स्त्री बीजरूपः पुमान् । यद्येतयोः शुद्धयोर्बलवतोः समागमेनोत्तमा विविधाः प्रजा जायेरँस्तर्हि सर्वदा भद्रं भवतीति वेद्यम् ॥ ६४ ॥

पदार्थः—हे (घोरे) दुष्टों को भय करने हारी स्त्री (यस्याः) जिस सुन्दर नियम युक्त (ते) तेरे (आसन्) मुख में (एषाम्) इन (बन्धानाम्)

दुःख देते हुए रोकने वालों के (अव, सर्जनाय) त्याग के लिये अमृतरूप अन्नादि पदार्थों को (जुहोमि) देता हूं जो (जनः) मनुष्य (भूमिरिति) पृथिवी के समान (याम्) जिस (त्वा) तुझ को (प्रमन्दते) आनन्दित करता है उस तुझ को (अहम्) मैं (विश्वतः) सब ओर से (निर्ऋतिम्) पृथिवी के समान (त्वा) (परि) सब प्रकार से (वेद) जानूं । सो तू भी इस प्रकार मुझ को जान ॥ ६४ ॥

भावार्थ—इस मंत्र में उपमा और वाचकलु०—जैसे पति अपने आनन्द के लिये स्त्रियों का ग्रहण करते हैं । वैसे ही स्त्री भी पतियों का ग्रहण करें इस गृहाश्रम में पतिव्रता स्त्री और स्त्रीव्रत पति सुख का कोश होता है । खेतरूप स्त्री और बीजरूप पुरुष जो इन शुद्ध बलवान् दोनों के समागम से उत्तम विविध प्रकार के सन्तान हों तो सर्वदा कल्याण ही बढ़ता रहता है ऐसा जानना चाहिये ॥ ६४ ॥

यं ते देवीत्यस्य मधुच्छन्दा ऋषिः । यजमानो देवता । आर्षी जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

विवाहसमये कीदृशीः प्रतिज्ञाः कुर्य्युरित्याह ॥

विवाह समय में कैसी २ प्रतिज्ञा करें इस वि० ॥

यन्ते॑ दे॒वी निर्ऋ॑तिराब॒बन्ध॒ पाशं॑ ग्री॒वास्व॑विचृ॒त्यम् । तं ते॒ विष्या॒म्यायु॑षो॒ न मध्या॒दथै॒तं पि॑तु॒मद्धि॒ प्रसू॑तः । नमो॒ भूत्यै॒ येदं च॒कार॑ ॥ ६५ ॥

यम् । ते॒ । दे॒वी । निर्ऋ॑तिरिति॒ निःऽऋ॑तिः । आ॒ब॒बन्धेत्या॑ऽब॒बन्ध॑ । पाश॑म् । ग्री॒वासु॑ । अ॒वि॒चृ॒त्यमित्य॑विऽचृ॒त्यम् । तम् । ते॒ । वि । स्या॒मि॒ । आयु॑षः । न । मध्या॑त् । अथ॑ ।

एतम् । पितुम् । अद्धि । प्रसूतइति प्रऽसूतः । नमः । भूत्यै । या । इदम् । चकार ॥ ६५ ॥

पदार्थः—(यम्) (ते) तव (देवी) दिव्या स्त्री (निर्ऋतिः) पृथिवीव (आबबन्ध) समन्ताद्बध्नामि (पाशम्) धर्म्यं बन्धनम् (ग्रीवासु) कण्ठेषु (अविचृत्यम्) अमोचनीयम् (तम्) (ते) तव (वि) (स्यामि) प्रविशामि (आयुषः) जीवनस्य (न) इव (मध्यात्) (अथ) आनन्तर्ये (एतम्) (पितुम्) अन्नादिकम् (अद्धि) भुङ्क्ष्व (प्रसूतः) उत्पन्नः सन् (नमः) सत्कारे (भूत्यै) ऐश्वर्यकारिकायै (या) (इदम्) प्रत्यक्षं नियमनम् (चकार) कुर्यात् ॥ ६५ ॥

अन्वयः—हे पते निर्ऋतिरिवाहं ते तव यं ग्रीवास्वविचृत्यं पाशमाबध्य तं ते तवाप्यहं विष्यामि । आयुषोऽमध्य न विष्यामि । अथावयोर्मध्यात्कश्चिदपि नियमात् पृथक् न गच्छेत् । यथाऽहमेतं पितुमद्मि तथा प्रसूतः संस्त्वमेनमद्धि । हे स्त्रि या त्वमिदं पतिव्रताधर्मेण सुसंस्कृतं चकार तस्यै भूत्यै नमोऽहं करोमि ॥ ६५ ॥

भावार्थः—अत्रोपमालं०—विवाहसमये यावव्यभिचाराद्यादीन् नियमान् कुर्युस्तेभ्योऽन्यथा कदाचिन्नाचरेयुः । कुतः यदा पाणिं गृह्णन्ति तदा पुरुषस्य यावत्स्वं तावत्सर्वं स्त्रिया यावत् स्त्रियास्तावदखिलं पुरुषस्यैव भवति यदि पुरुषो विवाहितां विहायाऽन्यस्त्रीगो भवेत् स्त्री च परपुरुषगामिनी स्यात्तावुभौ स्तेनवत्पापात्मानौ स्याताम् । अतो स्त्रिया अनुमतिमन्तरा पुरुषः पुरुषाज्ञया च विना स्त्री किंचिदपि कर्म न कुर्यात् इदमेव स्त्रीपुरुषयोः प्रीतिकरं कर्म यदव्यभिचरणमिति ॥ ६५ ॥

पदार्थः—स्त्री कहे कि हे पते (निर्ऋतिः) पृथिवी के समान मैं (ते) तेरे (ग्रीवासु) कण्ठों में (अविचृत्यम्) न छोड़ने योग्य (यम्) जिस (पाशम्) धर्मयुक्त बन्धन को (आबबन्ध) अच्छे प्रकार बांधती हूं (तम्) उस को (ते) तेरे लिये भी प्रवेश करती हूं (आयुषः) अवस्था के साधन अन्न के

(न) समान (वि, स्यामि) प्रविष्ट होती हूं (अथ) इस के पश्चात् (मध्यात्) मैं तू दोनों में से कोई भी नियम से विरुद्ध न चले जैसे मैं (एतम्) इस (पितुम्) अन्नादि पदार्थ को भोगती हूं वैसे (अमूतः) उत्पन्न हुआ तू इस अन्नादि को (अद्धि) भोग । हे स्त्री (या) जो (देवी) दिव्य गुण वाली तू (इदम्) इस पतिव्रतरूप धर्म से संस्कार किये हुए प्रत्यक्ष नियम को (चकार) करे उस (भूत्यै) ऐश्वर्य्य करने हारी तेरे लिये (नमः) अन्नादि पदार्थ को देता हूं ॥ ६५ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में उपमालं०—विवाहसमय में जिन व्यभिचार के त्याग आदि नियमों को करें उन से विरुद्ध कभी न चलें क्योंकि पुरुष जब विवाहसमय में स्त्री का हाथ ग्रहण करता है तभी पुरुष का जितना पदार्थ है वह सब स्त्री का और जितना स्त्री का है वह सब पुरुष का समझा जाता है। जो पुरुष अपनी विवाहित स्त्री को छोड़ अन्य स्त्री के निकट जावे वा स्त्री दूसरे पुरुष की इच्छा करे तो वे दोनों चोर के समान पापी होते हैं इसलिये स्त्री की सम्मति के विना पुरुष और पुरुष की आज्ञा के विना स्त्री कुछ भी काम न करें यही स्त्री पुरुषों में परस्पर प्रीति बढ़ने वाला काम है कि जो व्यभिचार को सब समय में त्याग दें ॥ ६५ ॥

निवेशन इत्यस्य विश्वावसुर्ऋषिः । अग्निर्देवता । विराडार्षी त्रिष्टुप्छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

कीदृशाः स्त्रीपुरुषा गृहाश्रमं कर्तुं योग्याः सन्तीत्याह ॥
कैसे स्त्री पुरुष गृहाश्रम करने के योग्य होते हैं यह विषय
अगले मन्त्र में कहा है ॥

निवेशनः सङ्गमनो वसूनां विश्वा रूपाऽभि चष्टे शचीभिः । देव इव सविता सत्यधर्मेन्द्रो न तस्थौ समरे पथीनाम् ॥ ६६ ॥

नि॒वेश॑न॒ इति॑ नि॒ऽवेश॑नः । स॒ङ्गम॑न॒ इति॑ स॒म्ऽगम॑नः । वसू॑नाम् । विश्वा॑ । रू॒पा । अ॒भि । च॒ष्टे॒ । शची॑भिः । दे॒व इ॒वेति॑ दे॒वःऽइ॑व । स॒वि॒ता । स॒त्यध॒र्मेति॑ स॒त्यध॑र्मा । इन्द्रः॑ । न । त॒स्थौ॒ । स॒म॒र इति॑ स॒म्ऽअ॒रे । प॒थीना॑म् ॥ ६६ ॥

पदार्थः—(निवेशनः) यः स्त्रियां निविशते (संगमनः) सम्यग्गन्ता (वसूनाम्) पृथिव्यादीनां पदार्थानां (विश्वा) सर्वाणि (रूपा) रूपाणि (अभि) (चष्टे) पश्यति (शचीभिः) प्रज्ञाभिः कर्मभिर्वा (देव इव) परमेश्वर: (सविता) सकलजगतः प्रसविता (सत्यधर्मा) सत्यो धर्मो यस्य सः (इन्द्रः) सूर्यः (न) इव (तस्थौ) तिष्ठेत् (समरे) संग्रामे । समर इति संग्रामना० । २ । १७ । (पथीनाम्) गच्छताम् ॥ ६६ ॥

अन्वयः—यः सत्यधर्मा सविता देव इव निवेशनः संगमनः शचीभिर्वसूनां विश्वा रूपाऽभिचष्टे । इन्द्रो न समरे पथीनां सम्मुखे तस्थौ स एव गृहाश्रमाय योग्यो जायते ॥ ६६ ॥

भावार्थः—अत्रोपमालं०—मनुष्या यथेश्वरेण मनुष्योपकाराय कारणात्कार्य्याख्या अनेके पदार्था रचिता उपयुज्यन्ते यथा सूर्यो मेघेन सह युद्धाय वर्त्तते तथा सृष्टिक्रमविज्ञानेन युक्तिपया च भूम्यादिपदार्थेभ्योऽनेके व्यवहाराः संसाधनीयाः ॥ ६६ ॥

पदार्थः—जो (सत्यधर्मा) सत्य धर्म से युक्त (सविता) सब जगत् के रचने वाले (देव इव) ईश्वर के समान (निवेशनः) स्त्री का साथी (सङ्गमनः) शीघ्रगति से युक्त (शचीभिः) बुद्धि वा कर्मों से (वसूनाम्) पृथिवी आदि पदार्थों के (विश्वा) सब (रूपा) रूपों को (अभिचष्टे) देखता है (इन्द्रः) सूर्य्य के (न) समान (समरे) युद्ध में (पथीनाम्) चलते हुए मनुष्यों के सम्मुख (तस्थौ) स्थित होवे वही गृहाश्रम के योग्य होता है ॥ ६६ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में दो उपमालं०—मनुष्यों को योग्य है कि जैसे ईश्वर ने सब के उपकार के लिये कारण से कार्यरूप अनेक पदार्थ रच के उपयुक्त करे

हैं। जैसे सूर्य मेघ के साथ युद्ध करके जगत् का उपकार करता है वैसे रचना क्रम के विज्ञान सुन्दर क्रिया से पृथिवी आदि पदार्थों से अनेक व्यवहार सिद्ध कर प्रजा को सुख देवें ॥ ६६ ॥

सीरा इत्यस्य विश्वावसुर्ऋषिः । कृषीवलाः कवयो देवताः । गायत्रीच्छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

अथ कृषियोगविद्या आह ॥

अब खेती करने की विद्या अगले मंत्र में कही है ॥

सीरा॑ युञ्जन्ति क॒वयो॑ यु॒गा वि त॑न्वते॒ पृथ॑क् । धीरा॑ दे॒वेषु॑ सु॒म्न॒या ॥ ६७ ॥

सीरा॑ । यु॒ञ्ज॒न्ति॒ । क॒वय॑ः । यु॒गा । वि । त॒न्व॒ते॒ । पृथ॑क् । धीरा॑ः । दे॒वेषु॑ । सु॒म्न॒येति॑ सु॒म्न॒ऽया ॥ ६७ ॥

पदार्थः—(सीरा) सीराणि हलानि (युञ्जन्ति) युञ्जन्तु (कवयः) मेधाविनः । कविरिति मेधाविना० । ३ । १५ । (युगा) युगानि (वि) (तन्वते) विस्तृणन्ति (पृथक्) (धीराः) ध्यानवन्तः (देवेषु) विद्वत्सु (सुम्नया) सुम्नेन सुखेन । अत्र तृतीयैकवचनस्यायादेशः ॥ ६७ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यथा धीराः कवयः सीरा युगा च युञ्जन्ति सुम्नया देवेषु पृथग् वितन्वते तथा सर्वैरेतदनुष्ठेयम् ॥ ६७ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—मनुष्यैरिह विद्वच्छिक्षया कृषिकर्मोन्नेयं यथा योगिनो नाडीषु परमेश्वरं समाधियोगेनोपकुर्वन्ति तथैव कृषिकर्मद्वारा सुखोपयोगः कर्त्तव्यः ॥ ६७ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो जैसे (धीराः) ध्यानशील (कवयः) बुद्धिमान् लोग (सीराः) हलों और (युगा) जुआ आदि को (युञ्जन्ति) युक्त करते और

(सुम्नया) सुख के साथ (देवेषु) विद्वानों में (पृथक्) अलग (वितन्वते) विस्तारयुक्त करते वैसे सब लोग इस खेती कर्म का सेवन करें ॥ ६७ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में वाचकलु०—मनुष्यों को चाहिये कि विद्वानों की शिक्षा से कृषिकर्म की उन्नति करें। जैसे योगी नाड़ियों में परमेश्वर को समाधियोग से प्राप्त होते हैं। वैसे ही कृषिकर्म द्वारा सुखों को प्राप्त होवें ॥ ६७ ॥

युनक्तेत्यस्य विश्वावसुर्ऋषिः। कृषीवला: कवयो वा देवताः।
विराडार्षी त्रिष्टुप्छन्दः। धैवतः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥
फिर भी वही विषय अगले मंत्र में कहा है ॥

युनक्त सीरा वि युगा तनुध्वं कृते योनौ वपतेह बीजम्। गिरा च श्रुष्टिः सभरा असन्नो नेदीय इत्सृण्यः पक्वमेयात् ॥ ६८ ॥

युनक्त। सीरा। वि। युगा। तनुध्वम्। कृते। योनौ। वपत। इह। बीजम्। गिरा। च। श्रुष्टिः। सभरा इति सऽभरा:। असत्। नः। नेदीयः। इत्। सृण्यः। पक्वम्। आ। इयात् ॥ ६८ ॥

पदार्थः—(युनक्त) युङ्ध्वम् (सीरा) हलादीनि कृष्युपकारणानि नाडीर्वा (वि) विविधार्थे (युगा) युगानि (तनुध्वम्) विस्तृणीत (कृते) हलादिभिः कर्षिते योगाङ्गैर्निष्पादितेऽन्तःकरणे वा (योनौ) क्षेत्रे (वपत) (इह) अस्यां भूमौ बुद्धौ वा (बीजम्) यवादिकं सिद्धिमूलं वा (गिरा) कृषियोगकर्मोपयुक्तया सुशिक्षितया वाचा (च) स्वबुद्धिविचारेण (श्रुष्टिः) शीघ्रम्। श्रुष्टीति क्षिप्रनामा। श्रु अष्टीति। निरु० ६। १२। (सभराः) समान-

धारणपोषणाः (असत्) अस्तु (नः) अस्मान् (नेदीयः) अतिशयेनान्तिकम् (इत्) एव (सृण्यः) याः क्षेत्रयोगान् गताः यवादिजातयः (पक्वम्) (आ) (इयात्) प्राप्नुयात् ॥ ६८ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यूयमिह साधनानि वितनुध्वं सीरा युगा युनक्त। कृते योनौ बीजं वपत गिरा च सभराः श्रुष्टिर्भवत याः सृण्यः सन्ति ताभ्यो यन्नेदीयोऽसत् पक्वं यच्चादिदेव न एयात् ॥ ६८ ॥

भावार्थः—हे मनुष्या यूयं विद्वद्भ्यः कृषीवलेभ्यश्च कृषियोगकर्मशिक्षां प्राप्यानेकानि साधनानि संपाद्य कृषिं योगं च कुरुत। तस्माद्यद्यत्पक्वं स्यात्तत्तद्गृहीत्वोपभुङ्ग्ध्वं भोजयत वा ॥ ६८ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो तुम लोग (इह) इस पृथिवी वा बुद्धि में साधनों को (वितनुध्वम्) विविध प्रकार से विस्तारयुक्त करो (सीरा) खेती के साधन हल आदि वा नाड़ियां और (युगा) जुआओं को (युनक्त) युक्त करो (कृते) हल आदि से जोते वा योग के अंगों से शुद्ध किये अन्तःकरण (योनौ) खेत में (बीजम्) यव आदि वा सिद्धि के मूल को (वपत) बोया करो (गिरा) खेती विषयक कर्मों की उपयोगी सुशिक्षित वाणी (च) और अच्छे विचार से (सभराः) एक प्रकार के धारण और पोषण में युक्त (श्रुष्टिः) शीघ्र हूजिये जो (सृण्यः) खेतों में उत्पन्न हुए यव आदि अन्न जाति के पदार्थ हैं उन में जो (नेदीयः) अत्यन्त समीप (पक्वम्) पकाहुआ (असत्) होवे वह (इत्) ही (नः) हम लोगों को (आ) (इयात्) प्राप्त होवे ॥ ६८ ॥

भावार्थः—हे मनुष्यो तुम लोगों को उचित है कि विद्वानों से योगाभ्यास और खेती करने हारों से कृषि कर्म की शिक्षा को प्राप्त हो और अनेक साधनों को बना के खेती और योगाभ्यास करो। इस से जो २ अन्नादि पका हो उस २ का ग्रहण कर भोजन करो और दूसरों को कराओ ॥ ६८ ॥

शुनमित्यस्य कुमारहारित ऋषिः। कृषीवला देवताः। त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर भी वही वि० ॥

शुनꣳ सुफाला विकृषन्तु भूमिꣳ शुनं कीनाशा अभि यन्तु वाहैः । शुनासीरा हविषा तोशमाना सुपिप्पला ओषधीः कर्त्तनास्मै ॥ ६९ ॥

शुनम् । सु । फालाः । वि । कृषन्तु । भूमिम् । शुनम् । कीनाशाः । अभि । यन्तु । वाहैः । शुनासीरा । हविषा । तोशमाना । सुपिप्पला इति सुऽपिप्पलाः । ओषधीः । कर्त्तन । अस्मे इत्यस्मे ॥ ६९ ॥

पदार्थः—(शुनम्) सुखम् । शुनमिति सुखना० । निघं० ३ । ६ । (सु) (फालाः) फलन्ति विस्तीर्णां भूमिं कुर्वन्ति यैस्ते (वि) (कृषन्तु) विलिखन्तु (भूमिम्) (शुनम्) सुखम् (कीनाशाः) ये श्रमेण क्लिश्यन्ति ते कृषीवलाः । अत्र क्लिशेरीच्चोपधायाः कन् लोपश्च लोनाम् च । उ० ५ । ५६ । क्लिशधातोः कनि प्रत्यये लोप उपधाया ईत्वं धातोर्नागमश्च (अभि) (यन्तु) प्राप्नुवन्तु (वाहैः) वहन्ति यैस्तैर्वृषभादिवाहनैः (शुनासीरा) यथा वायुसूर्यौ । शुनासीरौ शुनो वायुः शरत्यन्तरिक्षे सीर आदित्यः सरणात् । निरु० ९ । ४० । (हविषा) संस्कृतेन घृतादिना संस्कृतौ (तोशमाना) सन्तुष्टिकारौ । अत्र वर्णव्यत्ययेन शः । विकरणात्मनेपदव्यत्ययौ च (सुपिप्पलाः) शोभनानि पिप्पलानि फलानि यासु ताः (ओषधीः) यवादीन् (कर्त्तन) कुर्वन्तु (अस्मे) अस्मभ्यम् ॥ ६९ ॥

अन्वयः—ये कीनाशास्ते फाला वाहैः सह वर्त्तमानैर्हलादिभिर्भूमिं विकृषन्तु शुनमभियन्तु । हविषा तोशमाना शुनासीरेवास्मे सुपिप्पला ओषधीः कर्त्तन ताभिः सु शुनं च ॥ ६९ ॥

भावार्थः—ये चतुराः कृषिकारा गोवृषभादीन् संरक्ष्य विचारेण कृषिं कुर्वन्ति तेऽत्यन्तं सुखं लभन्ते। नात्र क्षेत्रेऽमेध्यं किंचिन्मक्षेप्यम्। किन्तु बीजान्यपि सुगन्धयादियुक्तानि कृत्वैव वपन्तु यतोऽन्नान्यारोग्यकराणि भूत्वा बलबुद्धी वर्धयेयुः ॥ ६९ ॥

पदार्थः—जो (कीनाशाः) परिश्रम से क्लेशभोक्ता खेती करने हारे हैं वे (फालाः) जिन से पृथिवी को जोतें उन फालों से (वाहैः) बैल आदि के साथ वर्त्तमान हल आदि से (भूमिम्) पृथिवी को (विकृषन्तु) जोतें और (शुनम्) सुख को (अभियन्तु) प्राप्त होवें (हविषा) शुद्ध किये घी आदि से शुद्ध (तोशमाना) सन्तोषकारक (शुनासीरा) वायु और सूर्य्य के समान खेती के साधन (अस्मै) हमारे लिये (सुपिप्पलाः) सुन्दर फलों से युक्त (ओषधीः) जौ आदि (कर्त्तन) करें और उन ओषधियों से (सु) सुन्दर (शुनम्) सुख भोगें ॥ ६९ ॥

भावार्थः—जो चतुर खेती करने हारे गौ और बैल आदि की रक्षा करके विचार के साथ खेती करते हैं वे अत्यन्त सुख को प्राप्त होते हैं। इन खेतों में विष्ठा आदि मलीन पदार्थ नहीं डालने चाहियें किन्तु बीज सुगन्धि आदि से युक्त करके ही बोवें कि जिस से अन्न भी रोगरहित उत्पन्न होकर मनुष्यादि की बुद्धि को बढ़ावे ॥ ६९ ॥

घृतेनेत्यस्य कुमारहारित ऋषिः। कृषीवला देवताः। आर्षी त्रिष्टुप्छन्दः। धैवतः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर भी वही विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

घृतेन सीता मधुना समज्यतां विश्वैर्देवैरनुमता मरुद्भिः। ऊर्जस्वती पयसा पिन्वमानास्मान्त्सीते पयसाभ्या ववृत्स्व ॥ ७० ॥

घृतेन । सीता । मधुना । सम् । अज्यताम् । विश्वैः । देवैः । अनुमतेत्यनुऽमता । मरुद्भिरिति मरुत्ऽभिः । ऊर्जस्वती । पयसा । पिन्वमाना । अस्मान् । सीते । पयसा । अभि । आ । ववृत्स्व ॥ ७० ॥

पदार्थः—(घृतेन) आज्येन (सीता) सायन्ति क्षेत्रस्थलोष्ठान् क्षपन्ति यया सा काष्ठपट्टिका (मधुना) क्षौद्रेण शर्करादिना वा (सम्) एकीभावे (अज्यताम्) संयुज्यताम् (विश्वैः) सर्वैः (देवैः) अन्नादि कामयमानैर्विद्वद्भिः (अनुमता) अनुज्ञापिता (मरुद्भिः) मनुष्यैः (ऊर्जस्वती) ऊर्जः पराक्रमसम्बन्धो विद्यते यस्याः सा (पयसा) जलेन दुग्धेन वा (पिन्वमाना) सिक्ता, सेविता (अस्मान्) (सीते) सीता (पयसा) जलेन (अभि) (आ) (ववृत्स्व) वर्त्तिता भवतु ॥ ७० ॥

अन्वयः—विश्वैर्देवैर्मरुद्भिर्युष्माभिरनुमता पयसोर्जस्वती पिन्वमाना सीता घृतेन मधुना समज्यताम् । सा सीते सीतास्मान् घृतादिना संयोत्स्यतीति पयसाऽभ्याववृत्स्व अभ्यावर्त्यताम् ॥ ७० ॥

भावार्थः—सर्वे विद्वांसः कृषीवला विद्यानुज्ञाता घृतमधुजलादिना सुसंस्कृतामनुमतां क्षेत्रभूमिमन्नसुखाधिकां कुर्वन्तु यथा सुगन्धादियुक्तानि बीजानि कृत्वा वपन्ति तथैव तामपि सुगन्धेन संस्कृतां कुर्वन्तु ॥ ७० ॥

पदार्थः—(विश्वैः) सब (देवैः) अन्नादि पदार्थों की इच्छा करने वाले विद्वान् (मरुद्भिः) मनुष्यों की (अनुमता) आज्ञा से प्राप्त हुआ (पयसा) जल वा दुग्ध से (ऊर्जस्वतीः) पराक्रमसम्बन्धी (पिन्वमाना) सींचा वा सेवन किया हुआ (सीता) पटेला (घृतेन) घी तथा (मधुना) सहत वा शक्कर आदि से (समज्यताम्) संयुक्त करो (सीते) पटेला (अस्मान्) हम लोगों को घी आदि पदार्थों से संयुक्त करेगा इस हेतु से (पयसा) जल से (अभ्याववृत्स्व) वार-२ वर्त्ताओ ॥ ७० ॥

भावार्थः—सब विद्वानों को चाहिये कि किसान लोग विद्या के अनुकूल घी मीठा और जल आदि से संस्कार कर स्वीकार की हुई खेत की पृथिवी को अन्न को सिद्ध करने वाली करें। जैसे बीज सुगन्धि आदियुक्त करके बोते हैं वैसे इस पृथिवी को भी संस्कारयुक्त करें ॥ ७० ॥

लाङ्गलमित्यस्य कुमारहारित ऋषिः । कृषीवला देवताः । विराट् पंक्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर भी उसी वि० ॥

लाङ्ग॑लं॒ पवी॑रवत्सु॒शेव॑ꣳ सोम॒पित्स॑रु । तदुद्व॑पति॒ गामविं॑ प्रफ॒र्व्यं᳖ च॒ पीव॑रीं प्र॒स्थाव॑द्रथ॒वाह॑नम् ॥ ७१ ॥

लाङ्ग॑लम् । पवी॑रवत् । सु॒शेव॒मिति॑ सुऽशेव॑म् । सो॒म॒पि॒त्स॒र्विति॑ सोम॒पित्ऽस॑रु । तत् । उत् । व॒प॒ति॒ । गाम् । अवि॑म् । प्र॒फ॒र्व्य᳖मिति॑ प्रऽफ॒र्व्य᳖म् । च॒ । पीव॑रीम् । प्र॒स्था॒व॒दिति॑ प्र॒स्थाऽव॑त् । र॒थ॒वाह॑नम् । र॒थ॒वाह॑न॒मिति॑ र॒थ॒ऽवाह॑नम् ॥७१॥

पदार्थः—(लाङ्गलम्) सीरपश्चाद्भागे दार्ढ्याय संयोज्यं काष्ठम् (पवीरवत्) प्रशस्तः पवीरः फालो विद्यते यस्मिन् तत् (सुशेवम्) सुष्ठु सुखकरम् (सोमपित्सरु) ये सोमयवाद्योषधीः पालयन्ति तांस्त्सरयति कुटिलं गमयति (तत्) (उत्) (वपति) (गाम्) पृथिवीम् (अविम्) रक्षणादिहेतुम् (प्रफर्व्यम्) प्रफर्वितुं गमयितुं योग्यम् (च) (पीवरीम्) यया पाययन्ति तां स्थूलाम् (प्रस्थावत्) प्रशस्तं प्रस्थानं यस्यास्ति तत् (रथवाहनम्) रथं वहति येन तत् ॥ ७१ ॥

अन्वयः—हे कृषीवला यूयं यत् सोमपित्सरु पवीरवत्सुशेवं लाङ्गलं प्रफर्व्यं प्रस्थावद्रथवाहनं चास्ति येनाविं पीवरीं गामुद्वपति तद्यूयं साध्नुत॥७१॥

भावार्थः—कृषीवलैः स्थूलमृत्स्नामन्नाद्युत्पादनेन रक्षिकां सुपरीक्ष्य हलादिसाधनैः संकृष्य समीकृत्य सुसंस्कृतानि बीजानि संमुप्योत्तमानि धान्यान्युत्पाद्य भोक्तव्यानि ॥ ७१ ॥

पदार्थः-हे किसानो तुम लोग जो (सोमपित्सरु) जौ आदि ओषधियों के रक्षकों को टेढ़ा चलावे (पवीरवत्) प्रशंसित फाल से युक्त (सुशेवम्) सुन्दर सुखदायक (लाङ्गलम्) फाले के पीछे जो दृढ़ता के लिये काष्ठ लगाया जाता है वह (च) और (प्रफर्व्यम्) चलाने योग्य (प्रस्थावत्) प्रशंसित प्रस्थान वाला (रथवाहनम्) रथ के चलने का साधन है जिस से (अविम्) रक्षा आदि के हेतु (पीवरीम्) सब पदार्थों को बढ़ाने का हेतु स्थूल (गाम्) पृथिवी को (उद्वपति) उखाड़ते हैं (तत्) उस को तुम भी सिद्ध करो ॥ ७१ ॥

भावार्थः—किसान लोगों को उचित है कि मोटी मट्टी अन्न आदि की उत्पत्ति से रक्षा करने हारी पृथिवी की अच्छे प्रकार परीक्षा करके हल आदि साधनों से जोत एकसार कर सुन्दर संस्कार किये बीज के उत्तम धान्य उत्पन्न करके भोगें ॥ ७१ ॥

कामामित्यस्य कुमारहारित ऋषिः । मित्रादयो लिङ्गोक्ता देवताः । आर्षी पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

पाचिका स्त्री प्रयत्नेन सुसंस्कृतान्यन्नानि व्यञ्जनानि कुर्यादित्याह ॥

पकानेहारी स्त्री अच्छे यत्न से सुन्दर अन्न और व्यंजनों को बनावे यह विषय अगले मंत्र में कहा है ॥

कामं कामदुघे धुक्ष्व मित्राय वरुणाय च ।
इन्द्रायाश्विभ्यां पूष्णे प्रजाभ्य ओषधीभ्यः ॥७२॥

कामम् । कामदुघ इति कामऽदुघे । धुक्ष्व । मित्राय । वरुणाय । च । इन्द्राय । अश्विभ्यामित्यश्विऽभ्याम् । पूष्णे । प्रजाभ्य इति प्रजाऽभ्यः । ओषधीभ्यः ॥ ७२ ॥

पदार्थः—(कामम्) इच्छाम् (कामदुघे) इच्छापूरिके (धुक्ष्व) विपूर्धि (मित्राय) सुहृदे (वरुणाय) उत्तमाय विदुषे (च) अतिथये (इन्द्राय) परमैश्वर्ययुक्ताय (अश्विभ्याम्) प्राणापानाभ्याम् (पूष्णे) पुष्टिकराय (प्रजाभ्यः) स्वसन्तानेभ्यः (ओषधीभ्यः) सोमयवादिभ्यः ॥७२॥

अन्वयः—हे कामदुघे पाचिके त्वं भूमिरिव सुसंस्कृतैरन्नैर्मित्राय वरुणाय चेन्द्रायाश्विभ्यां पूष्णे प्रजाभ्य ओषधीभ्यः कामं धुक्ष्व ॥ ७२ ॥

भावार्थः—या स्त्री वा पुरुषः पाकं कुर्यात्तौ तं च पाकविद्यां सुशिक्ष्य हृद्यान्यन्नानि निर्माय संभोज्य सर्वान् रोगान् दूरीकुर्यात् ॥ ७२ ॥

पदार्थः—हे (कामदुघे) इच्छा को पूर्ण करने हारी रसोइया स्त्री तू पृथिवी के समान सुन्दर संस्कार किये अन्नों से (मित्राय) मित्र (वरुणाय) उत्तम विद्वान् (च) अतिथि अभ्यागत (इन्द्राय) परम ऐश्वर्य्य से युक्त (अश्विभ्याम्) प्राण अपान (पूष्णे) पुष्टिकारक जन (प्रजाभ्यः) सन्तानों और (ओषधीभ्यः) सोमलता आदि ओषधियों से (कामम्) इच्छा को (धुक्ष्व) पूर्ण कर ॥ ७२ ॥

भावार्थः—जो स्त्री वा पुरुष भोजन बनावे उस को चाहिये कि पकाने की विद्या सीख प्रिय पदार्थ पका और उनका भोजन करा के सब को रोगरहित रक्खें ॥ ७२ ॥

विमुच्यध्वमित्यस्य कुमारहारित ऋषिः । अघ्न्या देवताः । भुरिगार्षी गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

मनुष्यैर्गवादिपशुवृद्धिं कृत्वा पयोघृतादीनि वर्द्धयित्वा नन्दितव्यमि० ॥

मनुष्यों को गौ आदि पशुओं को बढ़ा उन से दूध घी आदि की वृद्धि कर आनन्द में रहना चाहिये इस वि० ॥

विमुच्यध्वमघ्न्या देवयाना अगन्म तमसस्पारमस्य । ज्योतिरापाम ॥ ७३ ॥

वि । मुच्यध्वम् । अघ्न्याः । देवयाना इति देवऽयानाः । अगन्म । तमसः । पारम् । अस्य । ज्योतिः । आपाम ॥ ७३ ॥

पदार्थः—(वि) (मुच्यध्वम्) त्यजत (अघ्न्याः) हन्तुमयोग्या गाः (देवयानाः) याभिर्देवान् दिव्यान् भोगान् प्राप्नुवन्ति ताः (अगन्म) गच्छेम (तमसः) रात्रेः (पारम्) (अस्य) सूर्यस्य (ज्योतिः) प्रकाशम् (आपाम) व्याप्नुयाम ॥ ७३ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यथा यूयं अघ्न्या देवयानाः प्राप्य सुसंस्कृतान्यन्नानि भुक्त्वा रोगेभ्यो विमुच्यध्वं तथा वयमपि विमुच्येमहि । यथा यूयं तमसः पारं प्राप्नुत तथा वयमप्यगन्म । यथा यूयमस्य ज्योतिर्व्याप्नुत तथा वयमप्यापाम ॥ ७३ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—मनुष्या गवादीन् पशून् कदाचिन्न हन्युर्न घातयेयुश्च यथा सूर्योदयाद्रात्रिर्निवर्त्तते तथा वैद्यकशास्त्ररीत्या पथ्यान्यन्नानि संसेव्य रोगेभ्यो निवर्त्तन्ताम् ॥ ७३ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो जैसे तुम लोग (अघ्न्याः) रक्षा के योग्य (देवयानाः) दिव्य भोगों की प्राप्ति के हेतु गौओं को प्राप्त हो सुन्दर संस्कार किये अन्नों का भोजन करके रोगों से (विमुच्यध्वम्) पृथक् रहते हो। वैसे हम लोग भी बचें। जैसे तुम लोग (तमसः) रात्रि के (पारम्) पार को प्राप्त होते हो

वैसे हम भी (आगन्म) प्राप्त होवें । जैसे तुम लोग (अस्य) इस सूर्य के (ज्योतिः) प्रकाश को व्याप्त होते हो वैसे हम भी (आपाम) व्याप्त होवें ॥७३॥

भावार्थः—इस मंत्र में वाचकलु०—मनुष्यों को चाहिये कि गौ आदि पशुओं को कभी न मारें और न मरवावें तथा न किसी को मारने दें। जैसे सूर्य के उदय से रात्रि निवृत्ति होती है वैसे वैद्यकशास्त्र की रीति से पथ्य अन्नादि पदार्थों का सेवन कर रोगों से बचो ॥ ७३ ॥

सजूरब्द इत्यस्य कुमारहारित ऋषिः । अश्विनौ देवते ।
आर्षी जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

मनुष्यैः कथं कृत्वा सुखयितव्यमित्याह ॥
मनुष्यों को किस प्रकार परस्पर सुखी होना चाहिये यह वि० ॥

सजूरब्दो अयवोभिः सजूरुषा अरुणीभिः । सजोषसावश्विना दꣳसोभिः सजूः सूर एतशेन सजूर्वैश्वानर इडया घृतेन स्वाहा ॥ ७४ ॥

सजूरिति सऽजूः । अब्दः । अयवोभिरित्ययवःऽभिः । सजूरिति सऽजूः । उषाः । अरुणीभिः । सजोषसाविति सजोषसौ । अश्विना । दꣳसोभिरिति दꣳसःऽभिः । सजूरिति सऽजूः । सूरः । एतशेन । सजूरिति सऽजूः । वैश्वानरः । इडया । घृतेन । स्वाहा ॥ ७४ ॥

पदार्थः—(सजूः) संयुक्तः (अब्दः) संवत्सरः (अयवोभिः) मिश्रितामिश्रितैरंशैः पक्षादिभिः कालावयवैः (सजूः) सहवर्त्तमानाः (उषाः) प्रभातः (अरुणीभिः) रक्तप्रभाभिः (सजोषसौ) समानसेवनौ (अश्विना)

प्राणापानाविव दम्पती (दंसोभिः) कर्मभिः (सजूः) सहितः (सूरः) सूर्यः (एतशेन) अश्वेनेव व्याप्तिशीलेन वेगवता किरणनिमित्तेन वायुना। एतश इत्यश्वना०। निरु० १। १२। (सजूः) संयुक्तः (वैश्वानरः) विद्युदग्निः (इडया) अन्नादिनिमित्तरूपया पृथिव्या (घृतेन) जलेन (स्वाहा) सत्येन वागिन्द्रियेण ॥ ७४ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या वयं सर्वे स्त्रीपुरुषा यथाऽयवोभिः सजूरब्दोऽरुणीभिः सजूरुषा दंसोभिः सजोषसावश्विनेव एतशेनेव सजूः सूर इडया घृतेन स्वाहा सजूर्वैश्वानरश्च वर्त्तते तथैव प्रीत्या वर्त्तेमहि ॥ ७४ ॥

भावार्थः—मनुष्येषु यावत्परस्परं सौहार्दं तावदेव सुखम्। यावद्दौहार्दं तावदेव दुःखं च जायते तस्मात्सर्वैः स्त्रीपुरुषैः परोपकारक्रियया सहैव सदा वर्तितव्यम् ॥ ७४ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो हम सब लोग स्त्री पुरुष जैसे (अयवोभिः) एकत्व अयादि काल के अवयवों से (सजूः) संयुक्त (अब्दः) वर्ष (अरुणीभिः) लाल कान्तियों के (सजूः) साथ वर्त्तमान (उषाः) प्रभात समय (दंसोभिः) कर्मों से (सजोषसौ) एकसा वर्त्ताव वाले (अश्विना) प्राण और अपान के समान स्त्री पुरुष वा (एतशेन) चलते घोड़े के समान व्याप्तिशील वेगवाले किरणनिमित्त पवन के (सजूः) साथ वर्त्तमान (सूरः) सूर्य (इडया) अन्न आदि का निमित्तरूप पृथिवी वा (घृतेन) जल से (स्वाहा) सत्य वाणी के (सजूः) साथ (वैश्वानरः) बिजुलीरूप अग्नि वर्त्तमान है वैसे ही प्रीति से वर्त्तें ॥ ७४ ॥

भावार्थः—मनुष्यों में जितनी परस्पर मित्रता हो उतना ही सुख और जितना विरोध उतना ही दुःख होता है। इस से सब लोग स्त्रीपुरुष परस्पर उपकार करने के साथ ही सदा वर्त्तें ॥ ७४ ॥

या ओषधीरित्यस्य भिषगृषिः। वैद्यो देवता। अनुष्टुप्छन्दः। गान्धारः स्वरः ॥

मनुष्यैरवश्यमौषधसेवनं कृत्वाऽरोगैर्वर्त्तितव्यमित्याह ॥

मनुष्यों को अवश्य औषधि सेवन कर रोगों से बचना चाहिये यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा ।
मनै नु बभ्रूणामहꣳ शतं धामानि सप्त च ॥७५॥

याः । ओषधीः । पूर्वाः । जाताः । देवेभ्यः । त्रियुगमिति त्रिऽयुगम् । पुरा । मनै । नु । बभ्रूणाम् । अहम् । शतम् । धामानि । सप्त । च ॥ ७५ ॥

पदार्थः—(याः) (ओषधीः) सोमाद्याः (पूर्वाः) (जाताः) प्रसिद्धाः (देवेभ्यः) पृथिव्यादिभ्यः (त्रियुगम्) वर्षत्रयम् (पुरा) (मनै) मन्ये । अत्र विकरणव्यत्ययेन शप् (नु) शीघ्रम् (बभ्रूणाम्) भरणानां धारकाणां रोगिणाम् (अहम्) (शतम्) अनेकानि (धामानि) मर्मस्थानानि (सप्त) (च) ॥ ७५ ॥

अन्वयः—अहं या ओषधीर्देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा पूर्वा जाता या बभ्रूणां शतं सप्त च धामानि मर्माणि व्याप्नुवन्ति ता नु मनै शीघ्रं जानीयाम् ॥७५॥

भावार्थः—मनुष्या याः पृथिव्यामप्सु चौषधयो जायन्ते गतनिदर्पा भवेयुस्ताः संगृह्य यथावैद्यकशास्त्रविधि संसेवन्ते ॥ युक्ताः सत्यः सर्वाणि मर्माण्यभिव्याप्य रोगान्निवार्य शरीरसुखानि सद्यो जनयन्तु ॥ ७५ ॥

पदार्थः—(अहम्) मैं (याः) जो (ओषधीः) सोमलता आदि ओषधी (देवेभ्यः) पृथिवी आदि से (त्रियुगम्) तीन वर्ष (पुरा) पहिले (पूर्वाः) पूर्ण सुख दान में उत्तम (जाताः) प्रसिद्ध हुई जो (बभ्रूणाम्) धारण करने हारे रोगियों के (शतम्) सौ (च) और (सप्त) सात (धामा-

नि) जन्म वा नाड़ियों के मर्मों में व्याप्त होती हैं उन को (नु) शीघ्र (मनै) जानूं ॥ ७५ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को योग्य है कि जो पृथिवी और जल में ओषधी उत्पन्न होती हैं उन तीन वर्ष के पीछे ठीक २ पकी हुई को ग्रहण कर वैद्यकशास्त्र के अनुकूल विधान से सेवन करें। सेवन की हुई वे ओषधी शरीर के सब अंगों में व्याप्त हो के शरीर के रोगों को छुड़ा सुखों को शीघ्र करती हैं ॥ ७५ ॥

शतमित्यस्य भिषगृषिः । वैद्या देवताः । अनुष्टुप्छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

मनुष्याः किं कृत्वा किं साधयेयुरित्याह ॥

मनुष्य क्या करके किस को सिद्ध करें यह वि० ॥

शतं वो अम्ब धामानि सहस्रमुत वो रुहः ।
अधा शतक्रत्वो यूयमिमं मे अगदं कृत ॥ ७६ ॥

शतम् । वः । अम्ब । धामानि । सहस्रम् । उत । वः । रुहः । अध । शतक्रत्व इति शतऽक्रत्वः । यूयम् । इमम् । मे । अगदम् । कृत ॥ ७६ ॥

पदार्थः—(शतम्) (वः) युष्माकम् (अम्ब) मातः (धामानि) मर्मस्थानानि (सहस्रम्) असंख्याः (उत) अपि (वः) युष्माकम् (रुहः) नाड्यङ्कुराः (अधा) अथ । अत्र निपातस्य चेति दीर्घः (शतक्रत्वः) शतं क्रतवः प्रज्ञाः क्रिया येषान्तत्सम्बुद्धौ (यूयम्) (इमम्) देहम् (मे) मम (अगदम्) रोगरहितम् (कृत) कुरुत । अत्र विकरणलुक् ॥ ७६ ॥

अन्वयः—हे शतक्रत्वो यूयं यासां शतमुत सहस्रं रुहः सन्ति ताभिर्ममेमं देहमगदं कृत । अथ स्वयं वो देहानगदान् कुरुत । यानि वोऽसंख्यानि धामानि तानि प्राप्नुत । हे अम्ब त्वमप्येवमाचरत ॥ ७६ ॥

भावार्थः—मनुष्याणामिदमादिमं कर्त्तव्यं कर्म्मास्ति यदोषधिसेवनं पथ्याचरणं सुनियमव्यवहरणं च कृत्वा शरीरारोग्यसंपादनम् । नह्येतेन विना धर्मार्थकाममोक्षाणामनुष्ठानं कर्त्तुं कश्चिदपि शक्नोति ॥ ७६ ॥

पदार्थः—हे (शतक्रत्वः) सैकड़ों प्रकार की बुद्धि वा क्रियाओं से युक्त मनुष्यो (यूयम्) तुम लोग जिन के (शतम्) सैकड़ों (उत) वा (सहस्रम्) हजारहों (रुहः) नाड़ियों के अङ्कुर हैं उन ओषधियों से (मे) मेरे (इमम्) इस शरीर को (अगदम्) नीरोग (कृत) करो (अध) इसके पश्चात् (वः) आप अपने शरीरों को भी रोगरहित करो जो (वः) तुम्हारे असंख्य (धामानि) मर्म्म स्थान हैं उनको प्राप्त होओ हे (अम्ब) माता तू भी ऐसा ही आचरण कर ॥ ७६ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि सब से पहिले ओषधियों का सेवन, पथ्य का आचरण और नियमपूर्वक व्यवहार करके शरीर को रोगरहित करें। क्योंकि इसके विना धर्म्म, अर्थ, काम और मोक्षों का अनुष्ठान करने को कोई भी समर्थ नहीं हो सकता ॥ ७६ ॥

ओषधीरित्यस्य भिषगृषिः । वैद्या देवताः । निचृदनुष्टुप्छन्दः । गांधारः स्वरः ॥

कीदृश्य ओषधयः सेव्या इत्याह ॥

कैसी ओषधियों का सेवन करना चाहिये यह विषय० ॥

ओषधीः प्रति मोदध्वं पुष्पवतीः प्रसूवरीः ।
अश्वा इव सजित्वरीर्वीरुधः पारयिष्ण्वः ॥७७॥

ओषधीः । प्रति । मोदध्वम् । पुष्पवतीरिति पुष्पऽवतीः । प्रसूवरीरिति प्रऽसूवरीः । अश्वा इवेत्यश्वाःऽइव । सजित्वरीरिति सऽजित्वरीः । वीरुधः । पारयिष्ण्वः ॥ ७७ ॥

पदार्थः—(ओषधीः) सोमादीन् (प्रति) (मोदध्वम्) आनन्दयत (पुष्पवतीः) प्रशस्तानि पुष्पाणि यासां ताः (प्रसूवरीः) सुखप्रसाविकाः (अश्वा इव) यथा तुरङ्गाः (सजित्वरीः) शरीरैः सह संयुक्ताः रोगान् जेतुं -शीलाः (वीरुधः) सोमादीन् (पारयिष्ण्वः) रोगजदुःखेभ्यः पारं नेतुं समर्थाः ॥ ७७ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यूयमश्वा इव सजित्वरीर्वीरुधः पारयिष्ण्वः पुष्पवतीः प्रसूवरीरोषधीः संसेव्य प्रतिमोदध्वम् ॥ ७७ ॥

भावार्थः—अत्रोपमालं०—यथाऽश्वारूढा वीराः शत्रून् जित्वा विजयं प्राप्याऽऽनन्दन्ति तथा सदौषधसेविनः पथ्यकारिणो जितेन्द्रिया जना आरोग्यमवाप्य नित्यं मोदन्ते ॥ ७७ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो तुम लोग (अश्वा इव) घोड़ों के समान (सजित्वरीः) शरीरों के साथ संयुक्त रोगों को जीतने वाले (वीरुधः) सोमलता आदि (पारयिष्ण्वः) दुःखों से पार करने के योग्य (पुष्पवतीः) प्रशंसित पुष्पों से युक्त (प्रसूवरीः) सुख देने हारी (ओषधीः) ओषधियों को प्राप्त होकर (प्रतिमोदध्वम्) नित्य आनन्द भोगो ॥ ७७ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में उपमालं०—जैसे घोड़ों पर चढ़े वीर पुरुष शत्रुओं को जीत विजय को प्राप्त हो के आनन्द करते हैं वैसे श्रेष्ठ ओषधियों के सेवन और पथ्याहार करने हारे जितेन्द्रिय मनुष्य रोगों से छूट आरोग्य को प्राप्त हो के नित्य आनन्द भोगते हैं ॥ ७७ ॥

ओषधीरितीत्यस्य भिषगृषिः । चिकित्सुर्देवता ।
अनुष्टुप्छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनः पितापुत्रौ परस्परं कथं वर्त्तेयातामित्याह ॥
फिर पिता और पुत्र आपस में कैसे वर्त्तें यह वि० ॥

ओषधीरिति मातरस्तद्वो देवीरुपब्रुवे सनेयमश्वं गां वासऽआत्मानं तव पूरुष ॥ ७८ ॥

ओषधीः । इति । मातरः । तत् । वः । देवीः । उप । ब्रुवे । सनेयम् । अश्वम् । गाम् । वासः । आत्मानम् । तव । पूरुष । पूरुषेति पुरुष ॥ ७८ ॥

पदार्थः—(ओषधीः) (इति) इव (मातरः) जनन्यः (तत्) कर्म (वः) युष्मान् (देवीः) दिव्या विदुषीः (उप) समीपस्थः सन् (ब्रुवे) उपदिशेयम् (सनेयम्) संभजेयम् (अश्वम्) तुरङ्गादिकम् (गाम्) धेन्वादिकं पृथिव्यादिकं वा (वासः) वस्त्रादिकं निकेतनं वा (आत्मानम्) जीवम् (तव) (पूरुष) प्रयत्नशील ॥ ७८ ॥

अन्वयः—हे ओषधीरिति देवीर्मातरोऽहं तनयो वस्तत्पथ्यं वच उपब्रुवे । हे पूरुष सुसन्तानाऽहं माता तवाश्वं गां वास आत्मानं च सततं सनेयम् ॥ ७८ ॥

भावार्थः—अत्रोपमालं०—यथा यवादय ओषधयः सेविताः शरीराणि पुष्यन्ति तथैव जनन्यो विद्यासुशिक्षोपदेशेनाऽपत्यानि सुपोषयेयुः । यन्मातुरैश्वर्यं तद्दायोऽपत्यस्य यदपत्यस्यैतन्मातुरस्त्विति एवं सर्वे सुप्रीत्या वर्धित्वा परस्परस्य सुखानि सततं वर्धयेयुः ॥ ७८ ॥

पदार्थ—हे (ओषधीः) ओषधियों के (इति) समान सुखदायक (देवीः) सुन्दर विद्वान् स्त्री (मातरः) माता मैं पुत्र (वः) तुम को (तत्) श्रेष्ठ पथ्यरूप कर्म्म (उपब्रुवे) समीपस्थित होकर उपदेश करूं हे (पूरुष) पुरुषार्थी श्रेष्ठ सन्तानो मैं माता (तव) तेरे (अश्वम्) घोड़े आदि (गाम्) गौ आदि वा पृथिवी आदि (वासः) वस्त्र आदि वा घर और (आत्मानम्) जीव को निरन्तर (सनेयम्) सेवन करूं ॥ ७८ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में उपमालं०—जैसे जो आदि ओषधी सेवन की हुई शरीरों को पुष्ट करती हैं वैसे ही माता विद्या, अच्छी शिक्षा और उपदेश से सन्तानों को पुष्ट करें। जो माता का धन है वह भाग सन्तान का और जो सन्तान का है वह माता का ऐसे सब परस्पर प्रीति से वर्त्त कर निरन्तर सुख को बढ़ावें ॥ ७८ ॥

अश्वत्थ इत्यस्य भिषगृषिः। वैद्या देवताः। अनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः ॥

मनुष्याः सततं कीदृशं विचारं कुर्युरित्याह ॥
मनुष्य लोग नित्य कैसा विचार करें यह वि० ॥

अ॒श्व॒त्थे वो॑ नि॒षद॑नं प॒र्णे वो॑ व॒स॒तिष्कृ॒ता।
गो॒भाज॒ इत्किला॑सथ॒ यत्स॒नव॑थ॒ पूरु॑षम् ॥७९॥

अ॒श्व॒त्थे। वः॒। नि॒षद॑नम्। नि॒षद॑न॒मिति॑ नि॒ऽसद॑नम्। प॒र्णे। वः॒। व॒स॒तिः। कृ॒ता। गो॒भाज॒ इति॑ गो॒ऽभाजः॑। इत्। किल॑। अ॒स॒थ॒। यत्। स॒नव॑थ। पूरु॑षम्। पूरु॑ष॒मिति॑ पुरु॑षम् ॥ ७९ ॥

पदार्थः—(अश्वत्थे) श्वः स्थाता न स्थाता वा वर्त्तते तादृशे देहे (वः) युष्माकं जीवानाम् (निषदनम्) निवासः (पर्णे) चलिते पत्रे (वः) युष्माकम् (वसतिः) निवासः (कृता) (गोभाजः) ये गां पृथिवीं भजन्ते ते (इत्) इह (किल) खलु (असथ) भवत (यत्) यतः (सनवथ) ओषधिदानेन सेवध्वम्। अत्र विकरणद्वयम् (पूरुषम्) अन्नादिना पूर्णं देहम् ॥ ७९ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या ओषधय इव यद्वोऽश्वत्थे निषदनं वः पर्णे वसतिः कृताऽस्ति तस्माद्गोभाजः किल पूरुषं सनवथ सुखिन इदसथ ॥ ७९ ॥

भावार्थः—मनुष्यैरेवं भावनीयमस्माकं शरीराण्यनित्यानि स्थितिश्चचलास्ति तस्माच्छरीरमरोगिणं संरक्ष्य धर्मार्थकाममोक्षाणामनुष्ठानं सद्यः कृत्वाऽनित्यैः साधनैर्नित्यं मोक्षसुखं खलु लब्धव्यम्। यथौषधितृणादीनि पत्रपुष्पफलमूलस्कन्धशाखादिभिः शोभन्ते तथैव नीरोगाणि शोभमानानि भवन्ति ॥ ७९ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ओषधियों के समान (यत्) जिस कारण (वः) तुम्हारा (अश्वत्थे) कल रहे वा न रहे ऐसे शरीर में (निषदनम्) निवास है। और (वः) तुम्हारा (पर्णे) कमल के पत्ते पर जल के समान चलायमान संसार में ईश्वर ने (वसतिः) निवास (कृता) किया है इस से (गोभाजः) पृथिवी को सेवन करते हुए (किल) ही (पूरुषम्) अन्न आदि से पूर्ण देह वाले पुरुष को (सनवथ) ओषधि देकर सेवन करो और सुख को प्राप्त होते हुए (इत्) इस संसार में (असथ) रहो ॥ ७९ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को ऐसा विचारना चाहिये कि हमारे शरीर अनित्य और स्थिति चलायमान है इससे शरीर को रोगों से बचा कर धर्म्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष का अनुष्ठान शीघ्र करके अनित्य साधनों से नित्य मोक्ष के सुख को प्राप्त होवें। जैसे ओषधि और तृण आदि फल फूल पत्ते स्कन्ध और शाखा आदि से शोभित होते हैं वैसे ही रोगरहित शरीरों से शोभायमान हों ॥ ७९ ॥

यत्रौषधीरित्यस्य भिषगृषिः। ओषधयो देवताः।
अनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः ॥

पुनः पुनः सद्वैद्यसेवनं कार्य्यमित्याह ॥
वार २ श्रेष्ठ वैद्यों का सेवन करें यह वि० ॥

यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव।
विप्रः स उच्यते भिषग्रक्षोहामीवचातनः ॥ ८० ॥

यत्रं । ओषधीः । समग्मतेति सम्ऽअग्मत । राजानः । समिताविवेति समितौऽइव । विप्रः । सः । उच्यते । भिषक् । रक्षोहेति रक्षःऽहा । अमीवचातन इत्यमीवऽचातनः ॥ ८० ॥

पदार्थः—(यत्र) येषु स्थलेषु (ओषधीः) सोमाद्याः (समग्मत) प्राप्नुत (राजानः) क्षत्रधर्मयुक्ता वीराः (समिताविव) यथा संग्रामे तथा (विप्रः) मेधावी (सः) (उच्यते) उपदिश्येत । लेट्प्रयोगोऽयम् (भिषक्) यो भिषज्यति चिकित्सति सः । अत्र भिषज्धातोः क्विप् (रक्षोहा) यो दुष्टानां रोगाणां हन्ता (अमीवचातनः) योऽमीवान् रोगान् शातयति सः । अत्र वर्णव्यत्ययेन शस्य चः ॥ ८० ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यूयं यत्रौषधीः सन्ति ता राजानः समिताविव समग्मत यो रक्षोहाऽमीवचातनो विप्रो भिषग्वदेत्स युष्मान् प्रत्युच्यत उच्येत तद्गुणान् प्रकाशयेत्तास्तं च सदा सेवध्वम् ॥ ८० ॥

भावार्थः—अत्रोपमालं०—यथा सेनापतिसुशिक्षिता राज्ञो वीरपुरुषाः परमप्रयत्नेन देशान्तरं गत्वा शत्रून्विजित्य राज्यं प्राप्नुवन्ति । तथा सद्वैद्यसुशिक्षिता यूयमोषधिविद्यां प्राप्नुत । यस्मिन् शुद्धे देशे ओषधयः सन्ति ता विज्ञायोपयुङ्ध्वमन्येभ्यश्चोपदिशत ॥ ८० ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो तुम लोग (यत्र) जिन स्थलों में (ओषधीः) सोमलता आदि ओषधी होती हों उन को जैसे (राजानः) राजधर्म से युक्त वीरपुरुष (समिताविव) युद्ध में शत्रुओं को प्राप्त होते हैं वैसे (समग्मत) प्राप्त हो जो (रक्षोहा) दुष्ट रोगों का नाशक (अमीवचातनः) रोगों को निवृत्ति करने वाला (विप्र) बुद्धिमान् (भिषक्) वैद्य हो (सः) वह तुम्हारे प्रति (उच्यते) ओषधियों के गुणों का उपदेश करे और ओषधियों का तथा उस वैद्य का सेवन करो ॥ ८० ॥

भावार्थः—इस मंत्र में उपमालं०—जैसे सेनापति से शिक्षा को प्राप्त हुए राजा के वीर पुरुष अत्यन्त पुरुषार्थ से देशान्तर में जा शत्रुओं को जीत के

राज्य को प्राप्त होते हैं वैसे श्रेष्ठ वैद्य से शिक्षा को प्राप्त हुए तुम लोग ओषधियों की विद्या को प्राप्त हो। जिस शुद्ध देश में ओषधि हों वहां उन को ज्ञान के उपयोग में लाओ और दूसरों के लिये भी बताओ ॥ ८० ॥

अश्वावतीमित्यस्य भिषगृषिः। वैद्यो देवता। अनुष्टुप्छन्दः। गान्धारः स्वरः॥

मनुष्यैः सदा पुरुषार्थं वर्धेय इत्याह ॥
मनुष्यों को नित्य पुरुषार्थ बढ़ाना चाहिये यह वि० ॥

अ॒श्वा॒व॒तीᳬं सो॑माव॒तीमू॒र्जय॑न्ती॒मुदो॑जसम्। आवि॑त्सि॒ सर्वा॒ ओष॑धीर॒स्मा अ॑रि॒ष्टता॑तये ॥८१॥

अ॒श्वा॒व॒तीम्। अ॒श्वा॒व॒तीमित्य॑श्व॒ऽव॒तीम्। सो॒मा॒व॒तीम्। सो॒म॒व॒तीमिति॒ सोम॑ऽव॒तीम्। ऊ॒र्जय॑न्तीम्। उदो॑जस॒मित्यु॒त्ऽओ॑जसम्। आ। अ॒वि॒त्सि॒। सर्वाः॑। ओष॑धीः। अ॒स्मै। अ॒रि॒ष्टता॑तय॒ इत्य॑रि॒ष्टऽता॑तये ॥ ८१ ॥

पदार्थः—(अश्वावतीम्) प्रशस्तशुभगुणयुक्ताम्। अत्रोभयत्र मतौ दीर्घः (सोमावतीम्) बहुरससहिताम् (ऊर्जयन्तीम्) बलं प्रापयन्तीम् (उदोजसम्) उत्कृष्टं पराक्रमम् (आ) (अविस्सि) जानीयाम् (सर्वाः) अखिलाः (ओषधीः) सोमयवाद्याः (अस्मै) (अरिष्टतातये) रिष्टानां हिंसकानां रोगाणामभावाय ॥ ८१ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यथाऽहमरिष्टतातयेऽश्वावतीं सोमावतीमुदोजसमूर्जयन्तीं सर्वा ओषधीरावित्सि तथा यूयमपि प्रयतध्वम् ॥ ८१ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—मनुष्याणामादिममिदं कर्माऽस्ति यद्रोगाणां निदानचिकित्सौषधपथ्यसेवनमोषधीनां गुणज्ञानं यथावदुपयोजनं च यतो रोगनिवृत्त्या निरन्तरं पुरुषार्थोन्नतिः स्यादिति ॥ ८१ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो जैसे मैं (अरिष्टतातये) दुःखदायक रोगों के छुड़ाने के लिये (अश्वावतीम्) प्रशंसित शुभगुणों से युक्त (सोमावतीम्) बहुत रस से सहित (ऊर्जयन्तीम्) बल देती हुई (उदोजसम्) अतिपराक्रम बढ़ाने हारी श्रेष्ठ ओषधियों को (आ) सब प्रकार (अवित्सि) जानूं कि जिस से (सर्वाः) सब (ओषधीः) ओषधी (अस्मै) इस मेरे लिये सुख देवें। इसलिये तुम लोग भी प्रयत्न करो॥ ८१॥

भावार्थः—इस मंत्र में वाचकलु०—मनुष्यों को चाहिये कि रोगों का निदान चिकित्सा ओषधि और पथ्य के सेवन से निवारण करें तथा ओषधियों के गुणों का यथावत् उपयोग लेवें कि जिससे रोगों की निवृत्ति होकर पुरुषार्थ की वृद्धि होवे॥ ८१॥

उच्छुष्मा इत्यस्य भिषगृषिः। ओषधयो देवताः।
विराडनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः॥

किंनिमित्ता ओषधयः सन्तीत्याह॥
ओषधियों का क्या निमित्त है इस वि०॥

उच्छुष्मा ओषधीनां गावो गोष्ठादिवेरते।
धनꣳ सनिष्यन्तीनामात्मानं तव पूरुष॥८२॥

उत्। शुष्माः। ओषधीनाम्। गावः। गोष्ठादिवेति गोष्ठात्ऽइव। ईरते। धनम्। सनिष्यन्तीनाम्। आत्मानम्। तव। पुरुष। पूरुषेति पुरुष॥ ८२॥

पदार्थः—(उत्) (शुष्माः) प्रशस्तबलकारिण्यः। शुष्मेति बलना०। निघं० २।९। अर्शआदित्वादच् (ओषधीनाम्) सोमयवादीनाम् (गावः) धेनवः किरणा वा (गोष्ठादिव) यथा स्वस्थानात्तथा (ईरते) वत्सान् प्राप्नुवन्ति (धनम्) यद्दिनोति वर्धयति तत् धनं कस्मादिनोतीति सतः।

निरु० १ । ६ । (सनिष्यन्तीनाम्) सम्भजन्तीनाम् (आत्मानम्) शरीराऽधिष्ठातारम् (तव) (पूरुष) पुरि देहे शयान देहधारक वा ॥ ८२ ॥

अन्वयः—हे पूरुष या धनं सनिष्यन्तीनामोषधीनां शुष्मा गावो गोष्ठादिव तवात्मानमुदीरते तास्त्वं सेवस्व ॥ ८२ ॥

भावार्थः—अत्रोपमा०—हे मनुष्या यथा संपालिता गावो दुग्धादिभिः स्ववत्सान्मनुष्यादींश्च संपोष्य बलयन्ति तथैवौषधयो युष्माकमात्मशरीरे संपोष्य पराक्रमयन्ति । यदि कश्चिदन्नादिकमौषधं न भुञ्जीत तर्हि क्रमशो बलविज्ञानह्रासं प्राप्नुयात् तस्मादेता एतन्निमित्ताः सन्तीति वेद्यम् ॥ ८२ ॥

पदार्थः—हे (पूरुष) पुरुष-शरीर में सोने वाले वा देहधारी (धनम्) ऐश्वर्य्य बढ़ाने वाले को (सनिष्यन्तीनाम्) सेवन करती हुई (ओषधीनाम्) सोमलता वा जौ आदि ओषधियों के सम्बन्ध से जैसे (शुष्माः) प्रशंसित बल करने हारी (गावः) गौ वा किरण (गोष्ठादिव) अपने स्थान से बछड़ों वा पृथिवी को और ओषधियों का तत्त्व (तव) तेरी (आत्मानम्) आत्मा को (उदीरते) प्राप्त होता है उन सब की तू सेवा कर ॥ ८२ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में उपमालं०—हे मनुष्यो जैसे रक्षा की हुई गौ अपने दूध आदि से अपने बच्चों और मनुष्य आदि को पुष्ट करके बलवान् करती है । वैसे ही ओषधियां तुम्हारे आत्मा और शरीर को पुष्ट कर पराक्रमी करती हैं जो कोई न खावे तो क्रम से बल और बुद्धि की हानि हो जावे । इसलिये ओषधी ही बल बुद्धि का निमित्त है ॥ ८२ ॥

इष्कृतिरित्यस्य भिषगृषिः । वैद्या देवताः । निचृदनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

सुसेविता ओषधयः किं कुर्वन्तीत्याह ॥

अच्छे प्रकार सेवन की हुई ओषधी क्या करती हैं यह वि० ॥

इष्कृ॑ति॒र्नाम॑ वो मा॒ताथो॑ यू॒यꣳस्थ॒ निष्कृ॑तीः
सी॒राः प॑त॒त्रिणी॑ स्थन॒ यदा॒मय॑ति॒ निष्कृ॑थ ॥८३॥

इष्कृ॑तिः । नाम॑ । वः॒ । मा॒ता । अथो॒ इत्यथो॑ । यू॒यम् ।
स्थ॒ । निष्कृ॑तीः । निःकृ॒तीरि॒ति॒ निःकृ॑तीः । सी॒राः । प॒त॒त्रि-
णीः । स्थ॒न॒ । यत् । आ॒मय॑ति । निः । कृ॒थ ॥ ८३ ॥

पदार्थः—(इष्कृतिः) निष्कर्त्री (नाम) प्रसिद्धम् (वः) युष्माकम् (माता) जननीव (अथो) (यूयम्) (स्थ) भवत (निष्कृतीः) प्रत्युपकारान् (सीराः) नदीः । सीरा इति नदीना० । निघं १ । १३ । (पतत्रिणीः) पतितुं गन्तुं शीलाः (स्थन) भवत (यत्) या क्रिया (आमयति) रोगयति (निः) नितराम् (कृथ) कुरुत । अत्र विकरणस्य लुक् ॥ ८३ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यूयं या व इष्कृतिर्मातेवौषधिर्नाम वर्त्तते तस्याः सेवका इवौषधीः सेवितारः स्थ पतत्रिणी सीराः नद्य इव निष्कृतीः संपादयन्तः स्थनाथो यद्याऽऽमयति तान्निष्कृथ ॥ ८३ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—हे मनुष्या यथा मातापितरौ युष्मान् सेवन्ते यथा यूयमप्येतान् सेवध्वम् । यथा कर्म रोगान्निष्करं भवति तथा तत्त्वमैव सुसेविता ओषधयः प्राणिनो मातृवत्पोषयन्ति ॥ ८३ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो (यूयम्) तुम लोग जो (वः) तुम्हारी (इष्कृतिः) कार्य्यसिद्धि करने हारी (माता) माता के समान ओषधी (नाम) प्रसिद्ध है उस की सेवा के तुल्य सेवन की हुई ओषधियों को जानने वाले (स्थ) होओ (पतत्रिणीः) चलने वाली (सीराः) नदियों के समान (निष्कृतीः) प्रत्युपकारों को सिद्ध करने वाले (स्थन) होओ (अथो) इस के अनन्तर (यत्) जो क्रिया वा ओषधी अथवा वैद्य (आमयति) रोग बढ़ावे उसको (निष्कृथ) छोड़ो ॥ ८३ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में वाचकलु०—हे मनुष्यो ! जैसे माता पिता तुम्हारी सेवा करते हैं वैसे तुम भी उनकी सेवा करो। जो २ काम रोगकारी हों उन २ को छोड़ो। इस प्रकार सेवन की हुई ओषधी माता के समान प्राणियों को पुष्ट करती हैं ॥ ८३ ॥

अतिविश्वा इत्यस्य भिषगृषिः। वैद्या देवताः।
विराडनुष्टुप्छन्दः। गान्धारः स्वरः॥

कथं रोगा निवर्त्तन्त इत्याह ॥
कैसे रोग निवृत्त होते हैं यह वि० ॥

अति विश्वाः परिष्ठा स्तेन इव व्रजमक्रमुः।
ओषधीः प्राचुच्यवुर्यत्किं च तन्वो रपः ॥ ८४ ॥

अति। विश्वाः। परिष्ठाः। परिस्था इति परिऽस्थाः। स्तेन इवेति स्तेनःऽइव। व्रजम्। अक्रमुः। ओषधीः। प्र। अचुच्यवुः। यत्। किम्। च। तन्वः। रपः ॥ ८४ ॥

पदार्थः—(अति) (विश्वाः) सर्वाः (परिष्ठाः) सर्वतः स्थिताः (स्तेन इव) यथा चोरो भित्त्यादिकं तथा (व्रजम्) गोस्थानम् (अक्रमुः) क्राम्यन्ति (ओषधीः) सोमयवाद्याः (प्र) (अचुच्यवुः) च्यावयन्ति नाशयन्ति (यत्) (किम्) (च) (तन्वः) (रपः) पापफलमिव रोगाख्यं दुःखम् ॥ ८४ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यूयं याः परिष्ठा विश्वा ओषधीर्व्रजं स्तेन इवात्यक्रमुः। यत् किं च तन्वो रपस्तत्सर्वं प्राचुच्यवुस्ता युक्त्योपयुङ्ग्ध्वम् ॥ ८४ ॥

भावार्थः—अत्रोपमालं०—यथा चोरो गोस्वामिना धर्षितः सन्भीरुर्घोषपुष्टहृदयश्च पलायते तथैव सदौषधैस्ताडिता रोगा नश्यन्ति ॥ ८४ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो तुम लोग जो-(परिष्ठाः) सब ओर से स्थित (विश्वाः) सब (ओषधीः) सोमलता और जौ आदि ओषधी (स्तनम्) जैसे गोशाला को (स्तेन इव) भित्ति फोड़ के चोर जावे वैसे पृथिवी फोड़ के (अत्वक्रमुः) निकलती हैं (यत्) जो (किञ्च) कुछ (तन्वः) शरीर का (रपः) पापों के फल के समान रोगरूप दुःख है उस सब को (प्राचुच्यवुः) नष्ट करती हैं उन ओषधियों को युक्ति से सेवन करो ॥ ८४ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में उपमालं०—जैसे गौओं के स्वामी ने धमकाया हुआ चोर भित्ति को फांद के भागता है वैसे ही श्रेष्ठ ओषधियों से ताड़ना किये रोग नष्ट हो के भाग जाते हैं ॥ ८४ ॥

यदिमा इत्यस्य भिषगृषिः । वैद्यो देवता । अनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥
फिर भी उसी वि० ॥

यदिमा वाजयन्नहमोषधीर्हस्तं आदधे । आत्मा यक्ष्मस्य नश्यति पुरा जीवगृभो यथा ॥८५॥

यत् । इमाः । वाजयन् । अहम् । ओषधीः । हस्ते । आदधइत्याऽदधे । आत्मा । यक्ष्मस्य । नश्यति । पुरा । जीवगृभ इति जीवऽगृभः । यथा ॥ ८५ ॥

पदार्थः—(यत्) याः (इमाः) (वाजयन्) ज्ञापयन् (अहम्) (ओषधीः) (हस्ते) (आदधे) (आत्मा) तत्त्वमूलम् (यक्ष्मस्य) क्षयस्य राजरोगस्य (नश्यति) (पुरा) पूर्वम् (जीवगृभः) यो जीवं गृह्णाति तस्य व्याधेः (यथा) येन प्रकारेण ॥ ८५ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यथा पुरा वाजयन्नहं यदिमा ओषधीर्हस्त आदधे याभ्यो जीवगृभो यक्ष्मस्यात्मा नश्यति ताः सद्युक्त्योपयुञ्जताम् ॥८५॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—मनुष्यैः सुहस्तक्रिययौषधीः संसाध्य यथाक्रमधुपयोज्य यक्ष्मादिरोगान्निवार्य नित्यमानन्दाय प्रयतितव्यम् ॥८५॥

पदार्थः—हे मनुष्यो (यथा) जिस प्रकार (पुरा) पूर्व (वाजयन्) प्राप्त करता हुआ (अहम्) मैं (यत्) जो (इमा.) इन (ओषधीः) ओषधियों को (हस्ते) हाथ में (आदधे) धारण करता हूं जिन से (जीवगृभः) जीव के ग्राहक व्याधि और (यक्ष्मस्य) क्षयी राजरोग का (आत्मा) मूलतत्त्व (नश्यति) नष्ट हो जाता है। उन ओषधियों को श्रेष्ठ युक्तियों से उपयोग में लाओ ॥ ८५ ॥

भावार्थ।—इस मन्त्र में वाचकलु०—मनुष्यों को चाहिये कि सुन्दर हस्तक्रिया से ओषधियों को साधन कर ठीक २ क्रम से उपयोग में ला और क्षयी आदि बड़े रोगों को निवृत्त करके नित्य आनन्द के लिये प्रयत्न करें ॥ ८५ ॥

यस्यौषधीरित्यस्य भिषगृषिः। वैद्यो देवता।
निचृदनुष्टुप् छन्दः। गांधारः स्वरः ॥

पुनःसेवितमोषधं रोगान्कथं नो नाशयेदित्याह ॥
ठीक २ सेवन की हुई ओषधी रोगों को कैसे न नष्ट करे य० ॥

यस्यौषधीः प्रसर्पथाङ्गमङ्गं परुष्परुः। ततो यक्ष्मं विबाधध्व उग्रो मध्यमशीरिव ॥ ८६ ॥

यस्यं। ओषधीः। प्रसर्पथेति प्रऽसर्पथ। अङ्गमङ्गमित्यङ्गम्ऽअङ्गम्। परुष्परुः। परुः परुः। परुःपरुरिति परुःऽ-

परुः । ततः । यक्ष्मम् । वि । बाधध्वे । उग्रः । मध्यमशीरिवेति मध्यमशीःऽइव ॥ ८६ ॥

पदार्थः—(यस्य) (ओषधीः) (प्रसर्पथ) (अङ्गमङ्गम्) प्रत्यवयवम् (परुष्परुः) मर्ममर्म (ततः) (यक्ष्मम्) (वि) (बाधध्वे) (उग्रः) (मध्यमशीरिव) यो मध्यमानि मर्माणि शृणातीव ॥ ८६ ॥

अन्वयः— हे मनुष्या यूयं यस्याङ्गमङ्गं परुष्परुः प्रतिवर्त्तमानं यक्ष्मं मध्यमशीरिव विबाधध्वे । ओषधीः प्रसर्पथ विजानीत तास्ताँश्च सेवेमहि ॥ ८६ ॥

भावार्थः—यदि शास्त्राऽनुसारेणौषधानि सेवेरँस्तर्ह्यङ्गादङ्गाद्रोगाभिःसार्याऽरोगिणो भवन्ति ॥ ८६ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो तुमलोग (यस्य) जिसके (अङ्गमङ्गम्) सब अवयवों और (परुष्परुः) मर्म २ के प्रति वर्त्तमान है उसके उस (उग्रः) तीव्र (यक्ष्मम्) क्षयी रोग को (मध्यमशीरिव) बीच के मर्मस्थानों को काटते हुए के समान (विबाधध्वे) विशेष कर निवृत्त करो (ततः) उसके पश्चात् (ओषधीः) ओषधियों को (प्रसर्पथ) प्राप्त होओ ॥ ८६ ॥

भावार्थः—जो मनुष्यलोग शास्त्र के अनुसार ओषधियों का सेवन करें तो सब अवयवों से रोगों को निकाल के सुखी रहते हैं ॥ ८६ ॥

साकमित्यस्य भिषगृषिः । विराडनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

कथं कथं रोगा निहन्तव्या इत्याह ॥

कैसे २ रोगों को नष्ट करें इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में कहा है ॥

साकं यक्ष्म प्र पत चाषेण किकिदीविना ।
साकं वातस्य ध्राज्या साकं नश्य निहाकया ॥८७॥

साकम् । यक्ष्म । प्र । पत । चाषेण । किकिदीविना । साकम् । वातस्य । ध्राज्या । साकम् । नश्य । निहाकयेति निऽहाकया ॥ ८७ ॥

पदार्थः—(साकम्) सह (यक्ष्म) राजरोगः (प्र) (पत) प्रपातय (चाषेण) भक्षणेन (किकिदीविना) किं किं ज्ञानं दीव्यति ददाति यस्तेन । कि ज्ञान इत्यस्माद्दौणादिके सन्वति डौ कृते । किकिरुपपदाद्दिवुधातोरौणादिकः किर्वाहुलकाद्दीर्घश्च (साकम्) (वातस्य) वायोः (ध्राज्या) गत्या (साकम्) (नश्य) नश्येत् । अत्र व्यत्ययः (निहाकया) नितरां हातुं योग्यया पीडया ॥ ८७ ॥

अन्वयः—हे चिकित्सो विद्वन् किकिदीविना चाषेण साकं यक्ष्म प्रपत यथा तस्य वातस्य ध्राज्या साकमयं नश्य निहाकया साकं दूरीभवेत्तथा प्रयतस्व ॥ ८७ ॥

भावार्थः—मनुष्यैरोषधसेवनप्राणायामव्यायामैः रोगान् निहत्य सुखेन वर्त्तितव्यम् ॥ ८७ ॥

पदार्थः—हे वैद्य विद्वान् पुरुष (किकिदीविना) ज्ञान बढ़ानेहारे (चाषेण) आहार से (साकम्) ओषधियुक्त पदार्थों के साथ (यक्ष्म) राजरोग (प्रपत) हट जाता है जैसे उस (वातस्य) वायु की (ध्राज्या) गति के (साकम्) साथ (नश्य) नष्ट हो और (निहाकया) निरन्तर छोड़ने योग्य पीड़ा के (साकम्) साथ दूर हो वैसा प्रयत्न कर ॥ ८७ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि ओषधियों का सेवन योगाभ्यास और व्यायाम के सेवन से रोगों को नष्ट कर सुख से रहें ॥ ८७ ॥

अन्यास इत्यस्य भिषगृषिः । वैद्या देवताः । विराडनुष्टुप्छन्दः ।
गान्धारः स्वरः ॥

युक्त्या संमेलिता ओषधयो रोगनाशिका जायन्त इत्याह ॥

युक्ति से मिलाई हुई ओषधियां रोगों को नष्ट करती हैं यह विषय अगले मंत्र में कहा है ॥

अन्या वो अन्यामवत्वन्यान्यस्या उपावत ।
ताः सर्वाः संविदाना इदं मे प्रावता वचः ॥ ८८ ॥

अन्या । वः । अन्याम् । अवतु । अन्या । अन्यस्याः । उप । अवत । ताः । सर्वाः । संविदाना इति सम्ऽविदानाः । इदम् । मे । प्र । अवत । वचः ॥ ८८ ॥

पदार्थः—(अन्या) भिन्ना (वः) युष्मान् (अन्याम्) (अवतु) रक्षतु (अन्या) (अन्यस्याः) (इदम्) (मे) मम (प्र) (अवत) अत्रान्येषामपीति दीर्घः (वचः) ॥ ८८ ॥

अन्वयः—हे स्त्रियः संविदाना यूयमिदं मे वचः प्रावत तास्सर्वा ओषधीरन्या अन्यस्या इवोपावत । यथाऽन्याऽन्यां रक्षति तथा वोऽध्यापिकाऽवतु ॥ ८८ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—यथा सद्वृत्ताः स्त्रियोऽन्याऽन्यस्या रक्षणं कुर्वन्ति तथैवानुकूल्येन संमिलिता ओषधयः सर्वेभ्यो रोगेभ्यो रक्षन्ति । हे स्त्रियो यूयमोषधिविद्यायै परस्परं संवदध्वम् ॥ ८८ ॥

पदार्थः—हे स्त्रियो (संविदानाः) आपस में संवाद करती हुई तुम लोग (मे) मेरे (इदम्) इस (वचः) वचन को (प्रावत) पालन करो (ताः) उन (सर्वाः) ओषधियों की (अन्याः) दूसरी (अन्यस्याः) दूसरी की रक्षा के समान (उपावत) समीप से रक्षा करो जैसे (अन्या) एक (अन्याम्) दूसरी की रक्षा करती है वैसे (वः) तुम लोगों को पढ़ाने हारी स्त्री (अवतु) तुम्हारी रक्षा करे ॥ ८८ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में वाचकलु०—जैसे श्रेष्ठ नियम वाली स्त्री एक दूसरे की रक्षा करती है वैसे ही अनुकूलता से मिलाई हुई ओषधी सब रोगों से रक्षा करती हैं। हे स्त्रियो तुम लोग ओषधिविद्या के लिये परस्पर संवाद करो ॥ ८८ ॥

या इत्यस्य भिषगृषिः। विराडनुष्टुप्छन्दः। गान्धारः स्वरः ॥

रोगनिवारणार्था एवौषधय ईश्वरेण निर्मिता इत्याह ॥

रोगों के निवृत्त होने के लिये ही ओषधी ईश्वर ने रची हैं यह वि० ॥

याः फलिनीर्या अफला अपुष्पा याश्च पुष्पिणीः। बृहस्पतिप्रसूतास्ता नो मुञ्चन्त्वꣳहसः ॥ ८९ ॥

याः। फलिनीः। याः। अफलाः। अपुष्पाः। याः। च। पुष्पिणीः। बृहस्पतिप्रसूता इति बृहस्पतिऽप्रसूताः। ताः। नः। मुञ्चन्तु। अꣳहसः ॥ ८९ ॥

पदार्थः—(याः) (फलिनीः) बहुफलाः (याः) (अफलाः) अविद्यमानफलाः (अपुष्पाः) पुष्परहिताः (याः) (च) (पुष्पिणीः) बहुपुष्पाः (बृहस्पतिप्रसूताः) बृहतां पतिनेश्वरेणोत्पादिताः (ताः) (नः) अस्मान् (मुञ्चन्तु) मोचयन्तु (अंहसः) रोगजन्यदुःखात् ॥ ८९ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या याः फलिनीर्या अफला या अपुष्पा याश्च पुष्पिणीर्बृहस्पतिप्रसूता ओषधयो नोऽंहसो यथा मुञ्चन्तु ता युष्मानपि मोचयन्तु ॥ ८९ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—मनुष्यैर्या ईश्वरेण सर्वेषां प्राणिनां जीवनाय रोगनिवारणाय चौषधयो निर्मिताः। ताभ्यो वैद्यकशास्त्रोक्तोपयोगेन सर्वान् रोगान् हृत्वा पापाचाराद्दूरे स्थित्वा धर्मे नित्यं प्रवर्त्तितव्यम् ॥ ८९ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! (याः) जो (फलिनीः) बहुत फलों से युक्त (याः) जो (अफलाः) फलों से रहित (याः) जो (अपुष्पाः) फूलों से रहित (च) और जो (पुष्पिणीः) बहुत फूलों वाली (बृहस्पतिप्रसूताः) वेदवाणी के स्वामी ईश्वर ने उत्पन्न की हुई ओषधी (नः) हमको (अंहसः) दुःखदायी रोग से जैसे (मुञ्चन्तु) छुड़ावें (ताः) वे तुम लोगों को भी वैसे रोगों से छुड़ावें ॥ ८९ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में वाचकलु०—मनुष्यों को चाहिये कि जो ईश्वर ने सब प्राणियों की अधिक अवस्था और रोगों की निवृत्ति के लिये ओषधी रची हैं उनसे वैद्यकशास्त्र में कही हुई रीतियों से सब रोगों को निवृत्त कर और पापों से अलग रहकर धर्म में नित्य प्रवृत्त रहें ॥ ८९ ॥

मुञ्चन्तु मेत्यस्य भिषगृषिः । वैद्या देवताः ।
भुरिगुष्णिक् छन्दः । ऋषभः स्वरः ॥

किं किमौषधं कस्मात्कस्मान्मुञ्चतीत्याह ॥
कौन २ ओषधी किस २ से छुड़ाती है यह विषय अगले मंत्र में कहा है ॥

मुञ्चन्तुं मा शपथ्यादथों वरुण्याटुत । अथों यमस्य पड्बींशात्सर्वस्माद् देवकिल्बिषात् ॥ ९० ॥

मुञ्चन्तु । मा । शपथ्यात् । अथो इत्यथों । वरुण्यात् । उत । अथों इत्यथों । यमस्यं । पड्बींशात् । सर्वस्मात् । देवकिल्बिषादिति देवऽकिल्बिषात् ॥ ९० ॥

पदार्थः—(मुञ्चन्तु) पृथक्कुर्वन्तु (मा) माम् (शपथ्यात्) शपथे भवात् कर्मणः (अथो) (वरुण्यात्) वरुणेषु वरेषु भवादपराधात् (उत) अपि (अथो) (यमस्य) न्यायाधीशस्य (पड्बीशात्) न्यायविरोधाचरणात् (सर्वस्मात्) (देवकिल्बिषात्) देवेषु विद्वत्स्वपराधकरणात् ॥ ९० ॥

अन्वयः—हे विद्वांसो ! भवन्त्यो यथौषधयो रोगात्पृथग्रक्षन्ति तथा शपथ्यादथो वरुण्यादथो यमस्य पड्वीशादुत सर्वस्माद्देवकिल्विषान्मा मुञ्चन्तु पृथग्रक्षन्तु तथा युष्मानपि रोगेभ्यो मुञ्चन्तु ॥ ९० ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—मनुष्यैः प्रमादकारकपदार्थं विहायान्यद्भक्ष्यं न कदाचिच्छपथः कार्यः श्रेष्ठापराधान्यायविरोधात्पापाचरणाद्विद्वदीर्ष्याविषयात्पृथग् भूत्वाऽऽनुकूल्येन वर्त्तितव्यमिति ॥ ९० ॥

पदार्थः—हे विद्वान् लोगो आप जैसे वे महौषधी रोगों से पृथक् करती हैं (शपथ्यात्) शपथसम्बन्धी कर्म (अथो) और (वरुण्यात्) श्रेष्ठों में हुए अपराध से (अथो) इसके पश्चात् (यमस्य) न्यायाधीश के (पड्वीशात्) न्याय के विरुद्ध आचरण से (उत) और (सर्वस्मात्) सब (देवकिल्विषात्) विद्वानों के विषय अपराध से (मा) मुझको (मुञ्चन्तु) पृथक् रक्खें वैसे तुम लोगों को भी पृथक् रक्खें ॥ ९० ॥

भावार्थः—इस मंत्र में वाचकलु०—मनुष्यों को चाहिये कि प्रमादकारक पदार्थों को छोड़ के अन्य पदार्थों का भोजन करें और कभी सौगन्द, श्रेष्ठों का अपराध, न्याय से विरोध और मूर्खों के समान ईर्ष्या न करें ॥ ९० ॥

अवपतन्तीरित्यस्य वरुण ऋषिः । वैद्या देवताः ।
अनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

अध्यापकाः सर्वेभ्य उत्तमौषधिविज्ञानं कारयेयुरित्याह ॥
अध्यापक लोग सब को उत्तम ओषधी जनावें यह वि० ॥

अवपतन्तीरवदन्दिव ओषधयस्परि । यं जीवमश्नवामहै न स रिष्याति पूरुषः ॥ ९१ ॥

अवपतन्तीरित्यंवऽपतन्तीः । अवदन् । दिवः । ओषधयः । परि । यम् । जीवम् । अश्नवामहै । न । सः । रिष्याति । पुरुषः । पुरुषइति पुरुषः ॥ ९१ ॥

पदार्थः—(अवपतन्तीः) अध आगच्छन्तीः (अवदन्) उपदिशन्तु (दिवः) प्रकाशात् (ओषधयः) सोमाद्याः (परि) सर्वतः (यम्) (जीवम्) प्राणधारकम् (अश्नवामहै) प्राप्नुयाम (न) निषेधे (सः) (रिष्याति) रोगैर्हिंसितो भवेत् (पुरुषः) पुमान् ॥ ९१ ॥

अन्वयः—वयं या दिवोऽवपतन्तीरोषधयः सन्ति या विद्वांसः पर्यवदन् याभ्यो यं जीवमश्नवामहै याः संसेव्य स पुरुषो न रिष्याति कदाचिद्रोगैर्हिंसितो न भवेत् ॥ ९१ ॥

भावार्थः—विद्वांसोऽखिलेभ्यो मनुष्येभ्यो दिव्यौषधीनां विद्यां प्रदद्युः। यतोऽलं जीवनं सर्वे प्राप्नुयुः । एता ओषधीः केनापि कदाचिन्नैव विनाशनीयाः ॥ ९१ ॥

पदार्थः—हम लोग जो (दिवः) प्रकाश से (अवपतन्तीः) नीचे को आती हुई (ओषधयः) सोमलता आदि ओषधि हैं जिनका विद्वान् लोग (पर्य्यवदन्) सब ओर से उपदेश करते हैं । जिनसे (यम्) जिस (जीवम्) प्राणधारण को (अश्नवामहै) प्राप्त होवें (सः) वह (पुरुषः) पुरुष (न) कभी न (रिष्याति) रोगों से नष्ट होवे ॥ ९१ ॥

भावार्थः—विद्वान् लोग सब मनुष्यों के लिये दिव्य ओषधिविद्या को देवें जिससे, सब लोग पूरी अवस्था को प्राप्त होवें । इन ओषधियों को कोई भी कभी नष्ट न करे ॥ ९१ ॥

या ओषधीरित्यस्य वरुणऋषिः । निचृदनुष्टुप्छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

स्त्रीभिरवश्यमोषधिविद्या ग्राह्या इत्याह ॥

स्त्री लोग अवश्य ओषधिविद्या ग्रहण करें यह वि० ॥

या ओषधीः सोमराज्ञीर्बह्वीः शतविचक्षणाः ।
तासामसि त्वमुत्तमारं कामाय शꣳहृदे ॥ ९२ ॥

याः । ओषधीः । सोमराज्ञीरिति सोमऽराज्ञीः । बह्वीः । शतविचक्षणा इति शतऽविऽचक्षणाः । तासाम् । असि । त्वम् । उत्तमेत्युत्ऽतमा । अरम् । कामाय । शम् । हृदे ॥९२॥

पदार्थः-(याः) (ओषधीः) (सोमराज्ञीः) सोमो राजा यासां ताः (बह्वीः) (शतविचक्षणाः) शतमसंख्या विचक्षणाः गुणाः यासु ताः (तासाम्) (असि) (त्वम्) (उत्तमा) (अरम्) अलम् (कामाय) इच्छासिद्धये (शम्) कल्याणकारिणी (हृदे) हृदयाय ॥ ९२ ॥

अन्वयः—हे स्त्रि यतस्त्वं याः शतविचक्षणा बह्वीः सोमराज्ञीरोषधीः सन्ति तासामुत्तमा विदुष्यसि तस्मात्त्वं हृदेऽरं कामाय भवितुमर्हसि ॥ ९२॥

भावार्थः—स्त्रीभिरवश्यमोषधिविद्या ग्राह्या नैतामन्तरा पूर्णं कामसुखं लब्धुं शक्यम् । रोगान्निवर्त्तयितुं च ॥ ९२ ॥

पदार्थः—हे स्त्रि जिससे (त्वम्) तू (याः) जो (शतविचक्षणाः) असंख्यात शुभगुणों से युक्त (बह्वीः) बहुत (सोमराज्ञीः) सोम जिन में राजा अर्थात् सर्वोत्तम (ओषधीः) ओषधी हैं (तासाम्) उन के विषय में (उत्तमा) उत्तम विद्वान् (असि) है इस से (शम्) कल्याणकारिणी (हृदे) हृदय के लिये (अरम्) समर्थ (कामाय) इच्छासिद्धि के लिये योग्य होती है हमारे लिये उन का उपदेश कर ॥ ९२ ॥

भावार्थः—स्त्रियों को चाहिये कि ओषधिविद्या का ग्रहण अवश्य करें क्योंकि इस के विना पूर्णकामना सुखप्राप्ति और रोगों की निवृत्ति कभी नहीं हो सकती ॥ ९२ ॥

या इत्यस्य वरुण ऋषिः । विराडार्ष्यनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

कथं सन्तानोत्पत्तिः कार्य्येत्याह ॥

कैसे सन्तानों को उत्पन्न करें यह विषय अगले मंत्र में कहा है ॥

या ओषधीः सोमराज्ञीर्विष्ठिताः पृथिवीमनु।
बृहस्पतिं प्रसूता अस्यै संदत्त वीर्य्यम् ॥ ९३ ॥

याः। ओषधीः। सोमराज्ञीरिति सोमऽराज्ञीः। विष्ठिताः। विस्थिता इति विऽस्थिताः। पृथिवीम्। अनु। बृहस्पतिप्रसूता इति बृहस्पतिऽप्रसूताः। अस्यै। सम्। दत्त। वीर्य्यम् ॥ ९३ ॥

पदार्थः—(याः) (ओषधीः) ओषध्यः (सोमराज्ञीः) सोमप्रमुखाः (विष्ठिताः) विशेषेण स्थिताः (पृथिवीम्) (अनु) (बृहस्पतिप्रसूताः) बृहतः कारणस्य पालकस्येश्वरस्य निर्माणादुत्पन्नाः (अस्यै) पत्न्यै (सम्) (दत्त) (वीर्य्यम्) ॥ ९३ ॥

अन्वयः—हे विवाहित पुरुष याः सोमराज्ञीर्बृहस्पतिप्रसूता ओषधीः पृथिवीमनु विष्ठिताः सन्ति ताभ्योऽस्यै वीर्य्यं देहि। हे विद्वांसो यूयमेतासां विज्ञानं सर्वेभ्यः संदत्त ॥ ९३ ॥

भावार्थः—स्त्रीपुरुषाभ्यां महौषधीः संसेव्य सुनियमेन गर्भाधानमनुष्ठेयम्। ओषधिविज्ञानं विद्वद्भ्यः संग्राह्यम् ॥ ९३ ॥

पदार्थः—हे विवाहित पुरुष! (याः) जो (सोमराज्ञीः) सोम जिनमें उत्तम है वे (बृहस्पतिप्रसूताः) बड़े कारण के रक्षक ईश्वर की रचना से उत्पन्न हुई (ओषधीः) ओषधियां (पृथिवीम्) (अनु) भूमि के ऊपर (विष्ठिताः) विशेषकर स्थित हैं उन से (अस्यै) इस स्त्री के लिये (वीर्य्यम्) बीज का दान दे। हे विद्वानो आप इन ओषधियों का विज्ञान सब मनुष्यों के लिये (संदत्त) अच्छे प्रकार दिया कीजिये ॥ ९३ ॥

भावार्थः—स्त्रीपुरुषों को उचित है कि बड़ी २ ओषधियों का सेवन करके सुन्दर नियमों के साथ गर्भधारण करें और ओषधियों का विज्ञान विद्वानों से सीखें ॥ ९३ ॥

याश्चेदमित्यस्य वरुण ऋषिः । भिषजो देवताः ।
विराडनुष्टुप्छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

शुद्धेभ्यो देशेभ्य ओषधयः संग्राह्या इत्याह ॥
शुद्ध देशों से ओषधियों का ग्रहण करें यह वि० ॥

याश्चेदमुपशृण्वन्ति याश्च दूरंपरागताः ।
सर्वाः संगत्यं वीरुधोऽस्यै संदत्त वीर्यम् ॥ ९४ ॥

याः । च । इदम् । उपशृण्वन्तीत्युपऽशृण्वन्ति । याः । च । दूरम् । परागता इति पराऽगताः । सर्वाः । संगत्येति सम्ऽगत्य । वीरुधः । अस्यै । सम् । दत्त । वीर्यम् ॥ ९४ ॥

पदार्थः—(याः) (च) विदिताः (इदम्) (उपशृण्वन्ति) (याः) (च) समीपस्थाः (दूरम्) (परागताः) (सर्वाः) (संगत्य) एकीभूत्वा (वीरुधः) वृक्षवद्भूतदः (अस्यै) प्रजायै (सम्) (दत्त) (वीर्यम्) पराक्रमम् ॥ ९४ ॥

अन्वयः—हे विद्वांसो ! भवन्तो याश्चोपशृण्वन्ति याश्च दूरं परागतास्ताः सर्वा वीरुधः संगत्येदं वीर्यं प्रसाध्नुवन्ति तासां विज्ञानमस्यै कन्यायै संदत्त ॥ ९४ ॥

भावार्थः—हे मनुष्या या ओषधयो दूरसमीपस्था रोगापहारिण्यो बलकारिण्यः श्रूयन्ते ता उपयुज्यारोगिणो भवत ॥ ९४ ॥

पदार्थ:—हे विद्वानो ! आप लोग (याः) जो (च) विदित हुई और जिनको (उपशृण्वन्ति) सुनते हैं (याः) जो (च) समीप हों और जो (दूरम्) दूर देश में (परागताः) प्राप्त हो सकती हैं उन (सर्वाः) सब (वीरुधः) वृक्ष आदि ओषधियों को (संगत्य) निकट प्राप्त कर (इदम्) इस (वीर्यम्) शरीर के पराक्रम को वैद्य मनुष्य लोग जैसे सिद्ध करते हैं वैसे उन ओषधियों का विज्ञान (अस्यै) इस कन्या को (संदत्त) सम्यक् प्रकार से दीजिये ॥ ९४ ॥

भावार्थ:—हे मनुष्यो तुम लोग, जो ओषधियां दूर वा समीप में रोगों को हरने और बल करनेहारी सुनी जाती हैं उनको उपकार में लाके रोगरहित होओ ॥ ९४ ॥

मा व इत्यस्य वरुण ऋषिः । वैद्या देवताः । विराडनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

केनाप्योषधयो नैव ह्रासनीया इत्याह ॥

कोई भी मनुष्य ओषधियों की हानि न करे यह वि० ॥

मा वो॑ रिषत्खनि॒ता यस्मै॑ चा॒हं खना॑मि वः ।
द्वि॒पाच्चतु॑ष्पाद॒स्माकँ॒ सर्व॑मस्त्वनातु॒रम् ॥ ९५ ॥

मा । वः॒ । रि॒ष॒त् । ख॒नि॒ता । यस्मै॑ । च॒ । अ॒हम् । खना॑मि । वः॒ । द्वि॒पादिति॑ द्वि॒ऽपात् । चतु॑ष्पात् । चतु॑ःपा॒दिति॒ चतु॑ःऽपात् । अ॒स्माक॑म् । सर्व॑म् । अ॒स्तु॒ । अ॒ना॒तु॒रम् ॥ ९५ ॥

पदार्थः—(मा) (वः) युष्मान् (रिषत्) हिंस्यात् (खनिता) (यस्मै) प्रयोजनाय (च) (अहम्) (खनामि) उत्पाटयामि (वः) युष्माकम् (द्विपात्) मनुष्यादि (चतुष्पात्) गवादि (अस्माकम्) (सर्वम्) (अस्तु) भवतु (अनातुरम्) रोगेणातुरतारहितम् ॥ ९५ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या अहं यस्मै या ओषधीः खनामि सा खनिता सती वो युष्मान् मा रिषत् । यतो वोऽस्माकं च सर्वं द्विपच्चतुष्पादनातुरमस्तु ॥ ९५ ॥

भावार्थः—य ओषधीः खनेत्स ता निर्बीजा न कुर्य्यात् । यावत् प्रयोजनं तावदादाय प्रत्यहं रोगान्निवारयेदोषधिसन्ततिं च वर्धयेत् । येन सर्वे प्राणिनो रोगकष्टमप्राप्य सुखिनः स्युः ॥ ९५ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! (अहम्) मैं (यस्मै) जिस प्रयोजन के लिये ओषधी को (खनामि) उखाड़ता वा खोदता हूं वह (खनिता) खोदी हुई (वः) तुम को (मा) न (रिषत्) दुःख देवे जिस से (वः) तुम्हारे और (अस्माकम्) हमारे (द्विपात्) दो पग वाले मनुष्य आदि तथा (चतुष्पात्) गौ आदि (सर्वम्) सब प्रजा उस ओषधी से (अनातुरम्) रोगों के दुःखों से रहित (अस्तु) होवे ॥ ९५ ॥

भावार्थः—जो पुरुष जिन ओषधियों को खोदे वह उनकी जड़ न मेटे जितना प्रयोजन हो उतनी लेकर नित्य रोगों को हटाता रहे, ओषधियों की परम्परा को बढ़ाता रहे कि जिस से सब प्राणी रोगों के दुःखों से बच के सुखी होवें ॥ ९५ ॥

ओषधय इत्यस्य वरुण ऋषिः । वैद्या देवताः । निचृदनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

किं कृत्वौषधिविज्ञानं वर्द्धेतेत्याह ॥

क्या करने से ओषधियों का विज्ञान बढ़े यह वि० ॥

ओषधयः समवदन्त सोमेन सह राज्ञा । यस्मै कृणोति ब्राह्मणस्तꣳ राजन् पारयामसि ॥ ९६ ॥

ओषधयः । सम् । अवदन्त । सोमेन । सह । राज्ञा । यस्मै । कृणोति । ब्राह्मणः । तम् । राजन् । पारयामसि ॥ ९६ ॥

पदार्थः—(ओषधयः) सोमाद्याः (सम्) (अवदन्त) परस्परं संवादं कुर्य्युः (सोमेन) (सह) (राज्ञा) प्रधानेन (यस्मै) रोगिणे (कृणोति) (ब्राह्मणः) वेदोपवेदवित् (तम्) (राजन्) प्रकाशमान (पारयामसि) रोगसमुद्रात्पारं गमयेम ॥ ९६ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या याः सोमेन राज्ञा सह वर्त्तमाना ओषधयः सन्ति तद्विज्ञानार्थं भवन्तः समवदन्त । हे राजन् वयं वैद्या ब्राह्मणो यस्मै ओषधीः कृणोति तं रोगिणं रोगात् पारयामसि ॥ ९६ ॥

भावार्थः—वैद्याः परस्परं प्रश्नोत्तरैरोषधीविज्ञानं सम्यक् कृत्वा रोगेभ्यो रोगिणः पारं नीत्वा सततं सुखयेयुः । यश्चैनेषां विद्वत्तमः स्यात् स सर्वानायुर्वेदमध्यापयेत् ॥ ९६ ॥

पदार्थः—हे मनुष्य लोगो जो (सोमेन) (राज्ञा) सर्वोत्तम सोमलता के (सह) साथ वर्त्तमान (ओषधयः) ओषधी हैं उन के विज्ञान के लिये आप लोग (समवदन्त) आपस में संवाद करो हे वैद्य (राजन्) राजपुरुष हम लोग (ब्राह्मणः) वेदों और उपवेदों का वेत्ता पुरुष (यस्मै) जिस रोगी के लिये इन ओषधियों का ग्रहण (कृणोति) करता है (तम्) उस रोगी को रोगसागर से उन ओषधियों से (पारयामसि) पार पहुंचाते हैं ॥ ९६ ॥

भावार्थः—वैद्य लोगों को योग्य है कि आपस में प्रश्नोत्तरपूर्वक निरन्तर ओषधियों के ठीक २ ज्ञान से रोगों से रोगी पुरुषों को पार कर निरन्तर सुखी करें । और जो इन में उत्तम विद्वान् हो वह सब मनुष्यों को वैद्यक शास्त्र पढ़ावे ॥ ९६ ॥

नाशयित्रीत्यस्य वरुण ऋषिः । भिषग्वरा देवताः ।
अनुष्टुप्छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

रोगपरिमाणा ओषधयः सन्तीत्याह ॥

जितने रोग हैं उतनी ओषधी हैं उन का सेवन करे यह वि० ॥

नाशयित्री बलासस्यार्शस उपचितामसि ।
अथो शतस्य यक्ष्माणां पाकारोरसि नाशनी ॥ ९७ ॥

नाशयित्री । बलासस्य । अर्शसः । उपचितामित्युपऽचिताम् । असि । अथो इत्यथो । शतस्य । यक्ष्माणाम् । पाकारोरिति पाकऽअरोः । असि । नाशनी ॥ ९७ ॥

पदार्थः—(नाशयित्री) (बलासस्य) आविर्भूतकफस्य (अर्शसः) मूलेन्द्रियव्याधेः (उपचिताम्) अन्येषां वर्धमानानां रोगाणाम् (असि) अस्ति (अथो) (शतस्य) अनेकेषाम् (यक्ष्माणाम्) महारोगाणाम् (पाकारोः) मुखादिपाकस्यारोर्मर्मच्छिदः शूलस्य च (असि) अस्ति । अत्रोभयत्र व्यत्ययः (नाशनी) निवारयितुं शीला ॥ ९७ ॥

अन्वयः—हे वैद्या या बलासस्यार्शस उपचितां नाशयित्र्यसि अथो शतस्य यक्ष्माणां पाकारोर्नाशन्यसि तामोषधीं यूयं विजानीत ॥ ९७ ॥

भावार्थः—मनुष्यैरेवं विज्ञेयं यावन्तो रोगाः सन्ति तावत्य एव तन्निवारिका ओषधयोऽपि वर्त्तन्ते । एतासां विज्ञानेन रहिताः प्राणिनो रोगैः पच्यन्ते । यदि रोगाणामोषधीर्जानीयुस्तर्हि तेषां निवारणात्सततं सुखिनः स्युरिति ॥ ९७ ॥

पदार्थः—हे वैद्य लोगो ! जो (बलासस्य) प्रसिद्ध हुए कफ की (अर्शसः) गुदेन्द्रिय की व्याधि वा (उपचिताम्) अन्य बढ़े हुए रोगों की (नाशयित्री) नाश करने हारी (असि) ओषधि है (अथो) और जो (शतस्य) असंख्यात (यक्ष्माणाम्) राजरोगों और अर्थात् भगन्दरादि और (पाकारोः) मुखरोगों और मर्मों का छेदन करनेहारे शूल की (नाशनी) निवारण करनेहारी (असि) है उस ओषधी को तुम लोग जानो ॥ ९७ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को ऐसा जानना चाहिये कि जितने रोग हैं उतनी ही उन की नाश करनेहारी ओषधी भी हैं इन ओषधियों को नहीं जाननेहारे पुरुष रोगों से पीड़ित होते हैं। जो रोगों की ओषधी जानें तो उन रोगों की निवृत्ति करके निरन्तर सुखी होवें ॥ ९७ ॥

त्वां गन्धर्वा इत्यस्य वरुण ऋषिः। वैद्या देवताः।
निचृदनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः॥
कः क ओषधीं खनतीत्युपदिश्यते॥
कौन २ ओषधी का खनन करता है यह वि० ॥

त्वां गन्धर्वा अखनँस्त्वामिन्द्रस्त्वां बृहस्पतिः। त्वामोषधे सोमो राजा विद्वान् यक्ष्मादमुच्यत ॥ ९८ ॥

त्वाम्। गन्धर्वाः। अखनन्। त्वाम्। इन्द्रः। त्वाम्। बृहस्पतिः। त्वाम्। ओषधे। सोमः। राजा। विद्वान्। यक्ष्मात्। अमुच्यत ॥ ९८ ॥

पदार्थः-(त्वाम्) ताम् (गन्धर्वाः) गानविद्याकुशलाः (अखनन्) खनन्ति (त्वाम्) ताम् (इन्द्रः) परमैश्वर्ययुक्तः (त्वाम्) ताम् (बृहस्पतिः) वेदवित् (त्वाम्) ताम् (ओषधे) ओषधीम् (सोमः) सौम्यगुणसम्पन्नः (राजा) प्रकाशमानो राजन्यः (विद्वान्) सत्यशास्त्रवित् (यक्ष्मात्) क्षयादिरोगात् (अमुच्यत) मुच्येत ॥ ९८ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यथा सेवितया रोगी यक्ष्मादमुच्यत यामोषधे ओषधीं पृथक् पृथक् त्वां तां गन्धर्वा अखनँस्त्वां तामिन्द्रस्त्वां तां बृहस्पतिस्त्वां तां सोमो विद्वान् राजा च त्वां तां खनेत् ॥ ९८ ॥

भावार्थः—याः काश्चिदोषधयो मूलेन काश्चिच्छाखादिना काश्चित्पुष्पेण काश्चित्पत्रेण काश्चित्फलेन काश्चित्सर्वाङ्गैः रोगान्मोचयन्ति । तासां सेवनं मनुष्यैर्यथावत्कार्य्यम् ॥ ९८ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! तुम लोग जिस ओषधी से रोगी (यक्ष्मं तु) क्षयरोग से (अमुच्यत) छूट जाय और जिस ओषधी को उपयुक्त करो (त्वाम्) उसको (गन्धर्वाः) गानविद्या में कुशल पुरुष (अखनन्) ग्रहण करें (त्वाम्) उस को (इन्द्रः) परम ऐश्वर्य से युक्त मनुष्य (त्वाम्) उस को (बृहस्पतिः) वेदज्ञ जन और (त्वाम्) उस को (सोमः) सुन्दर गुणों से युक्त (विद्वान्) सब शास्त्रों का वेत्ता (राजा) प्रकाशमान राजा (त्वाम्) उस ओषधी को खोदे ॥ ९८ ॥

भावार्थः—जो कोई ओषधी जड़ों से, कोई शाखा आदि से, कोई पुष्पों, कोई फलों और कोई सब अवयवों करके रोगों को बचाती हैं । उन ओषधियों का सेवन मनुष्यों को यथावत् करना चाहिये ॥ ९८ ॥

सहस्वेत्यस्य वरुण ऋषिः । ओषधिर्देवता । विराडनुष्टुप्छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

मनुष्यैः किं कृत्वा किं कार्य्यमित्याह ॥

मनुष्यों को क्या करके क्या करना चाहिये यह वि० ॥

सहस्व मे अरातीः सहस्व पृतनायतः । सहस्व सर्वं पाप्मानꣳ सहमानास्योषधे ॥ ९९ ॥

सहस्व । मे । अरातीः । सहस्व । पृतनायत इति पृतनाऽयतः । सहस्व । सर्वम् । पाप्मानम् । सहमाना । असि । ओषधे ॥ ९९ ॥

पदार्थः—(सहस्व) बलीभव (मे) मम (अरातीः) शत्रून् (सहस्व) (पृतनायतः) आत्मनः पृतनां सेनामिच्छतः (सहस्व) (सर्वम्) (पाप्मानम्) रोगादिकम् (सहमाना) बलनिमित्ता (असि) (ओषधे) ओषधिवद्वर्त्तमाने ॥ ९९ ॥

अन्वयः—हे ओषधे ओषधिवद्वर्त्तमाने स्त्रि यथौषधिः सहमानासि मे मम रोगान् सहते तथाऽरातीः सहस्व स्वस्य पृतनायत-सहस्व । सर्वं पाप्मानं सहस्व ॥ ९९ ॥

भावार्थः—मनुष्यैरोषधिसेवनेन बलं वर्धयित्वा प्रजायाः स्वस्य च शत्रून् पापात्मनो जनांश्च वशं नीत्वा सर्वे प्राणिनः सुखयितव्याः ॥ ९९ ॥

पदार्थः—(ओषधे) ओषधी के सदृश ओषधीविद्या को जानने हारी स्त्री जैसे ओषधी (सहमाना) बल का निमित्त (असि) है (मे) मेरे रोगों का निवारण करके बल बढ़ाती है वैसे (अरातीः) शत्रुओं को (सहस्व) सहन कर अपने (पृतनायतः) सेनायुद्ध की इच्छा करते हुओं को (सहस्व) सहन कर और (सर्वम्) सब (पाप्मानम्) रोगादि को (सहस्व) सहन कर ॥ ९९ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि ओषधियों के सेवन से बल बढ़ा और प्रजा के तथा अपने शत्रुओं और पापी जनों को वश में करके सब प्राणियों को सुखी करें ॥ ९९ ॥

दीर्घायुस्त इत्यस्य वरुणऋषिः । वैद्या देवताः । विराड्बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

मनुष्याः कथं भूत्वा स्वभिन्नान् कथं कुर्युरित्याह ॥

मनुष्य कैसे हों के दूसरों को कैसे करें यह वि० ॥

दीर्घायुस्त ओषधे खनिता यस्मै च त्वा खनाम्यहम् । अथो त्वं दीर्घायुर्भूत्वा शतवल्शा वि रोहतात् ॥ १०० ॥

दीर्घायुरिति दीर्घऽआयुः । ते । ओषधे । खनिता । यस्मै । च । त्वा । खनामि । अहम् । अथो इत्यथो । त्वम् । दीर्घायुरिति दीर्घऽआयुः । भूत्वा । शतवल्शेति शतऽवल्शा । वि । रोहतात् ॥ १०० ॥

पदार्थः—(दीर्घायुः) चिरायुः (ते) तस्याः (ओषधे) ओषधिवद्वर्त्तमान विद्वन् (खनिता) सेवकः (यस्मै) (च) (त्वा) ताम् (खनामि) (अहम्) (अथो) (त्वम्) (दीर्घायुः) (भूत्वा) (शतवल्शा) शतमसंख्याता वल्शा अङ्कुरा यस्याः सा (वि) (रोहतात्) ॥ १०० ॥

अन्वयः—हे ओषधे इव मनुष्य यस्य ते यस्यामोषधीं खनिताऽहं खनामि तथा त्वं दीर्घायुर्भवदीर्घायुर्भूत्वाथो त्वं या शतवल्शौषधी वर्त्तते त्वा तां सेवित्वाऽप सुखी भव तथा विरोहतात् ॥ १०० ॥

भावार्थः—हे मनुष्या यूयमोषधिसेवनेन दीर्घायुषो भवत । धर्माचारिणश्च भूत्वा सर्वानोषधिसेवनेनेदृशान् कुरुत ॥ १०० ॥

पदार्थः—हे (ओषधे) ओषधि के तुल्य ओषधियों के गुण दोष जानने हारे पुरुष जिस के (ते) तेरी जिस ओषधि का (खनिता) सेवन करने हारा (अहम्) मैं (यस्मै) जिस प्रयोजन के लिये (च) और जिस पुरुष के लिये (खनामि) खोदूं उस से तू (दीर्घायुः) अधिक अवस्था वाला हो (अथो) और (दीर्घायुः) बड़ी अवस्था वाला (भूत्वा) होकर (त्वम्) तू जो (शतवल्शा) बहुत अङ्कुरों से युक्त ओषधि है (त्वा) उस को सेवन करके सुखी हो और (वि,रोहतात्) प्रसिद्ध हो ॥ १०० ॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! तुम लोग ओषधियों के सेवन से अधिक अवस्था वाले होओ और धर्म का आचरण करने हारे होकर सब मनुष्यों को ओषधियों के सेवन से दीर्घ अवस्था वाले करो ॥ १०० ॥

त्वमुत्तमासीत्यस्य वरुण ऋषिः। भिषजो देवताः। निचृदनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः॥

पुनस्सौषधी कीदृशीत्याह॥

फिर वह ओषधी किस प्रकार की है इस वि०॥

त्वमु॑त्त॒मास्यो॑षधे॒ तव॑ वृ॒क्षा उप॑स्तयः। उप॑स्तिरस्तु॒ सो॒ऽस्माकं॒ यो अ॒स्माँ२॥ अ॑भि॒दास॑ति॥ १०१॥

त्वम्। उ॒त्त॒मेत्यु॑त्ऽत॒मा। अ॒सि॒। ओ॒ष॒धे॒। तव॑। वृ॒क्षाः। उप॑स्तयः। उप॑स्तिः। अ॒स्तु॒। सः। अ॒स्माक॑म्। यः। अ॒स्मान्। अ॒भि॒दास॒तीत्य॒भि॑ऽदास॑ति॥ १०१॥

पदार्थः—(त्वम्) (उत्तमा) (असि) अस्ति। अत्र व्यत्ययः (ओषधे) ओषधी (तव) यस्याः (वृक्षाः) वटादयः (उपस्तयः) ये उप समीपे स्त्यायन्ति संघ्नन्ति ते। अत्रोपपूर्वात्स्त्यै संघात इत्यस्मादौणादिकः क्विप् संप्रसारणं च (उपस्तिः) संहतिः (अस्तु) (सः) अस्माकम् (यः) (अस्मान्) (अभिदासति) अभीष्टं सुखं ददाति॥ १०१॥

अन्वयः—हे वैद्यजन योऽस्मान् अभिदासति स त्वमस्माकमुपस्तिरस्तु योत्तमौषधे-ओषधिरसि-अस्ति तव यस्य वृक्षा उपस्तयस्तेनौषधेनाऽस्मभ्यं सुखं देहि॥ १०१॥

भावार्थः—मनुष्यैर्न कदाचिद्विरोधिनो वैद्यस्यौषधं ग्राह्यम्। न विरोधिमित्रस्य च किन्तु यो वैद्यकशास्त्रार्थविदाप्तोऽजातशत्रुः सर्वोपकारी सर्वेषां सुहृद्वर्त्तते तस्मादौषधविद्या संग्राह्या॥ १०१॥

पदार्थः—हे वैद्यजन (यः) जो (अस्मान्) हमको (अभिदासति) अभीष्ट सुख देता है (सः) वह (त्वम्) तू (अस्माकम्) हमारा (उपस्तिः) संगी

(अस्तु) हो जो (उत्तमा) उत्तम (ओषधे) ओषधी (असि) है (यस्य) जिसके (वृक्षाः) वट आदि वृक्ष (उपस्तयः) समीप इकट्ठे होनेवाले हैं उस ओषधी से हमारे लिये सुख दे ॥ १०१ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि विरोधी वैद्य की औषधी कभी न ग्रहण करें किन्तु जो वैद्यकशास्त्रज्ञ जिसका कोई शत्रु न हो धर्मात्मा सब का मित्र सर्वोपकारी है उससे ओषधिविद्या ग्रहण करें ॥ १०१ ॥

मा मेत्यस्य हिरण्यगर्भ ऋषिः । को देवता । निचृदार्षी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

अथ किमर्थ ईश्वरः प्रार्थनीय इत्याह ॥

अब किसलिये ईश्वर की प्रार्थना करनी चाहिये यह वि० ॥

मा मां हिꣳसीज्जनिता यः पृथिव्या यो वा दिवꣳ सत्यधर्मा व्यानट् । यश्चापश्चन्द्राः प्रथमो जजान कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ १०२ ॥

मा । मा । हिꣳसीत् । जनिता । यः । पृथिव्याः । यः । वा । दिवम् । सत्यधर्मेति सत्यऽधर्मा । वि । आनट् । यः । च । अपः । चन्द्राः । प्रथमः । जजान । कस्मै । देवाय । हविषा । विधेम ॥ १०२ ॥

पदार्थः—(मा) निषेधे (मा) माम् (हिंसीत्) रोगैर्हिंस्यात् (जनिता) उत्पादकः (यः) जगदीश्वरः (पृथिव्याः) भूमेः (यः) (वा) (दिवम्) सूर्यादिकं जगत् (सत्यधर्मा) सत्यो धर्मो यस्य सः (वि) (आनट्) व्याप्तोऽस्ति (यः) (च) अग्निं सूर्यम् (अपः) जलानि वायून् (चन्द्राः) चन्द्रादिलोकान् । अत्र शसः स्थाने जस् (प्रथमः) जन्मादेः पृथगादिमः

(जजान) जनयति (कस्मै) सुखस्वरूपाय सुखकारकाय। क इति पदना०। निघं० ५। ४। वाऽच्छन्दसि सर्वे विधय इति सर्वनामकार्यम् (देवाय) दिव्यसुखप्रदाय विज्ञानस्वरूपाय (हविषा) उपादेयेन भक्तियोगेन (विधेम) परिचरेम ॥ १०२ ॥

अन्वयः—यः सत्यधर्मा जगदीश्वरः पृथिव्या जनिता यो वा दिवमपश्च व्यानट्। चन्द्रांश्च जजान यस्मै कस्मै देवाय हविषा वयं विधेम स जगदीश्वरो मा मा हिंसीत् ॥ १०२ ॥

भावार्थः—मनुष्यैः सत्यधर्मप्राप्तये ओषध्यादिविज्ञानाय च परमेश्वरः प्रार्थनीयः ॥ १०२ ॥

पदार्थः—(यः) जो (सत्यधर्मा) सत्यधर्म वाला जगदीश्वर (पृथिव्याः) पृथिवी का (जनिता) उत्पन्न करने वाला (वा) अथवा (यः) जो (दिवम्) सूर्य आदि जगत् को (च) और (पृथिवी) तथा (अपः) जल और वायु को (व्यानट्) उत्पन्न करके व्याप्त होता है (चन्द्राः) और जो चन्द्रमा आदि लोकों को (जजान) उत्पन्न करता है। जिस (कस्मै) सुखस्वरूप सुख करने हारे (देवाय) दिव्य सुखों के दाता विज्ञानस्वरूप ईश्वर का (हविषा) ग्रहण करने योग्य भक्तियोग से हम लोग (विधेम) सेवन करें। वह जगदीश्वर (मा) मुझको (मा) नहीं (हिंसीत्) कुसंग से ताड़ित न होने देवे ॥ १०२ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि सत्यधर्म की प्राप्ति और ओषधि आदि के विज्ञान के लिये परमेश्वर की प्रार्थना करें ॥ १०२ ॥

अभ्यावर्त्तस्वेत्यस्य हिरण्यगर्भ ऋषिः। अग्निर्देवता। निचृदुष्णिक् छन्दः। ऋषभः स्वरः ॥

पृथ्वीस्थपदार्थविज्ञानं कथं कर्त्तव्यमित्याह ॥

पृथिवी के पदार्थों का विज्ञान कैसे करना चाहिये यह वि० ॥

अभ्यावर्त्तस्व पृथिवि यज्ञेन पयसा सह वपान्ते । अग्निरिषितो अरोहत् ॥ १०३ ॥

अभि । आ । वर्त्तस्व । पृथिवि । यज्ञेन । पयसा । सह । वपाम् । ते । अग्निः । इषितः । अरोहत् ॥ १०३ ॥

पदार्थः—(अभि) (आ) (वर्त्तस्व) वर्त्तते वा (पृथिवि) भूमिः (यज्ञेन) संगमनेन (पयसा) जलेन (सह) (वपाम्) वपनम् (ते) तव (अग्निः) (इषितः) प्रेरितः (अरोहत्) रोहति ॥ १०३ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या त्वं या पृथिवि भूमिर्यज्ञेन पयसा सह वर्त्तते तामभ्यावर्त्तस्वाभिमुख्येनावर्त्तते यथा ते वपामिषितोऽग्निररोहत्स गुणकर्मस्वभावतः सर्वैर्वेदितव्यः ॥ १०३ ॥

भावार्थः—या भूमिः सर्वस्याधारा रत्नाकरा जीवनप्रदा विद्युद्युक्ताऽस्ति तस्या विज्ञानं भूगर्भविद्यातः सर्वैर्मनुष्यैः कार्यम् ॥ १०३ ॥

पदार्थः—हे मनुष्य ! तू जो (पृथिवि) भूमि (यज्ञेन) संगम के योग्य (पयसा) जल के (सह) साथ वर्त्तती है उसको (अभ्यावर्त्तस्व) दोनों ओर से शीघ्र वर्त्ताव कीजिये जो (ते) आप के (वपाम्) बोने को (इषितः) प्रेरणा किया (अग्निः) अग्नि (अरोहत्) उत्पन्न करता है वह अग्नि गुण कर्म और स्वभाव के साथ सब को जानना चाहिये ॥ १०३ ॥

भावार्थः—जो पृथिवी सब का आधार उत्तम रत्नादि पदार्थों की दाता जीवन का हेतु बिजुली से युक्त है उस का विज्ञान भूगर्भविद्या से सब मनुष्यों को करना चाहिये ॥ १०३ ॥

अग्ने यत्त इत्यस्य हिरण्यगर्भ ऋषिः । अग्निर्देवता ।
भुरिग् गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

किमर्थाऽग्निविद्यान्वेषणीया इत्याह ॥

किसलिये अग्निविद्या का खोज करना चाहिये यह वि० ॥

अग्ने यत्ते शुक्रं यच्चन्द्रं यत्पूतं यच्च यज्ञियम्। तद्देवेभ्यो भरामसि ॥ १०४ ॥

अग्ने। यत्। ते। शुक्रम्। यत्। चन्द्रम्। यत्। पूतम्। यत्। च। यज्ञियम्। तत्। देवेभ्यः। भरामसि ॥ १०४ ॥

पदार्थः—(अग्ने) विद्वन् (यत्) (ते) तुभ्यम् (शुक्रम्) आशुकरम् (यत्) (चन्द्रम्) हिरण्यवदानन्दप्रदम् (यत्) (पूतम्) पवित्रम् (यत्) (च) (यज्ञियम्) यज्ञानुष्ठानार्हं स्वरूपम् (तत्) (देवेभ्यः) शुभेभ्यः (भरामसि) भरेम ॥ १०४ ॥

अन्वयः—हे अग्ने विद्वन् यत्पावकस्य शुक्रं यच्चन्द्रं यत्पूतं यच्च यज्ञियं स्वरूपमस्ति तत्ते देवेभ्यश्च वयं भरामसि ॥ १०४ ॥

भावार्थः—मनुष्यैर्दिव्यगुणकर्मसिद्धये विद्युदादेरग्नेर्विद्यासंमेषणीया ॥ १०४ ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) विद्वन् पुरुष (यत्) जो अग्नि का (शुक्रम्) शीघ्रकारी (यत्) जो (चन्द्रम्) सुवर्ण के समान आनन्द देने हारा (यत्) जो (पूतम्) पवित्र (च) और (यत्) जो (यज्ञियम्) यज्ञानुष्ठान के योग्य स्वरूप है (तत्) वह (ते) आप के और (देवेभ्यः) दिव्यगुण होने के लिये (भरामसि) हम लोग धारण करें ॥ १०४ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि श्रेष्ठ गुण और कर्मों की सिद्धि के लिये बिजुली आदि अग्निविद्या को विचारें ॥ १०४ ॥

इषमूर्जमित्यस्य हिरण्यगर्भ ऋषिः। विद्वान् देवता। विराट्त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः ॥

अथ युक्ताहारविहारौ कुर्य्युरित्याह ॥

अब ठीक २ आहार विहार करें यह वि० ॥

इषमूर्जमहमित आदमृतस्य योनिं महिषस्य धाराम् । आ मा गोषु विशत्वा तनूषु जहामि सेदिमनिराममीवाम् ॥ १०५ ॥

इषम् । ऊर्जम् । अहम् । इतः । आदम् । ऋतस्य । योनिम् । महिषस्य । धाराम् । आ । मा । गोषु । विशतु । आ । तनूषु । जहामि । सेदिम् । अनिराम् । अमीवाम् ॥ १०५ ॥

पदार्थः—(इषम्) अन्नम् (ऊर्जम्) पराक्रमम् (अहम्) (इतः) अस्मात्पूर्वोक्तात् विद्युत्स्वरूपात् (आदम्) अत्तुं योग्यम् (ऋतस्य) सत्यस्य (योनिम्) कारणम् (महिषस्य) महतः (धाराम्) धारिकां वाचम् (आ) (मा) माम् (गोषु) इन्द्रियेषु (विशतु) प्रविशतु (आ) (तनूषु) शरीरेषु (जहामि) (सेदिम्) हिंसाम् । सेदिमनि० । अ० ३ । २ । १७१ । इति वार्त्तिकेनास्य सिद्धिः (अनिराम्) अविद्यमाना इराऽन्नभुक्तिर्यस्यां ताम् (अमीवाम्) रोगोत्पन्नां पीडाम् ॥ १०५ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यथाऽहमित आदमिषमूर्जं महिषस्यर्त्तस्य योनिं धारां प्राप्नुयां यथेयमिद्र्क् मा मामाविशतु । येन मम गोषु तनूषु प्रविष्टां सेदिमनिराममीवां जहामि त्यजामि तथा यूयमपि कुरुत ॥ १०५ ॥

भावार्थः—मनुष्या अग्नेर्यच्छुक्रादियुक्तं स्वरूपं तेन रोगान् हन्युः । इन्द्रियाणि शरीराणि च स्वस्थान्यरोगाणि कृत्वा कार्य्यकारणज्ञापिकां विद्यावाचं प्राप्नुवन्तु । युक्त्याहारविहारौ च कुर्युः ॥ १०५ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो जैसे (अहम्) मैं (इतः) इस पूर्वोक्त विद्युत्स्वरूप से (आदम्) भोगने योग्य (इषम्) अन्न (ऊर्जम्) पराक्रम (महि-

पथ) बड़े (ऋतस्य) सत्य के (योनिम्) कारण (धाराम्) धारण करने वाली वाणी को प्राप्त होऊं जैसे अन्न और पराक्रम (मा) मुझ को (आविशतु) प्राप्त हो जिस से मेरे (गोषु) इन्द्रियों और (तनूषु) शरीर में प्रविष्ट हुई (सेदिम्) दुःख का हेतु (अनिराम्) जिस में अन्न का भोजन भी न कर सकें ऐसी (अमीवाम्) रोगों से उत्पन्न हुई पीड़ा को (अप, जहामि) छोड़ता हूं वैसे तुम लोग भी करो ॥ १०५ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि अग्नि का जो वीर्य्य आदि से युक्त स्वरूप है उस को प्रदीप्त करने से रोगों का नाश करें । इन्द्रिय और शरीर को स्वस्थ रोगरहित करके कार्य्य कारण की जानने हारी विद्यायुक्त वाणी को प्राप्त होवें और युक्ति से आहार विहार भी करें ॥ १०५ ॥

अग्ने तवेत्यस्य पावकाग्निर्ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृत्पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

मनुष्यैः कथं भवितव्यमित्याह ॥

मनुष्यों को कैसा होना चाहिये यह वि० ॥

अग्ने॒ तव॒ श्रवो॒ वयो॒ महि॑ भ्राजन्ते॒ अ॒र्चयो॑ विभावसो । बृह॑द्भानो॒ शव॑सा॒ वाज॑मु॒क्थ्यं᳖ दधा॑सि दा॒शुषे॑ कवे ॥ १०६ ॥

अग्ने॑ । तव॑ । श्रवः॑ । वयः॑ । महि॑ । भ्रा॒जन्ते॒ । अ॒र्चयः॑ । वि॒भा॒व॒सो॒ इति॑ विभाऽवसो । बृह॑द्भानो॒ इति॒ बृह॑त्ऽभानो । शव॑सा । वाज॑म् । उ॒क्थ्य᳖म् । दधा॑सि । दा॒शुषे॑ । क॒वे॒ ॥ १०६ ॥

पदार्थः—(अग्ने) पावक इव वर्त्तमान विद्वन् (तव) (श्रवः) श्रवणम् (वयः) जीवनम् (महि) पूज्यं महत् (भ्राजन्ते) (अर्चयः) दीप्तयः

(विभावसो) यो विविधायां भायां वसति तत्सम्बुद्धौ (बृहद्भानो) अग्निवद्बृहन्तो महान्तो भानवो विद्याप्रकाशा यस्य तत्सम्बुद्धौ (शवसा) बलेन (वाजम्) विज्ञानम् (उक्थ्यम्) वक्तुं योग्यम् (दधासि) (दाशुषे) दातुं योग्याय विद्यार्थिने (कवे) विक्रान्तप्रज्ञ ॥ १०६ ॥

अन्वयः—हे बृहद्भानो विभावसो कवेऽग्ने विद्वन् यतस्त्वं शवसा दाशुष उक्थ्यं वाजं दधासि तस्मात्त्वाग्नेरिव महि श्रवो वयोऽर्चयश्च भ्राजन्ते ॥१०६॥

भावार्थः—ये मनुष्या अग्निवद्गुणिन आप्तवत्सत्कीर्त्तयः प्रकाशन्ते ते परोपकारायान्येभ्यो विद्याविनयधर्मान् सततमुपदिशेयुः ॥ १०६ ॥

पदार्थः—हे (बृहद्भानो) अग्नि के समान अत्यन्त विद्याप्रकाश से युक्त (विभावसो) विविध प्रकार की कान्ति में बसने हारे (कवे) अत्यन्त बुद्धिमान् (अग्ने) अग्नि के समान वर्त्तमान विद्वान् पुरुष जिस से आप (शवसा) बल के साथ (दाशुषे) दान के योग्य विद्यार्थी के लिये (उक्थ्यम्) कहने योग्य (वाजम्) विज्ञान को (दधासि) धारण करते हो इस से (तव) आप का अग्नि के समान (महि) अतिपूजने योग्य (श्रवः) सुनने योग्य शब्द (वयः) यौवन और (अर्चयः) दीप्ति (भ्राजन्ते) प्रकाशित होती है ॥ १०६॥

भावार्थः—जो मनुष्य अग्नि के समान गुणी और आप्तों के तुल्य श्रेष्ठ कीर्त्तियों से प्रकाशित होते हैं वे परोपकार के लिये दूसरों को विद्या विनय और धर्म का निरन्तर उपदेश करें ॥ १०६ ॥

पावकवर्चा इत्यस्य पावकाग्निर्ऋषिः । विद्वान् देवता ।

भुरिगार्षी पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

जनकजनन्यौ सन्तानान् प्रति किं किं कुर्यातामित्याह ॥

माता पिता सन्तानों के प्रति क्या २ करें यह विषय अगले मंत्र में कहा है ॥

पा॒व॒कव॑र्चाः शु॒क्रव॑र्चा॒ अनू॑नवर्चा॒ उदि॑यर्षि भा॒नुना॑ । पु॒त्रो मा॒तरा॑ वि॒चर॒न्नुपा॑वसि पृ॒णक्षि॒ रोद॑सी उ॒भे ॥ १०७ ॥

पावकवर्चाइति पावकऽवर्चाः । शुक्रवर्चाइति शुक्रऽवर्चाः । अनूनवर्चा इत्यनूनऽवर्चाः । उत् । इयर्षि । भानुना । पुत्रः । मातरा । विचरन्निति विऽचरन् । उप । अवसि । पृणक्षि । रोदसीइति रोदसी । उभे इत्युभे ॥ १०७ ॥

पदार्थः—(पावकवर्चाः) पवित्रीकारिकाया विद्युतो वर्चो दीप्तिरिव वर्चोऽध्ययनं यस्य सः (शुक्रवर्चाः) शुक्रस्य सूर्यस्य प्रकाश इव वर्चो न्यायाचरणं यस्य सः (अनूनवर्चाः) न विद्यते ऊनं न्यूनं यस्य सः (उत्) (इयर्षि) प्राप्नोषि (भानुना) धर्मप्रकाशेन (पुत्रः) (मातरा) मातापितरौ (विचरन्) (उप) (अवसि) रक्षसि (पृणक्षि) संबध्नासि (रोदसी) द्यावापृथिव्यौ (उभे) ॥ १०७ ॥

अन्वयः—हे जन यस्त्वं यथा पुत्रो ब्रह्मचर्यादिषु विचरन् सन् विद्यामाप्नोति यथा सूर्यविद्युतौ भानुना पावकवर्चाः शुक्रवर्चाः अनूनवर्चा न्यायं करोति यथा संबध्नीत तथा विद्याविनयौ राज्यं पृणक्षि । मातरोपावसि तस्माद्धार्मिकोऽसि ॥ १०७ ॥

भावार्थः—मातापितृणामिदमत्युचितमस्ति यत्सन्तानानुत्पाद्य बाल्यावस्थायां स्वयं सुशिक्ष्य ब्रह्मचर्यं कारयित्वाऽऽचार्यकुले विद्याग्रहणाय संप्रेष्य विद्यायोगकरणम् । अपत्यानां चेदं समुचितं वर्त्तते यद्विद्यासुशिक्षायुक्ता भूत्वा पुरुषार्थेनैश्वर्यमुन्नीय निरभिमानमत्सरया प्रीत्या मातापितॄणां मनसा वाचा कर्मणा यथावत् परिचर्यानुष्ठानं कर्त्तव्यमिति ॥ १०७ ॥

पदार्थ—हे मनुष्य जैसे (पुत्रः) पुत्र ब्रह्मचर्य्यादि आश्रमों में (विचरन्) विचरता हुआ विद्या को प्राप्त होता और (भानुना) प्रकाश से (पावकवर्चाः, शुक्रवर्चाः) बिजुली और सूर्य के प्रकाश के समान न्याय करने और (अनूनवर्चाः) पूर्ण विद्याऽभ्यास करने हारा और जैसे (उभे) दोनों (रोदसी) आकाश और पृथिवी परस्पर सम्बन्ध करते हैं जैसे (इयर्षि) विद्या को प्राप्त

होता राज्य का (पृणक्षि) सम्बन्ध करता और (मातरा) माता पिता की (मपावधि) रक्षा करता है इससे तू धर्मात्मा है ॥ १०७ ॥

भावार्थः—मातापिताओं को यह अति उचित है कि सन्तानों को उत्पन्न कर बाल्यावस्था में आप शिक्षा दे ब्रह्मचर्य्य करा आचार्य के कुल में भेज के विद्यायुक्त करें। संतानों को चाहिये कि विद्या और अच्छी शिक्षा से युक्त हो और पुरुषार्थ से ऐश्वर्य्य को बढ़ा के अभिमान और मत्सरतारहित प्रीति से माता पिता की मन वाणी और कर्म्म से यथावत्सेवा करें ॥ १०७ ॥

ऊर्जोनपादित्यस्य पावकाग्निर्ऋषिः। अग्निर्देवता।
निचृत् पङ्क्तिश्छन्दः। पञ्चमः स्वरः ॥

मातापितृसन्तानाः कीदृशा भवेयुरित्याह ॥
माता पिता और पुत्र कैसे हों इस विषय का उप० ॥

ऊर्जो नपाज्जातवेदः सुशस्तिभिर्मन्दस्व धीतिभिर्हितः। त्वे इषः सं दधुर्भूरिवर्पसश्चित्रोतयो वामजाताः ॥ १०८ ॥

ऊर्जः। नपात्। जातवेद इति जातऽवेदः। सुशस्तिभिरिति सुशस्तिऽभिः। मन्दस्व। धीतिभिरिति धीतिऽभिः। हितः। त्वे इति त्वे। इषः। सम्। दधुः। भूरिवर्पस इति भूरिऽवर्पसः। चित्रोतय इति चित्रऽऊतयः। वामजाता इति वामऽजाताः ॥ १०८ ॥

पदार्थः—(ऊर्जः) पराक्रमस्य (नपात्) न विद्यते पातो धर्मात्पतनं यस्य सः (जातवेदः) जातप्रज्ञान जातवित्त (सुशस्तिभिः) शोभनाभिः

प्रशंसाभिः क्रियाभिः सह (मन्दस्व) आनन्द (धीतिभिः) स्वाङ्गुलीभिः। धीतय इत्यङ्गुलिनाम०। निघं० २। ५। (हितः) सर्वस्य हितं दधन् (त्वे) त्वयि (इषः) अन्नादीनि (सम्) (दधुः) दधतु (भूरिवर्पसः) बहूनि प्रशंसनीयानि वर्पांसि रूपाणि यासु ताः। वर्प इति रूपना०। निघं० ३। ७। (चित्रोतयः) चित्रा आश्चर्यवद्रक्षणाद्याः क्रिया यासु ताः (वामजाताः) वामेषु प्रशस्येषु कर्मसु वा जाताः प्रसिद्धाः। वाम इति प्रशस्यना०। निघं० ३। ८॥ १०८॥

अन्वयः—हे जातवेद स्तनय यास्त्वे त्वयि भूरिवर्पसश्चित्रोतयो जाता मात्रादयोऽध्यापिका इषः संदधुः ता सुशस्तिभिर्धीतिभिराहूत ऊर्जो नपाद्धितः सदा मन्दस्व॥ १०८॥

भावार्थः—येषां कुमाराणां कुमारीणां मातरो विद्याप्रिया विदुष्यः सन्तु त एव सततं सुखमाप्नुवन्ति। यासां मातॄणां येषां पितॄणां चापत्यानि विद्यासुशिक्षाब्रह्मचर्य्यैः शरीरात्मबलयुक्तानि धर्माचारीणि सन्ति त एव सदा सुखिनः स्युः॥ १०८॥

पदार्थः—हे (जातवेदः) बुद्धि और धन से युक्त पुत्र जिस (त्वे) तुझ में (भूरिवर्पसः) बहुत प्रशंसा के योग्य रूपों से युक्त (चित्रोतयः) आश्चर्य के तुल्य रक्षा आदि कर्म्म करने वाली (वामजाताः) प्रशंसा के योग्य कुलों वा कर्मों में प्रसिद्ध विद्याप्रिय अध्यापक माता आदि विद्वान् स्त्रियें (इषः) अन्नों को (संदधुः) धरें भोजन करावें सो तू (सुशस्तिभिः) उत्तमप्रशंसायुक्त क्रियाओं के साथ (धीतिभिः) अङ्गुलियों से बुलाया हुआ (ऊर्जः) (नपात्) धर्म के अनुकूल पराक्रमयुक्त सब के हित को धारण सदा किये हुए (मन्दस्व) आनन्द में रह॥ १०८॥

भावार्थः—जिन कुमार और कुमारियों की माता विद्याप्रिय विद्वान् हों वे ही निरन्तर सुख को प्राप्त होते हैं और जिन माता पिताओं के सन्तान विद्या अच्छी शिक्षा और ब्रह्मचर्य्य सेवन से शरीर और आत्मा के बल से युक्त धर्म का आचरण करने वाले हैं वे ही सदा सुखी हों॥ १०८॥

इरज्यन्नित्यस्य पावकाग्निर्ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृदार्षी पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

मनुष्याः कीदृशो भवेदित्याह ॥

मनुष्य कैसा हो यह विषय अगले मंत्र में कहा है ॥

इ॒र॒ज्यन्न॑ग्ने प्रथयस्व ज॒न्तुभि॑र॒स्मे रायो॑ अमर्त्य । स द॑र्श॒तस्य॒ वपु॑षो॒ वि रा॑जसि पृ॒णक्षि॑ सान॒सिं क्रतु॑म् ॥ १०९ ॥

इ॒र॒ज्यन् । अ॒ग्ने॒ । प्र॒थ॒य॒स्व॒ । ज॒न्तुभि॒रिति॑ ज॒न्तुऽभिः॑ । अ॒स्मे इत्य॒स्मे । रायः॑ । अ॒म॒र्त्य॒ । सः । द॒र्श॒तस्य॑ । वपु॑षः । वि । रा॒ज॒सि॒ । पृ॒णक्षि॑ । सा॒न॒सिम् । क्रतु॑म् ॥ १०९ ॥

पदार्थः—(इरज्यन्) ऐश्वर्यं कुर्वन् । इरज्यतीति ऐश्वर्यकर्मा० । नि० २ । २१ । (अग्ने) अग्निवदाप्तपुरुषार्थ (प्रथयस्व) विस्तारय (जन्तुभिः) मनुष्यादिभिः (अस्मे) अस्मभ्यम् (रायः) श्रियः (अमर्त्य) नाशप्राकृतमनुष्यस्वभावरहित (सः) (दर्शतस्य) द्रष्टुं योग्यस्य (वपुषः) रूपस्य । वपुरिति रूपना० । निघं० ३ । ७ । (वि) (राजसि) (पृणक्षि) संबध्नासि (सानसिम्) सनातनीम् (क्रतुम्) प्रज्ञाम् ॥ १०९ ॥

अन्वयः—हे अमर्त्याग्ने य इरज्यंस्त्वं दर्शतस्य वपुषः सानसिं क्रतुं पृणक्षि तत्रैव विराजसि सोऽस्मे जन्तुभी रायः प्रथयस्व ॥ १०९ ॥

भावार्थः—यो मनुष्येभ्यः सनातनीं वेदविद्यां ददाति सुरूपाचारे विराजते स एवैश्वर्यं लब्ध्वाऽन्येभ्यः प्रापयितुं शक्नोति ॥ १०९ ॥

पदार्थः—हे (अमर्त्य) नाश और संसारी मनुष्यों के स्वभाव से रहित (अग्ने) अग्नि के समान पुरुषार्थी जो (इरज्यन्) ऐश्वर्य्य का संचय करते

हुए आप (दर्शतस्य) देखने योग्य (वपुषः) रूप का (सानसिम्) सनातन (क्रतुम्) बुद्धि का (पृणक्षि) संबन्ध करते हो और उसी बुद्धि में विशेष करके (विराजसि) शोभित होते हो (सः) सो आप (अस्मे) हम लोगों के लिये (जन्तुभिः) मनुष्यादि प्राणियों से (रायः) धनों का (प्रथयस्व) विस्तार कीजिये ॥ १०९ ॥

भावार्थः—जो पुरुष मनुष्यों के लिये सनातन वेदविद्या को देता और सुन्दर आचार में विराजमान हो वही ऐश्वर्य्य को प्राप्त हो के दूसरों के लिये प्राप्त करा सकता है ॥ १०९ ॥

इष्कर्त्तारमित्यस्य पावकाग्निर्ऋषिः । विद्वान् देवता ।
आर्षी पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

कः परोपकारी जायत इत्याह ॥
कौन पुरुष परोपकारी होता है इस विषय का उ० ॥

इ॒ष्क॒र्त्तार॑मध्व॒रस्य॒ प्रचे॑तसं॒ क्षय॑न्त॒ꣳ राध॑सो म॒हः । रा॒तिं वा॒मस्य॑ सु॒भगां॑ म॒हीमिषं॒ दधा॑सि सान॒सिꣳ र॒यिम् ॥ ११० ॥

इ॒ष्क॒र्त्तार॑म् । अ॒ध्व॒रस्य॑ । प्रचे॑तस॒मिति॒ प्रऽचे॑तसम् । क्षय॑न्तम् । राध॑सः म॒हः । रा॒तिम् । वा॒मस्य॑ । सु॒भगा॒मिति॑ सु॒ऽभगा॑म् । म॒हीम् । इष॑म् । दधा॑सि । सा॒न॒सिम् । र॒यिम् ॥११०॥

पदार्थः—(इष्कर्त्तारम्) निष्कर्त्तारं संसाधकम् । अत्र छान्दसो वर्णलोप इति नलोपः (अध्वरस्य) अहिंसनीयस्य वर्धितुं योग्यस्य यज्ञस्य (प्रचेतसम्) प्रकृष्टप्रज्ञम् । चेता इति प्रज्ञाना० । नि० ३ । ९ । (क्षयन्तम्) निवसन्तम् (राधसः) धनस्य (महः) महतः (रातिम्) दातारम् (वामस्य)

प्रशस्यस्य (सुभगाम्) सुष्ठ्वैश्वर्यप्रदाम् (महीम्) पृथिवीम् (इषम्) अन्नादिकम् (दधासि) (सानसिम्) पुराणम् (रयिम्) धनम् ॥ ११० ॥

अन्वयः—हे विद्वन् यस्त्वमध्वरस्येष्कर्त्तारं प्रचेतसं वामस्य महो राधसो रातिं सुभगां महीमिषं सानसिं रयिं च दधासि । तस्मादस्माभिः पूज्योऽसि ॥ ११० ॥

भावार्थः—मनुष्यो यथा स्वार्थं सुखमिच्छेत्तथा परार्थं च स एवाप्तः पूज्यो भवेत् ॥ ११० ॥

पदार्थः—हे विद्वान् पुरुष जो आप (अध्वरस्य) बढ़ाने योग्य यज्ञ के (इष्कर्त्तारम्) सिद्ध करने वाले (प्रचेतसम्) उत्तम बुद्धिमान् (वामस्य) प्रशंसित (महः) बड़े (राधसः) धन के (रातिम्) देने और (क्षयन्तम्) निवास करने वाले पुरुष और (सुभगाम्) सुन्दर ऐश्वर्य्य की देने हारी (महीम्) पृथिवी तथा (इषम्) अन्न आदि को और (सानसिम्) प्राचीन (रयिम्) धन को (दधासि) धारण करते हो इस से हम लोगों को सत्कार करने योग्य हो ॥ ११० ॥

भावार्थः—जो मनुष्य जैसे अपने लिये सुख की इच्छा करे वैसे ही दूसरों के लिये भी करे वही आप्त सत्कार के योग्य होवे ॥ ११० ॥

ऋतावानमित्यस्य पावकाग्निर्ऋषिः । अग्निर्देवता ।
स्वराडार्षी पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

मनुष्यैः केषामनुकरणं कार्यमित्याह ॥

मनुष्यों को किन का अनुकरण करना चाहिये यह विषय अगले मंत्र में कहा है ॥

ऋतावानं महिषं विश्वदर्शतमग्निꣳ सुम्नाय दधिरे पुरो जनाः । श्रुत्कर्णꣳ सप्रथस्तमं त्वा गिरा दैव्यं मानुषा युगा ॥ १११ ॥

ऋतावानम् । ऋतवानमित्यृतऽवानम् । महिषम् । विश्वदर्शतमिति विश्वऽदर्शतम् । अग्निम् । सुम्नाय । दधिरे । पुरः । जनाः । श्रुत्कर्णमिति श्रुत्ऽकर्णम् । सप्रथस्तममिति सप्रथःऽतमम् । त्वा । गिरा । दैव्यम् । मानुषा । युगा ॥ १११ ॥

पदार्थः—(ऋतावानम्) ऋतं बहु सत्यं विद्यते यस्मिँस्तम् । अत्र छन्दसीवनिपाविति वार्तिकेन वनिप् (महिषम्) महान्तम् (विश्वदर्शतम्) सर्वविद्याबोधस्य द्रष्टारम् (अग्निम्) विद्वांसम् (सुम्नाय) सुखाय (दधिरे) हितवन्तः (पुरः) पुरस्तात् (जनाः) विद्याविज्ञानेन प्रादुर्भूता मनुष्याः (श्रुत्कर्णम्) श्रुतौ श्रवणसाधकौ कर्णौ यस्य बहुश्रुतस्य तम् (सप्रथस्तमम्) प्रथसा विस्तरेण सह वर्त्तमानः सप्रथास्तमतिशयितम् (त्वा) त्वाम् (गिरा) वाचा (दैव्यम्) देवेषु विद्वत्सु कुशलम् (मानुषा) मनुष्याणामिमानि (युगा) युगानि वर्षाणि ॥ १११ ॥

अन्वयः—हे मनुष्य ! यथा जना गिरा सुम्नाय दैव्यं श्रुत्कर्णं विश्वदर्शतं सप्रथस्तममृतावानं महिषमग्निं विद्वांसं मानुषा युगा च पुरो दधिरे तथैवं विद्वांसमेतानि च त्वं धेहीति त्वां शिक्षयामि ॥ १११ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—ये सत्पुरुषा अतीतास्तेषामेवानुकरणं मनुष्याः कुर्युर्नेतरेषामधार्मिकाणाम् ॥ १११ ॥

पदार्थः—हे मनुष्य जैसे (जनाः) विद्या और विज्ञान से प्रसिद्ध मनुष्य (गिरा) वाणी से (सुम्नाय) सुख के लिये (दैव्यम्) विद्वानों में कुशल (श्रुत्कर्णम्) बहुश्रुत (विश्वदर्शतम्) सब देखने हारे (सप्रथस्तमम्) अत्यन्तविद्या के विस्तार के साथ वर्त्तमान (ऋतावानम्) बहुत सत्याचरण से युक्त (महिषम्) बड़े (अग्निम्) विद्वान् को (मानुषा) मनुष्यों के (युगा) वर्ष वा सत्ययुग आदि (पुरः) प्रथम (दधिरे) धारण करते हुए वैसे विद्वान् को और इन वर्षों को तू भी धारण कर यह (त्वाम्) तुझे सिखाता हूं ॥ १११ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु०—जो सत्पुरुष हो चुके हों उन्हीं का अनुकरण मनुष्य लोग करें अन्य अधर्मियों का नहीं ॥ १११ ॥

आप्यायस्वेत्यस्य गोतम ऋषिः । सोमो देवता ।
निचृद्गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

राजजनाः किं कृत्वा कीदृशा भवेयुरित्याह ॥
राजपुरुष क्या करके कैसे हों यह वि० ॥

आ प्यायस्व समेतु ते विश्वतः सोम वृष्ण्यम् । भवा वाजस्य सङ्गथे ॥ ११२ ॥

आ । प्यायस्व । सम् । एतु । ते । विश्वतः । सोम । वृष्ण्यम् । भव । वाजस्य । सङ्गथ इति सम्ऽगथे ॥ ११२ ॥

पदार्थः—(आ) (प्यायस्व) वर्धस्व (सम्) (एतु) संगच्छेताम् (ते) तुभ्यम् (विश्वतः) सर्वतः (सोम) चन्द्र इव वर्त्तमान (वृष्ण्यम्) वृष्णो वीर्यवतः कर्म (भव) द्व्यचोऽतस्तिङ इति दीर्घः (वाजस्य) विज्ञानवेगयुक्तस्य स्वामिन् आज्ञया (संगथे) संग्रामे ॥ ११२ ॥

अन्वयः—हे सोम तादृशस्य विदुषः संगात्ते वृष्ण्यं विश्वतः समेतु तेन त्वमाप्यायस्व वाजस्य वेत्ता सन् विजयी भव ॥ ११२ ॥

भावार्थः—राजपुरुषैर्नित्यं वीर्यं वर्धयित्वा विजयेन भवितव्यम् ॥११२॥

पदार्थः—हे (सोम) चन्द्रमा के समान कान्तियुक्त राजपुरुष जैसे सोमगुणयुक्त विद्वान् के संग से (ते) तेरे लिये (वृष्ण्यम्) वीर्य पराक्रम वाले पुरुष के कर्म को (विश्वतः) सब ओर से (समेतु) संगत हो उस से आप (आप्यायस्व) बढ़िये (वाजस्य) विज्ञान और वेग से संग्राम के जानने हारे (संगथे) युद्ध में विजय करने वाले (भव) हूजिये ॥ ११२ ॥

भावार्थः—राजपुरुषों को नित्य पराक्रम बढ़ा के शत्रुओं से विजय को प्राप्त होना चाहिये ॥ ११२ ॥

सन्त इत्यस्य गोतम ऋषिः । सोमो देवता ।
भुरिगार्षी पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

शरीरात्मबलयुक्ताः किमाप्नुवन्तीत्याह ॥
शरीर और आत्मा के बल से युक्त पुरुष किस को प्राप्त होते हैं यह वि० ॥

सन्ते पयांᳬसि समुंयन्तु वाजाः संवृष्ण्यान्यभिमातिषाहः । आप्यायमानो अमृताय सोम दिवि श्रवांᳬस्युत्तमानि धिष्व ॥ ११३ ॥

सम् । ते । पयांᳬसि । सम् । ऊँइतिऽऊँ । यन्तु । वाजाः । सम् । वृष्ण्यानि । अभिमातिषाहः । अभिमातिसह इत्यभिमातिऽसहः । आप्यायमान इत्याऽप्यायमानः । अमृताय । सोम । दिवि । श्रवांᳬसि । उत्तमानीत्युत्ऽतमानि । धिष्व ॥ ११३ ॥

पदार्थः—(सम्) (ते) तुभ्यम् (पयांसि) जलानि दुग्धानि वा (सम्) (उ) (यन्तु) प्राप्नुवन्तु (वाजाः) धनुर्वेदबोधजा वेगाः (सम्) (वृष्ण्यानि) वीर्याणि (अभिमातिषाहः) येऽभिमातीनभिमानयुक्तान् शत्रून् सहन्ते निवारयन्ति (आप्यायमानः) समन्ताद्वर्धमानः (अमृताय) मोक्षसुखाय (सोम) ऐश्वर्ययुक्त (दिवि) द्योतनात्मके परमेश्वरे (श्रवांसि) अन्नानि श्रवणानि वा (उत्तमानि) (धिष्व) धरस्व ॥ ११३ ॥

अन्वयः—हे सोम यस्मै ते पयांसि संयन्त्वभिमातिषाहो वाजाः संयन्तु वृष्ण्यानि संयन्तु स आप्यायमानस्त्वं दिव्यमृतायोत्तमानि श्रवांसि धिष्व ॥ ११३ ॥

भावार्थः—ये मनुष्याः शरीरात्मबलं नित्यं वर्धयन्ति ते योगाभ्यासेन परमात्मनि मोक्षानन्दं लभन्ते ॥ ११३ ॥

पदार्थ.—हे (सोम) शान्तियुक्त पुरुष जिस (ते) तुम्हारे लिये (पयांसि) जल वा दुग्ध (संयन्तु) प्राप्त होवें (अभिमातिषाहः) अभिमानयुक्त शत्रुओं को सहने वाले (वाजाः) धनुर्वेद के विज्ञान (सम्) प्राप्त होवें (उ) और (वृष्ण्यानि) पराक्रम (सम्) प्राप्त होवें सो (आप्यायमानः) अच्छे प्रकार बढ़ने हुए आप (दिवि) प्रकाशस्वरूप ईश्वर में (अमृताय) मोक्ष के लिये (उत्तमानि, श्रवांसि) उत्तम श्रवणों को (धिष्व) धारण कीजिये ॥ ११३ ॥

भावार्थ।—जो मनुष्य शरीर और आत्मा के बल को नित्य बढ़ाते हैं वे योगाभ्यास से परमेश्वर में मोक्ष के आनन्द को प्राप्त होते हैं ॥ ११३ ॥

आप्यायस्वेत्यस्य गोतम ऋषिः । सोमो देवता ।

आर्ष्युष्णिक् छन्दः । ऋषभः स्वरः ॥

कोऽत्र वर्धत इत्याह ॥

संसार में कौन वृद्धि को प्राप्त होता है यह वि० ॥

आप्यायस्व मदिन्तम सोम विश्वेभिरꣳशुभिः । भवा नः सप्रथस्तमः सखा वृधे ॥११४॥

आ । प्यायस्व । मदिन्तमेति मदिन्ऽतम । सोम । विश्वेभिः । अꣳशुभिरित्यꣳशुऽभिः । भव । नः । सप्रथस्तम इति सप्रथःऽतमः । सखा । वृधे ॥ ११४ ॥

पदार्थः—(आ) (प्यायस्व) (मदिन्तम) अतिशयेन मदितुं हर्षितुं शील (सोम) ऐश्वर्ययुक्त (विश्वेभिः) सर्वैः (अंशुभिः) किरणैः (भव)

द्व्यचोऽतस्तिङ इति दीर्घः (नः) अस्माकम् (सप्रथस्तमः) अतिशयेन विस्तृतसुखकारकः (सखा) मित्रः (वृधे) वर्धनाय ॥ ११४ ॥

अन्वयः—हे मदिन्तम सोम त्वमंशुभिः किरणैः सूर्य्य इव विश्वेभिः साधनैराप्यायस्व सप्रथस्तमः सखा सन् नो वृधे भव ॥ ११४ ॥

भावार्थः—इह सर्वहितकारी सर्वतो वर्धते नेर्ष्यकः ॥ ११४ ॥

पदार्थः—हे (मदिन्तम) अत्यन्त आनन्दी (सोम) ऐश्वर्य्य वाले पुरुष आप (अंशुभिः) किरणों से सूर्य्य के समान (विश्वेभिः) सब साधनों से (आप्यायस्व) वृद्धि को प्राप्त हूजिये (सप्रथस्तमः) अत्यन्तविस्तारयुक्त सुख करने हारे (सखा) मित्र हुए (नः) हमारे (वृधे) बढ़ाने के लिये (भव) तत्पर हूजिये ॥ ११४ ॥

भावार्थः—इस संसार में सब का हित करनेहारा पुरुष सब प्रकार से वृद्धि को प्राप्त होता है ईर्ष्या करने वाला नहीं ॥ ११४ ॥

आ त इत्यस्य वत्सार ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृद्गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

मनुष्याः किं किं वशीकृत्यानन्दं प्राप्नुवन्त्वित्याह ॥

मनुष्य लोग किस को वश में करके आनन्द को प्राप्त होवें यह वि० ॥

आ ते॑ व॒त्सो मनो॑ यमत्पर॒माच्चि॑त्स॒धस्था॑त् । अग्ने॒ त्वांका॑मया गि॒रा ॥ ११५ ॥

आ । ते॒ । व॒त्सः । मनः॑ । य॒म॒त् । प॒र॒मात् । चि॒त् । स॒धस्था॒दिति॑ स॒धऽस्था॑त् । अग्ने॑ । त्वाङ्का॑म॒येति॒ त्वाम्ऽका॑मया । गि॒रा ॥ ११५ ॥

पदार्थः—(आ) (ते) तव (वत्सः) (मनः) चित्तम् (यमत्) उपरमेत (परमात्) प्रकृष्टात् (चित्) अपि (सधस्थात्) समानस्थानात् (अग्ने) विद्वन् (त्वाङ्कामया) यथा त्वां कामयते तथा । अत्र द्वितीयैकवचनस्यालुक् (गिरा) ॥ ११५ ॥

अन्वयः—हे अग्ने सोम विद्वँस्त्वांकामया गिरा परमात्सधस्थाद्विद्वत्सो गोरिवायमस्त त्वं मुक्तिं कथमाप्नुयाः ॥ ११५ ॥

भावार्थः—मनुष्यैः सदैव मनः स्ववशं विधेयं वाणी च ॥ ११५ ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) अग्नि के समान तेजस्वी विद्वान् पुरुष (त्वाङ्कामया) तुझको कामना करने के हेतु (गिरा) वाणी से जिस (ते) तेरा (मनः) चित्त जैसे (परमात्) अच्छे (सधस्थात्) एक से स्थान से (चित्) भी (वत्सः) बछड़ा गौ को प्राप्त होवे वैसे (आ, यमत्) स्थिर होता है सो तू मुक्ति को क्यों न प्राप्त होवे ॥ ११५ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि मन और वाणी को सदैव अपने वश में रक्खें ॥ ११५ ॥

तुभ्यन्ता इत्यस्य विरूप ऋषिः । अग्निर्देवता ।
गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

अथ राजा किं कुर्यादित्याह ॥
अब राजा क्या करे यह विषय अगले मंत्र में कहा है ॥

तुभ्यं ता अंङ्गिरस्तम विश्वाः सुक्षितयः पृथक् । अग्ने कामाय येमिरे ॥ ११६ ॥

तुभ्यम् । ताः । अङ्गिरस्तमेत्यङ्गिरःऽतम । विश्वाः । सुक्षितय इति सुऽक्षितयः । पृथक् । अग्ने । कामाय । येमिरे ॥ ११६ ॥

पदार्थः—(तुभ्यम्) (ताः) (अङ्गिरस्तम) अतिशयेन सारग्राहिन् (विश्वाः) अखिलाः (सुक्षितयः) श्रेष्ठमनुष्याः प्रजाः (पृथक्) (अग्ने) प्रकाशमान राजन् (कामाय) इच्छासिद्धये (येमिरे) प्राप्नुवन्तु ॥ ११६ ॥

अन्वयः—हे अङ्गिरस्तमाग्ने राजन् या विश्वाः सुक्षितयः प्रजाः पृथक् कामाय तुभ्यं येमिरे तास्त्वं सततं रक्ष ॥ ११६ ॥

भावार्थः—यत्र प्रजा धार्मिकं राजानं प्राप्य स्वां स्वामभिलाषां प्राप्नुवन्ति तत्र राजा कथं न वर्द्धेत ॥ ११६ ॥

पदार्थः—हे (अङ्गिरस्तम) अतिशय करके सार के ग्राहक (अग्ने) प्रकाशमान राजन् जो (विश्वाः) सब (सुक्षितयः) श्रेष्ठ मनुष्यों वाली प्रजा (पृथक्) अलग (कामाय) इच्छा के साधक (तुभ्यम्) तुम्हारे लिये (येमिरे) प्राप्त होवे (ताः) उन प्रजाओं की आप निरन्तर रक्षा कीजिये ॥ ११६ ॥

भावार्थः—जहां प्रजा के लोग धर्मात्मा राजा को प्राप्त हो के अपनी २ इच्छा पूरी करते हैं वहां राजा की वृद्धि क्यों न होवे ॥ ११६ ॥

अग्निरित्यस्य प्रजापति ऋषिः । अग्निर्देवता । गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनर्मनुष्याः कीदृशा भूत्वा किं कुर्युरित्याह ॥
फिर मनुष्य लोग कैसे होकर क्या २ करें इस वि० ॥

अग्निः प्रियेषु धामसु कामो भूतस्य भव्यस्य । सम्राडेको विराजति ॥ ११७ ॥

अग्निः । प्रियेषु । धामस्विति धामऽसु । कामः । भूतस्य । भव्यस्य । सम्राडिति सम्ऽराट् । एकः । वि । राजति ॥ ११७ ॥

पदार्थः—(अग्निः) पावक इव वर्त्तमानः (प्रियेषु) इष्टेषु (धामसु) जन्मस्थाननामसु (कामः) यः काम्यते सः (भूतस्य) अतीतस्य (भव्यस्य) आगामिसमयस्य (सम्राट्) सम्यक् प्रकाशकः (एकः) अद्वितीयः परमेश्वरः (वि) (राजति) ॥ ११७ ॥

अन्वयः—यो मनुष्यः सम्राडेकः कामोऽग्निः सभेशः परमेश्वर इव भूतस्य भव्यस्य प्रियेषु धामसु विराजति स एव राज्याभिषेचनीयः ॥ ११७ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—ये मनुष्याः परमात्मनो गुणकर्मस्वभावा-नुकूलान् स्वगुणकर्मस्वभावान् कुर्वन्ति त एव साम्राज्यं भोक्तुमर्हन्तीति ॥ ११७ ॥

अत्र स्त्रीपुरुषराजप्रजाकृष्यध्ययनाध्यापनादिकर्मवर्णनादेतदर्थस्य पूर्वाऽ-ध्यायार्थेन सह संगतिरस्तीति बोध्यम् ॥

पदार्थः—जो मनुष्य (सम्राट्) सम्यक् प्रकाशक (एकः) एक ही असहाय परमेश्वर के सदृश (कामः) स्वीकार के योग्य (अग्निः) अग्नि के समान वर्त्तमान सभापति (भूतस्य) हो चुके और (भव्यस्य) आगे वाले समय के (प्रियेषु) इष्ट (धामसु) जन्म स्थान और नामों में (विराजति) प्रकाशित होवे वही राज्य का अधिकारी होने योग्य है ॥ ११७ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु०—जो मनुष्य परमात्मा के गुण कर्म और स्वभावों के अनुकूल अपने गुण कर्म और स्वभाव करते हैं वे ही चक्रवर्ती राज्य भोगने के योग्य होते हैं ॥ ११७ ॥

इस अध्याय में स्त्री, पुरुष, राजा, प्रजा, खेती और पठन, पाठन आदि कर्म का वर्णन है इससे इस अध्याय के अर्थ की पूर्व अध्याय के अर्थ के साथ संगति समझनी चाहिये ॥

इति श्रीमत्परिव्राजकाचार्यपरमविदुषां श्री विरजानन्द-
सरस्वतीस्वामिनां शिष्येण श्रीमद्दयानन्दसरस्वती-
स्वामिना निर्मिते संस्कृतार्यभाषाभ्यां-
भूषिते सुप्रमाणयुक्ते यजुर्वेदभाष्ये
द्वादशोऽध्यायः संपूर्णः ॥ १२ ॥

अथ त्रयोदशाऽध्यायारम्भः ॥

ओ३म् विश्वा॑नि देव सवितर्दुरि॒तानि॒ परा॑सुव। यद् भ॒द्रं तन्न॒ आ सु॑व॥

तत्र मयि गृह्णामीत्याद्यस्य वत्सार ऋषिः। अग्निर्देवता।
आर्षी पङ्क्तिश्छन्दः। पञ्चमः स्वरः॥

मनुष्यैरादिमाऽवस्थायां किं किं कार्य्यमित्याह॥
अब तेरहवें अध्याय का प्रारम्भ है उस के प्रथम मन्त्र में मनुष्यों को पहिली अवस्था में क्या २ करना चाहिये यह विषय कहा है॥

मयि॑ गृह्णाम्यग्रे॑ अ॒ग्निꣳ रा॒यस्पोषा॑य सु॒प्रजास्त्वाय॑ सु॒वीर्या॑य। माम॑ दे॒वताः॑ सचन्ताम् ॥ १ ॥

मयि॑। गृ॒ह्णा॒मि॒। अग्रे॑। अ॒ग्निम्। रा॒यः। पोषा॑य। सु॒प्र॒जा॒स्त्वायेति॑ सुप्रजाःऽत्वाय॑। सु॒वी॒र्या॒येति॑ सुऽवी॒र्या॑य। माम्। उ॒इ॒ति॑। दे॒वताः॑। स॒च॒न्ता॒म् ॥ १ ॥

पदार्थः—(मयि) आत्मनि (गृह्णामि) (अग्ने) (अग्निम्) परमविद्वांसम् (रायः) विज्ञानादिधनस्य (पोषाय) पुष्टये (सुप्रजास्त्वाय) शोभनाश्च ताः प्रजाः सुप्रजास्तासां भावाय (सुवीर्य्याय) आरोग्येण सुष्ठुपराक्रमाय (माम्) (उ) (देवताः) दिव्या विद्वांसो गुणा वा (सचन्ताम्) समवयन्तु॥ १॥

अन्वयः—हे कुमाराः कुमार्य्यश्च यथाऽहमग्ने मयि रायस्पोषाय सुप्रजास्त्वाय सुवीर्य्याग्निं गृह्णामि येन मामु देवताः सचन्तां तथा यूयमपि कुरुत॥ १॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—मनुष्याणामिदं समुचितमस्ति ब्रह्मचर्य-कुमारावस्थायां वेदाद्यध्ययनेन पदार्थविद्या ब्रह्मकर्म ब्रह्मोपासनां ब्रह्मज्ञानं स्वीकुर्युर्येन दिव्यान् गुणानाप्तान् विदुषश्च प्राप्योत्तमश्रीप्रजापराक्रमान् प्राप्नुयुरिति ॥ १ ॥

पदार्थः—हे कुमार वा कुमारियो जैसे मैं (अग्ने) पहिले (मयि) मुझ में (रायः) विज्ञान आदि धन के (पोषाय) पुष्टि (सुप्रजास्त्वाय) सुन्दर प्रजा होने के लिये और (सुवीर्याय) रोगरहित सुन्दर पराक्रम होने के अर्थ (अग्निम्) उत्तम विद्वान् को (गृह्णामि) ग्रहण करता हूं जिस से (माम्) मुझ को (उ) ही (देवताः) उत्तम विद्वान् वा उत्तम गुण (सचन्ताम्) मिलें वैसे तुम लोग भी करो ॥ १ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु०—मनुष्यों को यह उचित है कि ब्रह्मचर्ययुक्त कुमारावस्था में वेदादि शास्त्रों के पढ़ने से पदार्थविद्या उत्तम कर्म और ईश्वर की उपासना तथा ब्रह्मज्ञान को स्वीकार करें। जिस से श्रेष्ठ गुण और आप्त विद्वानों को प्राप्त होके उत्तम धन सन्तानों और पराक्रम को प्राप्त होवें ॥ १ ॥

अपां पृष्ठमित्यस्य वत्सार ऋषिः । अग्निर्देवता । विराट् त्रिष्टुप्छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

अथ परमेश्वरोपासनाविषयमाह ॥

अब परमेश्वर की उपासना का वि० ॥

अपां पृष्ठमसि योनिरग्नेः समुद्रमभितः पिन्वमानम् । वर्धमानो महाँ२॥ आ च पुष्करे दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथस्व ॥ २ ॥

अपाम् । पृष्ठम् । असि । योनिः । अग्नेः । समुद्रम् । अभितः । पिन्वमानम् । वर्धमानः । महान् । आ । च । पुष्करे । दिवः । मात्रया । वरिम्णा । प्रथस्व ॥ २ ॥

पदार्थः—(अपाम्) व्यापकानां प्राणानां जलानां वा (पृष्ठम्) अधिकरणम् (असि) (योनिः) कारणम् (अग्ने) विद्युदादेः (समुद्रम्) अन्तरिक्षमिव सागरम् (अभितः) सर्वतः (पिन्वमानम्) सिञ्चमानम् (वर्धमानः) सर्वथोत्कृष्टः (महान्) सर्वेभ्यो वरीयान् सर्वैः पूज्यश्च (आ) (च) (पुष्करे) अन्तरिक्षे । पुष्करमित्यन्तरिक्षनाम० । निघं० १ । ३ । (दिवः) द्योतमानस्य (मात्रया) यया सर्वं मिमीते (वरिम्णा) अतिशयेनोरुर्बहुस्तेन व्यापकत्वेन (प्रथस्व) प्रख्यातो भव ॥ २ ॥

अन्वयः—हे विद्वन् यस्त्वमभितोऽपां पृष्ठं समुद्रं पिन्वमानमग्नेर्योनिर्दिवो मात्रया पुष्करे वर्धमानो महाँश्चासि सोऽस्मासु वरिम्णा प्रथस्व ॥ २ ॥

भावार्थः—मनुष्यैर्यत् सच्चिदानन्दस्वरूपमखिलस्य जगतो निर्मातृ सर्वत्राभिव्याप्तं सर्वेभ्यो वरं सर्वशक्तिमद् ब्रह्मैवोपास्य सकलविद्याः प्राप्यन्ते तत् कथं न सेवितव्यं स्यात् ॥ २ ॥

पदार्थः—हे विद्वन् पुरुष जो तू (अभितः) सब ओर से (अपाम्) सर्वत्रव्यापक परमेश्वर आकाश दिशा बिजुली और प्राणों वा जलों के (पृष्ठम्) अधिकरण (समुद्रम्) आकाश के समान सागर (पिन्वमानम्) सींचते हुए समुद्र को (अग्नेः) बिजुली आदि अग्नि के (योनिः) कारण (दिवः) प्रकाशित पदार्थों का (मात्रया) निर्माण करने हारी बुद्धि से (पुष्करे) हृदयरूप अन्तरिक्ष में (वर्धमानः) उन्नति को प्राप्त हुए (च) और (महान्) सब श्रेष्ठ वा सब के पूज्य (असि) हो सो आप हमारे लिये (वरिम्णा) व्यापकशक्ति से (आ,प्रथस्व) प्रसिद्ध हूजिये ॥ २ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को जिस सत्, चित् और आनन्दस्वरूप, सब जगत् का रचने हारा, सर्वत्र व्यापक, सबसे उत्तम और सर्वशक्तिमान् ब्रह्म की उपासना से संपूर्ण विद्यादि अनन्त गुण प्राप्त होवे हैं उसका सेवन क्यों न करना चाहिये ॥ २ ॥

ब्रह्मजज्ञानमित्यस्य वत्सार ऋषिः । आदित्यो देवता ।
आर्षी त्रिष्टुप्छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

किं स्वरूपं ब्रह्म जनैरुपास्यमित्याह ॥

मनुष्यों को किस स्वरूप वाला ब्रह्म उपासना के योग्य है यह वि० ॥

ब्रह्म॑ ज॒ज्ञानं॑ प्र॑थ॒मं पु॒रस्ता॒द्वि सी॑म॒तः सु॒रुचो॑ वे॒न आ॑वः । स बु॒ध्न्या॑ उप॒मा अ॑स्य वि॒ष्ठाः स॒तश्च॒ योनि॒मस॑तश्च॒ वि वः॑ ॥ ३ ॥

ब्रह्म॑ । ज॒ज्ञान॒म् । प्र॒थ॒मम् । पु॒रस्ता॑त् । वि । सी॒म॒तः । सु॒रुच॒ इति॑ सु॒ऽरुचः॑ । वे॒नः । आ॒व॒रित्या॑वः । सः । बु॒ध्न्याः॑ । उ॒प॒मा इत्यु॑प॒ऽमाः । अ॒स्य॒ । वि॒ष्ठाः । वि॒स्था इति॑ वि॒ऽस्थाः । स॒तः । च॒ । योनि॑म् । अस॑तः । च॒ । वि । व॒रिति॑ वः ॥ ३ ॥

पदार्थः—(ब्रह्म) सर्वेभ्यो बृहत् (जज्ञानम्) सर्वस्य जनकं विज्ञातृ (प्रथमम्) विस्तृतं विस्तारयितृ (पुरस्तात्) सृष्टयादौ (वि) (सीमतः) सीमातो मर्यादातः (सुरुचः) सुप्रकाशमानः सुष्ठुरुचिविषयश्च (वेनः) कमनीयः । वेनतीति कान्तिकर्म्मा० । निघं० २ । ६ । (आवः) आवृण्वन्ति स्वव्याप्त्याच्छादयन्ति ताः (सः) (बुध्न्याः) बुध्ने जलसंबन्धेऽन्तरिक्षे भवाः सूर्यचन्द्रपृथिवीतारकादयो लोकाः (उपमाः) उपमिमते याभिस्ताः (अस्य) जगदीश्वरस्य (विष्ठाः) या विविधेषु स्थानेषु तिष्ठन्ति ताः (सतः) विद्यमानस्य व्यक्तस्य (च) अव्यक्तस्य (योनिम्) स्थानमाकाशम् (असतः) अविद्यमानस्यादृश्यस्याव्यक्तस्य कारणस्य (च) महत्तत्त्वादेः (विवः) विवृणोति । अत्र मंत्रे घसेति च्लेर्लुगडभावश्च ॥ ३ ॥

अत्राह यास्कमुनिः—विसीमतः सुरुचो वेन आवरिति च व्यवृणोत्सर्वत आदित्यः सुरुच आदित्यरश्मयः सुरोचनादपि वासीमेत्येतदनर्थकमुपबन्धमाददीत पंचमीकर्माणं सीम्नः सीमतः सीमातो मर्य्यादातः सीमा मर्यादा विषीव्यति देशाविति ॥ निरु० १ । ७ ॥

अन्वयः—यज्जज्ञानं प्रथमं ब्रह्म यः सुरुचो वेनो यस्यास्य बुध्न्या विष्ठा उपमाः सन्ति स सर्वभावः स विसीमतः सतश्चासतश्च योनिं विवस्तास्मैरुपासनीयम् ॥ ३ ॥

भावार्थः—यस्य ब्रह्मणो विज्ञानाय प्रसिद्धाऽप्रसिद्धलोकाः दृष्टान्ताः सन्ति यत्सर्वत्राभिव्याप्तं सत्सर्वमावृणोति सर्वं विकाशयति सुनियमेन स्वस्वकक्षायां विचालयति तद्देवान्तर्यामि ब्रह्म सर्वैर्मनुष्यैरुपास्यं नातो पृथग्वस्तु भजनीयम् ॥ ३ ॥

पदार्थः—जो (पुरस्तात्) सृष्टि की आदि में (जज्ञानम्) सब का उत्पादक और ज्ञाता (प्रथमम्) विस्तारयुक्त और विस्तारकर्त्ता (ब्रह्म) सब से बड़ा जो (सुरुचः) सुन्दर प्रकाशयुक्त और सुन्दर रुचि का विषय (वेनः) ग्रहण के योग्य जिस (अस्य) इस के (बुध्न्याः) अन्तरिक्षसम्बन्धी आकाश में वर्त्तमान सूर्य्य, चन्द्रमा, पृथिवी और नक्षत्र आदि (विष्ठाः) विविध स्थलों में स्थित (उपमाः) ईश्वर ज्ञान के दृष्टान्त लोक हैं उन सब को (सः) वह (भावः) अपनी व्याप्ति से आच्छादन करता है वह ईश्वर (विसीमतः) मर्य्यादा से (सतः) विद्यमान देखने योग्य (च) और (असतः) अव्यक्त (च) और कारण के (योनिम्) आकाशरूप स्थान को (विवः) ग्रहण करता है उसी ब्रह्म की उपासना सब लोगों को नित्य अवश्य करनी चाहिये ॥ ३ ॥

भावार्थः—जिस ब्रह्म के जानने के लिये प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध सब लोक दृष्टान्त हैं जो सर्वत्र व्याप्त हुआ सब का आवरण और सभा का प्रकाश करता है और सुन्दर नियम के साथ अपनी २ कक्षा में सब लोकों को रखता है वही अन्तर्य्यामी परमात्मा सब मनुष्यों के निरन्तर उपासना के योग्य है इस से अन्य कोई पदार्थ सेवने योग्य नहीं ॥ ३ ॥

हिरण्यगर्भइत्यस्य हिरण्यगर्भ ऋषिः । प्रजापतिर्देवता ।
आर्षी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनस्तत् कीदृशमित्याह ॥

फिर वह कैसा है इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

हिरण्यगर्भः सम॑वर्त्तताग्रे॑ भूतस्य॑ जा॒तः पति॒रेक॑ आसीत् । स दा॑धार पृथि॒वीं द्यामु॒तेमां कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम ॥ ४ ॥

हि॒र॒ण्य॒ग॒र्भ इति॑ हिरण्यऽग॒र्भः । सम् । अ॒व॒र्त्त॒त । अग्रे॑ । भू॒तस्य॑ । जा॒तः । पतिः॑ । एकः॑ । आ॒सी॒त् । सः । दा॒धा॒र॒ । पृ॒थि॒वीम् । द्याम् । उ॒त । इ॒माम् । कस्मै॑ । दे॒वाय॑ । ह॒विषा॑ । वि॒धे॒म॒ ॥ ४ ॥

पदार्थः—(हिरण्यगर्भः) हिरण्यानि सूर्यादीनि तेजांसि गर्भे मध्ये यस्य सः । ज्योतिर्वै हिरण्यम् । शत० । हिरण्यं कस्माद्ध्रियत आयम्यमानमिति वा ह्रियते जनाज्जनमिति वा हितरमणं भवतीति वा हर्यतेर्वा स्यात् प्रेप्साकर्मणः । निरु० २ । १० । (सम्) (अवर्त्तत) (अग्रे) सृष्टेः प्राक् (भूतस्य) उत्पन्नस्य (जातः) जनकः (पतिः) पालकः (एकः) असहायोऽद्वितीयः (आसीत्) (सः) (दाधार) धृतवान् (पृथिवीम्) प्रकाशरहितं भूगोलादिकम् (द्याम्) प्रकाशमयं सूर्यादिकम् (उत) (इमाम्) वर्त्तमानां सृष्टिम् (कस्मै) सुखस्वरूपाय प्रजापतये (देवाय) प्रकाशमानाय (हविषा) आत्मादिसामग्र्या (विधेम) परिचरेम विधेमेति परिचरणकर्मा । निघं० ३ । ५ । निरुक्तकार एवमाह हिरण्यगर्भो हिरण्मयो गर्भो हिरण्मयो गर्भोऽस्येति वा गर्भो गृभेर्गृणात्यर्थे गिरत्यनर्थानिति वा यदा हि स्त्री गुणान् गृह्णाति गुणाश्चास्या गृह्यन्तेऽथ गर्भो भवति । समभवदग्रे भूतस्य जातः पतिरेको बभूव स धारयति पृथिवीं दिवं च कस्मै देवाय हविषा विधेमेति व्याख्यातं विधतिर्दानकर्मा० । निरु० १० । २३ ॥ ४ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यथा वयं योऽस्य भूतस्य जातः पतिरेको हिरण्यगर्भोऽग्रे समवर्त्ततासीत्स इमां सृष्टिं रचयित्वोतापि पृथिवीं द्यां दाधार तस्मै

कस्मै सुखस्वरूपाय देवाय परमेश्वराय हविषा विधेम तथा यूयमप्येतं सेवध्वम् ॥ ४ ॥

भावार्थः—हे मनुष्या यूयमस्या व्यक्तायाः सृष्टेः प्राक् परमेश्वर एव जागरूक आसीद् येनेमे लोका धृता प्रलयसमये भिद्यन्ते तमेवोपास्यं मन्यध्वम् ॥४॥

पदार्थः—हे मनुष्यो जैसे हम लोग जो इस (भूतस्य) उत्पन्न हुए संसार का (जातः) रचने और (पतिः) पालन करने हारा (एकः) सहाय की अपेक्षा से रहित (हिरण्यगर्भः) सूर्यादि तेजोमय पदार्थों का आधार (अग्रे) जगत् रचने के पहिले (समवर्त्तत) वर्त्तमान (आसीत्) था (सः) वह (इमाम्) इस संसार को रचके (उत) और (पृथिवीम्) प्रकाशरहित और (द्याम्) प्रकाशसहित सूर्यादि लोकों को (दाधार) धारण करता हुआ उस (कस्मै) सुखरूप प्रजा पालने वाले (देवाय) प्रकाशमान परमात्मा की (हविषा) आत्मादि सामग्री से (विधेम) सेवा में तत्पर हों। वैसे तुम लोग भी इस परमात्मा का सेवन करो ॥ ४ ॥

भावार्थः—हे मनुष्यो तुम को योग्य है कि इस प्रसिद्ध सृष्टि के रचने से प्रथम परमेश्वर ही विद्यमान था जीव गाढ़ निद्रा सुषुप्ति में लीन और जगत् का कारण अत्यन्त सूक्ष्मावस्था में आकाश के समान एकरस स्थिर था जिसने सब जगत् को रचके धारण किया और अन्त्यसमय में प्रलय करता है उसी परमात्मा को उपासना के योग्य मानो ॥ ४ ॥

द्रप्स इत्यस्य हिरण्यगर्भ ऋषिरीश्वरो देवता ।
विराडार्षी त्रिष्टुप्छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनः स कीदृश इत्याह ॥

फिर वह कैसा है यह वि० ॥

द्रप्सश्चस्कन्द पृथिवीमनु द्यामिमं च योनिमनु यश्च पूर्वः । समानं योनिमनु संचरन्तं द्रप्सं जुहोम्यनु सप्त होत्राः ॥ ५ ॥

द्रप्सः । चस्कन्द । पृथिवीम् । अनु । द्याम् । इमम् । च । योनिम् । अनु । यः । च । पूर्वः । समानम् । योनिम् । अनु । संचरन्तमिति सम्ऽचरन्तम् । द्रप्सम् । जुहोमि । अनु । सप्त । होत्राः ॥ ५ ॥

पदार्थः—(द्रप्सः) हर्ष उत्साहः । अत्र दृप विमोहनहर्षणयोरित्यत औणादिकः सः किच (चस्कन्द) प्राप्नोति (पृथिवीम्) भूमिम् (अनु) (द्याम्) प्रकाशम् (इमम्) (च) (योनिम्) कारणम् (अनु) (यः) (च) (पूर्वः) पूर्णः (समानम्) (योनिम्) स्थानम् (अनु) (संचरन्तम्) (द्रप्सम्) आनन्दम् (जुहोमि) गृह्णामि (अनु) (सप्त) पञ्च प्राणा मन आत्मा चेति (होत्राः) आदातारः ॥ ५ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यथाहं यस्य सप्त होत्राऽनुग्रहीतारो य इमां पृथिवीं द्यां योनिं चानु यः पूर्वो द्रप्सो नु चस्कन्द तस्य योनिमनु संचरन्तं समानं द्रप्सं सर्वत्राभिव्याप्तमानन्दमनुजुहोमि तथैनमादत्त ॥ ५ ॥

भावार्थः—हे मनुष्या यूयं यस्य जगदीश्वरस्य सानन्दं स्वरूपं सर्वत्रोपलभ्यते तत्प्राप्तये योगमभ्यस्यत ॥ ५ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! जैसे मैं जिस के (सप्त) पांच प्राण मन और आत्मा ये सात (होत्राः) अनुग्रहण करने हारे (यः) जो (इमाम्) इस (पृथिवीम्) पृथिवी (द्याम्) प्रकाश (च) और (योनिम्) कारण के अनुकूल जो (पूर्वः) सम्पूर्ण स्वरूप (द्रप्सः) आनन्द और उत्साह को (अनु) अनुकूलता से (चस्कन्द) प्राप्त होता है उस (योनिम्) स्थान के (अनु) अनुसार (संचरन्तम्) संचारी (समानम्) एक प्रकार के (द्रप्सम्) सर्वत्र अभिव्याप्त आनन्द को मैं (अनुजुहोमि) अनुकूल ग्रहण करता हूं वैसे तुम लोग भी ग्रहण करो ॥ ५ ॥

भावार्थः—हे मनुष्यो तुम को चाहिये कि जिस जगदीश्वर के आनन्द और स्वरूप का सर्वत्र लाभ होता है उस की प्राप्ति के लिये योगाभ्यास करो ॥ ५ ॥

नमोऽस्त्वित्यस्य हिरण्यगर्भऋषिर्देवता च।
भुरिगुष्णिक् छन्दः। ऋषभः स्वरः॥

मनुष्यैरत्र कथं वर्त्तितव्यमित्याह॥
मनुष्यों को संसार में कैसे वर्त्तना चाहिये यह वि०॥

नमोऽस्तु सर्पेभ्यो ये के च पृथिवीमनु। ये अन्तरिक्षे ये दिवि तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः॥ ६॥

नमः। अस्तु। सर्पेभ्यः। ये। के। च। पृथिवीम्। अनु। ये। अन्तरिक्षे। ये। दिवि। तेभ्यः। सर्पेभ्यः। नमः॥ ६॥

पदार्थः—(नमः) अन्नम्। नम इत्यन्नना०। निघं० २। ७। (अस्तु) (सर्पेभ्यः) ये सर्पन्ति गच्छन्ति ते लोकास्तेभ्यः। इमे वै लोकाः सर्पास्तेहानेन सर्वेण सर्पन्ति। शत० ७। ३। १। २५। (ये) (के) (च) (पृथिवीम्) भूमिम् (अनु) (ये) (अन्तरिक्षे) आकाशे (ये) (दिवि) सूर्यादिलोके (तेभ्यः) (सर्पेभ्यः) प्राणिभ्यः (नमः) अन्नम्॥ ६॥

अन्वयः—ये के चात्र सर्पाः सन्ति तेभ्यः सर्पेभ्यो नमोऽस्तु। येऽन्तरिक्षे ये दिवि ये च पृथिवीमनुसर्पन्ति तेभ्यः सर्वेभ्यो नमोऽस्तु॥ ६॥

भावार्थः—यावन्त इमे लोका दृश्यन्ते ये च न दृश्यन्ते ते सर्वे स्वस्वकक्षायामीश्वरेण नियताः सन्त आकाशे भ्रमन्ति तेषु सर्वेषु लोकेषु ये प्राणिनश्चलन्ति तदर्थमपीश्वरेण रचितं यत एतेषां जीवनं भवति यूयं विजानीत॥ ६॥

पदार्थः—जो (के) कोई इस जगत् में लोक लोकान्तर और प्राणी हैं (तेभ्यः) उन (सर्वेभ्यः) लोकों के जीवों के लिये (नमः) अन्न (अस्तु)

हो (ये) जो (अन्तरिक्षे) आकाश में (ये) जो (दिवि) प्रकाशमान सूर्य्य आदि लोकों में (च) और (ये) जो (पृथिवीम्) भूमि के (अनु) ऊपर चलते हैं उन (सर्पेभ्यः) प्राणियों के लिये (नमः) अन्न प्राप्त होवे ॥ ६ ॥

भावार्थः—हे मनुष्यो जितने लोक दीख पड़ते हैं और जो नहीं दीख पड़ते हैं वे सब अपनी २ कक्षा में नियम से स्थिर हुए आकाश मार्ग में घूमते हैं उन सबों में जो प्राणी चलते हैं उन के लिये अन्न भी ईश्वर ने रचा है कि जिस से इन सब का जीवन होता है इस बात को तुम लोग जानो ॥ ६ ॥

या इषव इत्यस्य हिरण्यगर्भ ऋषिः । स एव देवता च । अनुष्टुप्छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनस्तैः कथं भवितव्यमित्युपदिश्यते ॥
फिर मनुष्यों को कैसा होना चाहिये इस विषय का उप० ॥

या इषवो यातुधानानां ये वा वनस्पतीँ१॥ रनु । ये वावटेषु शेरते तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः ॥ ७ ॥

याः । इषवः । यातुधानानामिति यातुऽधानानाम् । ये । वा । वनस्पतीन् । अनु । ये । वा । अवटेषु । शेरते । तेभ्यः । सर्पेभ्यः । नमः ॥ ७ ॥

पदार्थः—(याः) (इषवः) गमयः (यातुधानानाम्) ये यान्ति परपदार्थान् दधति तेषाम् (ये) (वा) (वनस्पतीन्) वटादीन् (अनु) (ये) (वा) (अवटेषु) अपरिमापितेषु मार्गेषु (शेरते) (तेभ्यः) (सर्पेभ्यः) (नमः) वज्रम् ॥ ७ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यूयं या यातुधानानामिषवो ये वा वनस्पतीनन्वर्त्तन्ते ये वाऽवटेषु शेरते तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः प्रक्षिपत ॥ ७ ॥

भावार्थः—मनुष्या ये मार्गेषु वनेषूत्कोचका दिवसे एकान्ते स्वपन्ति तान् दस्यून्सर्पांश्च शस्त्रौषधादिना निवारयन्तु ॥ ७ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! तुम लोग (याः) जो (यातुधानानाम्) पराये पदार्थों को प्राप्त हो के धारण करने वाले जनों की (इषवः) गति हैं (वा) अथवा (ये) जो (वनस्पतीन्) वट आदि वनस्पतियों के (अनु) आश्रित रहते हैं और (ये) जो (वा) अथवा (अवटेषु) गुप्तमार्गों में (शेरते) सोते हैं (तेभ्यः) उन (सर्पेभ्यः) चंचल दुष्ट प्राणियों के लिये (नमः) वज्र चलाओ ॥ ७ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि जो मार्गों और वनों में उपद्रवी दुष्ट प्राणी एकान्त में दिन के समय सोते हैं उन डाकुओं और सर्पों को शस्त्र, ओषधि आदि से निवारण करें ॥ ७ ॥

ये वामीत्यस्य हिरण्यगर्भ ऋषिः । सूर्यो देवता ।
निचृदनुष्टुप्छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनर्मनुष्यैः कण्टकाः कथं बाधनीया इत्याह ॥
फिर मनुष्यों को कंटक और दुष्ट प्राणी कैसे हटाने चाहियें यह वि० ॥

ये वामी रोचने दिवो ये वा सूर्यस्य रश्मिषु । येषामप्सु सदस्कृतं तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः ॥८॥

ये । वा । अमीइत्यमी । रोचने । दिवः । ये । वा । सूर्यस्य । रश्मिषु । येषाम् । अप्स्वित्यप्सु । सदः । कृतम् । तेभ्यः । सर्पेभ्यः । नमः ॥ ८ ॥

पदार्थः—(ये) (वा) (अमी) (रोचने) दीप्तौ (दिवः) विद्युतः (ये) (वा) (सूर्यस्य) (रश्मिषु) (येषाम्) (अप्सु) (सदः)

सदनम् (कृतम्) निष्पन्नम् (तेभ्यः) (सर्वेभ्यः) दुष्टप्राणिभ्यः (नमः) वज्रम् ॥ ८ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या येऽमी दिवो रोचने ये वा सूर्य्यस्य रश्मिषु येषां वाप्सु सदस्कृतमस्ति तेभ्यः सर्वेभ्यो नमो दत्त ॥ ८ ॥

भावार्थः—मनुष्यैर्ये जलेष्वन्तरिक्षे सर्पा निवसन्ति ते वज्रप्रहारेण निवर्त्तनीयाः ॥ ८ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो (ये) जो (अमी) वे परोक्ष में रहने वाले (दिवः) बिजुली के (रोचने) प्रकाश में (वा) अथवा (ये) जो (सूर्य्यस्य) सूर्य्य की (रश्मिषु) किरणों में (वा) अथवा (येषाम्) जिनका (अप्सु) जलों में (सदः) स्थान (कृतम्) बना है (तेभ्यः) उन (सर्वेभ्यः) दुष्ट प्राणियों को (नमः) वज्र से मारो ॥ ८ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि जो जलों में आकाश में दुष्ट प्राणी वा सर्प रहते हैं उन को शस्त्रों से निवृत्त करें ॥ ८ ॥

कृणुष्वेत्यस्य वामदेव ऋषिः । अग्निर्देवता ।
भुरिक् पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

राजपुरुषैः कथं शत्रवो बन्धनीया इत्याह ॥
राजपुरुषों को शत्रु कैसे बांधने चाहियें यह वि० ॥

कृणुष्व पाजः प्रसितिं न पृथ्वीं याहि राजेवामवाँ२॥इभेन । तृष्वीमनु प्रसितिं द्रूणानोऽस्तासि विध्य रक्षसस्तपिष्ठैः ॥ ९ ॥

कृणुष्व । पाजः । प्रसितिमिति प्रऽसितिम् । न । पृथ्वीम् । याहि । राजेवेति राजाऽइव । अमवानित्यमऽवान् ।

इभेन । तृष्वीम् । अनु । प्रसितिमिति प्रऽसितिम् । द्रूणानः । अस्ता । असि । विध्य । रक्षसः । तपिष्ठैः ॥ ९ ॥

पदार्थः—(कृणुष्व) कुरुष्व (पाजः) बलम् । पातेर्बले जुट् च । उ० ४ । २१० । इत्यसुन् (प्रसितिम्) जालम् । प्रसितिः प्रसयनात्तन्तुर्वा जालं वा । नि० ६ । १२ । (न) इव (पृथ्वीम्) भूमिम् (याहि) प्राप्नुहि (राजेव) (अमवान्) बहवः सचिवा विद्यन्ते यस्य तद्वत् (इभेन) हस्तिना (तृष्वीम्) क्षिप्रगतिम् । तृष्विति क्षिप्रनाम० । निघं० २ । १५ । ततो वोतोगुणवचनादिति ङीप् (अनु) (प्रसितिम्) बन्धनं जालम् (द्रूणानः) हिंसन् (अस्ता) प्रक्षेप्ता (असि) विध्य ताडय (रक्षसः) शत्रून् (तपिष्ठैः) अतिशयेन संतापकरैः शस्त्रैः । अयं मन्त्रः । नि० ६ । १२ । व्याख्यातः ॥ ९ ॥

अन्वयः—हे सेनापते त्वं पाजः कृणुष्व प्रसितिं न पृथ्वीं याहि । यतस्त्वमस्तासि तस्मादिभेनामवान् राजेव तपिष्ठैः प्रसितिं संसाध्य रक्षांसि द्रूणानस्तृष्वीमनुविध्य ॥ ९ ॥

भावार्थः—अत्रोपमालं०-राजवत्सेनापतिः पूर्णं बलं संपाद्यानेकैः पाशैः शत्रून् बध्वा शरादिभिर्विध्वा काराग्रहे संस्थाप्य श्रेष्ठान् पालयेत् ॥ ९ ॥

पदार्थः—हे सेनापते आप (पाजः) बल को (कृणुष्व) कीजिये (प्रसितिम्) जाल के (न) समान (पृथ्वीम्) भूमि को (याहि) प्राप्त हूजिये जिससे आप (अस्ता) फेंकने वाले (असि) हैं इस से (इभेन) हाथी के साथ (अमवान्) बहुत दूतों वाले (राजेव) राजा के समान (तपिष्ठैः) अत्यन्त दुःखदायी शस्त्रों से (प्रसितिम्) फांसी को सिद्ध कर (रक्षसः) शत्रुओं को (द्रूणानः) मारते हुए (तृष्वीम्) शीघ्र (अनु) सन्मुख होकर (विध्य) ताड़ना कीजिये ॥ ९ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में उपमालं०—सेनापति को चाहिये कि राजा के समान पूर्ण बल से युक्त हो अनेक फांसियों से शत्रुओं को बांध उनको बाण आदि शस्त्रों से ताड़ना दे और बंदीगृह में बन्द करके श्रेष्ठ पुरुषों को पाले ॥ ९ ॥

तव भ्रमास इत्यस्य वामदेव ऋषिः । अग्निर्देवता ।
भुरिक् पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

पुनः स किं कुर्य्यादित्युपदिश्यते ॥
फिर वह सेनापति क्या करे यह वि० ॥

तवं भ्रमासं आशुया पंतन्त्यनुं स्पृश धृषता शोशुंचानः । तपूंछ्यग्ने जुह्वा पतङ्गानसंन्दितो विसृंज विष्वंगुल्काः ॥ १० ॥

तवं । भ्रमासंः । आशुयेत्यांशुया । पतन्ति । अनुं । स्पृश । धृषता । शोशुंचानः । तपूंछंषि । अग्ने । जुह्वा । पतङ्गान् । असंन्दित इत्यसंम्ऽदितः । वि । सृज । विष्वंक् । उल्काः ॥ १० ॥

पदार्थः—(तव) (भ्रमासः) भ्रमणशीला वीराः (आशुया) शीघ्रगमनाः । अत्र जसः स्थाने यादेशः (पतन्ति) श्येनवच्छत्रुदले संचरन्ति (अनु) (स्पृश) अनुगतो भव (धृषता) दृढेन सैन्येन (शोशुचानः) भृशं पवित्राचरणः (तपूंषि) तापाः (अग्ने) अग्निरिव वर्त्तमान (जुह्वा) आज्यहवनसाधनया (पतङ्गान्) अश्वान् । पतङ्गा इत्यश्वना० । निघं० १ । १४ । (असंदितः) अखण्डितः (वि) (सृज) निष्पादय (विष्वक्) सर्वतः (उल्काः) विद्युत्पाताः ॥ १० ॥

अन्वयः—हे सेनापतेऽग्ने शोशुचानस्त्वं ये तव भ्रमासो यथा विष्वगाशुयोल्कास्तथा शत्रुषु पतन्ति तान् धृषताऽनुस्पृश । अखण्डितः सन् जुह्वाग्नेस्तपूंषीव शत्रूणामुपरि सर्वतो विष्वग्विसृज पतङ्गान् सुशिक्षितानश्वान् कुरु ॥ १० ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—राजसेनापतिसेनाभृत्यैः परस्परं प्रीत्या बलं संवर्ध्य वीरान् हर्षयित्वा संयोध्याग्न्यायस्त्रैः शतघ्न्यादिभिश्च शत्रूणामुपरि विद्युद्वृष्टिः कार्य्या यतः सद्यो विजयः स्यात् ॥ १० ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) अग्नि के समान तेजस्वी सेनापते (शोशुचानः) अत्यन्त पवित्र आचरण करने हारे आप जो (तव) आप के (भ्रमासः) भ्रमणशील वीर पुरुष जैसे (विष्वक्) सब ओर से (आशुया) शीघ्र चलने हारी (दहतः) बिजुली की गतियां वैसे (पतन्ति) श्येनपक्षी के समान शत्रुओं के दल में तथा शत्रुओं में गिरते हैं उनको (धृषता) दृढ़ सेना से (अनु) अनुकूल (स्पृश) प्राप्त हूजिये और (असन्दितः) अखण्डित हुए (जुह्वा) घी के हवन का साधन लपट अग्नि के (तपूंषि) तेज के समान शत्रुओं के ऊपर सब ओर से बिजुली को (विसृज) छोड़िये और (पतङ्गान्) घोड़ों को सुन्दर शिक्षायुक्त कीजिये ॥ १० ॥

भावार्थः—इस मंत्र में वाचकलु०—सेनापति और सेना के भृत्यों को चाहिये कि आपस में प्रीति के साथ बल बढ़ा वीरपुरुषों को हर्ष दे और अच्छे युद्ध करा के अग्नि आदि अस्त्रों और भुशुंडी आदि शस्त्रों से शत्रुओं के ऊपर बिजुली की वृष्टि करें जिस से शीघ्र विजय हो ॥ १० ॥

प्रतिस्पश इत्यस्य वामदेव ऋषिः । अग्निर्देवता ।
निचृत् त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनः स कीदृशो भवेदित्युपदिश्यते ॥
फिर वह कैसा हो इस वि० ॥

प्रति स्पशो वि सृज तूर्णितमो भवा पायुर्विशो अस्या अदब्धः । यो नो दूरे अघशंसो यो अन्त्यग्ने माकिष्टे व्यथिरादधर्षीत् ॥ ११ ॥

प्रति । स्पशः । वि । सृज । तूर्णितम इति तूर्णिऽतमः । भव । पायुः । विशः । अस्याः । अदब्धः । यः । नः । दूरे । अघशंस इत्यघऽशंसः । यः । अन्ति । अग्ने । माकिः । ते । व्यथिः । आ । दधर्षीत् ॥ ११ ॥

पदार्थः—(प्रति) (स्पशः) बाधनानि (वि) (सृज) (तूर्णितमः) अतिशयेन त्वरिता (भव) द्व्यचोऽतस्तिङ इति दीर्घः (पायुः) रक्षकः (विशः) प्रजायाः (अस्याः) वर्त्तमानायाः (अदब्धः) अहिंसकः (यः) (नः) अस्माकम् (दूरे) विप्रकृष्टे (अघशंसः) योऽघं पापं कर्त्तुं शंसति स स्तेनः (यः) (अन्ति) निकटे (अग्ने) अग्निवच्छत्रुदाहक (माकिः) निषेधे । अत्र मकि धातोर्बाहुलकादिस् नुमभावश्च (ते) तव (व्यथिः) व्यथकः शत्रुः (आ) (दधर्षीत्) धर्षेत् । अत्र वाच्छन्दसीति द्विर्वचनम् ॥ ११ ॥

अन्वयः—हे अग्ने ते तव नोऽस्माकं च यो व्यथिरघशंसो दूरे योऽन्त्यस्ति यथा सोऽस्मान्माकिरादधर्षीत् तं प्रति त्वं तूर्णितमः सन् स्पशो विसृज अस्या विशः पायुरदब्धो भव ॥ ११ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—ये निकटदूरस्थाः प्रजाभ्यो दुःखप्रदा दस्यवः सन्ति तान् राजादयः सामदामदण्डभेदैः सद्यो वशं नीत्वा दयान्यायाभ्यां धार्मिकीः प्रजाः सततं पालयेयुः ॥ ११ ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) अग्नि के समान शत्रुओं के जलाने वाले पुरुष (ते) आप का और (नः) हमारा (यः) जो (व्यथिः) व्यथा देने हारा (अघशंसः) पाप करने में प्रवृत्त चोर शत्रुजन (दूरे) दूर तथा (यः) जो (अन्ति) निकट है जैसे वह हम लोगों को (माकिः) नहीं (आ, दधर्षीत्) दुःख देवे उस शत्रु के (प्रति) प्रति आप (तूर्णितमः) शीघ्र दण्डदाता होके (स्पशः) बन्धनों को (विसृज) रचिये और (अस्याः) इस वर्त्तमान (विशः) प्रजा के (पायुः) रक्षक (अदब्धः) हिंसारहित (भव) हूजिये ॥ ११ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु०—जो समीप वा दूर रहने वाले प्रजाओं के दुःखदायी डांकू हैं उनको राजा आदि पुरुष साम, दाम, दण्ड और भेद से शीघ्र वश में लाके दया और न्याय से धर्मयुक्त प्रजाओं की निरन्तर रक्षा करें ॥ ११ ॥

उदग्न इत्यस्य वामदेव ऋषिः । अग्निर्देवता ।
भुरिगार्षी पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

पुनः स किं कुर्यादित्याह ॥
फिर वह क्या करे इस वि० ॥

उदग्ने तिष्ठ प्रत्या तनुष्व न्यमित्राँ२॥ओषतात्तिग्महेते । यो नो अरातिᳬ समिधान चक्रे नीचा तं धक्ष्यतसं न शुष्कम् ॥ १२ ॥

उत् । अग्ने । तिष्ठ । प्रति । आ । तनुष्व । नि । अमित्रान् । ओषतात् । तिग्महेत इति तिग्मऽहेते । यः । नः । अरातिम् । समिधानेति सम्ऽइधान । चक्रे । नीचा । तम् । धक्षि । अतसम् । न । शुष्कम् ॥ १२ ॥

पदार्थः—(उत्) (अग्ने) सभाध्यक्ष (तिष्ठ) (प्रति) (आ) (तनुष्व) (नि) (अमित्रान्) धर्मद्वेष्टॄन् शत्रून् (ओषतात्) दह (तिग्महेते) तिग्मस्तीव्रो हेतिर्वज्रो दण्डो यस्य सः । हेतिरिति वज्रना० । निघं० २ । २० । (यः) (नः) अस्माकम् (अरातिम्) शत्रुम् (समिधान) सम्यक् तेजस्विन् (चक्रे) करोति (नीचा) न्यग्भूतं कृत्वा (तम्) (धक्षि) दह । अत्र विकरणलुक् (अतसम्) काष्ठम् (न) इव (शुष्कम्) अनार्द्रम् ॥ १२ ॥

अन्वयः—हे अग्ने त्वं राजधर्म उत्तिष्ठ धार्मिकान् प्रत्यातनुष्व । हे तिग्महेतेऽमित्रान्न्योषतात् । हे समिधान यो नोऽरातिं चक्रे तं नीचा शुष्कमतसं न धक्षि ॥ १२ ॥

भावार्थः—अत्रोपमालं०—राजादयः सभ्या धर्मे विनये समाहिता भूत्वा जलमिव मित्रान् शीतयेयुः। अग्निरिव शत्रून् दहेयुः। य उदासीनः स्थित्वाऽस्माकं शत्रूनुत्पादयेत्तं दृढं बन्धं बद्ध्वा निष्कण्टकं राज्यं कुर्युः॥ १२ ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) तेजधारी सभा के स्वामी आप राजधर्म के बीच (उत्तिष्ठ) उन्नति को प्राप्त हूजिये धर्मात्मा पुरुषों के (प्रति) लिये (आतनुष्व) सुखों का विस्तार कीजिये। हे (तिग्महेते) तीव्र दण्ड देने वाले राजपुरुष (अमित्रान्) धर्म के द्वेषी शत्रुओं को (न्योषतात्) निरन्तर जलाइये। हे (समिधान) सम्यक् तेजधारी जन (यः) जो (नः) हमारे (अरातिम्) शत्रु को उत्साही (चक्रे) करता है (तम्) उसको (नीचा) नीची दशा में करके (शुष्कम्) सूखे (अतसम्) काष्ठ के (न) समान (धक्षि) जलाइये॥ १२ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में उपमालं०—राजा आदि सभ्यजनों को चाहिये कि धर्म और विनय में समाहित होके जल के समान मित्रों को शीतल करें। अग्नि के समान शत्रुओं को जलावें। जो उदासीन होकर हमारे शत्रुओं को बढ़ावे उसको दृढ़ बन्धनों से बांध के निष्कण्टक राज्य करें॥ १२ ॥

ऊर्ध्वो भवेत्यस्य वामदेव ऋषिः। अग्निर्देवता। निचृदा-
र्षीतिजगती छन्दः। निषादः स्वरः॥

पुनः स कीदृशो भवेदित्याह॥

फिर वह राजा किस प्रकार का हो इस वि०॥

ऊर्ध्वो भ॑व॒ प्रति॑ वि॒ध्याध्य॒स्मदा॒विष्कृ॑णुष्व॒ दैव्या॑न्यग्ने। अव॑ स्थि॒रा त॑नुहि यातु॒जूनां॑ जा॒मिमजा॑मिं॒ प्र मृ॑णीहि॒ शत्रू॑न्। अ॒ग्नेष्ट्वा॒ तेज॑सा सादयामि॥ १३॥

ऊर्ध्वः। भव। प्रति। विध्य। अधि। अस्मत्। आविः। कृणुष्व। दैव्यानि। अग्ने। अव। स्थिरा। तनुहि। यातुजूनामिति यातुऽजूनाम्। जामिम्। अजामिम्। प्र। मृणीहि। शत्रून्। अग्नेः। त्वा। तेजसा। सादयामि ॥ १३ ॥

पदार्थः—(ऊर्ध्वः) उत्कृष्टः (भव) (प्रति) (विध्य) ताडय (अधि) (अस्मत्) (आविः) प्राकट्ये (कृणुष्व) (दैव्यानि) देवैर्विद्वद्भिर्निर्वृत्तानि वस्तूनि (अग्ने) (अव) (स्थिरा) निश्चलानि (तनुहि) विस्तृणुहि (यातुजूनाम्) ये यान्ति ये च जवन्ते तेषाम् (जामिम्) भोजनयुक्तम् (अजामिम्) भोजनरहितं स्थानम्। अत्र जमुधातोर्बाहुलकादिञ् इतीञ् (प्र) (मृणीहि) हिन्धि (शत्रून्) अरीन् (अग्नेः) पावकस्य (त्वा) त्वाम् (तेजसा) प्रकाशेन सह (सादयामि) स्थापयामि ॥ १३ ॥

अन्वयः—हे अग्ने विद्वन्राजन् यतस्त्वमूर्ध्वो भव शत्रून् प्रति विध्याऽस्मत् स्थिरा दैव्यान्याकृणुष्व। सुखानि तनुहि यातुजूनां जामिमजामिमवतनुहि विनाशय। शत्रून् प्रमृणीहि तस्मादहं त्वाग्नेस्तेजसाधिसादयामि ॥ १३ ॥

भावार्थः—मनुष्या राज्यैश्वर्यं प्राप्योत्तमगुणकर्मस्वभावा भवेयुः धर्मात्मभ्यो दरिद्रेभ्यश्च सततं सुखं दद्युः। धर्मे स्थिराः सन्तो दुष्टाधर्माचारिणो मनुष्यान् सततं शिक्षयेयुः। सर्वोत्कृष्टं समापतिं च मन्येरन् ॥ १३ ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) तेजस्विन् विद्वान् पुरुष जिसलिये आप (ऊर्ध्वः) उत्तम (भव) हूजिये धर्म के (प्रति) अनुकूल होके (विध्य) दुष्ट शत्रुओं को ताड़ना दीजिये (अस्मत्) हमारे (स्थिरा) निश्चल (दैव्यानि) विद्वानों के रचे पदार्थों को (आविः) प्रकट (कृणुष्व) कीजिये सुखों को (तनुहि) विस्तारिये (यातुजूनाम्) परपदार्थों को प्राप्त होने और वेग वाले शत्रुजनों के (जामिम्) भोजन के और (अजामिम्) अन्य व्यवहार के स्थान को (अव)

अच्छे प्रकार विस्तारपूर्वक नष्ट कीजिये और (शत्रून्) शत्रुओं को (प्रमृणीहि) बल के साथ मारिये इसलिये मैं (त्वा) आपको (अग्नेः) अग्नि के (तेजसा) प्रकाश के (अधि) सम्मुख (सादयामि) स्थापन करता हूं ॥ १३ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि राज्य के ऐश्वर्य्य को पाके उत्तम गुण, कर्म और स्वभावों से युक्त होवें, प्रजाओं और दरिद्रों को निरन्तर सुख देवें । दुष्ट अधर्माचारी मनुष्यों को निरन्तर शिक्षा करें । और अपने उत्तम पुरुष को सभापति मानें ॥ १३ ॥

अग्निर्मूर्द्धेत्यस्य वामदेव ऋषिः । अग्निर्देवता ।
भुरिगनुष्टुप्छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनः स कीदृशो भवेदित्याह ॥
फिर वह राजपुरुष कैसा हो यह वि० ॥

अग्निर्मूर्द्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्या अयम् । अपाᳬ रेताᳬसि जिन्वति । इन्द्रस्य त्वौजसा सादयामि ॥ १४ ॥

अग्निः । मूर्द्धा । दिवः । ककुत् । पतिः । पृथिव्याः । अयम् । अपाम् । रेताᳬसि । जिन्वति । इन्द्रस्य । त्वा । ओजसा । सादयामि ॥ १४ ॥

पदार्थः—(अग्निः) सूर्यः (मूर्द्धा) सर्वेषां शिर इव (दिवः) प्रकाशयुक्तस्याकाशस्य मध्ये (ककुत्) महान् ककुह इति महन्ना० । निघं० ३ । ३ । अस्यान्त्यलोपो वर्णव्यत्ययेन हस्य दः (पतिः) पालकः (पृथिव्याः) भूमेः (अयम्) (अपाम्) जलानाम् (रेतांसि) वीर्य्याणि (जिन्वति) प्रीणाति तर्पयति (इन्द्रस्य) सूर्यस्य (त्वा) त्वाम् (ओजसा) पराक्रमेण (सादयामि) ॥ १४ ॥

अन्वयः—हे राजन् यथाऽयमग्निर्दिवः पृथिव्या मूर्द्धा ककुत्पतिरपां रेतांसि जिन्वति तथा त्वं भव। अहं त्वा त्वामिन्द्रस्यौजसा सह राज्याय सादयामि ॥ १४ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—यो मनुष्यः सूर्यवद् गुणकर्मस्वभावो न्यायेन प्रजापालनतत्परो धार्मिको विद्वान् भवेत्तं राजत्वेन सर्वे मनुष्याः स्वीकुर्युः ॥ १४ ॥

पदार्थः—हे राजन् जैसे (अयम्) यह (अग्निः) सूर्य (दिवः) प्रकाशयुक्त आकाश के बीच और (पृथिव्याः) भूमि का (मूर्द्धा) सब प्राणियों के शिर के समान उत्तम (ककुत्) सब से बड़ा (पतिः) सब पदार्थों का रक्षक (अपाम्) जलों के (रेतांसि) सारों से प्राणियों को (जिन्वति) तृप्त करता है वैसे आप भी हूजिये। मैं (त्वा) आप को (इन्द्रस्य) सूर्य के (ओजसा) पराक्रम के साथ राज्य के लिये (सादयामि) स्थापन करता हूं ॥ १४ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु०—जो मनुष्य सूर्य के समान गुण कर्म और स्वभाव वाला न्याय से प्रजा के पालन में तत्पर धर्मात्मा विद्वान् हो उस को राज्याधिकारी सब लोग मानें ॥ १४ ॥

भुवो यज्ञस्येत्यस्य त्रिशिरा ऋषिः। अग्निर्देवता। निचृदार्षीत्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः ॥

पुनः स कीदृशो भवेदित्याह ॥

फिर वह कैसा हो इस विषय का उपदेश अगले मंत्र में किया है ॥

भुवो यज्ञस्य रजसश्च नेता यत्रा नियुद्भिः सचसे शिवाभिः। दिवि मूर्द्धानं दधिषे स्वर्षां जिह्वामग्ने चकृषे हव्यवाहम् ॥ १५ ॥

भुवः । यज्ञस्य । रजसः । च । नेता । यत्र । नियुद्भिरिति नियुत्ऽभिः । सचसे । शिवाभिः । दिवि । मूर्द्धानम् । दधिषे । स्वर्षाम् । स्वःसामिति स्वःसाम् । जिह्वाम् । अग्ने । चकृषे । हव्यवाहमिति हव्यऽवाहम् ॥ १५ ॥

पदार्थः—(भुवः) पृथिव्याः (यज्ञस्य) राजधर्मस्य (रजसः) लोकस्यैश्वर्यस्य वा (च) पश्वादीनाम् (नेता) नयनकर्त्ता (यत्र) राज्ये । अत्र निपातस्य चेति दीर्घः (नियुद्भिः) वायोर्वेगादिगुणैः सह (सचसे) समवैषि (शिवाभिः) कल्याणकारिकाभिर्नीतिभिः (दिवि) न्यायप्रकाशे (मूर्द्धानम्) शिरः (दधिषे) धरसि (स्वर्षाम्) स्वः सुखानि सनन्ति भजन्ति यया ताम् (जिह्वाम्) जोहवीति यया तां वाचम् (अग्ने) विद्वन् (चकृषे) करोषि (हव्यवाहम्) हव्यानि होतुं दातुमर्हाणि प्रज्ञानानि यया ताम् ॥ १५ ॥

अन्वयः—हे अग्ने विद्वन् यथाऽग्निर्नियुद्भिः सह वायू रजसो नेता सन् दिवि मूर्द्धानं धरति तथा यत्र शिवाभिः सह भुवो यज्ञस्य सचसे राज्यं दधिषे हव्यवाहं स्वर्षां जिह्वाञ्चकृषे तत्र सर्वाणि सुखानि वर्द्धन्त इति विजानीहि ॥ १५ ॥

भावार्थः—यस्मिन् राज्ये राजादयः सर्वे धार्मिका ब्रह्मचारिणो धर्मेण प्रजाः पालयेयुस्तत्र विद्यासुशिक्षाजानि सुखानि कुतो न वर्द्धेरन् ॥ १५ ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) विद्वान् पुरुष (यत्र) जिस राज्य में आप जैसे (नियुद्भिः) वेग आदि गुणों के साथ वायु (रजसः) लोकों वा ऐश्वर्य का (नेता) चलाने हारा (दिवि) न्याय के प्रकाश में (मूर्द्धानम्) शिर को धारण करता है वैसे (यत्र) जहां (शिवाभिः) कल्याणकारक नीतियों के साथ (भुवः) अपनी पृथिवी के (यज्ञस्य) राजधर्म्म के पालन करने हारे हो के (सचसे) संयुक्त होता अच्छे पुरुषों से राज्य को (दधिषे) धारण और (हव्यवाहम्) देने योग्य विद्वानों की प्राप्ति का हेतु (स्वर्षाम्) सुखों का सेवन

कराने हारी (जिह्वाम्) अच्छे विषयों की ग्राहक वाणी को (चकृषे) करते हो वहां सब सुख बढ़ते हैं यह निश्चित जानिये ॥ १५ ॥

भावार्थः—जिस राज्य में राजा आदि सब राजपुरुष मंगलाचरण करने हारे धर्मात्मा होके धर्मानुकूल प्रजाओं का पालन करें वहां विद्या और अच्छी शिक्षा से होने वाले सुख क्यों न बढ़ें ॥ १५ ॥

ध्रुवासीत्यस्य त्रिशिरा ऋषिः । अग्निर्देवता ।
स्वराडार्ष्यनुष्टुप्छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनः सा कीदृशी भवेदित्याह ॥
फिर वह राजपत्नी कैसी होवे यह वि० ॥

ध्रुवासि धरुणास्तृता विश्वकर्मणा । मा त्वा समुद्र उद् वधीन्मा सुपर्णो अव्यथमाना पृथिवीं दृꣳह ॥ १६ ॥

ध्रुवा । असि । धरुणा । आस्तृतेत्याऽस्तृता । विश्वकर्मणेति विश्वऽकर्मणा । मा । त्वा । समुद्रः । उत् । वधीत् । मा । सुपर्ण इति सुऽपर्णः । अव्यथमाना । पृथिवीम् । दृꣳह ॥ १६ ॥

पदार्थः—(ध्रुवा) निष्कम्पा (असि) (धरुणा) विद्याधर्मधर्त्री (आस्तृता) वस्त्रालंकारशुभगुणैः सम्यगाच्छादिता (विश्वकर्मणा) विश्वानि समग्राणि धर्म्यकर्माणि यस्य पत्युस्तेन (मा) (त्वा) त्वाम् (समुद्रः) समुद्रवदिव कामुका यस्मिन् व्यवहारे सः (उत्) (वधीत्) हन्यात् (मा) (सुपर्णः) शोभनानि पर्णानि पालितान्यङ्गानि यस्य सः (अव्यथमाना) पीडामप्राप्ता (पृथिवीम्) स्वराज्यभूमिम् (दृꣳह) वर्धय ॥ १६ ॥

अन्वयः—हे राजपत्नि यतो विश्वकर्मणा पत्या सह वर्त्तमानाऽऽस्तृता वरुणा ध्रुवाऽसि साऽव्यथमाना सती त्वं पृथिवीमुर्दृंह त्वा समुद्रो माबधीत् सुपर्णश्च मा बधीत् ॥ १६ ॥

भावार्थः—यादृशीं राजनीतिविद्यां राजाऽधीतवान् भवेत् तादृशीमेव राज्ञ्यप्यधीतवती स्यात् । सदैवोभौ पतिव्रतास्त्रीव्रतौ भूत्वा न्यायेन पालनं कुर्याताम् । व्यभिचारकामव्यथारहितौ भूत्वा धर्मेण सन्तानानुत्पाद्य स्त्री-न्यायं स्त्री पुरुषन्यायं पुरुषश्च कुर्य्यात् ॥ १६ ॥

पदार्थः—हे राजा की स्त्री जिस कारण (विश्वकर्मणा) सब धर्मयुक्त काम करने वाले अपने पति के साथ वर्त्तती हुई (आस्तृता) वस्त्र आभूषण और श्रेष्ठ गुणों से ढपी हुई (वरुणा) विद्या और धर्म की धारणा करने हारी (ध्रुवा) निश्चल (असि) है सो तू (अव्यथमाना) पीड़ा से रहित हुई (पृथिवीम्) अपनी राज्यभूमि को (दृंह) अच्छे प्रकार बढ़ा (त्वा) तुझ को (समुद्रः) जार लोगों का व्यवहार (मा) मत (बधीत्) सतावे और (सुपर्णः) सुन्दर रक्षा किये अवयवों से युक्त तेरा पति (मा) नहीं मारे ॥१६॥

भावार्थः—जैसी राजनीति विद्या को राजा पढ़ा हो वैसी ही उसकी राणी भी पढ़ी होनी चाहिये सदैव दोनों परस्पर पतिव्रता स्त्रीव्रत हो के न्याय से पालन करें । व्यभिचार और काम की व्यथा से रहित होकर धर्मानुकूल पुत्रों को उत्पन्न करके स्त्रियों का न्याय स्त्री राणी और पुरुषों का पुरुष राजा न्याय करे ॥१६॥

प्रजापतिष्ट्वेत्यस्य त्रिशिरा ऋषिः । प्रजापतिर्देवता ।
अनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनः पतिस्तां कथं वर्त्तयेदित्याह ॥
फिर राजा अपनी राणी को कैसे वर्त्तावे यह॰ ॥

प्रजापतिष्ट्वा सादयत्वपां पृष्ठे समुद्रस्येमन् ।
व्यचस्वतीं प्रथस्वतीं प्रथस्व पृथिव्यसि ॥ १७ ॥

प्रजापतिरिति प्रजाऽपतिः । त्वा । सादयतु । अपाम् । पृष्ठे । समुद्रस्य । एमन् । व्यचस्वतीम् । प्रथस्वतीम् । प्रथस्व । पृथिवी । असि ॥ १७ ॥

पदार्थः—(प्रजापतिः) प्रजायाः स्वामी (त्वा) त्वाम् (सादयतु) स्थापयतु (अपाम्) जलानाम् (पृष्ठे) उपरि (समुद्रस्य) सागरस्य (एमन्) प्राप्तव्ये स्थाने । अत्र सप्तम्या लुक् । अत्र एमन्नादिषु छन्दसि पररूपमिति वार्त्तिकेन पररूपम् (व्यचस्वतीम्) बहु व्यचो व्यञ्चनं विद्यागमनं सत्करणं वा विद्यते यस्यास्ताम् (प्रथस्वतीम्) प्रथाः प्रख्याता कीर्त्तिर्विद्यते यस्यास्ताम् (प्रथस्व) प्रख्याता भव (पृथिवी) भूमिरिव सुखप्रदा (असि) ॥ १७ ॥

अन्वयः—हे विदुषि प्रजापालिके राज्ञि यथा प्रजापतिः समुद्रस्यापामेमन् पृष्ठे नौकेव व्यचस्वतीं प्रथस्वतीं त्वा त्वां सादयतु यतस्त्वं पृथिव्यसि तस्मात् स्त्रीन्यायकरणे प्रथस्व तथा ते पतिर्भवेत् ॥ १७ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—राजपुरुषादयः स्वयं यस्मिन् राजकर्मणि प्रवर्त्तेरंस्तस्मिन् स्वाः स्वाः स्त्रियं स्थापयेयुः । यः पुरुषः पुरुषाणां न्यायाधिकारे तिष्ठेत्तस्य स्त्री स्त्रीणां न्यायासने स्थिता भवेत् ॥ १७ ॥

पदार्थः—हे विदुषि स्त्रि जैसे (प्रजापतिः) प्रजा का स्वामी (समुद्रस्य) समुद्र के (अपाम्) जलों के (एमन्) प्राप्त होने योग्य स्थान के (पृष्ठे) ऊपर नौका के समान (व्यचस्वतीम्) बहुत विद्या की प्राप्ति और सत्कार से युक्त (प्रथस्वतीम्) प्रशंसित कीर्त्ति वाली (त्वा) तुझ को (सादयतु) स्थापन करे । जिस कारण तू (पृथिवी) भूमि के समान सुख देने वाली (असि) है इसलिये स्त्रियों के न्याय करने में (प्रथस्व) प्रसिद्ध हो वैसे तेरा पति पुरुषों का न्याय करे ॥ १७ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में वाचकलु०—राजपुरुष आदि को चाहिये कि आप जिस २ राजकार्य्य में प्रवृत्त हों उस २ कार्य में अपनी २ स्त्रियों को भी

स्थापन करें जो २ राजपुरुष जिन २ पुरुषों का न्याय करें उस २ की स्त्री स्त्रियों का न्याय किया करें ॥ १७ ॥

भूरसीत्यस्य त्रिशिरा ऋषिः । अग्निर्देवता ।
प्रस्तारपङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

पुनः सा कीदृशी भवेदित्याह ॥
फिर वह राणी कैसी हो यह वि० ॥

भूर॑सि भूमि॑र॒स्यदि॑तिरसि वि॒श्वधा॑या वि॒श्व॑स्य॒ भुव॑नस्य ध॒र्त्री । पृ॒थि॒वीं य॑च्छ पृथि॒वीं दृ॑ꣳह पृथि॒वीं मा हि॑ꣳसीः ॥ १८ ॥

भूः । अ॒सि॒ । भूमि॑ः । अ॒सि॒ । अदि॑तिः । अ॒सि॒ । वि॒श्वधा॑या॒ इति॑ वि॒श्वऽधा॑याः । वि॒श्व॑स्य । भुव॑नस्य । ध॒र्त्री । पृ॒थि॒वीम् । य॒च्छ॒ । पृ॒थि॒वीम् । दृ॒ꣳह॒ । पृ॒थि॒वीम् । मा । हि॒ꣳसीः ॥ १८ ॥

पदार्थः—(भूः) भवतीति भूः (असि) (भूमिः) पृथिवीवत् (असि) (अदितिः) अखण्डितैश्वर्य्यमन्तरिक्षमिवाक्षुब्धा (असि) (विश्वधायाः) या विश्वं सर्वं गृह्णाति गृहाश्रमी राजव्यवहारं दधाति सा (विश्वस्य) सर्वस्य (भुवनस्य) भवन्ति भूतानि यस्मिंस्तद्राज्ये तस्य (धर्त्री) धारिका (पृथिवीम्) (यच्छ) निगृहाण (पृथिवीम्) (दृंह) वर्धय (पृथिवीम्) (मा) (हिंसीः) हिंस्याः ॥ १८ ॥

अन्वयः—हे राजपत्नि यतस्त्वं भूरिवासि तस्मात् पृथिवीं यच्छ । यतस्त्वं विश्वधाया विश्वस्य भुवनस्य धर्त्री भूमिरिवासि तस्मात् पृथिवीं दृंह । यतस्त्वमदितिरिवासि तस्मात् पृथिवीं मा हिंसीः ॥ १८ ॥

भावार्थः—या राजकुलस्त्रियः पृथिव्यादिवद्धैर्यादिगुणयुक्ताः सन्ति ता एव राज्यं कर्त्तुमर्हन्ति ॥ १८ ॥

पदार्थः—हे राणी जिससे तू (भूः) भूमि के समान (असि) है इस कारण (पृथिवीम्) पृथिवी को (यच्छ) निरन्तर ग्रहण कर जिसलिये तू (विश्वधायाः) सब गृहाश्रम के और राजसम्बन्धी व्यवहारों और (विश्वस्य) सब (भुवनस्य) राज्य को (धर्त्री) धारण करने हारी (भूमिः) पृथिवी के समान (असि) है इसलिये (पृथिवीम्) पृथिवी को (दृंह) बढ़ा और जिस कारण तू (अदितिः) अखण्ड ऐश्वर्य्य वाले आकाश के समान क्षोभरहित (असि) है इसलिये (पृथिवीम्) भूमि को (मा) मत (हिंसीः) बिगाड़ ॥ १८ ॥

भावार्थः—जो राजकुल की स्त्री पृथिवी आदि के समान धीरज आदि गुणों से युक्त हो तो वे ही राज्य करने के योग्य होती हैं ॥ १८ ॥

विश्वस्मा इत्यस्य त्रिशिरा ऋषिः । अग्निर्देवता । भुरिगति-जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

पुनस्तौ परस्परं कथं वर्त्तेयातामित्याह ॥

फिर वे स्त्री पुरुष आपस में कैसे वर्त्तें यह विषय० ॥

विश्वस्मै प्राणायापानायं व्यानायोदानायं प्रतिष्ठायै चरित्राय । अग्निष्ट्वाभिपातु मह्या स्वस्त्या छर्दिषा शन्तमेन तयां देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवा सींद ॥ १९ ॥

विश्वस्मै । प्राणायं । अपानायेत्यपऽआनायं । व्यानायेति विऽआनायं । उदानायेत्युत्ऽआनायं । प्रतिष्ठायै ।

प्रतिस्थाया इति प्रतिऽस्थायै । चरित्राय । अग्निः । त्वा । अभि । पातु । मह्या । स्वस्त्या । छर्दिषा । शन्तमेनेति शम्ऽतमेन । तया । देवतया । अङ्गिरस्वत् । ध्रुवा । सीद ॥ १६ ॥

पदार्थः—(विश्वस्मै) संपूर्णाय (प्राणाय) जीवनहेतवे (अपानाय) दुःखनिवारणाय (व्यानाय) विविधोत्तमव्यवहाराय (उदानाय) उत्कृष्टाय बलाय (प्रतिष्ठायै) सत्कृतये (चरित्राय) धर्माचरणाय (अग्निः) विज्ञानवान् पतिः (त्वा) त्वाम् (अभि) आभिमुख्यतया (पातु) रक्षतु (मह्या) महत्या (स्वस्त्या) प्रापकसुखक्रियया (छर्दिषा) प्रदीप्तेन (शन्तमेन) अत्यन्तसुखरूपेण कर्मणा (तया) (देवतया) विवाहितपतिरूपया सुखप्रदया (अङ्गिरस्वत्) कारणवत् (ध्रुवा) निश्चलस्वरूपा (सीद) अवस्थिता भव ॥ १६ ॥

अन्वयः—हे स्त्रि योऽग्निस्ते पतिर्मह्या स्वस्त्या शन्तमेन छर्दिषा विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानायोदानाय प्रतिष्ठायै चरित्राय यां त्वाभिपातु सा त्वं तया देवतया सहाऽङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद ॥ १९ ॥

भावार्थः—पुरुषाः स्वस्त्रीणां सत्कारसुखाभ्यामव्यभिचारेण च प्रियाचरणं पालनादिकं च सततं कुर्य्युः स्त्रियोऽप्येवमेव न स्वस्त्रियं विहायान्यां पुरुषः स्वपुरुषं विहायान्यं स्त्री च संगच्छेत । एवं परस्परस्य प्रियाचरणावुभौ सदा वर्त्तेयाताम् ॥ १६ ॥

पदार्थः—हे स्त्रि जो (अग्निः) विज्ञानयुक्त तेरा पति (मह्या) बड़ी (स्वस्त्या) सुख प्राप्त कराने हारी क्रिया और (छर्दिषा) प्रकाशयुक्त (शन्तमेन) अत्यन्तसुखदायक कर्म के साथ (विश्वस्मै) सम्पूर्ण (प्राणाय) जीवन के हेतु प्राण (अपानाय) दुःखों की निवृत्ति (व्यानाय) अनेक प्रकार के उत्तम व्यवहारों की सिद्धि (उदानाय) उत्तम बल (प्रतिष्ठायै) सत्कार और (चरित्राय) धर्म का आचरण करने के लिये जिस (त्वा) तेरी (अभिपातु)

सन्मुख होकर रक्षा करे सो तू (तया) उस (देवतया) दिव्यस्वरूप पति के साथ (अङ्गिरस्वत्) जैसे कार्य्य कारण का संबन्ध है वैसे (ध्रुवा) निश्चल हो के (सीद) प्रतिष्ठायुक्त हो ॥ १९ ॥

भावार्थः—पुरुषों को योग्य है कि अपनी २ स्त्रियों के सत्कार से सुख और व्यभिचार से रहित होके प्रीतिपूर्वक आचरण और उनकी रक्षा आदि निरन्तर करें और इसी प्रकार स्त्री लोग भी रहें । अपनी स्त्री को छोड़ अन्य स्त्री की इच्छा न पुरुष और न अपने पति को छोड़ दूसरे पुरुष का संग स्त्री करे । ऐसे ही आपस में प्रीतिपूर्वक ही दोनों सदा वर्त्तें ॥ १९ ॥

काण्डात्काण्डादित्यस्याऽग्निर्ऋषिः । पत्नी देवता ।
अनुष्टुप्छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनः सा कीदृशी भवेदित्याह ॥
फिर वह स्त्री कैसी हो इस विषय का उपदेश अगले मंत्र में किया है ॥

काण्डा॑त्काण्डात्प्ररोह॑न्ती परु॑षः परुष॒स्परि॑ ।
ए॒वा नो॑ दूर्वे॒ प्र त॑नु स॒हस्रे॑ण श॒तेन॑ च ॥ २० ॥

काण्डा॑त्काण्डा॒दिति॒ काण्डा॑त्ऽकाण्डात् । प्र॒रोह॒न्तीति॑ प्र॒ऽरोह॑न्ती । परु॑षः परु॑ष॒ इति॒ परु॑षःऽपरुषः । परि॑ । ए॒व । नः॒ । दू॒र्वे॒ । प्र । त॒नु॒ । स॒हस्रे॑ण । श॒तेन॑ । च॒ ॥ २० ॥

पदार्थः—(काण्डात्काण्डात्) अन्यस्मादन्यस्मात् (प्ररोहन्ती) प्रकृष्टतया वर्द्धमाना (परुषः परुषः) मर्मणो मर्मणः (परि) सर्वतः (एवा) निपातस्य चेति दीर्घः (नः) अस्मान् (दूर्वे) दूर्वावद्वर्त्तमाने (प्र) (तनु) विस्तृणुहि (सहस्रेण) असंख्यातेन (शतेन) अनेकैः (च) ॥ २० ॥

अन्वयः—हे स्त्रि त्वं यथा सहस्रेण शतेन च काण्डात्काण्डात्परुषस्परि प्ररोहन्ती दूर्वौषधी वर्त्तते तथैव नोऽस्मान् पुत्रपौत्रैश्वर्यादिभिः प्रतनु ॥ २० ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—यथा दूर्वौषधी रोगप्रणाशिका सुखवर्द्धिका सुविस्तीर्णा चिरं स्थायी तथा सती विदुषी स्त्री कुलं शतधा सहस्रधा वर्धयेत् तथा पुरुषोऽपि प्रयतेत ॥ २० ॥

पदार्थः—हे स्त्रि तू जैसे (सहस्रेण) असंख्यात (च) और (शतेन) बहुत प्रकार के साथ (काण्डात्काण्डात्) सब अवयवों और (परुषः परुषः) गांठ २ से (परि) सब ओर से (प्ररोहन्ती) अत्यन्त बढ़ती हुई (दूर्वे) दूर्वा घास होती है वैसे (एव) ही (नः) हम को पुत्र पौत्र और ऐश्वर्य से (प्रतनु) विस्तृत कर ॥ २० ॥

भावार्थः—इस मंत्र में वाचकलु०—जैसे दूर्वा ओषधी रोगों का नाश और सुखों को बढ़ाने हारी सुन्दर विस्तारयुक्त होती हुई बढ़ती है। वैसे ही विद्वान् स्त्री को चाहिये कि बहुत प्रकार से अपने कुल को बढ़ावे ॥ २० ॥

या शतेनेत्यस्याग्निर्ऋषिः । पत्नी देवता । निचृदनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनः सा कीदृशी भवेदित्याह ॥

फिर वह कैसी हो यह वि० ॥

या शतेन प्रतनोषि सहस्रेण विरोहसि । तस्यास्ते देवीष्टके विधेम हविषा वयम् ॥ २१ ॥

या । शतेन । प्रतनोषीति प्रऽतनोषि । सहस्रेण । विरोहसीति विऽरोहसि । तस्याः । ते । देवि । इष्टके । विधेम । हविषा । वयम् ॥ २१ ॥

पदार्थः—(या) (शतेन) असंख्यातेन (प्रतनोषि) (सहस्रेण) असंख्यातेन (विरोहसि) विविधतया वर्धसे (तस्याः) (ते) तव (देवि)

देदीप्यमाने (इष्टके) इष्टकेव शुभैर्गुणैः सुशोभिते (विधेम) परिचरेम (हविषा) होतुमर्हेण (वयम्) ॥ २१ ॥

अन्वयः—हे इष्टके इष्टकावद्दृढाङ्गे देवि स्त्रि यथेष्टका शतेन प्रतनोति सहस्रेण विरोहति तथा या त्वमस्मान् शतेन प्रतनोषि सहस्रेण च विरोहसि तस्यास्ते तव हविषा वयं विधेम त्वां परिचरेम ॥ २१ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—यथा शतशः सहस्राणीष्टका गृहाकारा भूत्वा सर्वान् सुखयन्ति तथैव याः साध्व्यः स्त्रियः पुत्रपौत्रभृत्यादिभिः सर्वानानन्दयेयुस्ताः पुरुषाः सततं सत्कुर्युर्नहि सत्पुरुषस्त्रीसमागमेन विना शुभगुणाढ्यान्यपत्यानि जायेरन् । एवंभूतैः सन्तानैर्विना मातापितॄणां कुतः सुखं जायेत ॥ २१ ॥

पदार्थः—हे (इष्टके) ईंट के समान दृढ़ अवयवों से युक्त शुभ गुणों से शोभायमान (देवि) प्रकाशयुक्त स्त्री जैसे ईंट सैकड़ों संख्या से मकान आदि का विस्तार और हजारह से बहुत बढ़ा देती है वैसे (या) जो तू हम लोगों को (शतेन) सैकड़ों पुत्र पौत्र दि सम्पत्ति से (प्रतनोषि) विस्तारयुक्त करती और (सहस्रेण) हजारह प्रकार के पदार्थों से (विरोहसि) विविध प्रकार बढ़ाती है (तस्याः) उस (ते) तेरी (हविषा) देने योग्य पदार्थों से (वयम्) हम लोग (विधेम) सेवा करें ॥ २१ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में वाचकलु०—जैसे सैकड़ों प्रकार से हजारह ईंटें घर रूप बन के सब प्राणियों को सुख देती हैं वैसे जो श्रेष्ठ स्त्री लोग पुत्र पौत्र ऐश्वर्य और भृत्य आदि से सब को आनन्द देवें उनका पुरुष लोग निरन्तर सत्कार करें क्योंकि श्रेष्ठ पुरुष और स्त्रियों के संग के विना शुभ गुणों से युक्त सन्तान कभी नहीं हो सकते । और ऐसे सन्तानों के विना माता पिता को सुख कब मिल सकता है ॥ २१ ॥

यास्त इत्यस्येन्द्राग्नी ऋषी । अग्निर्देवता ।
भुरिगनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनः सा कीदृशी भवेदित्युपदिश्यते ॥

फिर वह स्त्री कैसी होवे यह वि० ॥

यास्ते॑ अग्ने॒ सूर्ये॒ रुचो॒ दिव॑मात॒न्वन्ति॑ र॒श्मिभि॑ः । ताभि॑र्नो अ॒द्य सर्वा॑भी रु॒चे जना॑य नस्कृधि ॥ २२ ॥

याः । ते॒ । अ॒ग्ने॒ । सूर्ये॑ । रुच॑ः । दिव॑म् । आ॒त॒न्वन्तीत्या॑त॒न्वन्ति॑ । र॒श्मिभि॒रिति॑ र॒श्मिऽभि॑ः । ताभि॑ः । न॒ः । अ॒द्य । सर्वा॑भिः । रु॒चे । जना॑य । न॒ः । कृ॒धि॒ ॥ २२ ॥

पदार्थः—(याः) (ते) तव (अग्ने) अग्निरिव वर्त्तमाने (सूर्ये) अर्के (रुचः) दीप्तयः (दिवम्) प्रकाशम् (आतन्वन्ति) समन्ताद्विस्तृणन्ति (रश्मिभिः) किरणैः (ताभिः) रुचिभिः (नः) अस्मान् (अद्य) (सर्वाभिः) (रुचे) रुचिकारकाय (जनाय) प्रसिद्धाय (नः) अस्मान् (कृधि) कुरु । अत्र विकरणलुक् ॥ २२ ॥

अन्वयः—हे अग्ने विद्युद्व्यापिके स्त्रि यास्ते रुचयः सन्ति ताभिः सर्वाभिर्नो यथा रुचः सूर्ये रश्मिभिर्दिवमातन्वन्ति तथा त्वमातनु अद्य रुचे जनाय नः प्रीतान् कृधि ॥ २२ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—यथा ब्रह्माण्डे सूर्यस्य दीप्तयः सर्वाणि वस्तूनि प्रकाश्य रोचयन्ति तथैव विदुष्यः साध्व्यः पतिव्रताः स्त्रियः सर्वाणि गृहकर्माणि प्रकाशयन्ति । यत्र स्त्रीपुरुषौ परस्परं प्रीतिमन्तौ स्यातां तत्र सर्वं कल्याणमेव ॥ २२ ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) अग्नि के समान तेजधारिणी पढ़ाने हारी विद्वान् स्त्री (याः) जो (ते) तेरी रुचि हैं (ताभिः) उन (सर्वाभिः) सब रुचियों से युक्त (नः) हम को जैसे (रुचः) दीप्तियां (सूर्ये) सूर्य्य में (रश्मिभिः)

किरणें ये (शिवम्) प्रकाश को (आतन्वन्ति) अच्छे प्रकार विस्तारयुक्त करती हैं वैसे तू भी अच्छे प्रकार विस्तृत सुखयुक्त कर और (अद्य) आज (रुचे) रुचि कराने हारे (जनाय) प्रसिद्ध मनुष्य के लिये (नः) हम लोगों को प्रीतियुक्त (कृधि) कर ॥ २२ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु०—जैसे महाशय में सूर्य्य की दीप्ति सब वस्तुओं को प्रकाशित कर रुचियुक्त करती हैं वैसे ही विदुषी श्रेष्ठ पतिव्रता स्त्रियां घर के सब कार्य्यों का प्रकाश करती हैं। जिस कुल में स्त्री और पुरुष आपस में प्रीतियुक्त हों वहां सब विषयों में कल्याण ही होता है ॥ २२ ॥

या वो देवा इत्यस्येन्द्राग्नी ऋषी। बृहस्पतिर्देवता।
अनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः ॥

अथ स्त्रीपुरुषैः कथं विज्ञानं संपाद्यमित्याह ॥
अब स्त्री पुरुषों को विज्ञान की सिद्धि कैसे करनी चाहिये यह विषय० ॥

यावो॑ देवाः सूर्ये॒ रुचो॒ गोष्वश्वे॑षु॒ या रुचः॑।
इन्द्रा॑ग्नी॒ ताभि॒ः सर्वा॑भी॒ रुचं॑ नो धत्त बृहस्पते॥ २३॥

याः। वः॒। दे॒वाः॒। सूर्ये॑। रुचः॑। गोषु॑। अश्वे॑षु।
याः। रुचः॑। इन्द्रा॑ग्नी। ताभिः॑। सर्वा॑भिः। रुच॑म्। नः।
ध॒त्त॒। बृ॒ह॒स्प॒ते॒ ॥ २३ ॥

पदार्थः—(याः) (वः) युष्माकम् (देवाः) विद्वांसः (सूर्ये) सवितरि (रुचः) रुचयः (गोषु) धेनुषु (अश्वेषु) गवादिषु (याः) (रुचः) प्रीतयः (इन्द्राग्नी) विद्युत्सूर्य्यवदध्यापकोपदेशकौ (ताभिः) (सर्वाभिः) (रुचम्) कामनाम् (नः) अस्माकं मध्ये (धत्त) (बृहस्पते) बृहतां विदुषां पालक ॥ २३ ॥

अन्वयः—हे देवा यूयं या वः सूर्ये रुचो या गोष्वश्वेषु रुचश्चेव रुचः सन्ति ताभिः सर्वाभी रुग्भिर्नो रुचमिन्द्राग्नी इव धत्त हे बृहस्पते परीक्षक भवानस्माकं परीक्षां कुरु ॥ २३ ॥

भावार्थः—यावन्मनुष्याणां विद्वत्सङ्ग ईश्वरेऽस्य सृष्टौ च रुचिः परीक्षा च न जायते तावद्विज्ञानं न वर्द्धते ॥ २३ ॥

पदार्थः—हे (देवाः) विद्वानो तुम सब लोग (याः) जो (वः) तुम्हारी (सूर्ये) सूर्य में (रुचः) रुचि और (याः) जो (गोषु) गौओं और (अश्वेषु) घोड़ों आदि में (रुचः) प्रीतियों के समान प्रीति हैं (ताभिः) उन (सर्वाभिः) सब रुचियों से (नः) हमारे बीच (रुचम्) कामना को (इन्द्राग्नी) बिजुली और सूर्यवत् अध्यापक और उपदेशक जैसे धारण करें वैसे (धत्त) धारण करो हे (बृहस्पते) पक्षपात छोड़ के परीक्षा करने हारे पूर्णविद्यायुक्त आप (नः) हमारी परीक्षा कीजिये ॥ २३ ॥

भावार्थः—जबतक मनुष्य लोगों की विद्वानों के संग ईश्वर उसकी रचना में रुचि और परीक्षा नहीं होती तबतक विज्ञान कभी नहीं बढ़ सकता ॥ २३ ॥

विराड्ज्योतिरित्यस्येन्द्राग्नी ऋषी । प्रजापतिर्देवता ।
निचृद्बृहतीछन्दः । ऋषभः स्वरः ॥

दम्पती अन्योऽन्यं कथं वर्त्तेयातामित्याह ॥
स्त्री पुरुष आपस में कैसे वर्त्तें यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

विराड्ज्योतिरधारयत्स्वराड्ज्योतिरधारयत् । प्रजापतिष्ट्वा सादयतु पृष्ठे पृथिव्या ज्योतिष्मतीम् विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानाय विश्वं ज्योतिर्यच्छ अग्निष्टेऽधिपतिस्तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद ॥ २४ ॥

विराडिति विऽराट् । ज्योतिः । अधारयत् । स्वराडिति स्वऽराट् । ज्योतिः । अधारयत् । प्रजापतिरिति प्रजाऽपतिः । त्वा । सादयतु । पृष्ठे । पृथिव्याः । ज्योतिष्मतीम् । विश्वस्मै । प्राणाय । अपानायेत्यपऽआनाय । व्यानायेति विऽआनाय । विश्वम् । ज्योतिः । यच्छ । अग्निः । ते । अधिपतिरित्यधिऽपतिः । तया । देवतया । अङ्गिरस्वत् । ध्रुवा । सीद ॥ २४ ॥

पदार्थः—(विराट्) या विविधासु राजते (ज्योतिः) विद्याप्रकाशम् (अधारयत्) धारयेत् (स्वराट्) सर्वेषु चराचरखेषु स्वयं राजते (ज्योतिः) विद्युदादिप्रकाशम् (अधारयत्) (प्रजापतिः) प्रजायाः पालकः (त्वा) त्वाम् (सादयतु) संस्थापयतु (पृष्ठे) तले (पृथिव्याः) भूमेः (ज्योतिष्मतीम्) प्रशस्तं ज्योतिर्विद्याविज्ञानं विद्यते यस्यास्ताम् (विश्वस्मै) अखिलाय (प्राणाय) प्राणिति सुखं येन तस्मै (अपानाय) अपानिति दुःखं येन तस्मै (व्यानाय) व्यानिति सर्वान् शुभगुणकर्मस्वभावान् येन तस्मै (विश्वम्) समग्रम् (ज्योतिः) विज्ञानम् (यच्छ) गृहाण (अग्निः) विज्ञानवान् (ते) तव (अधिपतिः) स्वामी (तया) (देवतया) दिव्यया (अङ्गिरस्वत्) सूत्रात्मवत् (ध्रुवा) निष्कम्पा (सीद) स्थिरा भव ॥ २४ ॥

अन्वयः—या विराट् स्त्री ज्योतिरधारयत् सा सखाऽखिलं सुखं प्राप्नुयात् । हे स्त्रि योऽग्निस्तेऽधिपतिरस्ति तया देवतया सह त्वमङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद । हे पुरुष याऽग्निस्तवाऽधिपत्न्यस्ति तया देवतया सह त्वमङ्गिरस्वद् ध्रुवः सीद । हे स्त्रि यः प्रजापतिः पृथिव्याः पृष्ठे विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानाय ज्योतिष्मतीं विद्युतामिव त्वा सादयतु सा त्वं विश्वं ज्योतिर्देहि तस्मा एतं पतिं त्वं सादय ॥ २४ ॥

भावार्थः—ये स्त्रीपुरुषाः सत्संगविद्याऽभ्यासाभ्यां विद्युदादिपदार्थविद्यां वर्द्धयन्ते त एव सुखिनो भवन्ति । पतिः स्त्रियं सदा सत्कुर्यात् स्त्री पतिञ्च कुर्य्यात् । एवं परस्परं प्रीत्या सहैव सुखं भुञ्जाताम् ॥ २४ ॥

पदार्थः—जो (विराट्) अनेक प्रकार की विद्याओं में प्रकाशमान स्त्री (ज्योतिः) विद्या की उन्नति को (अधारयत्) धारण करे करावे जो (स्वराट्) सब धर्मयुक्त व्यवहारों में शुद्धाचारी पुरुष (ज्योतिः) बिजुली आदि के प्रकाश को (अधारयत्) धारण करे करावे वे दोनों स्त्री पुरुष संपूर्ण सुखों को प्राप्त होवें । हे स्त्रि जो (अग्निः) अग्नि के समान तेजस्वी विज्ञानयुक्त (ते) तेरा (अधिपतिः) स्वामी है (तया) उस (देवतया) सुन्दर देवस्वरूप पति के साथ तू (अङ्गिरस्वत्) सूत्रात्मा वायु के समान (ध्रुवा) दृढ़ता से (सीद) हो । हे पुरुष, जो अग्नि के समान तेजधारिणी तेरी रक्षा को करने हारी स्त्री है उस देवी के साथ तू प्राणों के समान प्रीतिपूर्वक निश्चय करके स्थित हो । हे स्त्रि (प्रजापतिः) प्रजा का रक्षक तेरा पति (पृथिव्याः) भूमि के (पृष्ठे) ऊपर (विश्वस्मै) सब (प्राणाय) सुख की चेष्टा के हेतु (अपानाय) दुःख हटाने के साधन (व्यानाय) सब सुन्दर गुण कर्म और स्वभावों के प्रचार के हेतु प्राणविद्या के लिये जिस (ज्योतिष्मतीम्) प्रशंसित विद्या के ज्ञान से युक्त (त्वा) तुझ को (सादयतु) उत्तम अधिकार पर स्थापित करे सो तू (विश्वम्) समग्र (ज्योतिः) विज्ञान को (यच्छ) ग्रहण कर और इस विज्ञान की प्राप्ति के लिये अपने पति को स्थिर कर ॥ २४ ॥

भावार्थः—जो स्त्री पुरुष सत्संग और विद्या के अभ्यास से विद्युत् आदि पदार्थविद्या और प्रीति को नित्य बढ़ाते हैं वे इस संसार में सुख भोगते हैं । पति स्त्री का और स्त्री पति का सदा सत्कार करे इस प्रकार आपस में प्रीतिपूर्वक मिल के ही सुख भोगें ॥ २४ ॥

मधुश्चेत्यस्येन्द्राग्नी ऋषी । ऋतवो देवताः । पूर्वस्य भुरिगतिजगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥
ये अग्नय इत्युत्तरस्य भुरिग्ब्राह्मी बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

अथ वसन्तर्त्तुवर्णनमाह ॥

अब अगले मंत्र में वसन्त ऋतु का वर्णन किया है ॥

मधुश्च माधवश्च वासन्तिकावृतू अग्नेरन्तःश्लेषोऽसि कल्पेतां द्यावापृथिवी कल्पन्तामाप ओषधयः कल्पन्तामग्नयः पृथङ्मम ज्यैष्ठ्याय सव्रताः । ये अग्नयः समनसोऽन्तरा द्यावापृथिवी इमे वासन्तिकावृतू अभिकल्पमाना इन्द्रमिव देवा अभिसंविशन्तु तया देवतयाङ्गिरस्वद्ध्रुवे सीदतम् ॥ २५ ॥

मधुः । च । माधवः । च । वासन्तिकौ । ऋतू इत्यृतू । अग्नेः । अन्तःश्लेष इत्यन्तःऽश्लेषः । असि । कल्पेताम् । द्यावापृथिवी इति द्यावापृथिवी । कल्पन्ताम् । आपः । ओषधयः । कल्पन्ताम् । अग्नयः । पृथक् । मम । ज्यैष्ठ्याय । सव्रता इति सऽव्रताः । ये । अग्नयः । समनस इति सऽमनसः । अन्तरा । द्यावापृथिवी इति द्यावापृथिवी । इमे इतीमे । वासन्तिकौ । ऋतू इत्यृतू । अभिकल्पमाना इत्यभिऽकल्पमानाः । इन्द्रमिवेतीन्द्रम्ऽइव । देवाः । अभिसंविशन्त्वित्यभिऽसंविशन्तु । तया । देवतया । अङ्गिरस्वत् । ध्रुवे इति ध्रुवे । सीदतम् ॥ २५ ॥

पदार्थः—(मधुः) मधुररसुगन्धयुक्तश्चैत्रः (च) (माधवः) मधुरादिफलनिमित्तो वैशाखः (च) (वासन्तिकौ) वसन्तेभवौ (ऋतू) सर्वान् प्रापकौ (अग्नेः) उष्णत्वनिमित्तस्य (अन्त श्लेषः) आभ्यन्तरे सम्बन्धः (असि) भवति । अत्र व्यत्ययः (कल्पेताम्) समर्थयतः (द्यावापृथिवी) सूर्यभूमी (कल्पन्ताम्) समर्थयन्तु (आपः) जलानि (ओषधयः) यवादयः सोमादयश्च (कल्पन्ताम्) (अग्नयः) पावकाः (पृथक्) (मम) (ज्यैष्ठ्याय) ज्येष्ठे मासि भवाय व्यवहाराय मम वृद्धत्वाय वा (सव्रताः) व्रतैः सत्यैर्व्यवहारैः सह वर्त्तमानाः (ये) (अग्नयः) पावक इव कालविदो विद्वांसः (समनसः) (समानविज्ञानाः) (अन्तरा) मध्ये (द्यावापृथिवी) प्रकाशान्तरिक्षे (इमे) अस्मिन् (वासन्तिकौ) (ऋतू) (अभिकल्पमानाः) आभिमुख्येन समर्थयन्तः (इन्द्रमिव) यथा परमैश्वर्यम् (देवाः) (अभिसंविशन्तु) (तया) (देवतया) परमपूज्यया परमेश्वराख्यया (अङ्गिरस्वत्) प्राणवत् (ध्रुवे) निश्चिते दृढे (सीदतम्) भवेताम् । अत्र पुरुषव्यत्ययः ॥ २५ ॥

अन्वयः—यथा मम ज्यैष्ठ्याय यावग्नेरन्तः श्लेषोऽसि भवति तौ मधुश्च माधवश्च वासन्तिकौ सुखायर्तू कल्पेतां याभ्यां द्यावापृथिवी चापः कल्पन्ताम् पृथगोषधयः कल्पन्ताम् अग्नयश्च । हे सव्रताः समनसो देवा वासन्तिकावृतू येऽग्नान्तरामयश्च सन्ति तांश्चाभिकल्पमानाः सन्तो भवन्त इन्द्रमिवाभिसंविशन्तु यथेमे द्यावापृथिवी तया देवतया सहाङ्गिरस्वद् ध्रुवे वर्त्तेते तथा युवां स्त्रीपुरुषौ निश्चलौ सीदतम् ॥ २५ ॥

भावार्थः—हे मनुष्या यूयं यस्मिन् वसन्तर्तौ श्लेष्मोत्पद्यते यस्मिन् तीव्रप्रकाशः पृथिवी शुष्का आपो मध्यस्था ओषधयो नूतनपुष्पपत्रान्विता अग्निज्वाला इव भवन्ति तं युक्त्या सेवित्वा पुरुषार्थेन सर्वाणि सुखान्याप्नुत । यथा विद्वांसः परमप्रयत्नेनाग्न्यृतुसुखायैश्वर्यमुपयन्ति तथैव भवतध्वम् ॥ २५ ॥

पदार्थः—जैसे (मम) मेरे (ज्यैष्ठ्याय) ज्येष्ठ महीने में हुए व्यवहार वा मेरी श्रेष्ठता के लिये जो (अग्नेः) गरमी के निमित्त अग्नि के उत्पन्न होने

वाले जिन के (अन्तःश्लेषः) भीतर बहुत प्रकार के वायु का सम्बन्ध (असि) होता है वे (मधुः) मधुरसुगंधयुक्त चैत्र (च) और (माधवः) मधुर आदि गुण का निमित्त वैशाख (च) इन के सम्बन्धी पदार्थयुक्त (वासंतिकौ) वसन्त महीनों में हुए (ऋतू) सब को सुखप्राप्ति के साधन ऋतु सुख के लिये (कल्पेताम्) समर्थ होवे जिन चैत्र और वैशाख महीनों के आश्रय से (द्यावापृथिवी) सूर्य और भूमि (आपः) जल भी भोग में (कल्पन्ताम्) आनन्ददायक हों (पृथक्) भिन्न २ (ओषधयः) जौ आदि वा सोमलता आदि ओषधि और (अग्नयः) बिजुली आदि अग्नि भी (कल्पन्ताम्) कार्यसाधक हों हे (सव्रताः) निरन्तर वर्त्तमान सत्यभाषणादि व्रतों से युक्त (समनसः) विज्ञान वाले (देवाः) विद्वान् (ये) जो लोग (वासन्तिकौ) (ऋतू) वसन्तऋतु में हुए चैत्र वैशाख और पूर्वोक्त के (अन्तरा) बीच में हुए (अग्नयः) अग्नि हैं उन को (अभिकल्पमानाः) सन्मुख होकर कार्य में युक्त करते हुए आप लोग (इन्द्रमिव) जैसे उत्तम ऐश्वर्य्य प्राप्त हों वैसे (अभिसंविशन्तु) सब ओर से प्रवेश करो जैसे (इमे) ये (द्यावापृथिवी) प्रकाश और भूमि (तया) उस (देवतया) परमपूज्य परमेश्वररूप देवता के सामर्थ्य के साथ (अङ्गिरस्वत्) प्राण के समान (ध्रुवे) दृढ़ता से वर्त्तते हैं वैसे तुम दोनों स्त्री पुरुष सदा संयुक्त (सीदतम्) स्थिर रहो ॥ २५ ॥

भावार्थः—हे मनुष्यो तुम को चाहिये कि जिस वसन्त ऋतु में फल फूल उत्पन्न होता है और जिस में तीव्र प्रकाश रूखी पृथिवी जल मध्यम ओषधियां फल और फूलों से युक्त और अग्नि की ज्वाला भिन्न २ होती हैं उस को युक्तिपूर्वक सेवन कर पुरुषार्थ से सब सुखों को प्राप्त होओ जैसे विद्वान् लोग अत्यन्त प्रयत्न के साथ सब ऋतुओं में सुख के लिये सम्पत्ति को बढ़ाते हैं वैसा तुम भी प्रयत्न करो ॥ २५ ॥

अषाढासीत्यस्य सविता ऋषिः । यज्ञपतिर्देवता ।

निचृदनुष्टुप्छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनः सा कीदृशी भवेदित्याह ॥

फिर वह कैसी हो यह वि० ॥

अषाढाम्सि सहमाना सहस्वारातीः सहस्व पृतनायतः । सहस्रवीर्यासि सा माजिन्व ॥ २६ ॥

अषाढा । असि । सहमाना । सहस्व । अरातीः । सहस्व । पृतनायत इति पृतनाऽयतः । सहस्रवीर्येति सहस्रऽवीर्या । असि । सा । मा । जिन्व ॥ २६ ॥

पदार्थः—(अषाढा) शत्रुभिरसह्यमाना (असि) (सहमाना) पत्यादीन् सोढुमर्हा (सहस्व) (अरातीः) शत्रून् (सहस्व) (पृतनायतः) आत्मनः पृतनां सेनामिच्छतः (सहस्रवीर्या) असंख्यातपराक्रमा (असि) (सा) (मा) माम् (जिन्व) प्रीणीहि ॥ २६ ॥

अन्वयः—हे पत्नि या त्वमषाढासि सा त्वं सहमाना सती पत्नि मां सहस्व । या त्वं सहस्रवीर्याऽसि सा त्वं पृतनायतोऽरातीः सहस्व यथाहं त्वां प्रीणामि पतिं तथा मा च जिन्व ॥ २६ ॥

भावार्थः—या कृतदीर्घब्रह्मचर्य्यबलिष्ठा जितेन्द्रिया वसन्ताद्यृतुकृत्य विलक्षणापत्यपराक्रमाकारिणी शत्रुनिवारिकोत्तमपराक्रमा स्त्री नित्यं स्वस्वामिनं प्रीणाति तां पतिरपि नित्यमानन्दयेत् ॥ २६ ॥

पदार्थः—हे पत्नी जो तू (अषाढा) शत्रु के असहने योग्य (असि) है तू (सहमाना) पति आदि का सहन करती हुई अपने के उपदेश का (सहस्व) सहन कर जो तू (सहस्रवीर्या) असंख्यात प्रकार के पराक्रमों से युक्त (असि) है (सा) सो तू (पृतनायतः) अपने आप सेना से युद्ध की इच्छा करते हुए (अरातीः) शत्रुओं को (सहस्व) सहन कर और जैसे मैं तुझ को प्रसन्न रखता हूं वैसे (मा) मुझ पति को (जिन्व) तृप्त किया कर ॥ २६ ॥

भावार्थः—जो बहुत काल तक ब्रह्मचर्य्याश्रम से सेवन की हुई अत्यन्त बलवान् जितेन्द्रिय वसन्त आदि ऋतुओं के पृथक् २ काम जानने पति के अप-

साथ क्षमा और शत्रुओं का निवारण करने वाली उत्तम पराक्रम से युक्त की अपने स्वामि पति को तृप्त करती है उसी को पति भी नित्य आनन्दित करता ही है ॥ २६ ॥

मधुवाता इत्यस्य गोतम ऋषिः । विश्वेदेवा देवताः ।
निचृद्गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

अथ वसन्तर्त्तोर्गुणान्तराण्याह ॥
आगे के मंत्र में वसन्त ऋतु के अन्य गुणों का वर्णन किया है ॥

मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः ।
माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः ॥ २७ ॥

मधु । वाताः । ऋतायते । ऋतयत इत्यृतऽयते । मधु । क्षरन्ति । सिन्धवः । माध्वीः । नः । सन्तु । ओषधीः ॥ २७ ॥

पदार्थः—(मधु) मधुरं यथा स्यात्तथा (वाताः) वायवः (ऋतायते) ऋतमुदकमिवाचरन्ति । अत्र वचनव्यत्ययेन बहुवचनस्थाने एकवचनम् । ऋतमित्युदकनामसु पठितम् । निघं० १ । १२ । न छन्दस्यपुत्रस्येतीत्वाभावः । अन्येषामपीति दीर्घः (मधु) (क्षरन्ति) वर्षन्ति (सिन्धवः) नद्यः समुद्रा वा । सिन्धव इति नदीनाम० । निघं० १ । १३ । (माध्वीः) माध्व्यो मधुरगुणयुक्ताः । अत्र ऋत्व्यवास्त्व्य० इति मधुशब्दादण् यणादेशो निपातः (नः) अस्मभ्यम् (सन्तु) (ओषधीः) ओषधयः ॥ २७ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यथा वाता वसन्ते नो मधु ऋतायते सिन्धवो मधु क्षरन्ति ओषधीर्नो माध्वीः सन्तु तथा यूयमनुतिष्ठत ॥ २७ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—यदा वसन्त आगच्छति तदा पुष्पादिसुगन्धयुक्ता वायवादयः पदार्था भवन्ति तस्मिन् भ्रमणं पथ्यं वर्त्तत इति वेद्यम् ॥ २७ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो जैसे वसन्त ऋतु में (नः) हम लोगों के लिये (वाताः) वायु (मधु) मधुरता के साथ (ऋतायते) जल के समान चलते हैं (सिन्धवः) नदियां वा समुद्र (मधु) कोमलतापूर्वक (क्षरन्ति) वर्षते हैं और (ओषधीः) ओषधियां (माध्वीः) मधुर रस के गुणों से युक्त (सन्तु) होवें वैसा प्रयत्न हम किया करें ॥ २७ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में वाचकलु०—जब वसन्त ऋतु आता है तब पुष्प आदि के सुगन्धों से युक्त वायु आदि पदार्थ होते हैं उस ऋतु में घूमना डोलना पथ्य होता है ऐसा निश्चित जानना चाहिये ॥ २७ ॥

मधुनक्तमित्यस्य गोतम ऋषिः । विश्वेदेवा देवताः ।
गायत्रीछन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनः स एव विषय उपदिश्यते ॥
फिर भी वही विषय अगले मंत्र में कहा है ॥

मधु नक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिवꣳ रजः । मधु द्यौरस्तु नः पिता ॥ २८ ॥

मधु । नक्तम् । उत । उषसः । मधुमदिति मधुऽमत् । पार्थिवम् । रजः । मधु । द्यौः । अस्तु । नः । पिता ॥ २८ ॥

पदार्थः—(मधु) (नक्तम्) रात्रिः (उत) अपि (उषसः) प्रातर्मुखानि दिनानि (मधुमत्) मधुरगुणयुक्तम् (पार्थिवम्) पृथिव्या विकारः (रजः) द्व्यणुकादिरेणु (मधु) (द्यौः) प्रकाशः (अस्तु) (नः) अस्मभ्यम् (पिता) पालकः ॥ २८ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यथा वसन्ते नक्तं मधूताप्युषसो मधु पार्थिवं रजो मधुमद् द्यौर्मधु पिता नोऽस्तु तथा युष्मभ्येतं युक्त्या सेवध्वम् ॥ २८ ॥

भावार्थः— अत्र वाचकलु०– मासे वसन्ते पक्षिणोऽपि मधुरं स्वनन्ति हर्षिताः प्राणिनश्च जायन्ते ॥ २८ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो जैसे वसन्त ऋतु में (नक्तम्) रात्रि (मधु) कोमलता से युक्त (उत) और (उषसः) प्रातःकाल से लेकर दिन मधुर (पार्थिवम्) पृथिवी का (रजः) द्व्यणुक वा त्रसरेणु आदि (मधुमत्) मधुर गुणों से युक्त और (द्यौः) प्रकाश भी (मधु) मधुरतायुक्त (पिता) रक्षा करने हारे के समान समय (नः) हमारे लिये (अस्तु) होवे वैसे युक्ति से उस वसन्त ऋतु का सेवन तुम भी किया करो ॥ २८ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु०– जब वसन्त ऋतु आता है तब पक्षी भी कोमल मधुर २ शब्द बोलते और अन्य सब प्राणी आनन्दित होते हैं ॥२८॥

मधुमानित्यस्य गोतम ऋषिः । विश्वेदेवा देवताः । निचृद्गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

अथ वसन्ते जनैः किमाचरणीयमित्याह ॥

अब वसन्त ऋतु में मनुष्यों को कैसा आचरण करना चाहिये इस वि० ॥

मधु॑मान्नो॒ वन॒स्पति॒र्मधु॑माँ२॥ अस्तु॒ सूर्य्यः॑ । माध्वी॒र्गावो॑ भवन्तु नः ॥ २९ ॥

मधु॑मा॒निति॒ मधु॑ऽमान् । नः॒ । वन॒स्पतिः॑ । मधु॑मा॒निति॒ मधु॑ऽमान् । अ॒स्तु॒ । सूर्य्यः॑ । माध्वीः॑ । गावः॑ । भव॑न्तु । नः॒ ॥ २९ ॥

पदार्थः—(मधुमान्) प्रशस्ता मधवो गुणा विद्यन्ते यस्मिन् सः (नः) अस्मभ्यम् (वनस्पतिः) अश्वत्थादिः (मधुमान्) प्रशस्तो मधुः प्रतापो विद्यते यस्य सः (अस्तु) भवतु (सूर्य्यः) सविता (माध्वीः) मधुराः

गुणा विद्यन्ते यासु ताः (गावः) धेनव इव किरणाः (भवन्तु) (नः) अस्मभ्यम् ॥ २६ ॥

अन्वयः—हे विद्वांसो यथा वसन्ते नो वनस्पतिर्मधुमान् सूर्य्यश्च मधुमानस्तु । नो गावो माध्वीर्भवन्तु तथोपदिशत ॥ २६ ॥

भावार्थः—हे मनुष्या यूयं वसन्तमृतुं प्राप्य यादृग्द्रव्यहोमेन वनस्पत्यादयो मधुरादिगुणाः स्युः तादृशं यज्ञमाचरतेत्थं वासन्तिकं सुखं सर्वे यूयं प्राप्नुत ॥ २९ ॥

पदार्थः—हे विद्वान् लोगो जैसे वसन्त ऋतु में (नः) हमारे लिये (वनस्पतिः) पीपल आदि वनस्पति (मधुमान्) प्रशंसित कोमल गुणों वाले और (सूर्य्यः) सूर्य्य भी (मधुमान्) प्रशंसित कोमलतायुक्त (अस्तु) होवे और (नः) हमारे लिये (गावः) गौओं के समान (माध्वीः) कोमल गुणों वाली किरणें (भवन्तु) हों वैसा ही उपदेश करो ॥ २९ ॥

भावार्थः—हे मनुष्यो तुम लोग वसन्त ऋतु को प्राप्त होकर जिस प्रकार के पदार्थों के होम से वनस्पति आदि कोमल गुणयुक्त हों ऐसे यज्ञ का अनुष्ठान करो और इस प्रकार वसन्त ऋतु के सुख को सब जने तुम लोग प्राप्त होओ ॥ २६ ॥

अपामित्यस्य गोतमऋषिः । प्रजापतिर्देवता । आर्षीपङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर भी वही वि० ॥

अपां गर्भ्भन्त्सीद मा त्वा सूर्य्योऽभिताप्सी-न्माऽग्निर्वैश्वानरः । अच्छिन्नपत्राः प्रजा अनु-वीक्षस्वानु त्वा दिव्या वृष्टिः सचताम् ॥ ३० ॥

अपाम् । गम्भन् । सीद । मा । त्वा । सूर्य्यः । अभि । ताप्सीत् । मा । अग्निः । वैश्वानरः । अच्छिन्नपत्रा इत्यच्छिन्नऽपत्राः । प्रजा इति प्रऽजाः । अनुवीक्षस्वेत्यनुऽवीक्षस्व । अनु । त्वा । दिव्या । वृष्टिः । सचताम् ॥ ३० ॥

पदार्थः—(अपाम्) जलानाम् (गम्मन्) गमयति धारके मेघे। अत्र गमधातोरौणादिको बाहुलकाद् मनिः प्रत्ययः सप्तम्या लुक् च (सीद) आस्स्व (मा) (त्वा) (सूर्यः) मार्तण्डः (अभि) (ताप्सीत्) तपेत् (मा) (अग्निः) (वैश्वानरः) विश्वेषु नरेषु राजमानः (अच्छिन्नपत्राः) अच्छिन्नानि पत्राणि यासां ताः (प्रजाः) (अनुवीक्षस्व) आनुकूल्येन विशेषतः संप्रेक्षस्व (अनु) (त्वा) त्वाम् (दिव्या) शुद्धगुणसम्पन्ना (वृष्टिः) (सचताम्) समवैतु ॥ ३० ॥

अन्वयः—हे मनुष्य त्वं वसन्तेऽपां गम्भन्निव सीद यतः सूर्यस्त्वामाऽभिताप्सीत्। वैश्वानरोऽग्निस्त्वामाभिताप्सीदच्छिन्नपत्राः प्रजा अनु त्वा दिव्या वृष्टिः सचतां तथा त्वमनुवीक्षस्व ॥ ३० ॥

भावार्थः—वसन्तग्रीष्मयोर्मध्ये मनुष्या जलाशयस्थं शीतलं स्थानं संसेवन्ताम्। येन तापाऽभितप्ता न स्युः येन यज्ञेन पुष्कला वृष्टिः स्यात् प्रजानन्दश्च तं सेवध्वम् ॥ ३० ॥

पदार्थः—हे मनुष्य तू वसन्त ऋतु में (अपाम्) जलों के (गम्भन्) आधारकर्त्ता मेघ में (सीद) स्थिर हो जिस से (सूर्यः) सूर्य (त्वा) तुझको (मा) न (अभिताप्सीत्) तपावे (वैश्वानरः) सब मनुष्यों में प्रकाशमान (अग्निः) अग्नि बिजुली (त्वा) तुझको (मा) न (अभिताप्सीत्) तप्त करे (अच्छिन्नपत्राः) सुन्दर पूर्ण अवयवों वाली (प्रजाः) प्रजा (अनुत्वा) तेरे अनुकूल और (दिव्या) शुद्ध गुणों से युक्त (वृष्टिः) वर्षा (सचताम्) प्राप्त होवे वैसे (अनुवीक्षस्व) अनुकूलता से विशेष करके विचार कर ॥ ३० ॥

भावार्थः—मनुष्य, वसन्त और ग्रीष्म ऋतु के बीच जलाशयस्थ शीतल स्थान का सेवन करें जिससे गर्मी से दुःखित न हों और जिस यज्ञ से वर्षा भी ठीक २ हो और प्रजा आनन्दित हो उसका सेवन करें॥ ३०॥

त्रीन्त्समुद्रानित्यस्य गोतम ऋषिः। वरुणो देवता।
त्रिष्टुप्छन्दः। धैवतः स्वरः॥

अथ जनैस्तत्र सुखप्राप्तये किमाचरणीयमित्याह॥
अब मनुष्यों को उस वसन्त में सुखप्राप्ति के लिये क्या करना चाहिये
यह विषय अगले मन्त्र में कहा है॥

त्रीन्त्स॑मु॒द्रान्त्सम॑सृपत्स्व॒र्गान॒पां पति॑र्वृष॒भ इष्ट॑कानाम्। पुरी॑षं॒ वसा॑नः सुकृ॒तस्य॑ लो॒के तत्र॑ गच्छ॒ यत्र॒ पूर्वे॒ परे॑ताः॥ ३१॥

त्रीन्। स॒मु॒द्रान्। सम्। अ॒सृ॒प॒त्। स्व॒र्गानिति॑ स्वः॒ऽगान्। अ॒पाम्। पति॑ः। वृ॒ष॒भः। इष्ट॑कानाम्। पुरी॑षम्। वसा॑नः। सु॒कृ॒तस्येति॑ सुऽकृ॒तस्य॑। लो॒के। तत्र॑। ग॒च्छ॒। यत्र॑। पूर्वे॑। परे॑ता॒ इति॒ परा॑ऽइताः॥ ३१॥

पदार्थः—(त्रीन्) अधोमध्योर्ध्वस्थान् (समुद्रान्) समुद्द्रवन्ति पदार्था येषु तान् भूम्यन्तरिक्षद्युस्थानान् सपयान् (सम्) (असृपत्) सर्पति (स्वर्गान्) स्वः सुखं गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति येभ्यस्तान् (अपाम्) प्राणानाम् (पतिः) रक्षकः (वृषभः) वर्षकः श्रेष्ठो वा (इष्टकानाम्) इष्यन्ते संगम्यन्ते कामा यैः पदार्थैस्तेषाम् (पुरीषम्) पूर्णसुखकरमुदकम् (वसानः) वासयन् (सुकृतस्य) सुष्ठु कृतो धर्मो येन तस्य (लोके) द्रष्टव्ये स्थाने (तत्र) (गच्छ) धर्म्ये मार्गे (पूर्वे) प्राक्तना जनाः (परेताः) सुखं प्राप्ताः॥ ३१॥

अन्वयः—हे विद्वंस्त्वं यथाऽपाम्पतिर्वृषभः पुरीषं वसानः सलिष्टकानां त्रीन् समुद्राल्लोकान् स्वर्गान् समसृपत् । संसर्पति तथा सर्प यत्र सुकृतस्य लोके मार्गे पूर्वे परेतास्तत्र त्वमपि गच्छ ॥ ३१ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०-मनुष्यैर्धार्मिकाणां मार्गेण गच्छद्भिः शारीरिकवाचिकमानसानि त्रिविधानि सुखानि प्राप्तव्यानि । यत्र कामा मर्त्तस्युस्तत्र प्रयतितव्यं यथा वसन्तादय ऋतवः क्रमेण वर्त्तित्वा स्वानि स्वानि लिङ्गान्यभिपद्यन्ते तथर्त्वनुकूलान् व्यवहारान् कृत्वाऽऽनन्दयितव्यम् ॥ ३१ ॥

पदार्थः—हे विद्वान् पुरुष जैसे (अपाम्) प्राणों का (पतिः) रक्षक (वृषभः) वर्षा का हेतु (पुरीषम्) पूर्णसुखकारक जल को (वसानः) धारण करता हुआ सूर्य (इष्टकानाम्) कामनाओं की प्राप्ति के हेतु पदार्थों के आधाररूप (त्रीन्) ऊपर नीचे और मध्य में रहने वाले तीन प्रकार के (समुद्रान्) सब पदार्थों के स्थान भूत भविष्यत् और वर्त्तमान (स्वर्गान्) सुख प्राप्त कराने हारे लोकों को (समसृपत्) प्राप्त होता है वैसे आप भी प्राप्त हूजिये (यत्र) जिस धर्मयुक्त वसन्त के मार्ग में (सुकृतस्य) सुन्दर धर्म करने हारे पुरुष के (लोके) देखने योग्य स्थान वा मार्ग में (पूर्वे) प्राचीन लोग (परेताः) सुख को प्राप्त हुए (तत्र) उसी वसन्त के सेवनरूप मार्ग में आप भी (गच्छ) चलिये ॥ ३१ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु०-मनुष्यों को चाहिये कि धर्मात्माओं के मार्ग से चलते हुए शारीर वाचिक और मानस तीनों प्रकार के सुखों को प्राप्त होवें और जिस में कामना पूरी हो वैसा प्रयत्न करें । जैसे वसन्त आदि ऋतु अपने क्रम से वर्त्तते हुए अपने २ चिह्न प्राप्त करते हैं वैसे ऋतुओं के अनुकूल व्यवहार के आनन्द को प्राप्त होवें ॥ ३१ ॥

महीद्यौरित्यस्य गोतम ऋषिः । द्यावापृथिव्यौ देवते ।
निचृद् गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

मातापितृभ्यां स्वसंतानाः कथं शिक्षणीया इत्याह ॥

माता पिता अपने सन्तानों को कैसी शिक्षा करें इस वि० ॥

मही द्यौः पृथिवी च न इमं यज्ञं मिमिक्षताम्।
पिपृतां नो भरीमभिः ॥ ३२ ॥

मही । द्यौः । पृथिवी । च । नः । इमम् । यज्ञम् ।
मिमिक्षताम् । पिपृताम् । नः । भरीमभिरिति भरीमऽभिः ॥ ३२ ॥

पदार्थः—(मही) महती (द्यौः) सूर्यः (पृथिवी) भूमिः (च) (नः) अस्माकम् (इमम्) (यज्ञम्) सङ्गन्तव्यं गृहाश्रमव्यवहारम् (मिमिक्षताम्) सेक्तुमिच्छेताम् (पिपृताम्) पालयतम् (नः) अस्मान् (भरीमभिः) धारणपोषणाद्यैः कर्मभिः ॥ ३२ ॥

अन्वयः—हे मातापितरौ यथा मही द्यौः पृथिवी च सर्वं सिञ्चतः पालयतस्तथा युवां न इमं यज्ञं मिमिक्षतां भरीमभिर्नः पिपृताम् ॥ ३२ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—यथा भूमिसूर्यौ सर्वेषां धारणं प्रकाशं पालनञ्च कुरुतस्तथा मातापितरः स्वसन्तानेभ्योऽन्नं विद्यादानं सुशिक्षां च कृत्वा पूर्णान् विदुषः पुरुषार्थिनः संपादयेयुः ॥ ३२ ॥

पदार्थः—हे माता पिता जैसे (मही) बड़ा (द्यौः) सूर्य्यलोक (च) और (पृथिवी) भूमि सब संसार को सींचते और पालन करते हैं वैसे तुम दोनों (नः) हमारे (इमम्) इस (यज्ञम्) सेवने योग्य विद्याग्रहणरूप व्यवहार को (मिमिक्षताम्) सेचन अर्थात् पूर्ण होने की इच्छा करो और (भरीमभिः) धारण पोषण आदि कर्मों से (नः) हमारा (पिपृताम्) पालन करो ॥ ३२ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु०—जैसे वसन्त ऋतु में पृथिवी और सूर्य्य सब संसार का धारण प्रकाश और पालन करते हैं वैसे माता पिता को

चाहिये कि अपने सन्तानों के लिये वसन्तादि ऋतुओं में अन्न विद्यादान और अच्छी शिक्षा करके पूर्ण विद्वान् पुरुषार्थी करें ॥ ३२ ॥

विष्णोः कर्माणीत्यस्य गोतम ऋषिः । विष्णुर्देवता ।
निचृद्गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

विद्वद्वदितरैर्जनैराचरणीयमित्याह ॥

विद्वानों के तुल्य अन्य मनुष्यों को आचरण करना चाहिये इसी वि० ॥

विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे । इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥ ३३ ॥

विष्णोः । कर्माणि । पश्यत । यतः । व्रतानि । पस्पशे । इन्द्रस्य । युज्यः । सखा ॥ ३३ ॥

पदार्थः—(विष्णोः) व्यापकेश्वरस्य (कर्माणि) जगत्सृष्टिपालनप्रलयकरणन्यायादीनि (पश्यत) संप्रेक्षध्वम् (यतः) (व्रतानि) नियतानि सत्यभाषणादीनि (पस्पशे) स्पृशति (इन्द्रस्य) परमैश्वर्यमिच्छुकस्य जीवस्य पुरुषस्य (युज्यः) उपयुक्तानन्दप्रदः (सखा) मित्र इव वर्त्तमानः ॥ ३३ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या य इन्द्रस्य जीवस्य युज्यः सखाऽस्ति यतोऽयं विष्णोः कर्माणि व्रतानि च पस्पशे तस्मादेतस्यैतानि यूयमपि पश्यत ॥ ३३ ॥

भावार्थः—यथा परमेश्वरस्य सुहृदुपासको धार्मिको विद्वानस्य गुणकर्मस्वभावक्रमानुसाराणि सृष्टिक्रमाणि कुर्याज्जानीयात् तथैवेतरे मनुष्याः कुर्युर्जानीयुश्च ॥ ३३ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो जो (इन्द्रस्य) परमैश्वर्य्य की इच्छा करने हारे जीव का (युज्यः) उपासना करने योग्य (सखा) मित्र के समान वर्त्तमान है

(यतः) जिस के प्रताप से यह जीव (विष्णोः) व्यापक ईश्वर के (कर्माणि) जगत् की रचना पालन प्रलय करने और न्याय आदि कर्मों और (व्रतानि) सत्यभाषणादि नियमों को (पस्पशे) स्पर्श करता है इसलिये इस परमात्मा के इन कर्मों और व्रतों को तुम लोग भी (पश्यत) देखो धारण करो ॥ ३३ ॥

भावार्थः—जैसे परमेश्वर का मित्र उपासक धर्मात्मा विद्वान् पुरुष परमात्मा के गुण कर्म और स्वभावों के अनुसार सृष्टि के क्रमों के अनुकूल आचरण करे और जाने वैसे ही अन्य मनुष्य करें और जानें ॥ ३३ ॥

ध्रुवासीत्यस्य गोतम ऋषिः । जातवेदा देवता ।
भुरिक्त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

विद्वत्स्त्रीभिरप्युपदेष्टव्यमित्याह ॥
विद्वान् पुरुषों के समान विद्वान् स्त्रिया भी उपदेश करें यह वि० ॥

ध्रुवासि धुरुणेतो जज्ञे प्रथममेभ्यो योनिभ्यो अधि जातवेदाः । स गायत्र्या त्रिष्टुभानुष्टुभा च देवेभ्यो हव्यं वहतु प्रजानन् ॥ ३४ ॥

ध्रुवा । असि । धरुणा । इतः । जज्ञे । प्रथमम् । एभ्यः । योनिभ्य इति योनिऽभ्यः । अधि । जातवेदा इति जातऽवेदाः । सः । गायत्र्या । त्रिष्टुभा । त्रिस्तुभेति त्रिऽस्तुभा । अनुष्टुभा । अनुस्तुभेत्यनुऽस्तुभा । च । देवेभ्यः । हव्यम् । वहतु । प्रजानन्निति प्रऽजानन् ॥ ३४ ॥

पदार्थः—(ध्रुवा) (स्थिरा) (असि) (धरुणा) धर्त्री (इतः) कर्मणः (जज्ञे) प्रादुर्भवति (प्रथमम्) आदिमं कार्यम् (एभ्यः) (योनिभ्यः)

कारणेभ्यः (अधि) (जातवेदाः) यो जातेषु विद्यते सः (सः) (गायत्र्या) गायत्रीनिष्पादितया विद्यया (त्रिष्टुभा) (अनुष्टुभा) (च) (देवेभ्यः) दिव्यगुणेभ्यो विद्वद्भ्यो वा (हव्यम्) होतुमादातुमर्हं विज्ञानम् (वहतु) प्राप्नोतु (प्रजानन्) प्रकृष्टतया जानन् ॥ ३४ ॥

अन्वयः—हे स्त्रि यथा त्वं धरुणा ध्रुवासि यथेभ्यो योनिभ्यः स जातवेदाः प्रथममधिजज्ञे तथैतोऽधिजायस्व । यथा स तव पतिर्गायत्र्या त्रिष्टुभानुष्टुभा च प्रजानन् देवेभ्यो हव्यं वहतु तथैतया प्रजानन्ती ब्रह्मचारिणी कन्या भवन्तीभ्यः स्त्रीभ्यो विज्ञानं प्राप्नोतु ॥ ३४ ॥

भावार्थः—मनुष्या जगदीश्वरसृष्टिक्रमनिमित्तानि विदित्वा विद्वांसो भूत्वा यथा पुरुषेभ्यः शास्त्रोपदेशान् कुर्वन्ति तथैव स्त्रियोऽप्येतानि विदित्वा स्त्रीभ्यो वेदार्थनिष्कर्षोपदेशान् कुर्वन्तु ॥ ३४ ॥

पदार्थः—हे स्त्रि जैसे तू (धरुणा) शुभगुणों का धारण करने हारी (ध्रुवा) स्थिर (असि) है जैसे (एभ्यः) इन (योनिभ्यः) कारणों से (सः) वह (जातवेदाः) प्रसिद्ध पदार्थों में विद्यमान वायु (प्रथमम्) पहिले (अधिजज्ञे) अधिकता से प्रकट होता है वैसे (इतः) इस कर्म के अनुष्ठान से सर्वोपरि प्रसिद्ध हूजिये जैसे तेरा पति (गायत्र्या) गायत्री (त्रिष्टुभा) त्रिष्टुप् (च) और (अनुष्टुभा) अनुष्टुप् मन्त्र से सिद्ध हुई विद्या से (प्रजानन्) बुद्धिमान् होकर (देवेभ्यः) अच्छे गुण वा विद्वानों से (हव्यम्) देने लेने योग्य विज्ञान (वहतु) प्राप्त होवे वैसे इस क्रिया से बुद्धिमती होके आप स्त्री लोगों से ब्रह्मचारिणी कन्या विज्ञान को प्राप्त होवें ॥ ३४ ॥

भावार्थः—मनुष्य जगत में ईश्वर की सृष्टि के कामों के निमित्तों को जान विद्वान् होकर जैसे पुरुषों को शास्त्रों का उपदेश करते हैं वैसे ही स्त्रियों को भी चाहिये कि इन सृष्टिक्रम के निमित्तों को जान के स्त्रियों को वेदार्थसारोपदेशों को करें ॥ ३४ ॥

इषे राय इत्यस्य गोतम ऋषिः । जातवेदा देवता ।
निचृद्बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

अथ जायापती उद्वाहं कृत्वा कथं वर्तेयातामित्याह ॥

अब स्त्री पुरुष विवाह करके कैसे वर्ते इस वि० ॥

इषे राये रमस्व सहसे द्युम्न ऊर्जे अपत्याय । सम्राडसि स्वराडसि सारस्वतौ त्वोत्सौ प्रावताम् ॥ ३५ ॥

इषे । राये । रमस्व । सहसे । द्युम्ने । ऊर्जे । अपत्याय । सम्राडिति सम्ऽराट् । असि । स्वराडिति स्वऽराट् । असि । सारस्वतौ । त्वा । उत्सौ । प्र । अवताम् ॥ ३५ ॥

पदार्थः—(इषे) विज्ञानाय (राये) श्रिये (रमस्व) क्रीडस्व (सहसे) बलाय (द्युम्ने) यशसेऽन्नाय वा द्युम्नं द्योततेर्यशो वाऽन्नं वा । निरु० ५ । ५ । (ऊर्जे) पराक्रमाय (अपत्याय) संतानाय (सम्राट्) यः सम्यग्राजते सः (असि) (स्वराट्) या स्वयं राजते सा (असि) (सारस्वतौ) सरस्वत्यां वेदवाचि कुशलावुपदेशकोपदेष्टृयौ (त्वा) त्वाम् (उत्सौ) कूपोदकमिवाऽऽर्द्रीभूतौ (प्र) (अवताम्) रक्षणादिकं कुरुताम् ॥ ३५ ॥

अन्वयः—हे पुरुष यस्त्वं सम्राडसि हे स्त्रि या त्वं स्वराडसि स त्वं चेषे राये सहसे द्युम्न ऊर्जेऽपत्याय रमस्व । उत्साविव सारस्वतौ सन्तावेतानि प्रावतामिति त्वां पुरुषं स्त्रियं चोपदिशामि ॥ ३५ ॥

भावार्थः—कृतविवाहौ स्त्रीपुरुषौ परस्परं प्रीत्या विद्वांसौ सन्तौ यत्नेन पुरुषार्थेन श्रीमन्तौ सद्गुणौ परस्परस्य रक्षां कुर्वन्तौ धर्मेणापत्यान्युत्पादयन् संसारे नित्यं क्रीडेताम् ॥ ३५ ॥

पदार्थः—हे पुरुष जो तू (सम्राट्) विद्यादि शुभगुणों से स्वयं प्रकाशमान (असि) है । हे स्त्रि जो तू (स्वराट्) अपने आप विज्ञान सत्याचार से

शोभायमान (असि) है सो तुम दोनों (इषे) विज्ञान (राये) धन (महसे) बल (द्युम्ने) यश और अन्न (ऊर्जे) पराक्रम और (अपत्याय) सन्तानों की प्राप्ति के लिये (रमस्व) यत्न करो तथा (उत्सौ) कूपोदक के समान कोमलता को प्राप्त होकर (सारस्वतौ) वेदवाणी के उपदेश में कुशल होके तुम दोनों स्त्री पुरुष इन स्वशरीर और अन्नादि पदार्थों की (मावताम्) रक्षा आदि करो यह (इदा) तुम को उपदेश देता हूं ॥ ३५ ॥

भावार्थः—विवाह करके स्त्री पुरुष दोनों आपस में प्रीति के साथ विद्वान् होकर पुरुषार्थ से धनवान् श्रेष्ठगुणों से युक्त होके एक दूसरे की रक्षा करते हुए धर्म्मानुकूलता से वर्त्त के सन्तानों को उत्पन्न कर इस संसार में नित्य क्रीड़ा करें ॥ ३५ ॥

अग्ने युक्ष्वेत्यस्य भरद्वाज ऋषिः । अग्निर्देवता ।
निचृद्गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

अथ शत्रुविजयः कथं कर्त्तव्य इत्याह ॥
अब शत्रुओं को कैसे जीतना चाहिये यह वि० ॥

अग्ने युक्ष्वाहि ये तवाश्वासो देव साधवः । अरं वहन्ति मन्यवे ॥ ३६ ॥

अग्ने । युक्ष्व । हि । ये । तव । अश्वासः । देव । साधवः । अरम् । वहन्ति । मन्यवे ॥ ३६ ॥

पदार्थः—(अग्ने) विद्वन् (युक्ष्व) अत्र द्व्यचोऽतस्तिङ इति दीर्घः । विकरणस्य लुक् च (हि) खलु (तव) (अश्वासः) सुशिक्षितास्तुरङ्गाः (देव) दिव्यविद्यायुक्त (साधवः) अभीष्टं साध्नुवन्तः (अरम्) अलम् (वहन्ति) रथादीनि यानानि प्रापयन्ति (मन्यवे) शत्रूणामुपरि क्रोधाय ॥ ३६ ॥

अन्वयः—हे देवाऽग्ने ये तव साधवोऽश्वासो मन्यवेऽरं वहन्ति तान् हि त्वं युङ्क्ष्व ॥ ३६ ॥

भावार्थः—राजमनुष्यैर्वसन्ते प्रथममश्वान् सुशिक्ष्य सारथींश्च रथेषु नियोज्य शत्रुविजयाय गन्तव्यम् ॥ ३६ ॥

पदार्थः—हे (देव) श्रेष्ठविद्या वाले (अग्ने) तेजस्वी विद्वन् (ये) जो (तव) आपके (साधवः) अभीष्ट साधने वाले (अश्वासः) शिक्षित घोड़े (मन्यवे) शत्रुओं के ऊपर क्रोध के लिये (अरम्) सामर्थ्य के साथ (वहन्ति) रथ आदि यानों को पहुंचाते हैं उन को (हि) निश्चय कर के (युङ्क्ष्व) संयुक्त कीजिये ॥ ३६ ॥

भावार्थः—राजादि मनुष्यों को चाहिये कि वसन्त ऋतु में पहिले घोड़ों को शिक्षा दे और रथियों को रथों पर नियुक्त कर के शत्रुओं के जीतने के लिये यात्रा करें ॥ ३६ ॥

युक्ष्वा हीत्यस्य विरूप ऋषिः। अग्निर्देवता। निचृद्गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः॥

अथ राजपुरुषकृत्यमाह ॥

अब राजपुरुषों को क्या करना चाहिये यह वि० ॥

युक्ष्वा हि देवहूतमाँ२॥ अश्वाँ२॥ अग्ने रथीरिव। निहोता पूर्व्यः सदः ॥ ३७ ॥

युङ्क्ष्व। हि। देवहूतमानिति देवऽहूतमान्। अश्वान्। अग्ने। रथीरिवेति रथीःऽइव। नि। होता। पूर्व्यः। सदः ॥ ३७ ॥

पदार्थः—(युक्ष्व) अत्रापि दीर्घः (हि) किल (देवहूतमान्) देवैर्विद्वद्भिः स्पर्द्धितान् (अश्वान्) (अग्ने) (रथीरिव) यथा शत्रुभिः सह बहुरथादिसेनाङ्गवान् योद्धा युध्यति तथा (नि) नितराम् (होता) दाता (पूर्व्यः) पूर्वैर्विद्वद्भिः कृतशिक्षः (सदः) सीद । अत्र लङ्यडभावः ॥ ३७ ॥

अन्वयः—हे अग्ने पूर्व्यो होता त्वं देवहूतमानश्वान् रथीरिव युक्ष्व हि न्यायासने निषदः ॥ ३७ ॥

भावार्थः—सेनापत्यादिराजपुरुषैर्महारथिवदश्वादीनि सेनाङ्गानि कार्य्येषु संयोजनीयानि । सभापत्यादयो न्यायासने स्थित्वा धर्म्यं न्यायमाचरन्तु ॥ ३७ ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) विद्वान् पुरुष (पूर्व्यः) पूर्व विद्वानों से शिक्षा को प्राप्त (होता) दानशील आप (देवहूतमान्) विद्वानों से स्पर्द्धा वा शिक्षा किये (अश्वान्) घोड़ों को (रथीरिव) शत्रुओं के साथ बहुत रथादि सेना संयुक्त योद्धा के समान (युक्ष्व) युक्त कीजिये (हि) निश्चय करके न्यायासन पर (निषदः) निरन्तर स्थित हूजिये ॥ ३७ ॥

भावार्थः—सेनापति आदि राजपुरुषों को चाहिये कि बड़े सेना के संयुक्त रथ वाले के समान घोड़े आदि सेना के अवयवों को कार्यों में संयुक्त करें। और सभापति आदि को चाहिये कि न्यायासन पर बैठ कर धर्मयुक्त न्याय किया करें॥३७॥

सम्यक्स्रवन्तीत्यस्य विरूप ऋषिः । अग्निर्देवता ।
त्रिष्टुप्छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

मनुष्यैः किं भूत्वा वाग्धार्य्येत्याह ॥
मनुष्यों को कैसे होके वाणी धारण करनी चाहिये यह वि० ॥

सम्यक् स्रवन्ति सरितो न धेना अन्तर्हृदा मनसा पूयमानाः। घृतस्य धारा अभि चाकशीमि हिरण्ययो वेतसो मध्ये अग्नेः ॥ ३८ ॥

सम्यक् । स्रवन्ति । सरितः । न । धेनाः । अन्तः । हृदा । मनसा । पूयमानाः । घृतस्य । धाराः । अभि । चाकशीमि । हिरण्ययः । वेतसः । मध्ये । अग्नेः ॥ ३८ ॥

पदार्थः—(सम्यक्) (स्रवन्ति) गच्छन्ति (सरितः) नद्यः। सरित इति नदीनाम०। निघ० १ । १३ । (न) इव (धेनाः) वाचः । धेना इति वाङ्नाम०। निघं० १ । ११। (अन्तः) आभ्यन्तरे (हृदा) हृदयेन (मनसा) विज्ञानवता चित्तेन (पूयमानाः) पवित्राः (घृतस्य) उदकस्य (धाराः) (अभि) आभिमुख्ये (चाकशीमि) भृशं प्राप्नोमि (हिरण्ययः) यशस्वी (वेतसः) वेगवत्यः । अत्र वीधातोर्बाहुलकादौणादिकस्तसिः प्रत्ययः (मध्ये) (अग्नेः) विद्युतः ॥ ३८ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यथाऽग्नेर्मध्ये हिरण्यय इव वर्त्तमानोऽहं या घृतस्य वेतसो धाराः सरितो नान्तर्हृदा मनसा पूयमाना धेनाः सम्यक् स्रवन्ति ता अभिचाकशीमि तथा यूयमप्येताः प्राप्नुत ॥ ३८ ॥

भावार्थः—अत्रोपमालं०—मनुष्यैर्यथा सम विषमं चलन्त्यः शुद्धाः सत्यो नद्यः समुद्रं प्राप्य स्थिरत्वं प्राप्नुवन्ति तथैव विद्यासुशिक्षाधर्मैः पवित्रीभूता वाचो निश्चलाः प्राप्तव्याः प्रापयितव्याश्च ॥ ३८ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो जैसे (अग्नेः) बिजुली के (मध्ये) बीच में वर्त्तमान (हिरण्ययः) तेजोभाग के समान तेजस्वी कीर्त्ति चाहने और विद्या की इच्छा रखने वाला मैं जो (घृतस्य) जल की (वेतसः) वेगवाली (धाराः) प्रवाहरूप (सरितः) नदियों के (न) समान (अन्तः) भीतर (हृदा) अन्तःकरण के (मनसा) विज्ञान रूप वाले चित्त से (पूयमानाः) पवित्र हुई (धेनाः) वाणी (सम्यक्) अच्छे प्रकार (स्रवन्ति) चलती हैं उन को (अभिचाकशीमि) सन्मुख होकर सब के लिये शीघ्र प्रकाशित करता हूं वैसे तुम लोग भी इन वाणियों को प्राप्त होओ ॥ ३८ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में उपमालं०—मनुष्यों को योग्य है कि जैसे अधिक वा कम चलती शुद्ध हुई नदियां समुद्र को प्राप्त होकर स्थिर होती हैं

वैसेही विद्या शिक्षा और धर्म से पवित्र हुई निश्चल वाणी को प्राप्त होकर अन्यों को प्राप्त करावें ॥ ३८ ॥

ऋचे त्वेत्यस्य विरूपऋषिः । अग्निर्देवता । निचृद्बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

विद्वद्भ्य इतरैरपि विज्ञानं प्राप्यमित्याह ॥

विद्वानों से अन्य मनुष्यों को भी ज्ञान लेना चाहिये इस वि० ॥

ऋचे त्वा रुचे त्वा भासे त्वा ज्योतिषे त्वा । अभूदिदं विश्वस्य भुवनस्य वाजिनमग्नेर्वैश्वानरस्य च ॥ ३९ ॥

ऋचे । त्वा । रुचे । त्वा । भासे । त्वा । ज्योतिषे । त्वा । अभूत् । इदम् । विश्वस्य । भुवनस्य । वाजिनम् । अग्नेः । वैश्वानरस्य । च ॥ ३९ ॥

पदार्थः—(ऋचे) स्तुतये (त्वा) त्वाम् (रुचे) प्रीतये (त्वा) (भासे) विज्ञानाय (त्वा) (ज्योतिषे) न्यायप्रकाशाय (त्वा) (अभूत्) भवेत् (इदम्) (विश्वस्य) सर्वाधिकारस्य जगतः (वाजिनम्) वाजिनां विज्ञानवतामिदमवयवभूतं विज्ञानम् (अग्नेः) विद्युद्रूपस्य (वैश्वानरस्य) अखिलेषु नरेषु राजमानस्य (च) ॥ ३९ ॥

अन्वयः—हे विद्वन् यस्य तव विश्वस्य भुवनस्य वैश्वानरस्याग्नेश्च वाजिनमिदं विज्ञानमभूत् जातं तमृचे त्वा रुचे त्वा भासे त्वा ज्योतिषे त्वा वयमाश्रयेम ॥ ३९ ॥

भावार्थः—यस्य मनुष्यस्य सर्वेषां जगत्पदार्थानां यथार्थो बोधः स्यात्तमेव सेवित्वा पदार्थविज्ञानं सर्वैर्मनुष्यैः प्राप्तव्यम् ॥ ३९ ॥

पदार्थः—हे विद्वान् पुरुष जिस तुझ को (विश्वस्य) समस्त (भुवनस्य) संसार के सब पदार्थों (च) और (वैश्वानरस्य) संपूर्ण मनुष्यों में शोभायमान (अग्नेः) बिजुलीरूप (वाजिनम्) ज्ञानी लोगों का अवयवरूप (इदम्) यह विज्ञान (अमृत) प्रसिद्ध हुआ है उस (अर्चे) स्तुति के लिये (त्वा) तुझ को (दधे) प्रीति के वास्ते (त्वा) तुझ को (भासे) विज्ञान की प्राप्ति के अर्थ (त्वा) तुझ को और (ज्योतिषे) न्याय के प्रकाश के लिये भी (त्वा) तुझ को हम लोग आश्रय करते हैं ॥ ३९ ॥

भावार्थः—जिस मनुष्य को जगत् के पदार्थों का यथार्थ बोध होवे उसी के सेवन से सब मनुष्य पदार्थविद्या को प्राप्त होवें ॥ ३९ ॥

अग्निर्ज्योतिषेत्यस्य विरूप ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृदुष्णिक्छन्दः । ऋषभः स्वरः ॥

पुनः स एव विषय उपदिश्यते ॥
फिर भी उक्त विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

अ॒ग्निर्ज्योति॑षा॒ ज्योति॑ष्मान् रु॒क्मो वर्च॑सा॒ वर्च॑स्वान् । स॒ह॒स्र॒दा अ॑सि स॒हस्रा॑य त्वा ॥ ४० ॥

अ॒ग्निः । ज्योति॑षा । ज्योति॑ष्मान् । रु॒क्मः । वर्च॑सा । वर्च॑स्वान् । स॒ह॒स्र॒देति॑ सहस्र॒ऽदाः । अ॒सि॒ । स॒हस्रा॑य । त्वा॒ ॥ ४० ॥

पदार्थः—(अग्निः) पावक (ज्योतिषा) दीप्त्या (ज्योतिष्मान्) प्रशस्तप्रकाशयुक्त (रुक्मः) सुवर्णमिव (वर्चसा) विद्यादीप्त्या (वर्चस्वान्) विद्याविज्ञानवान् (सहस्रदाः) सहस्रमसंख्यं सुखं ददातीति (असि) (सहस्राय) अतुलविज्ञानाय (त्वा) त्वाम् ॥ ४० ॥

अन्वयः—हे विद्वन् यस्त्वं ज्योतिषा ज्योतिष्मानग्निरिव वर्चसा वर्चस्वान् रुक्म इव सहस्रदा असि तं त्वां सहस्राय वयं सत्कुर्याम् ॥ ४० ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—मनुष्यैर्योऽग्निसूर्यवद्विद्यया प्रकाशमानो विद्वान् भवेत् तस्मादधीत्य पुष्कला विद्याः स्वीकार्याः ॥ ४० ॥

पदार्थः—हे विद्वान् पुरुष जो आप (ज्योतिषा) विद्या के प्रकाश से (अग्निः) अग्नि के तुल्य (ज्योतिष्मान्) प्रशंसित प्रकाशयुक्त (वर्चसा) अपने तेज से (वर्चस्वान्) ज्ञान देने वाले और (रुक्मः) जैसे सुवर्ण सुख देवे वैसे असंख्य सुख के देने वाले (असि) हैं उन (त्वा) आप का (सहस्राय) असंख्य विज्ञान की प्राप्ति के लिये हम लोग सत्कार करें ॥ ४० ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु०—मनुष्यों को योग्य है कि जो अग्नि और सूर्य के समान विद्या से प्रकाशमान विद्वान् पुरुष हों उन से विद्या पढ़ के पूर्ण विद्या के ग्राहक होवें ॥ ४० ॥

आदित्यं गर्भमित्यस्य विरूप ऋषिः । अग्निर्देवता ।
त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनस्ते किं कुर्युरित्याह ॥
फिर वे विद्वान् स्त्री पुरुष क्या करें इस वि० ॥

आ॒दि॒त्यं गर्भं॒ पय॑सा॒ सम॑ङ्धि स॒हस्र॑स्य प्र॒ति॒मां वि॒श्वरू॑पम् । परि॑वृङ्धि॒ हर॑सा॒माभिम॑ꣳस्थाः श॒तायु॑षं कृणु॒हि ची॒यमा॑नः ॥ ४१ ॥

आ॒दि॒त्यम् । गर्भ॑म् । पय॑सा । सम् । अ॒ङ्धि॒ । स॒ह॑स्र॑स्य । प्र॒ति॒मामिति॑ प्र॒ति॒ऽमाम् । वि॒श्वरू॑प॒मिति॑ वि॒श्वऽरू॑

पभ्रम् । परि॑ । वृ॒ङ्धि॒ । हर॑सा । मा । अ॒भि । म॒ꣳस्थाः॒ ।
श॒तायु॑ष॒मिति॑ श॒तऽआ॑युषम् । कृ॒णु॒हि॒ । चीय॑मानः ॥ ४१ ॥

पदार्थः—(आदित्यम्) सूर्य्यम् (गर्भम्) स्तुतिविषयम् (पयसा) जलेनेव (सम्) (अङ्धि) शोधय (सहस्रस्य) असङ्ख्यपदार्थसमूहस्य (प्रतिमाम्) प्रतीयन्ते सर्वे पदार्था यया ताम् (विश्वरूपाम्) सर्वरूपवत्पदार्थदर्शिकाम् (परि) सर्वतः (वृङ्धि) वर्जय (हरसा) ज्वलितेन तेजसा। हर इति ज्वलतो नाम। निघं० १। १७। (मा) (अभि) (मंस्थाः) मन्येथाः (शतायुषम्) शतवर्षपरिमितजीवनम् (कृणुहि) (चीयमानः) वृध्यमानः ॥ ४१ ॥

अन्वयः—हे विद्वंस्त्वं यथा विद्युत्पयसा सहस्रस्य प्रतिमां विश्वरूपं गर्भमादित्यं धराति तथाऽन्तःकरणं समङ्धि। हरसा रोगान् परिवृङ्धि चीयमानः सन् शतायुषं तनयं कृणुहि कदाचिन्माऽभिमंस्थाः ॥ ४१ ॥

भावार्थः—हे स्त्रीपुरुषा यूयं सुगन्ध्यादिहोमेन सूर्यप्रकाशं जलं वायुञ्च शोधयित्वा अरोगा भूत्वा शतायुषस्तनयान् कुरुत। यथा विद्युन्निमित्तेन सूर्येण रूपवतां पदार्थानां दर्शनं परिमाणं च भवति तथा विद्यावन्त्यपत्यानि भवन्ति तस्मात् कदाचिद् भिमानिनो भूत्वा प्रमादेन विद्याया आयुषश्च विनाशं मा कुरुत ॥ ४१ ॥

पदार्थः—हे विद्वान् पुरुष आप जैसे बिजुली (पयसा) जल से (सहस्रस्य) असंख्य पदार्थों की (प्रतिमाम्) परिमाण करने हारे सूर्य के समान निश्चय करने हारी बुद्धि और (विश्वरूपम्) सब रूप विषय को दिखाने हारे (गर्भम्) स्तुति के योग्य (आदित्यम्) सूर्य्य को धारण करती है वैसे अन्तःकरण को (समङ्धि) अच्छे प्रकार शोधिये (हरसा) प्रज्वलित तेज से रोगों को (परि) सब ओर से (वृङ्धि) हटाइये और (चीयमानः) वृद्धि को प्राप्त होके (शतायुषम्) सौ वर्ष की अवस्था वाले सन्तान को (कृणुहि) कीजिये और कभी (मा) मत (अभिमंस्थाः) अभिमान कीजिये ॥ ४१ ॥

भावार्थः—हे स्त्री पुरुषो तुम लोग सुगन्धित पदार्थों के होम से सूर्य के प्रकाश जल और वायु को शुद्ध कर और रोगरहित होकर सौ वर्ष जीने वाले संतानों को उत्पन्न करो जैसे विद्युत् अग्नि से बनाये हुए सूर्य्य के रूप वाले पदार्थों का दर्शन और परिमाण होता है वैसे विद्या वाले सन्तान सुख दिखाने हारे होते हैं इस से कभी अभिमानी होके विषयासक्ति से विद्या और आयु का विनाश मत किया करो ॥ ४१ ॥

वातस्य जूतिमित्यस्य विरूप ऋषिः । अग्निर्देवता ।
निचृत्त्रिष्टुप्छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनस्तेन किं कार्य्यमित्याह ॥
फिर विद्वान् पुरुष को क्या करना चाहिये यह वि० ॥

वातस्य जूतिं वरुणस्य नाभिमश्वं जज्ञानꣳ सरिरस्य मध्ये । शिशुं नदीनाꣳ हरिमद्रिबुध्नमग्ने माहिꣳसीः परमे व्योमन् ॥ ४२ ॥

वातस्य । जूतिम् । वरुणस्य । नाभिम् । अश्वम् । जज्ञानम् । सरिरस्य । मध्ये । शिशुम् । नदीनाम् । हरिम् । अद्रिबुध्नमित्यद्रिबुध्नम् । अग्ने । मा । हिꣳसीः । परमे । व्योमन्निति विऽओमन् ॥ ४२ ॥

पदार्थः—(वातस्य) वायोः (जूतिम्) वेगम् (वरुणस्य) जलसमूहस्य (नाभिम्) बन्धनम् (अश्वम्) व्याप्तुं शीलम् (जज्ञानम्) प्रादुर्भूतम् (सरिरस्य) सलिलस्योदकस्य । सलिलमित्युदकना० १ । १२ । कपिलकादित्वाद्रेफः (मध्ये) (शिशुम्) बालकम् (नदीनाम्) (हरिम्) हरमाणम् (अद्रिबुध्नम्) मेघाकाशम् (अग्ने) पावकवद्वर्त्तमान (मा) (हिंसीः) (परमे) प्रकृष्टे व्योमन् (व्योम्नि) व्याप्ते आकाशे ॥ ४२ ॥

अन्वयः—हे अग्ने विद्वँस्त्वं परमे व्योमन् वातस्य मध्ये जूतिमश्वं सरिरस्य वरुणस्य नाभिं नदीनां जज्ञानं शिशुं बालमिव वर्त्तमानं हरिमद्रिबुध्नं मा हिंसीः ॥ ४२ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—मनुष्यैः प्रमादेनाऽऽकाशे वर्त्तमानं वायुवेगं वृष्टिप्रबन्धं मेघमहत्वा जीवनं वर्धनीयम् ॥ ४२ ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) तेजस्विन् विद्वान् आप (परमेव्योमन्) सर्वव्यापी उत्तम आकाश में (वातस्य) वायु के (मध्ये) मध्य में (जूतिम्) वेगरूप (अश्वम्) अश्व को (सरिरस्य) जलमय (वरुणस्य) उत्तम समुद्र के (नाभिम्) बन्धन को और (नदीनाम्) नदियों के प्रभाव से (जज्ञानम्) प्रकट हुए (शिशुम्) बालक के तुल्य वर्त्तमान (हरिम्) नीलवर्णयुक्त (अद्रिबुध्नम्) सूक्ष्म मेघ को (मा) मत (हिंसीः) नष्ट कीजिये ॥ ४२ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में वाचकलु०—मनुष्यों को चाहिये कि प्रमाद को छोड़ के आकाश में वर्त्तमान वायु के वेग और वर्षा के प्रबन्धरूप मेघ का विनाश न करके अपनी २ अवस्था को बढ़ावें ॥ ४२ ॥

अजस्रमित्यस्य विरूप ऋषिः । अग्निर्देवता ।
निचृत्त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनरयं किं कुर्य्यादित्याह ॥
फिर वह विद्वान् क्या करे यह वि० ॥

अजस्रमिन्दुमरुषं भुरण्युमग्निमीडे पूर्वचित्तिं नमोभिः । स पर्वभिर्ऋतुशः कल्पमानो गां मा हिंसीरदितिं विराजम् ॥ ४३ ॥

अजस्रम् । इन्दुम् । अरुषम् । भुरण्युम् । अग्निम् । ईडे । पूर्वचित्तिमिति पूर्वऽचित्तिम् । नमोभिरिति नमःऽभिः । सः ।

पर्वभिरिति पर्वऽभिः । ऋतुश इत्यृतुऽशः । कल्पमानः । गाम् । मा । हिंसीः । अदितिम् । विराजमिति विऽराजम् ॥ ४३ ॥

पदार्थः—(अजस्रम्) निरन्तरम् (इन्दुम्) जलम् (अरुषम्) (अश्वम्) (क्षुरण्युम्) पोषकम् । अत्र क्षुरणधातोर्युः प्रत्ययः (अग्निम्) विद्युतम् (ईडे) अध्यन्विच्छामि (पूर्वचित्तिम्) पूर्वा चितिश्चयनं यस्य तम् (नमोभिः) अन्नैः (सः) (पर्वभिः) पूर्णैः साधनाङ्गैः (ऋतुशः) बहूनृतून् (कल्पमानः) समर्थः सन् (गाम्) पृथिवीम् (मा) (हिंसीः) हिंस्याः (अदितिम्) अखण्डिताम् (विराजम्) विविधैः पदार्थैः राजमानाम् ॥ ४३ ॥

अन्वयः—हे विद्वन् यथाहं पर्वभिर्नमोभिः सह वर्त्तमानमिन्दुमरुषं क्षुरण्युं पूर्वचित्तिमग्निमजस्रमीडे तमृतुशः कल्पमानः सन्नदितिं विराजं गां न नाशयामि तथैव स त्वमेतमेनां च मा हिंसीः ॥ ४३ ॥

भावार्थः—मनुष्यैर्ऋत्वनुकूलतया क्रिययाऽग्निर्जलमन्नं च संसेव्य राजभूमिः सदैव रक्षणीया । यतः सर्वाणि सुखानि स्युः ॥ ४३ ॥

पदार्थः—हे विद्वान् पुरुष जैसे मैं (पर्वभिः) पूर्ण साधन युक्त (नमोभिः) अन्नों के साथ वर्त्तमान (इन्दुम्) जलरूप (अरुषम्) घोड़े के सदृश (क्षुरण्युम्) पोषण करने वाली (पूर्वचित्तिम्) प्रथम निर्मित (अग्निम्) बिजुली को (अजस्रम्) निरन्तर (ईडे) अधिकता से खोजता हूं उस को (ऋतुशः) प्रति ऋतु में (कल्पमानः) समर्थ होके करता हुआ (अदितिम्) अखण्डित (विराजम्) विविध प्रकार के पदार्थों से शोभायमान (गाम्) पृथिवी को नष्ट नहीं करता हूं वैसे ही (सः) सो आप इस अग्नि और इस पृथिवी को (मा) मत (हिंसीः) नष्ट कीजिये ॥ ४३ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को योग्य है कि ऋतुओं के अनुकूल क्रिया से अग्नि जल और अन्न का सेवन करके राज्य और पृथिवी की सदैव रक्षा करें जिस से सब सुख प्राप्त होवें ॥ ४३ ॥

वरूत्रीमित्यस्य विरूप ऋषिः । अग्निर्देवता ।
निचृत्त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनस्तेन किं न कार्य्यमित्याह ॥
फिर उस विद्वान् को क्या नहीं करना चाहिये यह वि० ॥

वरूत्रीं त्वष्टुर्वरुणस्य नाभिमविं जज्ञानाᳬं रजसः परस्मात् । महीᳬं साहस्रीमसुरस्य मायामग्ने माहिᳬंसीः परमे व्योमन् ॥ ४४ ॥

वरूत्रीम् । त्वष्टुः । वरुणस्य । नाभिम् । अविम् । जज्ञानाम् । रजसः । परस्मात् । महीम् । साहस्रीम् । असुरस्य । मायाम् । अग्ने । मा । हिᳬंसीः । परमे । व्योमन्निति विऽओमन् ॥ ४४ ॥

पदार्थः—(वरूत्रीम्) वरणीयां भूमिम् (त्वष्टुः) छेदकस्य सूर्य्यस्य (वरुणस्य) जलस्य (नाभिम्) बन्धिकाम् (अविम्) रक्षणादिनिमित्ताम् (जज्ञानाम्) प्रजाताम् (रजसः) लोकात् (परस्मात्) श्रेष्ठात् (महीम्) महतीं भूमिम् (साहस्रीम्) असंख्याताम् बहुफलप्रदाम् (असुरस्य) मेघस्य (मायाम्) प्रज्ञापिकां विद्युतम् (अग्ने) विद्वन् (मा) (हिंसीः) हिंस्याः (परमे) सर्वोत्कृष्टे (व्योमन्) आकाशवद् व्याप्ते प्रकाश्ये ॥ ४५ ॥

अन्वयः—हे अग्ने त्वं त्वष्टुर्वरूत्रीं वरुणस्य नाभिं परस्माद्रजसो जज्ञानामसुरस्य मायां साहस्रीमविं परमे व्योमन्वर्त्तमानां महीं माहिंसीः ॥ ४४ ॥

भावार्थः—सर्वैर्मनुष्यैर्येयं पृथिवी परस्मात्कारणाज्जाता सूर्य्याकर्षणसम्बन्धिनी जलाधारा मेघनिमित्ता बहुभूगोलाकाराऽसंख्यसुखप्रदा परमेश्वरेण निर्मिताऽस्ति सा गुणकर्मस्वभावतो विज्ञाय सुखाय सम्प्रयोक्तव्या ॥ ४४ ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) विद्वान् पुरुष आप (त्वष्टुः) छेदनकर्त्ता सूर्य्य के (वरूत्रीम्) ग्रहण करने योग्य (वरुणस्य) जल की (नाभिम्) रोकने हारी (परस्मात्) श्रेष्ठ (रजसः) लोक से (जज्ञानाम्) उत्पन्न हुई (असुरस्य) मेघ की (मायाम्) जताने वाली बिजुली को और (साहस्रीम्) असंख्य सुखोंसे युक्त बहुत फल देने हारी (अविम्) रक्षा आदि का निमित्त (परमे) सब से उत्तम (व्योमन्) आकाश के समान व्याप्त जगदीश्वरमें वर्त्तमान (मही्म्) विस्तारयुक्त पृथिवी को (मा) मत (हिंसीः) नष्ट कीजिये ॥ ४४ ॥

भावार्थः—सब मनुष्यों को चाहिये कि जो यह पृथिवी उत्तम कारण से उत्पन्न हुई सूर्य्य जिसका आकर्षणकर्त्ता जल का आधार मेघ का निमित्त असंख्य सुख देनेहारी परमेश्वर ने रची है इस को गुण कर्म और स्वभाव से जान के सुख के लिये उपयुक्त करें ॥ ४४ ॥

यो अग्निरित्यस्य विरूप ऋषिः । अग्निर्देवता ।
त्रिष्टुप्छन्दः । धैवतः स्वरः ॥
पुनरनेन किं कार्य्यमित्याह ॥
फिर इस विद्वान् को क्या करना चाहिये यह वि० ॥

यो अग्निरुग्नेरध्यजायत शोकात्पृथिव्या उत वा दिवस्परि । येन प्रजा विश्वकर्मा जजान तमग्ने हेडः परि ते वृणक्तु ॥ ४५ ॥

यः । अग्निः । अग्नेः । अधि । अजायत । शोकात् । पृथिव्याः । उत । वा । दिवः । परि । येन । प्रजाइति प्रऽजाः । विश्वकर्मेति विश्वऽकर्मा । जजान । तम् । अग्ने । हेडः । परि । ते । वृणक्तु ॥ ४५ ॥

पदार्थः—(यः) (अग्निः) चाक्षुषः (अग्नेः) विद्युदाख्यात् (अधि) (अजायत) जायते (शोकात्) शोषकात् (पृथिव्याः) (उत) (वा) (दिवः) सूर्यात् (परि) सर्वतः (येन) (प्रजाः) (विश्वकर्मा) विश्वानि कर्माणि यस्य सः (जजान) जनयति (तम्) (अग्ने) विद्वन् (हेडः) अनादरः (परि) (ते) तव (वृणक्तु) छिन्नो भवतु ॥ ४५ ॥

अन्वयः—हे अग्ने विद्वन् यः पृथिव्याः शोकादुत वा दिवोऽग्नेरग्निरध्यजायत । येन विश्वकर्मा प्रजाः परिजजान तं ते हेडः परिवृणक्तु ॥ ४५ ॥

भावार्थः—हे विद्वांसो यूयं योऽग्निः पृथिवीं भित्त्वोत्पद्यते यश्च सूर्यादेस्तथाऽऽदिनकारिणोऽग्नेः सर्वान् प्राणिनः पृथग्रक्षत । येनाग्निनेश्वरः सर्वान् रक्षति तद्विद्यां विजानीत ॥ ४५ ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) विद्वान् जन (यः) जो (पृथिव्याः) पृथिवी के (शोकात्) सुखाने हारे अग्नि (उत वा) अथवा (दिवः) सूर्य्य से (अग्नेः) बिजुलीरूप अग्नि से (अग्निः) प्रत्यक्ष अग्नि (अध्यजायत) उत्पन्न होता है (येन) जिस से (विश्वकर्मा) सब कर्मों का आधार ईश्वर (प्रजाः) प्रजाओं को (परि) सब ओर से (जजान) रचता है (तम्) उस अग्नि को (ते) तेरा (हेडः) क्रोध (परिवृणक्तु) सब प्रकार से छेदन करे ॥ ४५ ॥

भावार्थः—हे विद्वानो तुम लोग जो अग्नि पृथिवी को फोड़ के और जो सूर्य्य के प्रकाश से बिजुली निकलती है उस विघ्नकारी अग्नि से सब प्राणियों को रक्षित रक्खो और जिस अग्नि से ईश्वर सब की रक्षा करता है उस अग्नि की विद्या जानो ॥ ४५ ॥

चित्रं देवानामित्यस्य विरूप ऋषिः । सूर्यो देवता ।
निचृत्त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

अथेश्वरः कीदृशोऽस्तीत्याह ॥
अब ईश्वर कैसा है यह वि० ॥

चित्रं देवानामुद॑गादनी॑कं चक्षु॑र्मि॒त्रस्य॒ वरु॑ण॒स्या॒ग्नेः । आ प्रा॒ द्यावा॑ पृथि॒वी अ॒न्तरि॑क्ष॒ꣳ सूर्य्य॑ आ॒त्मा जग॑तस्त॒स्थुष॑श्च ॥ ४६ ॥

चि॒त्रम् । दे॒वाना॑म् । उत् । अ॒गा॒त् । अनी॑कम् । चक्षुः॑ । मि॒त्रस्य॑ । वरु॑णस्य । अ॒ग्नेः । आ । अ॒प्राः । द्यावा॑पृथि॒वी॒इति॒ द्यावा॑पृथि॒वी । अ॒न्तरि॑क्षम् । सूर्य्यः॑ । आ॒त्मा । जग॑तः । त॒स्थुषः॑ । च॒ ॥ ४६ ॥

पदार्थः—(चित्रम्) अद्भुतम् (देवानाम्) पृथिव्यादीनां मध्ये (उत्) (अगात्) उदितोऽस्ति (अनीकम्) सेनेव किरणसमूहम् (चक्षुः) दर्शकम् (मित्रस्य) प्राणस्य (वरुणस्य) उदानस्य (अग्नेः) प्रसिद्धस्य (आ) (अप्राः) व्याप्नोति (द्यावापृथिवी) प्रकाशाप्रकाशे जगती (अन्तरिक्षम्) आकाशम् (सूर्य्यः) सविता (आत्मा) सर्वस्यान्तर्यामी (जगतः) जङ्गमस्य (तस्थुषः) स्थावरस्य (च) ॥ ४६ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या भवन्तो यद् ब्रह्म देवानां चित्रमनीकं मित्रस्य वरुणस्याग्नेश्चक्षुः सूर्य इवोदगाज्जगतस्तस्थुषश्चात्मा सद् द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं चाप्रास्तज्जगन्निर्मातृ पातृ संहर्तृ व्यापकं सततमुपासीरन् ॥ ४६ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—न खल्विदं निष्कर्तृकमनधिष्ठातृकमनीश्वरं जगदस्ति । यद् ब्रह्म सर्वान्तर्यामि सर्वेषां जीवानां पापपुण्यफलदानव्यवस्थापकमनन्तज्ञानप्रकाशं वर्त्तते तदेवोपास्य धर्मार्थकाममोक्षफलानि मनुष्यैः प्राप्तव्यानि ॥ ४६ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो आप लोग जो जगदीश्वर (देवानाम्) पृथिवी आदि दिव्य पदार्थों के बीच (चित्रम्) आश्चर्य्यरूप (अनीकम्) सेना के समान

किरणों से युक्त (मित्रस्य) प्राण (वरुणस्य) उदान और (अग्नेः) प्रसिद्ध अग्नि के (चक्षुः) दिखाने वाले (सूर्य्यं) सूर्य्य के समान (उद्गात्) उदय को प्राप्त हो रहा है उस के समान (जगतः) चेतन (च) और (तस्थुषः) जड़ जगत् का (आत्मा) अन्तर्य्यामी हो के (द्यावापृथिवी) प्रकाश अप्रकाश-रूप जगत् और (अन्तरिक्षम्) आकाश को (आ) अच्छे प्रकार (अप्राः) व्याप्त हो रहा है उसी जगत् के रचने पालन करने और संहारप्रलय करने हारे व्यापक ब्रह्म की निरन्तर उपासना किया करो ॥ ४६ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु०-यह जगत् ऐसा नहीं कि जिस का कर्त्ता अधिष्ठाता वा ईश्वर कोई न होवे जो ईश्वर सब का अन्तर्य्यामी सब जीवों के पाप पुण्यों के फलों की व्यवस्था करने हारा और अनन्त ज्ञान का प्रकाश करने हारा है उसी की उपासना से धर्म्म अर्थ काम और मोक्ष के फलों को सब मनुष्य प्राप्त होवें ॥ ४६ ॥

इमं मेत्यस्य विरूप ऋषिः । अग्निर्देवता । विराड् ब्राह्मी पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

पुनर्मनुष्येण किं कार्य्यमित्याह ॥

फिर मनुष्यों को क्या करना चाहिये यह वि० ॥

इमं मा हिंꣳसीर्द्विपादं पशुꣳ सहस्राक्षो मेधाय चीयमानः । मयुं पशुं मेधमग्ने जुषस्व तेन चिन्वानस्तन्वो निषीद । मयुं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु ॥ ४७ ॥

इमम् । मा । हिꣳसीः । द्विपादमिति द्विऽपादम् । पशुम् । सहस्राक्ष इति सहस्रऽअक्षः । मेधाय । चीयमानः ।

मयुम् । पशुम् । मेधम् । अग्ने । जुषस्व । तेन । चिन्वानः । तन्वः । नि । सीद । मयुम् । ते । शुक् । ऋच्छतु । यम् । द्विष्मः । तम् । ते । शुक् । ऋच्छतु ॥ ४७ ॥

पदार्थः—(इमम्) (मा) (हिंसीः) हिंस्याः (द्विपादम्) मनुष्यादिकम् (पशुम्) चतुष्पादं गवादिकम् (सहस्राक्षः) असंख्यदर्शनः (मेधाय) सुखसंगमाय (चीयमानः) वर्धमानः (मयुम्) जाङ्गलम् (पशुम्) प्रसिद्धम् (मेधम्) पवित्रकारकम् (अग्ने) पावक इव मनुष्यजन्मप्राप्त (जुषस्व) प्रीणीहि (तेन) (चिन्वानः) वर्धमानः (तन्वः) शरीरस्य मध्ये पुष्टः सन् (नि) नितराम् (सीद) तिष्ठ (मयुम्) शल्यादिहिंसकं पशुम् (ते) तव (शुक्) शोकः भावे क्विप् (ऋच्छतु) प्राप्नोतु (यम्) शत्रुम् (द्विष्मः) अप्रीतयामः (तम्) (ते) तव सकाशात् (शुक्) शोकः (ऋच्छतु) ॥ ४७ ॥

अन्वयः—हे अग्ने पावक इव मनुष्य मेधाय चीयमानः सहस्राक्षस्त्वमिमं द्विपादं मेधं मयुं पशुं च मा हिंसीः तं पशुं जुषस्व तेन चिन्वानः सन् तन्वो मध्ये निषीद । इयं ते शुङ्मयुमृच्छतु । ते तव यं शत्रुं वयं द्विष्मस्तं शुगृच्छतु ॥ ४७ ॥

भावार्थः—केनापि मनुष्येणोपकारकाः पशवः कदाचिन्न हिंसनीयाः किन्त्वेतान् संपाल्यैतेभ्य उपकारं संगृह्य सर्वे मनुष्या आनन्दयितव्याः यैर्जाङ्गलैर्हिंसकैः पशुशस्यमनुष्याणां हानिः स्यात्ते तु राजपुरुषैर्हन्तव्या निरोद्धव्याश्च ॥ ४७ ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) मनुष्य के जन्म को प्राप्त हुए (मेधाय) सुख की प्राप्ति के लिये (चीयमानः) बढ़े हुए (सहस्राक्षः) हजारह प्रकार की दृष्टि वाले राजन् तू (इमम्) इस (द्विपादम्) दो पग वाले मनुष्यादि और (मेधम्) पवित्रकारक फलप्रद (मयुम्) जंगली (पशुम्) गवादि पशु जीव को (मा) मत (हिंसीः) मारा कर उस (पशुम्) पशु की (जुषस्व) सेवा कर (तेन)

उस पशु से (चिन्वानः) बढ़ता हुआ तू (तन्वः) शरीर में (निषीद) निरन्तर स्थिर हो यह (ते) तेरे से (शुक्) शोक (मयुम्) शस्यादिनाशक जंगली पशु को (ऋच्छतु) प्राप्त होवे (ते) तेरे (यम्) जिस शत्रु से हम लोग (द्विष्मः) द्वेष करें (तम्) उस को (शुक्) शोक (ऋच्छतु) प्राप्त होवे ॥४७॥

भावार्थः—कोई भी मनुष्य सब के उपकार करने हारे पशुओं को कभी न मारे किन्तु इन की अच्छे प्रकार रक्षा कर और इन से उपकार लेके सब मनुष्यों को आनन्द देवे जिन जंगली पशुओं से ग्राम के पशु खेती और मनुष्यों की हानि हो उन को राजपुरुष मारें और बंधन करें ॥ ४७ ॥

इमं मेत्यस्य विरूप ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृद्ब्राह्मी पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

पुनरयं मनुष्यः किं कुर्यादित्याह ॥
फिर यह मनुष्य क्या करे यह वि० ॥

इमं मा हिंसीरेकशफं पशुं कनिक्रदं वाजिनं वाजिनेषु । गौरमारण्यमनु ते दिशामि तेन चिन्वानस्तन्वो नि षीद । गौरं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु ॥ ४८ ॥

इमम् । मा । हिंसीः । एकशफमित्येकऽशफम् । पशुम् । कनिक्रदम् । वाजिनम् । वाजिनेषु । गौरम् । आरण्यम् । अनु । ते । दिशामि । तेन । चिन्वानः । तन्वः । नि । सीद । गौरम् । ते । शुक् । ऋच्छतु । यम् । द्विष्मः । तम् । ते । शुक् । ऋच्छतु ॥ ४८ ॥

पदार्थः—(इमम्) (मा) (हिंसीः) हिंस्याः (एकशफम्) एकखुरमश्वादिकम् (पशुम्) द्रष्टव्यम् (कनिक्रदम्) भृशं विकलं प्राप्तव्यम् (वाजिनम्) वेगवन्तम् (वाजिनेषु) वाजिनानां संग्रामाणामवयवेषु कर्मसु कार्यसिद्धिकरम् (गौरम्) गौरवर्णम् (आरण्यम्) अरण्ये भवम् (अनु) (ते) तुभ्यम् (दिशामि) उपदिशामि (तेन) (चिन्वानः) वर्द्धमानः (तन्वः) शरीरस्य मध्ये (नि) (सीद) (गौरम्) (ते) इत्यादि पूर्ववत् ॥ ४८ ॥

अन्वयः—हे मनुष्य त्वं वाजिनेष्विममेकशफं कनिक्रदं वाजिनं पशुं माहिंसीः । ईश्वरोऽहं ते तुभ्यं यमारण्यं गौरं पशुमनु दिशामि तेन चिन्वानः संस्तन्वो मध्ये निषीद । ते तव सकाशाद् गौरं शुगृच्छतु यं वयं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु ॥ ४८ ॥

भावार्थः—मनुष्यैरेकशफा अश्वादयः पशवः कदाचिन्नो हिंस्याः । न चोपकारका आरण्याः । येषां हननेन जगतो हानी रक्षणेनोपकारश्च भवति ते सदैव पालनीया हिंसकाश्च हन्तव्याः ॥ ४८ ॥

पदार्थः—हे राजन् तू (वाजिनेषु) संग्राम के कामों में (इमम्) इस (एकशफम्) एकखुरयुक्त (कनिक्रदम्) शीघ्र विकल अवस्था को प्राप्त हुए (वाजिनम्) वेगवाले (पशुम्) देखने योग्य घोड़े आदि पशु को (मा) (हिंसीः) मत मार मैं ईश्वर (ते) तेरे लिये (यम्) जिस (आरण्यम्) जङ्गली (गौरम्) गौरपशु की (दिशामि) शिक्षा करता हूं (तेन) उस के रक्षण से (चिन्वानः) वृद्धि को प्राप्त हुआ (तन्वः) शरीर में (निषीद) निरन्तर स्थिर हो (ते) तेरे से (गौरम्) श्वेत वर्ण वाले पशु के प्रति (शुक्) शोक (ऋच्छतु) प्राप्त होवे और (यम्) जिस शत्रु को हम लोग (द्विष्मः) द्वेष करें (तम्) उस को (ते) तुझ से (शुक्) शोक (ऋच्छतु) प्राप्त होवे ॥ ४८ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को उचित है कि एक खुर वाले घोड़े आदि पशुओं और उपकारक वन के पशुओं को भी कभी न मारें जिन के मारने से जगत् की

हानि और न मारने से सब का उपकार होता है उन का सदैव पालन पोषण करें और जो हानिकारक पशु हों उनको मारें ॥ ४८ ॥

इमꣳसाहस्रमित्यस्य विरूप ऋषिः । अग्निर्देवता ।
कृतिश्छन्दः । निषादः स्वरः ॥

पुनर्मनुष्यैः के पशवो नो हिंसनीया हिंसनीयाश्चेत्याह ॥
फिर मनुष्यों को कौन पशु न मारने और कौन मारने चाहियें यह ॥

इमꣳ साहस्रꣳ शतधारमुत्संꣳव्यच्यमानꣳ सरिरस्य मध्ये । घृतं दुहानामदितिं जनायाग्ने मा हिꣳसीः परमे व्योमन् । गवयमारण्यमनु ते दिशामि तेन चिन्वानस्तन्वो निषीद । गवयन्ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु ॥ ४९ ॥

इमम् । साहस्रम् । शतधारमिति शतऽधारम् । उत्सम् । व्यच्यमानमिति विऽअच्यमानम् । सरिरस्य । मध्ये । घृतम् । दुहानाम् । अदितिम् । जनाय । अग्ने । मा । हिꣳसीः । परमे । व्योमन्निति विऽओमन् । गवयम् । आरण्यम् । अनु । ते । दिशामि । तेन । चिन्वानः । तन्वः । नि । सीद । गवयम् । ते । शुक् । ऋच्छतु । यम् । द्विष्मः । तम् । ते । शुक् । ऋच्छतु ॥ ४९ ॥

पदार्थः—(इमम्) (साहस्रम्) सहस्रस्यासंख्यातानां सुखानामयं साधकस्तम् (शतधारम्) शतमसंख्याता दुग्धधारा यस्मात्तम् (उत्सम्)

कूपमिव पालकं गवादिकम् (व्यच्यमानम्) विविधप्रकारेण पालनीयम् (सरिरस्य) अन्तरिक्षस्य (मध्ये) (घृतम्) आज्यम् (दुहानाम्) प्रपूरयन्तीम् (अदितिम्) अखण्डनीयां गाम् (जनाय) मनुष्याद्याय प्राणिने (अग्ने) विवेकप्राप्तोपकारप्रकाशक राजन् (मा) (हिंसीः) (परमे) प्रकृष्टे (व्योमन्) व्योम्नि व्याप्तेऽन्तरिक्षे वर्त्तमानाम् (गवयम्) गोसदृशम् (आरण्यम्) (अनु) (ते) (दिशामि) (तेन) (चिन्वानः) वृद्धः सन् (तन्वः) (नि) (सीद) (गवयम्) (ते) (शुक्) शोकः (ऋच्छतु) (यम्) (द्विष्मः) (तम्) (ते) (शुक्) (ऋच्छतु) ॥४९॥

अन्वयः—हे अग्ने त्वं जनायेमं साहस्रं शतधारं व्यच्यमानमुत्समिव वीर्य्यसेचकं वृषभं घृतं दुहानामदितिं धेनुं च मा हिंसीस्ते तुभ्यमप्यारण्यं गवयमनुदिशामि तेन परमे व्योमन् सरिरस्य मध्ये चिन्वानः संस्तन्वो निषीद । तं गवयं ते शुगृच्छतु यन्ते शत्रुं वयं द्विष्मस्तमपि शुगृच्छतु शोकः प्राप्नोतु ॥ ४९ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—राजपुरुषा येभ्यो वृषादिभ्यः कृष्यादीनि कर्म्माणि भवन्ति । याभ्यो गवादिभ्यो दुग्धादिपदार्था जायन्ते यैः सर्वेषां रक्षणं भवति ते कदाचिन्नैव हिंसनीयाः य एतान् हिंस्युस्तेभ्यो राजादिन्यायेशा अतिप्रदण्डं दद्युर्येच जाङ्गला गवयादयो प्रजाहानिं कुर्युस्ते हन्तव्याः ॥४९॥

पदार्थः—हे (अग्ने) दया को प्राप्त हुए परोपकारक राजन् तू (जनाय) मनुष्यादि प्राणी के लिये (इमम्) इस (साहस्रम्) असंख्य सुखों का साधन (शतधारम्) असंख्य दूध की धाराओं के निमित्त (व्यच्यमानम्) अनेक प्रकार से पालन के योग्य (उत्सम्) कूप के समान रक्षा करने हारे वीर्य्यसेचक बैल और (घृतम्) घी को (दुहानाम्) पूर्ण करती हुई (अदितिम्) नहीं मारने योग्य गौ को (मा हिंसीः) मत मार और (ते) तेरे राज्य में जिस (आरण्यम्) वन में रहने वाले (गवयम्) गौ के समान नीलगाय से खेती की हानि होती हो तो उस को (अनुदिशामि) उपदेश करता हूं (तेन) उस के मारने से सुरक्षित अन्न से (परमे) उत्कृष्ट (व्योमन्) सर्वत्र व्यापक परमात्मा

और (परिरत्य) विस्तृत व्यापक आकाश के (मध्ये) मध्य में (चिन्वानः) वृद्धि को प्राप्त हुआ तू (तन्वः) शरीर मध्य में (निषीद) निवास कर (ते) तेरा (शुक्) शोक (तम्) उस (गवयम्) रोझ को (ऋच्छतु) प्राप्त होवे और (यम्) जिस (ते) तेरे शत्रु का (द्विष्मः) हम लोग द्वेष करें उस को भी (शुक्) शोक (ऋच्छतु) प्राप्त होवे ॥ ४९ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु०—हे राजपुरुषो तुम लोगों को चाहिये कि जिन बैल आदि पशुओं के प्रभाव से खेती आदि काम जिन गौ आदि से दूध घी आदि उत्तम पदार्थ होते हैं कि जिन के दूध आदि से सब प्रजा की रक्षा होती है उन को कभी मत मारो और जो जन इन उपकारक पशुओं को मारें उनको राजादि न्यायाधीश अत्यन्त दण्ड देवें और जो जंगल में रहने वाले नीलगाय आदि प्रजा की हानि करें वे मारने योग्य हैं ॥ ४९ ॥

इममूर्णायुमित्यस्य विरूप ऋषिः । अग्निर्देवता ।
कृतिश्छन्दः । निषादः स्वरः ॥

पुनः के पशवो न हिंस्या हिंस्याश्चेत्याह ॥
फिर किन पशुओं को न मारना और किन को मारना चाहिये यह० ॥

इममूर्णायुं वरुणस्य नाभिं त्वचं पशूनां द्विपदां चतुष्पदाम् । त्वष्टुः प्रजानां प्रथमं जनित्रमग्ने मा हिंसीः परमे व्योमन् । उष्ट्रमारण्यमनु ते दिशामि तेन चिन्वानस्तन्वो निषीद । उष्ट्रं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु ॥ ५० ॥

इमम् । ऊर्णायुम् । वरुणस्य । नाभिम् । त्वचम् । पशूनाम् । द्विपदामिति द्विऽपदाम् । चतुष्पदाम् । चतुःपदामिति

चतुःऽपदाम् । त्वष्टुः । प्रजानामिति प्रऽजानाम् । प्रथमम् । जनित्रम् । अग्ने । मा । हिंसीः । परमे । व्योमन्निति विऽओमन् । उष्ट्रम् । आरण्यम् । अनु । ते । दिशामि । तेन । चिन्वानः । तन्वः । नि । सीद । उष्ट्रम् । ते । शुक् । ऋच्छतु । यम् । द्विष्मः । तम् । ते । शुक् । ऋच्छतु ॥ ५० ॥

पदार्थः—(इमम्) (ऊर्णायुम्) अविम् (वरुणस्य) वरस्य प्राप्तव्यस्य सुखस्य (नाभिम्) निबन्धनम् (त्वचम्) (पशूनाम्) (द्विपदाम्) (चतुष्पदाम्) (त्वष्टुः) सुखप्रकाशकस्य (प्रजानाम्) (प्रथमम्) आदिमम् (जनित्रम्) उत्पत्तिनिमित्तम् (अग्ने) (मा) (हिंसीः) हिंस्याः (परमे) (व्योमन्) (उष्ट्रम्) (आरण्यम्) अरण्ये भवम् (अनु) (ते) (दिशामि) (तेन) (चिन्वानः) (तन्वः) (नि) (सीद) (उष्ट्रम्) इत्यादि पूर्ववत् ॥ ५० ॥

अन्वयः—हे अग्ने प्राप्तविद्य राजंस्त्वमिमं वरुणस्य नाभिं द्विपदां चतुष्पदां पशूनां त्वचं त्वष्टुः प्रजानां प्रथमं जनित्रं परमे व्योमन्वर्त्तमानमूर्णायुं मा हिंसीः । ते यं ग्राम्यहिंसकमारण्यमुष्ट्रं हन्तुमनुदिशामि तेन चिन्वानः संस्तन्वो मध्ये निषीद । ते शुगारण्यमुष्ट्रमृच्छतु यं ते द्वेष्टारं वयं द्विष्मस्तं शुगृच्छतु ॥ ५० ॥

भावार्थः—हे राजन् येषामव्यादीनां लोमानि त्वगपि मनुष्याणां सुखाय प्रभवति ये उष्ट्रा भारं वहन्तो मनुष्यान् सुखयन्ति तान् ये हन्तुमिच्छेयुस्ते जगत्पीडका विज्ञेयाः सम्यग् दण्डनीयाश्च ये चारण्या उष्ट्रा हानिकरास्तेऽपि दण्डनीयाः ॥ ५० ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) विद्या को प्राप्त हुए राजन् तू (वरुणस्य) प्राप्त होने योग्य श्रेष्ठ सुख के (नाभिम्) संयोग करने हारे (इमम्) इस (द्विपदाम्) दो पगवाले मनुष्य पक्षी आदि (चतुष्पदाम्) चार पगवाले (पशूनाम्) गाय

आदि पशुओं की (त्वचम्) चमड़े से ढांकने वाले और (त्वष्टुः) सुखप्रकाशक ईश्वर की (प्रजानाम्) प्रजाओं के (प्रथमम्) आदि (जनित्रम्) उत्पत्ति के निमित्त (परमे) उत्तम (व्योमन्) आकाश में वर्त्तमान (ऊर्णायुम्) भेड़ आदि को (मा हिंसीः) मत मार (ते) तेरे लिये मैं ईश्वर (यम्) जिस (आरण्यम्) वनैले (उष्ट्रम्) हिंसक ऊंट को (अनु दिशामि) बतलाता हूं (तेन) उस से सुरक्षित अन्नादि से (चिन्वानः) बढ़ता हुआ (तन्वः) शरीर में (निषीद) निवास कर । (ते) तेरा (शुक्) शोक , उस जंगली ऊंट को (ऋच्छतु) प्राप्त हो और जिस द्वेषीजन से हम लोग (द्विष्मः) अप्रीति करें (तम्) उस को (ते) तेरा (शुक्) शोक (ऋच्छतु) प्राप्त होवे ॥ ५० ॥

भावार्थः—हे राजन् जिन भेड़ आदि के रोम और त्वचा मनुष्यों के सुख के लिये होती हैं और जो ऊंट भार उठाते हुए मनुष्यों को सुख देते हैं उन को जो दुष्टजन मारा चाहें उन को संसार के दुःखदायी समझो और उनको अच्छे प्रकार दण्ड देना चाहिये ॥ ५० ॥

अज इत्यस्य विरूप ऋषिः । अग्निर्देवता ।
भुरिक्कृतिश्छन्दः । निषादः स्वरः ॥

पुनर्मनुष्यैः के पशवो न हन्तव्या के च हन्तव्या इत्याह ॥
फिर मनुष्यों को कौनसे पशु न मारने और कौनसे मारने चाहियें यह वि० ॥

अजो ह्यग्नेरजनिष्ट शोकात्सो अपश्यज्जनितारमग्रे । तेन देवा देवतामग्रमायँस्तेन रोहमायन्नुप मेध्यासः । शरभमारण्यमनु ते दिशामि तेन चिन्वानस्तन्वो निषीद । शरभं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु ॥ ५१ ॥

अजः । हि । अग्नेः । अजनिष्ट । शोकात् । सः । अपश्यत् । जनितारम् । अग्रे । तेन । देवाः । देवताम् । अग्रम् । आयन् । तेन । रोहम् । आयन् । उप । मेध्यासः । शरभम् । आरण्यम् । अनु । ते । दिशामि । तेन । चिन्वानः । तन्वः । नि । सीद । शरभम् । ते । शुक् । ऋच्छतु । यम् । द्विष्मः । तम् । ते । शुक् । ऋच्छतु ॥ ५१ ॥

पदार्थः—(अजः) छागः (हि) खलु (अग्नेः) पावकात् (अजनिष्ट) जायते (शोकात्) (सः) (अपश्यत्) पश्यति (जनितारम्) उत्पादकम् (अग्रे) (तेन) (देवाः) विद्वांसः (देवताम्) दिव्यगुणताम् (अग्रम्) उत्तमं सुखम् (आयन्) यन्ति प्राप्नुवन्ति (तेन) (रोहम्) प्रादुर्भावम् (आयन्) प्राप्नुवन्तु (उप) (मेध्यासः) पवित्राः सन्तः (शरभम्) शल्यकम् (आरण्यम्) जंगलोत्पन्नम् (अनु) (ते) (दिशामि) (तेन) (चिन्वानः) अग्रे पूर्ववत् ॥ ५१ ॥

अन्वयः—हे राजंस्त्वं यो ह्यजोऽजनिष्ट सोऽग्रे जनितारमपश्यत् । येन मेध्यासो देवा अग्रं देवतां सुखमुपायन् येन रोहमुपायन् तेनोत्तमगुणतामग्रं सुखं येन वृद्धिं च प्राप्नुहि यमारण्यं शरभं तेऽनुदिशामि तेन चिन्वानः संस्तन्वो निषीद तं ते शुगृच्छतु यं ते तवारिं वयं द्विष्मस्तं शोकादग्नेः शुगृच्छतु ॥ ५१ ॥

भावार्थः—राजजनैरजादीनहत्वा संरक्ष्यैते उपकाराय संयोजनीयाः । ये शुभपशुपक्षिहिंसका मनुष्यास्ते भृशं ताडनीयाः । यदि शल्यकी हानिकारिका स्यात्तर्हि सा प्रजापालनाय हन्तव्या ॥ ५१ ॥

पदार्थः—हे राजन् तू जो (हि) निश्चित (अजः) बकरा (अजनिष्ट) उत्पन्न होता है (सः) वह (अग्रे) प्रथम (जनितारम्) उत्पादक को (अपश्यन्) देखता है जिस से (मेध्यासः) पवित्र हुए (देवाः) विद्वान् (अग्रम्) उत्तम सुख और (देवताम्) दिव्यगुणों के (उपायन्) उपाय को प्राप्त होते हैं

और जिससे (रोहम्) वृद्धियुक्त प्रसिद्धि को (आयन्) प्राप्त होवें (तेन) उस से उत्तम गुणों उत्तम सुख तथा (तेन) उस से वृद्धि को प्राप्त हो जो (आरण्यम्) बनैली (शरभम्) सेही (ते) तेरी प्रजा को हानि देने वाली है उस को (अनुदिशामि) बतलाता हूं (तेन) उस से बचाए हुए पदार्थ से (चिन्वानः) बढ़ता हुआ (तन्वः) शरीर में (निषीद) निवास कर और (तम्) उस (शरभम्) शल्यकी को (ते) तेरा (शुक्) शोक (ऋच्छतु) प्राप्त हो और (ते) तेरे (यम्) जिस शत्रु को हम लोग (द्विष्मः) द्वेष करें उसको (शोकात्) शोकरूप (अग्नेः) अग्नि से (शुक्) शोक अर्थात् शोक से बढ़कर शोक अत्यन्तशोक (ऋच्छतु) प्राप्त होवे ॥ ५१ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को उचित है कि बकरे और मोर आदि श्रेष्ठ पक्षियों को न मारें और इनकी रक्षा कर के उपकार के लिये संयुक्त करें और जो अच्छे पशुओं और पक्षियों के मारने वाले हों उनको शीघ्र ताड़ना देवें हां जो खेती को उजाड़ने हारे स्याही आदि पशु हैं उन को प्रजा की रक्षा के लिये मारें ॥ ५१ ॥

त्वं यविष्ठेत्यस्योशना ऋषिः । अग्निर्देवता ।
निचृद्गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनः कीदृशा रक्ष्या हिंसनीयाश्चेत्याह ॥
फिर कैसे पशुओं की रक्षा करना और हनना चाहिये यह वि० ॥

त्वं यविष्ठ दाशुषो नॄँः पाहि शृणुधी गिरः ।
रक्षा तोकमुत त्मना ॥ ५२ ॥

त्वम् । यविष्ठ । दाशुषः । नॄन् । पाहि । शृणुधि । गिरः । रक्ष । तोकम् । उत । त्मना ॥ ५२ ॥

पदार्थः—(त्वम्) (यविष्ठ) अतिशयेन युवन् (दाशुषः) सुखदातॄन् (नॄन्) धर्मनेतॄन्मनुष्यान् । अत्र नॄन् पे इति रुरादेशः पूर्वस्यानुनासिकत्वं

च (पाहि) (शृणुधि) अत्र हेश्चर्यादेशोऽन्येषामपीति दीर्घः (गिरः) सत्या वाचः । अत्र द्व्यचोऽतस्तिङ इति दीर्घः (तोकम्) अपत्यम् (रक्ष) अपि (त्मना) आत्मना ॥ ५२ ॥

अन्वयः—हे यविष्ठ त्वं संरात्रिनैरेतैः पशुभिर्दाशुषो नॄन्पाहि । इमा गिरः शृणु धि त्मना मनुष्याणामुत पशूनां तोकं रक्ष ॥ ५२ ॥

भावार्थः—ये मनुष्या मनुष्यादिरक्षकान् पशून् वर्धयन्ते कृपामयो- पदेशान् शृण्वन्ति श्रावयन्ति त आत्मजं सुखं लभन्ते ॥ ५२ ॥

पदार्थः—हे (यविष्ठ) अत्यन्त युवा (त्वम्) तू रक्षा किये हुए इन पशुओं से (दाशुषः) सुखदाता (नॄन्) धर्मरक्षक मनुष्यों की (पाहि) रक्षा कर इन (गिरः) सत्य वाणियों को (शृणुधि) सुन और (त्मना) अपने आत्मा से मनुष्य (उत) और पशुओं के (तोकम्) बच्चों की (रक्ष) रक्षा कर ॥ ५२ ॥

भावार्थः—जो मनुष्य मनुष्यादि प्राणियों के रक्षक पशुओं को बढ़ाते हैं और कृपामय उपदेशों को सुनते सुनाते हैं वे आत्मज सुख को प्राप्त होते हैं ॥ ५२ ॥

अपां त्वेमन्नित्यस्योशना ऋषिः । आपो देवताः । पूर्वस्य ब्राह्मी पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः । सरिरेत्वेति मध्यस्य ब्राह्मी जगती छन्दः । निषादः स्वरः । गायत्रेणे- त्युत्तरस्य निचृद् ब्राह्मी पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

अथाध्येतृजनानध्यापकाः किमुपदिशेयुरित्याह ॥
अब पढ़ने वालों को पढ़ाने वाले क्या उपदेश करें यह विषय० ॥

अपां त्वेमन्त्सादयाम्यपां त्वोद्मन्त्सादयाम्य- पान्त्वा भस्मन्त्सादयाम्यपां त्वा ज्योतिषि साद-

याम्यपां त्वायने सादयाम्यर्णवे त्वा सदने सादयामि समुद्रे त्वा सदने सादयामि । सरिरे त्वा सदने सादयाम्यपां त्वा क्षये सादयाम्यपां त्वा सधिंषि सादयाम्यपां त्वा सदने सादयाम्यपां त्वा सधस्थे सादयाम्यपां त्वा योनौ सादयाम्यपां त्वा पुरीषे सादयाम्यपां त्वा पाथसि सादयामि गायत्रेण त्वा छन्दसा सादयामि त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा सादयामि जागतेन त्वा छन्दसा सादयाम्यानुष्टुभेन त्वा छन्दसा सादयामि पाङ्क्तेन त्वा छन्दसा सादयामि ॥ ५३ ॥

अपाम् । त्वा । एमन् । सादयामि । अपाम् । त्वा । ओद्मन् । सादयामि । अपाम् । त्वा । भस्मन् । सादयामि । अपाम् । त्वा । ज्योतिषि । सादयामि । अपाम् । त्वा । अयने । सादयामि । अर्णवे । त्वा । सदने । सादयामि । समुद्रे । त्वा । सदने । सादयामि । सरिरे । त्वा । सदने । सादयामि । अपाम् । त्वा । क्षये । सादयामि । अपाम् । त्वा । सधिंषि । सादयामि । अपाम् । त्वा । सदने । सादयामि । अपाम् । त्वा । सधस्थ इति सधऽस्थे । सादयामि । अपाम् । त्वा । योनौ । सादयामि । अपाम् । त्वा । पुरीषे । सादयामि ।

अपाम् । त्वा । पाथसि । सादयामि । गायत्रेण । त्वा ।
छन्दसा । सादयामि । त्रैष्टुभेन । त्रैस्तुभेनेति त्रैऽस्तुभेन ।
त्वा । छन्दसा । सादयामि । जागतेन । त्वा । छन्दसा ।
सादयामि । आनुष्टुभेन । आनुस्तुभेनेत्यानुऽस्तुभेन ।
त्वा । छन्दसा । सादयामि । पाङ्क्तेन । त्वा । छन्दसा ।
सादयामि ॥ ५३ ॥

पदार्थः—(अपाम्) प्राणानां रक्षके (त्वा) त्वाम् (एमन्) एति गच्छति यस्मिन् वायौ (सादयामि) स्थापयामि (अपाम्) जलानाम् (त्वा) (ओद्मन्) ओषधिषु (सादयामि) (अपाम्) प्राप्तानां काष्ठादीनाम् (त्वा) (भस्मन्) भस्मन्यग्नौ । अत्र सर्वत्र सप्तमीलुक् (सादयामि) (अपाम्) व्याप्नुवतां विद्युदादीनाम् (त्वा) (ज्योतिषि) विद्युति (सादयामि) (अपाम्) अन्तरिक्षस्य (त्वा) (अयने) भूमौ (सादयामि) (अर्णवे) प्राणे (त्वा) (सदने) स्थातव्ये (सादयामि) (समुद्रे) मनसि (त्वा) (सदने) गन्तव्ये (सादयामि) शरीरे वाचि (त्वा) (सदने) प्राप्तव्ये (सादयामि) (अपाम्) प्राप्तव्यानां पदार्थानाम् (त्वा) (क्षये) चक्षुषि (सादयामि) (अपाम्) (त्वा) (सधिषि) समानान् शब्दान् शृणोति येन तस्मिन् श्रोत्रे (सादयामि) (अपाम्) (त्वा) (सदने) दिवि (सादयामि) (अपाम्) (त्वा) (सधस्थे) अन्तरिक्षे (सादयामि) (अपाम्) (त्वा) (योनौ) समुद्रे (सादयामि) (अपाम्) (त्वा) (पुरीषे) सिकतासु (सादयामि) (अपाम्) (त्वा) (पाथसि) अन्ने (सादयामि) (गायत्रेण) गायत्रीनिर्मितेन (त्वा) (छन्दसा) स्वच्छेनार्थेन (सादयामि) (त्रैष्टुभेन) त्रिष्टुप्प्रोक्तेन (त्वा) (छन्दसा) (सादयामि) (जागतेन) जगत्युक्तेन (त्वा) (छन्दसा) (सादयामि) (आनुष्टुभेन) अनुष्टुप्प्रकाशितेन (त्वा) (छन्दसा) (सादयामि) (पाङ्क्तेन) पङ्क्तिप्रकाशितेन (त्वा) (छन्दसा) (सादयामि) संस्थापयामि ॥ ५३ ॥

अन्वयः—हे मनुष्य ! यथा शिक्षकोऽहमपामेमंस्त्वा सादयाम्यपामोद्मंस्त्वा सादयाम्यपां भस्मंस्त्वा सादयाम्यपां ज्योतिषि त्वा सादयाम्यपामयने त्वा सादयाम्यर्णवे सदने त्वा सादयामि समुद्रे सदने त्वा सादयामि सरिरे सदने त्वा सादयाम्यपां क्षये त्वा सादयाम्यपां सधिषि त्वा सादयाम्यपां सदने त्वा सादयाम्यपां सधस्थे त्वा सादयाम्यपां योनौ त्वा सादयाम्यपां पुरीषे त्वा सादयाम्यपां पाथसि त्वा सादयामि । गायत्रेण छन्दसा त्वा सादयामि त्रैष्टुभेन छन्दसा त्वा सादयामि जागतेन छन्दसा त्वा सादयाम्यानुष्टुभेन छन्दसा त्वा सादयामि पाङ्क्तेन छन्दसा त्वा सादयामि तथैव वर्त्तस्व ॥ ५३ ॥

भावार्थः—विद्वद्भिः सर्वान् पुरुषाञ्छिष्यांश्च वेदानध्याप्य जगत्स्थानां वाय्वादिपदार्थानां विद्यासु निपुणीकृत्य तेभ्यः प्रयोजनसाधने प्रवर्त्तनीयाः ॥ ५३ ॥

पदार्थः—हे मनुष्य जैसे शिक्षा करने वाला मैं (अपाम्) प्राणों की रक्षा के निमित्त (एमन्) गमनशील वायु में (त्वा) तुझ को (सादयामि) स्थापित करता हूं (अपाम्) जलों की (ओद्मन्) आर्द्रतायुक्त ओषधियों में (त्वा) तुझ को (सादयामि) स्थापन करता हूं (अपाम्) प्राप्त हुए काष्ठों के (भस्मन्) राख में (त्वा) तुझ को (सादयामि) संयुक्त करता हूं (अपाम्) व्याप्त हुए बिजुली आदि अग्नि के (ज्योतिषि) प्रकाश में (त्वा) तुझ को (सादयामि) नियुक्त करता हूं (अपाम्) अवकाश वाले (अयने) स्थान में (त्वा) तुझ को (सादयामि) बैठाता हूं (सदने) स्थिति के योग्य (अर्णवे) प्राणविद्या में (त्वा) तुझ को (सादयामि) संयुक्त करता हूं (सदने) गमनशील (समुद्रे) मन के विषय में (त्वा) तुझ को (सादयामि) सम्बद्ध करता हूं (सदने) प्राप्त होने योग्य (सरिरे) वाणी के विषय में (त्वा) तुझ को (सादयामि) संयुक्त करता हूं (अपाम्) प्राप्त होने योग्य पदार्थों के सम्बन्धी (क्षये) घर में (त्वा) तुझ को (सादयामि) स्थापित करता हूं (अपाम्) अनेक प्रकार के व्याप्त शब्दों के संबन्धी (सधिषि) उस पदार्थ में कि जिससे अनेक शब्दों को समान यह जीव सुनता है अर्थात् कान के विषय में (त्वा) तुझ को (सादयामि) स्थित करता हूं (अपाम्) जलों के (सदने) अन्तरिक्षरूप स्थान में (त्वा) तुझ को (साद

यामि) स्थापित करता हूं (अपाम्) जलों के (सधस्थे) तुल्यस्थान में (त्वा) तुझ को (सादयामि) स्थापित करता हूं (अपाम्) जलों के (योनौ) समुद्र में (त्वा) तुझ को (सादयामि) नियुक्त करता हूं। (अपाम्) जलों की (पुरीषे) रेती में (त्वा) तुझ को (सादयामि) नियुक्त करता हूं (अपाम्) जलों के (पाथसि) अन्न में (त्वा) तुझ को (सादयामि) प्रेरणा करता हूं (गायत्रेण) गायत्री छन्द से निकले (छन्दसा) स्वतन्त्र अर्थ के साथ (त्वा) तुझ को (सादयामि) नियुक्त करता हूं (त्रैष्टुभेन) त्रिष्टुप् मन्त्र से विहित (छन्दसा) शुद्ध अर्थ के साथ (त्वा) तुझ को (सादयामि) नियुक्त करता हूं (जागतेन) जगती छन्द में कहे (छन्दसा) आनन्ददायक अर्थ के साथ (त्वा) तुझ को (सादयामि) नियुक्त करता हूं (आनुष्टुभेन) अनुष्टुप् मन्त्र में कहे (छन्दसा) शुद्ध अर्थ के साथ (त्वा) तुझ को (सादयामि) प्रेरणा करता हूं। और (पाङ्क्तेन) पङ्क्ति मन्त्र से प्रकाशित हुए (छन्दसा) निर्मल अर्थ के साथ (त्वा) तुझ को (सादयामि) प्रेरित करता हूं वैसे ही तू वर्त्तमान रह ॥ ५३ ॥

भावार्थः—विद्वानों को चाहिये कि सब पुरुषों को और सब स्त्रियों को वेद पढ़ा और जगत् के वायु आदि पदार्थों की विद्या में निपुण करके उन को उन पदार्थों से प्रयोजन साधने में प्रवृत्त करें ॥ ५३ ॥

अयं पुर इत्यस्योशना ऋषिः। प्राणा देवताः। स्वराड् ब्राह्मी जगती छन्दः। निषादः स्वरः ॥

अथ मनुष्यैः सृष्टेः सकाशात् के क उपकारा ग्राह्या इत्याह ॥

अब मनुष्यों को सृष्टि से कौन २ उपकार लेने चाहियें यह वि० ॥

अयं पुरो भुवस्तस्य प्राणो भौवायनो वसन्तः प्राणायनो गायत्री वासन्ती गायत्र्यै गायत्रं गायत्रादुपांशुरुपांशोस्त्रिवृत् त्रिवृतो रथन्तरं

वसिष्ठ ऋषिः । प्रजापतिगृहीतया त्वया प्राणं गृह्णामि प्रजाभ्यः ॥ ५४ ॥

अयम् । पुरः । भुवः । तस्य । प्राणः । भौवायन इति भौवऽआयनः । वसन्तः । प्राणायन इति प्राणऽआयनः । गायत्री । वासन्ती । गायत्र्यै । गायत्रम् । गायत्रात् । उपांशुरित्युपऽअंशुः । उपांशोरित्युपऽअंशोः । त्रिवृदिति त्रिऽवृत् । त्रिवृत इति त्रिऽवृतः । रथन्तरमिति रथम्ऽतरम् । वसिष्ठः । ऋषिः । प्रजापतिगृहीतयेति प्रजापतिऽगृहीतया । त्वया । प्राणम् । गृह्णामि । प्रजाभ्य इति प्रजाऽभ्यः ॥ ५४ ॥

पदार्थः—(अयम्) अग्निः (पुरः) पूर्वम् (भुवः) यो भवति सः (तस्य) (प्राणः) येन प्राणिति सः (भौवायनः) भुवेन सता रूपेण चारणेन निर्वृत्तः (वसन्तः) यः सुगन्धादिभिर्वासयति (प्राणायनः) प्राणा निर्वृत्ता यस्मात् (गायत्री) या गायन्तं त्रायते सा (वासन्ती) वसन्तस्य व्याख्यात्री (गायत्र्यै) गायत्र्याः । अत्र षष्ठ्यर्थे चतुर्थी (गायत्रम्) गायत्र्येव छन्दः (गायत्रात्) (उपांशु) उपगृहीता (उपांशोः) (त्रिवृत्) यस्त्रिभिः कर्मोपासनाज्ञानैर्वर्त्तते स (त्रिवृतः) (रथन्तरम्) यद्रथैः रमणीयैस्तारयति तत् (वसिष्ठः) अतिशयेन वासयिता (ऋषिः) प्रापको विद्वान् (प्रजापतिगृहीतया) प्रजापतिर्गृहीतो यया स्त्रिया तया (त्वया) (प्राणम्) बलयुक्तं जीवनम् (गृह्णामि) (प्रजाभ्यः) ॥ ५४ ॥

अन्वयः—हे स्त्रि यथाऽयं पुरो भुवोऽग्निस्तस्य भौवायनः प्राणः प्राणायनो वसन्तो वासन्ती गायत्री गायत्र्यै गायत्रं गायत्रादुपांशुरुपांशोस्त्रिवृत्त्रिवृतो रथन्तरं वसिष्ठ ऋषिश्च प्रजापतिगृहीतया त्वया सह प्रजाभ्यः प्राणं गृह्णामि तथा त्वया साकमहं प्रजाभ्यो यशं गृह्णामि ॥ ५४ ॥

भावार्थः—स्त्रीपुरुषा अग्न्यादिपदार्थानामुपयोगं कृत्वा परस्परं प्रीत्याऽतिविषयासक्तिं विहाय सर्वस्माज्जगतो बलं संगृह्य प्रजा उत्पाद्याः ॥ ५४ ॥

पदार्थः—हे स्त्रि जैसे (अयम्) यह (पुरो भुवः) प्रथम होने वाला अग्नि है (तस्य) उसका (भौवायनः) सिद्ध कारण से रचा हुआ (प्राणः) जीवन का हेतु प्राण (प्राणायनः) प्राणों की रचना का हेतु (वसन्तः) सुगन्धि आदि में बसाने हारा वसन्त ऋतु (वासन्ती) वसन्त ऋतु का जिस में व्याख्यान हो वह (गायत्री) गाते हुए का रक्षक गायत्रीमंत्रार्थ ईश्वर (गायत्र्यै) गायत्री मंत्र का (गायत्रम्) गायत्री छन्द (गायत्रात्) गायत्री से (उपांशुः) समीप से ग्रहण किया जाय (उपांशोः) उस जप से (त्रिवृत्) कर्म उपासना और ज्ञान के सहित वर्त्तमान फल (त्रिवृतः) उस तीन प्रकार के फल से (रथन्तरम्) रमणीय पदार्थों से तारने हारा सुख और (वसिष्ठः) अतिशय करके निवास का हेतु (ऋषिः) सुख प्राप्त कराने हारा विद्वान् (प्रजापतिगृहीतया) अपने सन्तानों के रक्षक पति को ग्रहण करने वाली (त्वया) तेरे साथ (प्रजाभ्यः) सन्तानोत्पत्ति के लिये (प्राणम्) बलयुक्त जीवन का ग्रहण करते हैं वैसे तेरे साथ मैं सन्तान होने के लिये बल को (गृह्णामि) ग्रहण करता हूं ॥ ५१ ॥

भावार्थः—हे स्त्री पुरुषो तुम को योग्य है कि अग्नि आदि पदार्थों को उपयोग में ला के परस्पर प्रीति के साथ अति विषयसेवा को छोड़ और सब संसार से बल का ग्रहण करके सन्तानों को उत्पन्न करो ॥ ५४ ॥

अयं दक्षिणेत्यस्योशना ऋषिः । प्रजापतिर्देवता ।
निचृद्ब्राह्मीधृतिश्छन्दः । षड्जः स्वरः ॥
अथ मनुष्यैर्ग्रीष्मर्त्तौ कथं वर्त्तितव्यमित्याह ॥
अब मनुष्यों को ग्रीष्म ऋतु में कैसे वर्त्तना चाहिये यह वि० ॥

अयं दक्षिणा विश्वकर्मा तस्य मनो वैश्वकर्मणं ग्रीष्मो मानसस्त्रिष्टुब् ग्रैष्मी त्रिष्टुभः स्वारम् ।

स्वारादन्तर्यामोऽन्तर्यामात्पञ्चदशः पञ्चदशाद्बृहद् भरद्वाज ऋषिः प्रजापतिगृहीतया त्वया मनो गृह्णामि प्रजाभ्यः ॥ ५५ ॥

अयम् । दक्षिणा । विश्वकर्मेति विश्वऽकर्मा । तस्य । मनः । वैश्वकर्मणमिति वैश्वऽकर्मणम् । ग्रीष्मः । मानसः । त्रिष्टुप् । त्रिस्तुबिति त्रिऽस्तुप् । ग्रैष्मी । त्रिष्टुभः । त्रिस्तुभ इति त्रिऽस्तुभः । स्वारम् । स्वारात् । अन्तर्याम इत्यन्तःऽयामः । अन्तर्यामादित्यन्तःऽयामात् । पञ्चदश इति पञ्चऽदशः । पञ्चदशादिति पञ्चऽदशात् । बृहत् । भरद्वाज इति भरत्ऽवाजः । ऋषिः । प्रजापतिगृहीतयेति प्रजापतिऽगृहीतया । त्वया । मनः । गृह्णामि । प्रजाभ्य इति प्रऽजाभ्यः ॥ ५५ ॥

पदार्थः—(अयम्) वायुः (दक्षिणा) दक्षिणतः (विश्वकर्मा) विश्वान्यखिलानि कर्माणि यस्मात्सः (तस्य) वायोः (मनः) मननशीलं प्रेरकं कर्म (वैश्वकर्मणम्) यस्माद्विश्वानि निर्वृत्तानि भवन्ति तत् (ग्रीष्मः) यो रसान् ग्रसते सः (मानसः) मनस ऊष्मेव वर्त्तमानः (त्रिष्टुप्) छन्दः (ग्रैष्मी) ग्रीष्मर्तुव्याख्याता व्याक् (त्रिष्टुभः) छन्दसः (स्वारम्) तापाज्जातं तेजः (स्वारात्) (अन्तर्यामः) अन्तर्मध्ये यामाः प्रहरा यस्मिन्त्समये सः (अन्तर्यामात्) (पञ्चदशः) पञ्चदशानां तिथीनां पूरकः (स्तोमः) (पञ्चदशात्) (बृहत्) महान् (भरद्वाजः) वाजोऽन्नं विज्ञानं वा बिभर्त्ति येन श्रोत्रेण तत् (ऋषिः) विज्ञापकः (प्रजापतिगृहीतया) (त्वया) (मनः) मननात्मकविज्ञानपूर्वकं चित्तम् (गृह्णामि) (प्रजाभ्यः) ॥ ५५ ॥

अन्वयः—हे स्त्रि यथा दक्षिणाऽयं विश्वकर्मा वायुरिवास्ति तस्य वैश्वकर्मणं मनो मानसो ग्रैष्मो ग्रैष्मी त्रिष्टुप् त्रिष्टुभः स्वारं स्वारादन्तर्यामोऽन्तर्यामात्पञ्चदशः पञ्चदशाद् बृहद्भरद्वाज ऋषिः प्रजापतिगृहीतया विद्यया सह राजा प्रजाभ्यो मनो गृह्णाति तथा त्वया साकमहं विश्वस्माद्विज्ञानं गृह्णामि ॥ ५५ ॥

भावार्थः—स्त्रीपुरुषैः प्राणस्य मनो नियन्तृ मनसश्च प्राणो नियन्तेति विदित्वा प्राणायामान्मनःशुद्धिं संपादयद्भिरखिलायाः सृष्टेः पदार्थविज्ञानं स्वीकार्यम् ॥ ५५ ॥

पदार्थः—हे स्त्रि जैसे (दक्षिणा) दक्षिण दिशा से (अयम्) यह (विश्वकर्मा) सब कर्मों का निमित्त वायु के समान विद्वान् चलता है (तस्य) उस वायु के योग से (वैश्वकर्मणम्) जिस से सब कर्म सिद्ध होते हैं वह (मनः) विचारस्वरूप प्रेरक मन (मानसः) मन की गर्मी से उत्पन्न के तुल्य (ग्रीष्मः) रसों का नाशक ग्रीष्म ऋतु (ग्रैष्मी) ग्रीष्म ऋतु के व्याख्यान वाला (त्रिष्टुप्) त्रिष्टुप् छन्द (त्रिष्टुभः) त्रिष्टुप् छन्द के (स्वारम्) ताप से हुआ तेज (स्वारात्) और तेज से (अन्तर्यामः) मध्याह्न के प्रहर में विशेष दिन और (अन्तर्यामात्) मध्याह्न के विशेष दिन से (पञ्चदशः) पन्द्रह तिथियों की पूरक स्तुति के योग्य पूर्णमासी (पञ्चदशात्) उस पूर्णमासी से (बृहत्) बड़ा (भरद्वाजः) अन्न वा विज्ञान की पुष्टि और धारण का निमित्त (ऋषिः) शब्द-ज्ञान प्राप्त कराने हारा कान (प्रजापतिगृहीतया) प्रजापालक पति राजा ने ग्रहण की विद्या से न्याय का ग्रहण करता है वैसे मैं (त्वया) तेरे साथ (प्रजाभ्यः) प्रजाओं के लिये (मनः) विचारस्वरूप विज्ञानयुक्त चित्त का ग्रहण विज्ञान का (गृह्णामि) ग्रहण करता हूं ॥ ५५ ॥

भावार्थः—स्त्री पुरुषों को चाहिये कि प्राण का मन और मन का प्राण नियम करने वाला है ऐसा जान के प्राणायाम से आत्मा को शुद्ध करते हुए पुरुषों से संपूर्ण सृष्टि के पदार्थों का विज्ञान स्वीकार करें ॥ ५५ ॥

अग्ने-पश्चादित्यस्योशना ऋषिः । प्रजापतिर्देवता ।
निचृद् धृतिश्छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

अथ स्त्रीपुरुषौ मिथः कथमाचरेतामित्याह ॥

अब स्त्रीपुरुष आपस में कैसा आचरण करें यह वि० ॥

अयं पश्चाद् विश्वव्यचास्तस्य चक्षुर्वैश्वव्यचसं वर्षाश्चाक्षुष्यो जगती वार्षी जगत्या ऋक्सममम्। ऋक्समाच्छुक्रः शुक्रात्सप्तदशः सप्तदशाद्वैरूपं जमदग्निर्ऋषिः प्रजापतिगृहीतया त्वया चक्षुर्गृह्णामि प्रजाभ्यः ॥ ५६ ॥

अयम् । पश्चात् । विश्वव्यचा इति विश्वऽव्यचाः । तस्य । चक्षुः । वैश्वव्यचसमिति वैश्वऽव्यचसम् । वर्षाः । चाक्षुष्याः । जगती । वार्षी । जगत्याः । ऋक्सममित्यृक्ऽसमम् । ऋक्समादित्यृक्ऽसमात् । शुक्रः । शुक्रात् । सप्तदश इति सप्तऽदशः । सप्तदशादिति सप्तऽदशात् । वैरूपम् । जमदग्निरिति जमत्ऽअग्निः । ऋषिः । प्रजापतिगृहीतयेति प्रजापतिऽगृहीतया । त्वया । चक्षुः । गृह्णामि । प्रजाभ्य इति प्रऽजाभ्यः ॥ ५६ ॥

पदार्थः—(अयम्) आदित्यः (पश्चात्) पश्चिमायां दिशि वर्त्तमानः (विश्वव्यचाः) विश्वं व्यचति प्रकाशेनाभिव्याप्य प्रकटयति सः (तस्य) सूर्यस्य (चक्षुः) नयनम् (वैश्वव्यचसम्) प्रकाशकम् (वर्षाः) याश्च मेघा वर्षन्ति ताः (चाक्षुष्याः) चक्षुष इमा दर्शनीयाः (जगती) जगद्वत् (वार्षी) वर्षाणां व्याख्यात्री (जगत्याः) (ऋक्समम्) ऋचः सन्ति संभजन्ति येन तत्साम (ऋक्समात्) (शुक्रः) पराक्रमः (शुक्रात्)

वीर्य्यात् (सप्तदश) सप्तदशानां पूरकः (सप्तदशात्) (वैरूपम्) विविधानि रूपाणि यस्मात्तत्स्वेदम् (जमदग्निः) प्रज्वलिताग्निनेयनम् (ऋषिः) रूप-मापकः (प्रजापतिगृहीतया) (त्वया) (चक्षुः) (गृह्णामि) (प्रजाभ्यः) ॥५६॥

अन्वयः—हे वरानने यथाऽयमादित्य इव विद्वान् विश्वव्यचाः सन् पश्चादादित्यस्तस्य वैश्वव्यचसं चक्षुश्चाक्षुष्यो वर्षा वार्षी जगती जगत्या ऋक्-सममृक्समाच्छुक्रः शुक्रात्सप्तदशः सप्तदशाद्वैरूपं यथा च जमदग्निर्ऋषिः प्रजापतिगृहीतया सह प्रजाभ्यश्चक्षुर्गृह्णाति तथाऽहं त्वया सार्कं संसाराद् बलं गृह्णामि ॥५६॥

भावार्थः—दम्पतिभ्यां सामवेदाध्ययनेन सूर्य्यादिप्रसिद्धं जगद्यतो विज्ञाय सर्वस्याः सृष्टेः सुदर्शनचरित्रे संग्राह्ये ॥ ५६ ॥

पदार्थः—हे उत्तम मुख वाली स्त्री जैसे (अयम्) यह सूर्य के समान विद्वान् (विश्वव्यचाः) सब संसार को चारों ओर के प्रकाश से व्यापक होकर प्रकट करता (पश्चात्) पश्चिम दिशा में वर्त्तमान (तस्य) उस सूर्य का (वै-श्वव्यचसम्) प्रकाशक किरणरूप (चक्षुः) नेत्र (चाक्षुष्यः) नेत्र से देखने योग्य (वर्षाः) जिस समय मेघ वर्षते हैं वह वर्षाऋतु (वार्षी) वर्षा ऋतु के व्याख्यान वाला (जगती) संसार में प्रसिद्ध जगती छन्द (जगत्याः) जगती छन्द से (ऋक्समम्) ऋचाओं के सेवन का हेतु विज्ञान (ऋक्समात्) उस विज्ञान से (शुक्रः) पराक्रम (शुक्रात्) पराक्रम से (सप्तदशः) सत्रह तत्वों का पूरक विज्ञान (सप्तदशात्) उस विज्ञान से (वैरूपम्) अनेक रूपों का हेतु जगत् का ज्ञान और जैसे (जमदग्निः) प्रकाशस्वरूप (ऋषिः) रूप का प्राप्त कराने हारा नेत्र (प्रजापतिगृहीतया) सन्तानरक्षक पति ने ग्रहण की हुई विद्यायुक्त स्त्री के साथ (प्रजाभ्यः) प्रजाओं के लिये (चक्षुः) विद्यारूपी नेत्रों का ग्रहण करता है वैसे मैं तेरे साथ संसार से बल का (गृह्णामि) ग्रहण करता हूं ॥ ५६ ॥

भावार्थः—स्त्री पुरुषों को चाहिये कि सामवेद के पढ़ने से सूर्य आदि प्रसिद्ध जगत् को स्वभाव से जान के सब सृष्टि के गुणों के दृष्टान्त से अच्छा देखें और चरित्र ग्रहण करें ॥ ५६ ॥

इदमुत्तरादित्यस्योशना ऋषिः । प्रजापतिर्देवता । स्वराड्ब्राह्मी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

अथ शरदृतौ कथं वर्त्तितव्यमित्याह ॥

अब शरद् ऋतु में कैसे वर्त्तें यह वि० ॥

इदमुत्तरात्स्वस्तस्य श्रोत्रꣳ सौवꣳ शरच्छ्रौ-
त्र्यनुष्टुप् शारद्यनुष्टुभ ऐडमैडान्मन्थी मन्थिन
एकविꣳश एकविꣳशाद्वैराजं विश्वामित्र
ऋषिः प्रजापतिगृहीतया त्वया श्रोत्रं गृह्णामि
प्रजाभ्यः ॥ ५७ ॥

इदम् । उत्तरात् । स्वरिति स्वः । तस्य । श्रोत्रम् । सौवम् । शरत् । श्रौत्री । अनुष्टुप् । अनुस्तुबित्यनुऽस्तुप् । शारदी । अनुष्टुभः । अनुस्तुभ इत्यनुऽस्तुभः । ऐडम् । ऐडात् । मन्थी । मन्थिनः । एकविꣳश इत्येकऽविꣳशः । एकविꣳशादित्येकऽविꣳशात् । वैराजम् । विश्वामित्रः । ऋषिः । प्रजापतिगृहीतयेति प्रजापतिऽगृहीतया । त्वया । श्रोत्रम् । गृह्णामि । प्रजाभ्य इति प्रऽजाभ्यः ॥ ५७ ॥

पदार्थः—(इदम्) (उत्तरात्) सर्वेभ्य उत्तरम् (स्वः) सुखसंपादकदिग्रूपम् (तस्य) (श्रोत्रम्) कर्णम् (सौवम्) स्वः सुखस्येदं साधनम् (शरत्) शृणाति येन सा (श्रौत्री) श्रोत्रस्येयं संबन्धिनी (अनुष्टुप्) (शारदी) शरदो व्याख्यात्री (अनुष्टुभः) (ऐडम्) इडाया वाचो व्याख्यात्री (साम) (ऐडात्) (मन्थी) पदार्थानां मन्थनसाधनः

(मन्थिनः) (एकविंशः) एकविंशतेर्विद्यानां पूरकः (एकविंशात्) (वैराजम्) विविधानां पदार्थानामिदं प्रकाशकम् (विश्वामित्रः) विश्वं मित्रं येन भवति सः (ऋषिः) शब्दज्ञापकः (प्रजापतिगृहीतया) (त्वया) (श्रोत्रम्) शृणोति येन तत् (गृह्णामि) (प्रजाभ्यः) प्रजाताभ्यो विद्युदादिभ्यः ॥ ५७ ॥

अन्वयः—हे सुभगे यथेदमुत्तरात्स्वस्तस्य सौवं श्रोत्रं श्रौत्री शरच्छारद्यनुष्टुबनुष्टुभ ऐडमैडान्मन्थी मन्थिन एकविंश एकविंशाद्वैराजं साम साम्नो विश्वामित्र ऋषिश्च प्रजाभ्यः श्रोत्रं गृह्णाति तथा प्रजापतिगृहीतया त्वया सहाहं प्रजाभ्यः श्रोत्रं गृह्णामि ॥ ५७ ॥

भावार्थः—ब्रह्मचर्येणाधीतविद्यौ कृतविवाहौ स्त्रीपुरुषौ बहुश्रुतौ भवेताम् । महाप्तानां सकाशाच्छ्रवणेन विना पठितापि विद्या फलवती जायते । तस्मात्सदा श्रुत्वा सत्यं धरेतामसत्यं त्यजेताम् ॥ ५७ ॥

पदार्थः—हे सौभाग्यवती जैसे (इदम्) यह (उत्तरात्) सब से उत्तर भाग में (स्वः) सुखों का साधन दिशारूप है (तस्य) उस के (सौवम्) सुख का साधन (श्रोत्रम्) कान (श्रौत्री) कान की सम्बन्धी (शरत्) शरदृतु (शारदी) शरद् ऋतु के व्याख्यान वाला (अनुष्टुप्) प्रबद्ध अर्थ वाला अनुष्टुप् छन्द (अनुष्टुभः) उस से (ऐडम्) वाणी के व्याख्यान से युक्त मन्त्र (ऐडात्) उस मन्त्र से (मन्थी) पदार्थों के मथने का साधन (मन्थिनः) उस साधन से (एकविंशः) इक्कीस विद्याओं का पूर्ण करने हारा सिद्धान्त (एकविंशात्) उस सिद्धान्त से (वैराजम्) विविध पदार्थों के प्रकाशक (साम) सामवेद के ज्ञान को प्राप्त हुआ (विश्वामित्रः) सब से मित्रता का हेतु (ऋषिः) शब्द ज्ञान कराने हारा कान और (प्रजाभ्यः) उत्पन्न हुई बिजुली आदि के लिये (श्रोत्रम्) सुनने के साधन को ग्रहण करते हैं वैसे (प्रजापतिगृहीतया) प्रजापालक पति ने ग्रहण की (त्वया) तेरे साथ में प्रसिद्ध हुई बिजुली आदि से (श्रोत्रम्) सुनने के साधन कान को (गृह्णामि) ग्रहण करता हूं ॥ ५७ ॥

भावार्थः—स्त्री पुरुषों को चाहिये कि ब्रह्मचर्य के साथ विद्या पढ़ और विवाह करके बहुश्रुत होवें । और सत्यवक्ता आप्त जनों से सुने विना पढ़ी हुई

भी विद्या फलदायक नहीं होती इसलिये सदैव सज्जनों का उपदेश सुन के सत्य का धारण और मिथ्या को छोड़ देवें ॥ ५७ ॥

इयमुपरीत्यस्योशना ऋषिः । प्रजापतिर्देवता ।
विराडाकृतिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

अथ हेमन्ते कथं वर्तितव्यमित्याह ॥
अब हेमन्त ऋतु में किस प्रकार वर्तें यह वि० ॥

इयमुपरि मतिस्तस्यै वाङ्माता हेमन्तो वाच्यः पङ्क्तिर्हैमन्ती पङ्क्त्यै निधनवन्निधनवत आग्रयणः । आग्रयणात्त्रिणवत्रयस्त्रिꣳशौ त्रिणवत्रयस्त्रिꣳशाभ्याꣳ शाक्वररैवते विश्वकर्मा ऋषिः प्रजापतिगृहीतया त्वया वाचं गृह्णामि प्रजाभ्यः ॥ ५८ ॥

इयम् । उपरि । मतिः । तस्यै । वाक् । माता । हेमन्तः । वाच्यः । पङ्क्तिः । हैमन्ती । पङ्क्त्यै । निधनवदिति निधनऽवत् । निधनवत इति निधनऽवतः । आग्रयणः । आग्रयणात् । त्रिणवत्रयस्त्रिꣳशौ । त्रिनवत्रयस्त्रिꣳशाविति त्रिनवत्रयस्त्रिꣳशौ । त्रिणवत्रयस्त्रिꣳशाभ्याम् । त्रिनवत्रयस्त्रिꣳशाभ्यामिति त्रिनवत्रयस्त्रिꣳशाभ्याम् । शाक्वररैवते इति शाक्वररैवते । विश्वकर्मेति विश्वऽकर्मा । ऋषिः ।

प्रजापतिगृहीतयेति प्रजापतिऽगृहीतया । त्वया । वाचम् । गृह्णामि । प्रजाभ्य इति प्रजाभ्यः ॥ ५८ ॥

पदार्थः—(इयम्) (उपरि) सर्वोपरि विराजमाना (मतिः) प्रज्ञा (तस्यै) तस्याः (वाक्) वक्ति यया सा । अत्र षष्ठ्यर्थे चतुर्थी (मात्या) मतेर्भावः कर्म वा (हेमन्तः) हन्त्युष्णतां येन सः । अत्र हन्तेर्हि मुट् च । उ० ३ । १ । २७ ॥ (वाच्यः) वाचो भावः कर्म वा (पङ्क्तिः) छन्दः (हैमवती) हेम्नो व्याख्यात्री (पङ्क्त्यै) पङ्क्त्याः (निधनवत्) निधनं प्रशस्तं मृत्युव्याख्यानं विद्यते यस्मिंस्तत्साम (निधनवतः) (आग्रयणः) अग्रं प्राप्नोति येन तस्यायम् (आग्रयणात्) (त्रिणवत्रयस्त्रिंशौ) त्रिणवं च त्रयस्त्रिंशं च ते साम्नी (त्रिणवत्रयस्त्रिंशाभ्याम्) (शाक्वररैवते) शक्तिधनप्रतिपादके (विश्वकर्मा) विश्वानि कर्माणि यस्य सः (ऋषिः) वेदार्थवेत्ता (प्रजापतिगृहीतया) (त्वया) (वाचम्) विद्यासुशिक्षान्वितां वाणीम् (गृह्णामि) प्रजाभ्यः ॥ ५८ ॥ अत्र लोकाम्ता इन्द्रमिति द्वादशाध्यायस्थानां त्रयाणां मन्त्राणां प्रतीकानि सूत्रव्याख्यानं दृष्ट्वा केनचिद्धृतानि शतपथेऽव्याख्यातत्वादत्र न गृह्यन्ते ॥ ५८ ॥

अन्वयः—हे विदुषि पत्नि य इयमुपरि मतिस्तस्यै मात्या वाग्वाच्यो हेमन्तो हैमन्ती पङ्क्तिः पङ्क्त्यै निधनवन्निधनवत आग्रयण आग्रयणात् त्रिणवत्रयस्त्रिंशौ त्रिणवत्रयस्त्रिंशाभ्यां शाक्वररैवते विदित्वा विश्वकर्मर्षिर्वर्त्तते तथाहं प्रजापतिगृहीतया त्वया सहाऽहं प्रजाभ्यो वाचं गृह्णामि ॥ ५८ ॥

भावार्थः—पतिपत्नीभ्यां विदुषां वाचं श्रुत्वा प्रज्ञा वर्द्धनीया तथा हेमन्तर्तुं कृत्यं सामानि च विदित्वा महर्षिवद्वर्त्तित्वा विद्यासुशिक्षासंस्कृतां वाचं स्वीकृत्य प्रजाभ्योऽप्येताः सदोपदेष्टव्येति ॥ ५८ ॥

अत्रेश्वरजायापतिव्यवहारस्य प्रतिपादनादेतदर्थस्य पूर्वाध्यायार्थेन सह सङ्गतिरस्तीति वेदितव्यम् ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्याणां परमविदुषां
श्रीमद्विरजानन्दसरस्वतीस्वामिनां शिष्येण
दयानन्दसरस्वतीविरचिते संस्कृताऽऽर्य-
भाषाभ्यां विभूषिते सुप्रमाणयुक्ते
यजुर्वेदभाष्ये त्रयोदशोऽध्यायः
पूर्त्तिमगात् ॥ १३ ॥

पदार्थः—हे विद्वान् को जो (इयम्) यह (उपरि) सब से ऊपर विराजमान (मतिः) बुद्धि है (तस्यै) उस (मात्या) बुद्धि का होना वा कर्म (वाक्) वाणी और (वाच्यः) उस का होना वा कर्म (हेमन्तः) गर्मी का नाशक हेमन्त ऋतु (हैमन्ती) हेमन्त ऋतु के व्याख्यान वाला (पङ्क्तिः) पङ्क्ति छन्द (पङ्क्त्यै) उस पङ्क्ति छन्द का (निधनवत्) मृत्यु का प्रशंसित व्याख्यान वाला सामवेद का भाग (निधनवतः) उससे (आग्रयणः) प्राप्ति का साधन ज्ञान का फल (आग्रयणात्) उससे (त्रिणवत्रयस्त्रिंशौ) बारह और तेंतीस सामवेद के स्तोत्र (त्रिणवत्रयस्त्रिंशाभ्याम्) उन स्तोत्रों से (शाक्वररैवते) शक्ति और धन के साधक पदार्थों को जान के (विश्वकर्मा) सब सुकर्मों के सेवने वाला (ऋषिः) वेदार्थ का वक्ता पुरुष वर्त्तता है वैसे मैं (प्रजापतिगृहीतया) प्रजापालक पति ने ग्रहण की (त्वया) तेरे साथ (प्रजाभ्यः) प्रजाओं के लिये (वाचम्) विद्या और अच्छी शिक्षा से युक्त वाणी को (गृह्णामि) ग्रहण करता हूं ॥ ५८ ॥

भावार्थः—स्त्रीपुरुषों को चाहिये कि विद्वानों की शिक्षारूप वाणी को सुन के अपनी बुद्धि बढ़ावें उस बुद्धि से हेमन्त ऋतु में कर्त्तव्य कर्म और सामवेद के स्तोत्रों को जान महात्मा ऋषि लोगों के समान वर्त्ताव कर विद्या और अच्छी शिक्षा से शुद्ध की वाणी का स्वीकार करके अपने सन्तानों के लिये भी इन वाणियों का उपदेश सदैव किया करें ॥ ५८ ॥

इस अध्याय में ईश्वर स्त्रीपुरुष और व्यवहार का वर्णन करने से इस अध्याय में कहे अर्थ की पूर्व अध्याय के अर्थ के साथ संगति जानो ॥

यह १३ तेरहवां अध्याय पूर्ण हुआ ॥

अथ चतुर्दशाध्यायारम्भः ॥

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव । यद्भद्रं तन्न आसुव ॥

ध्रुवक्षितिरित्यस्योशना ऋषिः । अश्विनौ देवते । त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

अथादिमे मन्त्रे स्त्रीभ्य उपदेशमाह ॥

अब चौदहवें अध्याय का आरम्भ है

इस के पहिले मन्त्र में स्त्रियों के लिये उपदेश किया है ॥

ध्रुवक्षितिर्ध्रुवयोनिर्ध्रुवासि ध्रुवं योनिमासीद साधुया । उख्यस्य केतुं प्रथमं जुषाणा अश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा ॥ १ ॥

ध्रुवक्षितिरिति ध्रुवऽक्षितिः । ध्रुवयोनिरिति ध्रुवऽयोनिः । ध्रुवा । असि । ध्रुवम् । योनिम् । आ । सीद । साधुयेति साधुऽया । उख्यस्य । केतुम् । प्रथमम् । जुषाणा । अश्विना । अध्वर्यू इत्यध्वर्यू । सादयताम् । इह । त्वा ॥ १ ॥

पदार्थः—(ध्रुवक्षितिः) ध्रुवा निश्चला क्षितिर्निवसतिर्जनपदो यस्याः सा (ध्रुवयोनिः) ध्रुवा योनिर्गृहं यस्याः सा (ध्रुवा) निश्चलधर्मा (असि) (ध्रुवम्) (योनिम्) गृहम् (आ) (सीद) (साधुया) साधुना धर्मेण सह (उख्यस्य) उखायां स्थाल्यां भवस्य पाकसमूहस्य (केतुम्) प्रज्ञाम् (प्रथमम्) विस्तीर्णम् (जुषाणा) प्रीत्या सेवमाना (अश्विना) व्याप्तसकलविद्यावध्यापकोपदेशकौ (अध्वर्यू) आत्मनोऽध्वरमहिंसनीयं गृहाश्रमा-

दिकं यज्ञमिच्छू (सादयताम्) अवस्थापयताम् (इह) गृहाश्रमे (त्वा) त्वाम् ॥ १ ॥

अन्वयः—हे स्त्रि या त्वं साधुयोख्यस्य प्रथमं केतुं जुषाणा ध्रुवक्षितिर्ध्रुवयोनिर्ध्रुवासि सा त्वं ध्रुवं योनिमासीद त्वामिहाध्वर्यू अश्विना सादयताम् ॥ १ ॥

भावार्थः—कुमारीणां ब्रह्मचर्य्यावस्थायामध्यापिकोपदेशिके विदुष्यौ गृहाश्रमधर्मशिक्षां कृत्वैताः साध्वीः सम्पादयेताम् ॥ १ ॥

पदार्थः—हे स्त्रि जो तू (साधुया) श्रेष्ठ धर्म के साथ (उख्यस्य) बटलोई में पकाये अन्न की सम्बन्धी और (प्रथमम्) विस्तारयुक्त (केतुम्) बुद्धि को (जुषाणा) प्रीति से सेवन करती हुई (ध्रुवक्षितिः) निश्चल वास करने और (ध्रुवयोनिः) निश्चल घर में रहने वाली (ध्रुवा) दृढधर्म से युक्त (असि) है सो तू (ध्रुवम्) निश्चल (योनिम्) घर में (आसीद) स्थिर हो (त्वा) तुझको (इह) इस गृहाश्रम में (अध्वर्यू) अपने लिये रक्षणीय गृहाश्रम आदि यज्ञ के चाहने हारे (अश्विना) सब विद्याओं में व्यापक अध्यापक और उपदेशक (सादयताम्) अच्छे प्रकार स्थापित करें ॥ १ ॥

भावार्थः—विद्वान् पढ़ाने और उपदेश करने हारी स्त्रियों को योग्य है कि कुमारी कन्याओं को ब्रह्मचर्य अवस्था में गृहाश्रम और धर्मशिक्षा दे के इनको श्रेष्ठ करें ॥ १ ॥

कुलायिनीत्यस्योशना ऋषिः । अश्विनौ देवते । ब्राह्मी बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

पुनः स एव विषय उपदिश्यते ॥

फिर पूर्वोक्त विषय का अगले मंत्र में उपदेश किया है ॥

कुलायिनी घृतवती पुरन्धिः स्योने सीद सदने पृथिव्याः । अभि त्वा रुद्रा वसवो गृण-

न्त्विमा ब्रह्मं पीपिहि सौभंगाय। अश्विनाध्वर्यू सांदयतामिह त्वां ॥ २ ॥

कुलायिनीं। घृतवृतीतिं घृतऽवंती। पुरंन्धिरिति पुरंम्ऽधिः। स्योने। सीद। सदंने। पृथिव्याः। अभि। त्वा। रुद्राः। वसंवः। गृणन्तु। इमा। ब्रह्मं। पीपिहि। सौभंगाय। अश्विनां। अध्वर्यू इत्यंध्वर्यू। सादयताम्। इह। त्वा ॥ २ ॥

पदार्थः—(कुलायिनी) कुलं पदेति तत्कुलायं तत्प्रशस्तं विद्यते यस्याः सा (घृतवती) घृतं बहूदकमस्ति यस्याः सा (पुरन्धिः) या पुरूणि बहूनि सुखानि दधाति सा (स्योने) सुखकारिके (सीद) (सदने) गृहे (पृथिव्याः) भूमेः (अभि) (त्वा) त्वाम् (रुद्राः) मध्या विद्वांसः (वसवः) आदिमा विपश्चितः (गृणन्तु) प्रशंसन्तु (इमा) इमानि (ब्रह्म) विद्याधनम् (पीपिहि) प्राप्नुहि। अत्रापि गतावित्यस्माच्छपः श्लुः तुजादित्वादभ्यासदीर्घश्च (सौभगाय) शोभनैश्वर्य्याणां भावाय (अश्विना) (अध्वर्यू) (सादयताम्) (इह) (त्वा) त्वाम् ॥ २ ॥

अन्वयः—हे स्योने यां त्वां वसवो रुद्राश्चेमा ब्रह्मदातॄन् प्रतीतॄनभिगृणन्तु सा त्वं सौभगायैतानि पीपिहि। घृतवती पुरन्धिः कुलायिनी सती पृथिव्याः सदने सीद। अध्वर्यू अश्विना त्वेह सादयताम् ॥ २ ॥

भावार्थः—स्त्रियः साङ्गोपाङ्गागमैश्वर्यसुखभोगाय स्वसदृशान् पतीनुपयम्य विद्यासुवर्णादिधनं प्राप्य सर्वर्त्तुसुखसाधकेषु गृहेषु निवसन्तु। विदुषां सङ्गं शास्त्राभ्यासं च सततं कुर्युः ॥ २ ॥

पदार्थः—हे (स्योने) सुख करने हारी जिस (त्वा) तुझ को (वसवः) प्रथम कोटि के विद्वान् और (रुद्राः) मध्य कक्षा के विद्वान् (इमा) इन (ब्रह्म)

विद्या धनों के देने वाले गृहस्थों को (अभि) अभिमुख होकर (गृणन्तु) प्रशंसा करें सो तू (सौभगाय) सुन्दर संपत्ति होने के लिये इस विद्या धन को (पीपिहि) अच्छे प्रकार प्राप्त हो (घृतवती) बहुत अन्न और (पुरन्धिः) बहुत सुख धारण करनेवाली (कुलायिनी) प्रशंसित कुल की प्राप्ति से युक्त हुई (पृथिव्याः) अपनी भूमि के (सदने) घर में (सीद) स्थित हो (अध्वर्यू) अपने लिये रक्षणीय गृहाश्रम आदि यज्ञ चाहने वाले (अश्विना) सब विद्याओं में व्यापक और उपदेशक पुरुष (त्वा) तुझको (इह) इस गृहाश्रम में (सादयताम्) स्थापित करें ॥ २ ॥

भावार्थः—स्त्रियों को योग्य है कि साङ्गोपाङ्ग पूर्ण विद्या और धन ऐश्वर्य का सुख भोगने के लिये अपने सदृश पतियों से विवाह करके विद्या और सुवर्ण आदि धन को पाके सब ऋतुओं में सुख देने हारे घरों में निवास करें तथा विद्वानों का संग और शास्त्रों का अभ्यास निरन्तर किया करें ॥ २ ॥

स्वैर्दक्षैरित्यस्योशना ऋषिः । अश्विनौ देवते ।
निचृद् ब्राह्मी बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥
फिर भी पूर्वोक्त विषय को ही अगले मंत्र में कहा है ॥

स्वैर्दक्षैर्दक्षपितेह सीद देवानांᳪसुम्ने बृहते रणाय । पितेवैधि सूनव आसुशेवा स्वावेशा तन्वा संविशस्व । अश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा ॥ ३ ॥

स्वैः । दक्षैः । दक्षपितेति दक्षऽपिता । इह । सीद । देवानाम् । सुम्ने । बृहते । रणाय । पितेवेति पिताऽइव ।

एधि । सूनवे । आ । सुशेवेति सुऽशेवा । स्वावेशेति सुऽआवेशा । तन्वा । सम् । विशस्व । अश्विना । अध्वर्यू इत्यध्वर्यू । सादयताम् । इह । त्वा ॥ ३ ॥

पदार्थः—(स्वैः) स्वकीयैः (दक्षैः) बलैश्चतुरैर्भृत्यैर्वा (दक्षपिता) दक्षस्य बलस्य चतुराणां भृत्यानां वा पिता पालकः (इह) अस्मिन् लोके (सीद) (देवानाम्) धार्मिकाणां विदुषां मध्ये (सुम्ने) सुखे (बृहते) महते (रणाय) संग्रामाय (पितेव) (एधि) भव (सूनवे) अपत्याय (आ) (सुशेवा) सुष्ठु सुखा (स्वावेशा) सुष्ठु समन्ताद् वेशो यस्याः सा (तन्वा) शरीरेण (सम्) एकीभावे (विशस्व) (अश्विना) (अध्वर्यू) (सादयताम्) (इह) (त्वा) त्वाम् ॥ ३ ॥

अन्वयः—हे स्त्रि त्वं यथा स्वैर्दक्षैः सह वर्तमानो देवानां बृहते रणाय सुम्ने दक्षपिता विजयेन वर्धते तथेहैधि सुम्न आसीद पितेव सूनवे सुशेवा स्वावेशा सती तन्वा संविशस्व अध्वर्यू अश्विना त्वेह सादयताम् ॥ ३ ॥

भावार्थः—अत्रोपमालं०—स्त्रियो युद्धेऽपि पतिभिः सह तिष्ठेयुः स्वकीयभृत्यपुत्रपश्वादीन् पितर इव पालयेयुः । सदैवात्युत्तमैर्वस्त्रभूषणैः शरीराणि संभूष्य वर्तेरन् । विद्वांसश्चैवमेताः सदोपदिशेयुः स्त्रियोऽप्येतांश्च ॥ ३ ॥

पदार्थः—हे स्त्रि तू जैसे (स्वैः) अपने (दक्षैः) बलों और भृत्यों के साथ वर्तता हुआ (देवानाम्) धर्मात्मा विद्वानों के मध्य में वर्तमान (बृहते) बड़े (रणाय) संग्राम के लिये (सुम्ने) सुख के विषय (दक्षपिता) बलों वा चतुर भृत्यों का पालन करने हारा होके विजय से बढ़ता है वैसे (इह) इस लोक के मध्य में (एधि) बढ़ती रह (सुम्ने) सुख में (आसीद) स्थिर हो और (पितेव) जैसे पिता (सूनवे) अपने पुत्र के लिये सुन्दर सुख देता है वैसे (सुशेवा) सुन्दर सुख से युक्त (स्वावेशा) अच्छी प्रीति से सुन्दर शुद्ध शरीर वस्त्र अलंकार को धारण करती हुई अपने पति के साथ प्रवेश करनेहारी हो के (तन्वा) शरीर के साथ प्रवेश कर और (अध्वर्यू) गृहाश्रमादि यज्ञ की अपने

लिये इच्छा करने वाले (अश्विना) पढ़ाने और उपदेश करने हारे जन (त्वा) तुझ को (इह) इस गृहाश्रम में (सादयताम्) स्थित करें ॥ ३ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में उपमालं०—स्त्रियों को चाहिये कि युद्ध में भी अपने पतियों के साथ स्थित रहें । अपने नौकर पुत्र और पशु आदि की पिता के समान रक्षा करें । और नित्य ही वस्त्र और आभूषणों से अपने शरीरों को संयुक्त करके वर्तें । विद्वान् लोग भी इन को सदा उपदेश करें और स्त्री भी इन विद्वानों के लिये सदा उपदेश करें ॥ ३ ॥

पृथिव्याः पुरीषमित्यस्योशना ऋषिः । अश्विनौ देवते ।
स्वराड्ब्राह्मी बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥
फिर भी वही विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पृ॒थि॒व्याः पुरी॑षमस्य॒प्सो नाम॒ तां त्वा॒ विश्वे॑ अ॒भि गृ॑णन्तु दे॒वाः । स्तोम॑पृष्ठा घृ॒तव॑ती॒ह सी॑द प्र॒जाव॑द॒स्मे द्र॒विणा य॑जस्व अ॒श्विना॑ध्व॒र्यू सा॑दय-ता॒मि॒ह त्वा॑ ॥ ४ ॥

पृ॒थि॒व्याः । पुरी॑षम् । अ॒सि॒ । अ॒प्सः॑ । नाम॑ । ताम् । त्वा॒ । विश्वे॑ । अ॒भि । गृ॒ण॒न्तु॒ । दे॒वाः । स्तोम॑पृ॒ष्ठेति॒ स्तोम॑ऽपृ॒ष्ठा । घृ॒तव॑ती॒ति॑ घृ॒तऽव॑ती । इ॒ह । सी॒द॒ । प्र॒जाव॒दिति॑ प्र॒जाऽव॑त् । अ॒स्मे इत्य॒स्मे । द्र॒विणा॑ । आ । य॒ज॒स्व॒ । अ॒श्विना॑ । अ॒ध्व॒र्यू इत्य॑ध्व॒र्यू । सा॒द॒य॒ता॒म् । इ॒ह । त्वा॒ ॥ ४ ॥

पदार्थः—(पृथिव्याः) (पुरीषम्) पालनम् (असि) (अप्सः) रूपम् (नाम) आख्याम् (ताम्) (त्वा) त्वाम् (विश्वे) सर्वे (अभि) (गृणन्तु) अर्चन्तु सत्कुर्वन्तु । गृणातीत्यर्चतिकर्मा० । निघं० ३ । १४ । (देवाः) विद्वांसः (स्तोमपृष्ठा) स्तोमानां पृष्ठं ज्ञीप्सा यस्याः सा (घृतवती) प्रशस्तान्याज्यादीनि विद्यन्ते यस्याः सा (इह) गृहाश्रमे (सीद) वर्त्तस्व (प्रजावत्) प्रशस्ताः प्रजा भवन्ति यस्मात्तत् (अस्मे) अस्मभ्यम् (द्रविणा) धनानि । अत्र सुपां सुलुगित्याकारादेशः (आ) समन्तात् (यजस्व) देहि (अश्विना) (अध्वर्यू) (सादयताम्) (इह) अस्मिन् व्यवहारे (त्वा) त्वाम् ॥ ४ ॥

अन्वयः—हे स्त्रि या स्तोमपृष्ठा त्वमिह पृथिव्याः पुरीषमप्सो नाम च घृतवत्यसि तां त्वा विश्वे देवा अभिगृणन्त्विह सीद त्वाऽध्वर्यू अश्विनेह सादयतां सा त्वमस्मे प्रजावद् द्रविणा यजस्व ॥ ४ ॥

भावार्थः—याः स्त्रियो गृहाश्रमविद्याक्रियाकौशलयोर्विदुष्यः स्युस्ता एव सर्वेभ्यः सुखानि दातुमर्हन्ति ॥ ४ ॥

पदार्थः—हे स्त्रि जो (स्तोमपृष्ठा) स्तुतियों को जानने की इच्छायुक्त तू (इह) इस गृहाश्रम में (पृथिव्याः) पृथिवी की (पुरीषम्) रक्षा (अप्सः) सुन्दररूप और (नाम) नाम और (घृतवती) बहुत घी आदि प्रशंसित पदार्थों से युक्त (असि) है (ताम्) उस (त्वा) तुझ को (विश्वे) सब (देवाः) विद्वान् लोग (अभिगृणन्तु) सत्कार करें (इह) इसी गृहाश्रम में (सीद) वर्त्तमान रह और जिस (त्वा) तुझ को (अध्वर्यू) अपने लिये रक्षणीय गृहाश्रमादि यज्ञ चाहने वाले (अश्विना) व्यापक बुद्धि बढ़ाने और उपदेश करने हारे (इह) इस गृहाश्रम में (सादयताम्) स्थित करें सो तू (अस्मे) हमारे लिये (प्रजावत्) प्रशंसित सन्तान होने का साधन (द्रविणा) धन (यजस्व) दे ॥ ४ ॥

भावार्थः—जो स्त्री गृहाश्रम की विद्या और क्रिया-कौशल में विद्वान् हों वे ही सब प्राणियों को सुख दे सकती हैं ॥ ४ ॥

आदित्यास्त्वेत्यस्योशना ऋषिः । अश्विनौ देवते । स्वराड् ब्राह्मी बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर भी पूर्वोक्त विषय ही अगले मंत्र में कहा है ॥

अदित्यास्त्वा पृष्ठे सादयाम्यन्तरिक्षस्य धर्त्रीं विष्टम्भनीं दिशामधिपत्नीं भुवनानाम् । ऊर्मिर्द्रप्सो अपामसि विश्वकर्मा त ऋषिरश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा ॥ ५ ॥

अदित्याः । त्वा । पृष्ठे । सादयामि । अन्तरिक्षस्य । धर्त्रीम् । विष्टम्भनीम् । दिशाम् । अधिपत्नीमित्यधिऽपत्नीम् । भुवनानाम् । ऊर्मिः । द्रप्सः । अपाम् । असि । विश्वकर्मेति विश्वऽकर्मा । ते । ऋषिः । अश्विना । अध्वर्यू इत्यध्वर्यू । सादयताम् । इह । त्वा ॥ ५ ॥

पदार्थः—(अदित्याः) भूमेः (त्वा) त्वाम् (पृष्ठे) उपरि (सादयामि) स्थापयामि (अन्तरिक्षस्य) अन्तरिक्षावकाशस्य (धर्त्रीम्) (विष्टम्भनीम्) (दिशाम्) पूर्वादीनाम् (अधिपत्नीम्) आधिष्ठातृत्वेन पालयित्रीम् (भुवनानाम्) भवन्ति भूतानि येषु तेषां गृहाणाम् (ऊर्मिः) तरङ्ग इव (द्रप्सः) हर्षः (अपाम्) जलानाम् (असि) (विश्वकर्मा) शुभाखिलकर्मा (ते) तव (ऋषिः) विज्ञापकः पतिः (अश्विना) (अध्वर्यू) (सादयताम्) (इह) (त्वा) त्वाम् ॥५॥

अन्वयः—हे स्त्रि यस्ते विश्वकर्मर्षिः पतिरहमन्तरिक्षस्य धर्त्रीं दिशां विष्टम्भनीं भुवनानामधिपत्नीं सूर्य्यामिव त्वादित्याः पृष्ठे सादयामि योऽपामूर्मिरिव ते द्रप्स आनन्दस्तेन युक्तासि तां त्वेहाध्वर्यू अश्विना सादयताम् ॥ ५ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—याः स्त्रियोऽक्षयसुखकारिण्यः प्रसिद्धदिक्कीर्त्तयो विद्वत्पतयः सदानन्दिताः सन्ति ता एव गृहाश्रमधर्मपालनोन्नतये प्रभवन्ति। मधुश्चेति मंत्रमारभ्यैतन्मंत्रपर्य्यन्तं वसन्तर्त्तुगुणव्याख्यानं प्राधान्येन कृतमिति ज्ञेयम् ॥ ५ ॥

पदार्थः—हे स्त्रि जो (से) तेरा (विश्वकर्मा) सब शुभ कर्मों से युक्त (ऋषिः) विज्ञानदाता पति मैं (अन्तरिक्षस्य) अन्तःकरण के नाशरहित विज्ञान को (धर्त्रीम्) धारण करने (दिशाम्) पूर्वादि दिशाओं की (विष्टम्भनीम्) आधार और (भुवनानाम्) सन्तानोत्पत्ति के निमित्त घरों की (अधिपत्नीम्) अधिष्ठाता होने से पालन करने वाली (त्वा) तुझको सूर्य्य की किरण के समान (आदित्याः) पृथिवी के (पृष्ठे) पीठ पर (सादयामि) घर की अधिकारिणी स्थापित करता हूं जो तू (अपाम्) जलों की (ऊर्मिः) तरङ्ग के सदृश (द्रप्सः) आनन्दयुक्त (असि) है उस (त्वा) तुझ को (इह) इस गृहाश्रम में (अध्वर्यू) रक्षा के निमित्त यज्ञ को करने वाले (अश्विना) विद्या में व्याप्तबुद्धि अध्यापक और उपदेशक पुरुष (सादयताम्) स्थापित करें ॥ ५ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में वाचकलु०—जो स्त्री अविनाशी सुख देनेहारी सब दिशाओं में प्रसिद्ध कीर्ति वाली विद्वान् पतियों से युक्त सदा आनंदित हैं वेही गृहाश्रम का धर्म पालने और उस की उन्नति के लिये समर्थ होती हैं, तेरहवें अध्याय में जो (मधुश्च०) कहा है वहां से यहां तक वसंत ऋतु के गुणों की प्रधानता से व्याख्यान किया है ऐसा जानना चाहिये ॥ ५ ॥

शुक्रश्चेत्यस्योशना ऋषिः। ग्रीष्मर्त्तुर्देवता। निचृदुत्कृतिश्छन्दः। षड्जः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर भी ग्रीष्म ऋतु का व्याख्यान अगले मन्त्र में कहा है ॥

शुक्रश्च शुचिश्च ग्रैष्मावृतू अग्नेरन्तःश्लेषोऽसि कल्पेतां द्यावापृथिवी कल्पन्तामाप

ओषधयः कल्पन्तामग्नयः पृथङ्मम ज्यैष्ठ्याय सव्रताः। ये अग्नयः समनसोऽन्तरा द्यावापृथिवी इमे ग्रैष्मावृतू अभिकल्पमाना इन्द्रमिव देवा अभिसंविशन्तु तया देवतयाऽङ्गिरस्वद्ध्रुवे सीदतम् ॥ ६ ॥

शुक्रः। च। शुचिः। च। ग्रैष्मौ। ऋतू। अग्नेः। अन्तःश्लेषइत्यन्तःऽश्लेषः। असि। कल्पेताम्। द्यावापृथिवीइति द्यावापृथिवी। कल्पन्ताम्। आपः। ओषधयः। कल्पन्ताम्। अग्नयः। पृथक्। मम। ज्यैष्ठ्याय। सव्रता इति सऽव्रताः। ये। अग्नयः। समनस इति सऽमनसः। अन्तरा। द्यावापृथिवी इति द्यावाऽपृथिवी। इमे इतीमे। ग्रैष्मौ। ऋतू इत्यृतू। अभिकल्पमाना इत्यभिऽकल्पमानाः। इन्द्रमिवेतीन्द्रम्ऽइव। अभिसंविशन्त्वित्यभिऽसंविशन्तु। तया। देवतया। अङ्गिरस्वत्। ध्रुवे इति ध्रुवे। सीदतम् ॥ ६ ॥

पदार्थः—(शुक्रः) य आशु पांसुवर्षातीव्रतापाभ्यामन्तरिक्षं मलिनं करोति स ज्येष्ठः (च) (शुचिः) पवित्रकारक आषाढः (च) (ग्रैष्मौ) ग्रीष्मे भवौ (ऋतू) [illegible] (अग्नेः) पावकस्य (अन्तःश्लेषः) मध्य आलिङ्गनम् (असि) अस्ति (कल्पेताम्) समर्थयेताम् (द्यावापृथिवी) प्रकाशान्तरिक्षे (कल्पन्ताम्) (आपः) जलानि (ओषधयः) यवसोमाद्याः (कल्पन्ताम्) (अग्नयः) पावकाः (पृथक्) (मम) (ज्यैष्ठ्याय) अतिशयेन प्रशस्यस्य भावाय (सव्रताः) सत्यैर्नियमैः सह वर्त्तमानाः (ये)

(अग्नयः) (समनसः) मनसा सह वर्तमानाः (अन्तरा) मध्ये (द्यावापृथिवी) (इवे) (ग्रैष्मौ) (ऋतू) (अभिकल्पमानाः) आभिमुख्येन समर्थयन्तः (इन्द्रमिव) यथा विद्युतम् (देवाः) विद्वांसः (अभिसंविशन्तु) अभितः सम्यक् प्रविशन्तु (तया) (देवतया) दिव्यगुणया (अङ्गिरस्वत्) अङ्गानां रसः कारणं तद्वत् (ध्रुवे) निश्चले (सीदतम्) विजानीतम् ॥ ६ ॥

अन्वयः—हे स्त्रीपुरुषौ यथा मम ज्यैष्ठ्याय यौ शुक्रश्च शुचिश्च ग्रैष्मावृतू ययोरग्नेरन्तः श्लेषोऽस्यसि याभ्यां द्यावापृथिवी कल्पेतामापः कल्पन्तामोषधयोऽग्नयश्च पृथक् कल्पन्तां यथा समनसः सव्रता अग्नयोऽन्तरा कल्पन्ते वैग्रैष्मावृतू अभिकल्पमाना देवा भवन्त इन्द्रमिव तावन्तीनभिसंविशन्तु तया तया देवतया सह युवामिमे द्यावापृथिवी ध्रुवे एवौ चाङ्गिरस्वत् सीदतम् ॥ ६ ॥

भावार्थः–अत्रोपमालं०–वसन्तर्त्तुव्याख्यानानन्तरं ग्रीष्मर्त्तुर्व्याख्यायते। हे मनुष्या यूयं ये पृथिव्यादिस्थाः शारीरास्मानसाश्चाग्नयो वर्त्तन्ते यैर्विना ग्रीष्मर्त्तुसंभवो न जायते तां विज्ञायोपयुज्य सर्वेभ्यः सुखं प्रयच्छत ॥ ६ ॥

पदार्थः—हे स्त्रीपुरुषो जैसे (मम) मेरे (ज्यैष्ठ्याय) प्रशंसा के योग्य होने के लिये जो (शुक्रः) शीघ्र धूली की वर्षा और तीव्र ताप से आकाश को मलीन करने हारा ज्येष्ठ (च) और (शुचिः) पवित्रता का हेतु आषाढ़ (च) ये दोनों मिल के प्रत्येक (ग्रैष्मौ) ग्रीष्म (ऋतू) ऋतु कहाते हैं जिन (अग्नेः) अग्नि के (अन्तःश्लेषः) मध्य में कफ के रोग का निवारण (असि) होता है जिस से ग्रीष्म ऋतु के महीनों से (द्यावापृथिवी) प्रकाश और अन्तरिक्ष (कल्पेताम्) समर्थ होवें (आपः) जल (कल्पन्ताम्) समर्थ हों (ओषधयः) यव वा सोमलता आदि ओषधियां और (अग्नयः) बिजुली आदि अग्नि (पृथक्) अलग २ (कल्पन्ताम्) समर्थ होवें जैसे (समनसः) विचारशील (सव्रताः) सत्याचरणरूप नियमों से युक्त (अग्नयः) अग्नि के तुल्य तेजस्वी को (अन्तरा) (ग्रैष्मौ) (ऋतू) (अभिकल्पमानाः) सन्मुख होकर समर्थ करते हुए (देवाः) विद्वान् लोग (इन्द्रमिव) बिजुली के समान उन अग्नियों की विद्या में (अभिसंविशन्तु) सब ओर से अच्छे

प्रकार प्रवेश करें वैसे (तया) उस (देवतया) परमेश्वर देवता के साथ तुम दोनों (इमे) इन (द्यावापृथिवी) प्रकाश और पृथिवी को (ध्रुवे) निश्चलस्वरूप से इन का भी (अङ्गिरस्वत्) अवयवों के कारणरूप रस के समान (सीदतम्) विशेष कर के ज्ञान कर प्रवर्त्तमान रहो ॥ ६ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में उपमालं०—वसन्त ऋतु के व्याख्यान के पीछे ग्रीष्म ऋतु की व्याख्या करते हैं । हे मनुष्यो तुम लोग जो पृथिवी आदि पंच भूतों के शरीरसम्बन्धी वा मानस अग्नि हैं कि जिन के विना ग्रीष्म ऋतु नहीं हो सकता उन को जान और उपयोग में ला के सब प्राणियों को सुख दिया करो ॥ ६ ॥

सजूर्ऋतुभिरित्यस्य विश्वेदेवा ऋषयः । वस्वादयो मन्त्रोक्ता देवताः । सजूर्ऋतुभिरित्यस्य भुरिक्कृतिश्छन्दः । धैवतः स्वरः ॥ सजूर्ऋतुभिरिति द्वितीयस्य स्वराट्पङ्क्तिश्छन्दः । सजूर्ऋतुभिरिति तृतीयस्य निचृदाकृतिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरश्च ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर वही विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

सजूर्ऋतुभिः सजूर्विधाभिः सजूर्देवैः सजूर्वयोनाधैरग्नये त्वा वैश्वानरायाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा । सजूर्ऋतुभिः सजूर्विधाभिः सजूर्वसुभिः सजूर्देवैर्वयोनाधैरग्नये त्वा वैश्वानरायाश्विनाऽध्वर्यू सादयतामिह त्वा सजूर्ऋतुभिः सजूर्विधाभिः सजूरुद्रैः सजूर्देवैर्वयोनाधैरग्नये त्वा

वैश्वानरायाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा सजूर्ऋतुभिः सजूर्विधाभिः सजूरादित्यैः सजूर्देवैर्वयोनाधैरग्नये त्वा वैश्वानरायाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा सजूर्ऋतुभिः सजूर्विधाभिः सजूर्विश्वैर्देवैः सजूर्देवैर्वयोनाधैरग्नये त्वा वैश्वानरायाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा ॥ ७॥

सजूरिति सऽजूः । ऋतुभिरित्यृतुऽभिः । सजूरिति सऽजूः । विधाभिरिति विऽधाभिः । सजूरिति सऽजूः । देवैः । सजूरिति सऽजूः । वयोनाधैरिति वयःऽनाधैः । अग्नये । त्वा । वैश्वानराय । अश्विना । अध्वर्यू इत्यध्वर्यू । सादयताम् । इह । त्वा । सजूरिति सऽजूः । ऋतुभिरित्यृतुऽभिः । सजूरिति सऽजूः । विधाभिरिति विऽधाभिः । सजूरिति सऽजूः । वसुभिरिति वसुऽभिः । सजूरिति सऽजूः । देवैः । वयोनाधैरिति वयःऽनाधैः । अग्नये । त्वा । वैश्वानराय । अश्विना । अध्वर्यू इत्यध्वर्यू । सादयताम् । इह । त्वा । सजूरिति सऽजूः । ऋतुभिरित्यृतुऽभिः । सऽजूरिति सऽजूः । विधाभिरिति विऽधाभिः । सजूरिति सऽजूः । रुद्रैः । सजूरिति सऽजूः । देवैः । वयोनाधैरिति वयःऽनाधैः । अग्नये । त्वा । वैश्वानराय । अश्विना । अध्वर्यू इत्यध्वर्यू । साद-

यताम् । इह । त्वा । सजूरिति सऽजूः । ऋतुभिरित्यृतुऽभिः । सजूरिति सऽजूः । विधाभिरिति विऽधाभिः । सजूरिति सऽजूः । आदित्यैः । सजूरिति सऽजूः । देवैः । वयोनाधैरिति वयःऽनाधैः । अग्नये । त्वा । वैश्वानराय । अश्विना । अध्वर्यू इत्यध्वर्यू । सादयताम् । इह । त्वा । सजूरिति सऽजूः । ऋतुभिरित्यृतुऽभिः । सजूरिति सऽजूः । विधाभिरिति विऽधाभिः । सजूरिति सऽजूः । विश्वैः । देवैः । सजूरिति सऽजूः । देवैः । वयोनाधैरिति वयःऽनाधैः । अग्नये । त्वा । वैश्वानराय । अश्विना । अध्वर्यू इत्यध्वर्यू । सादयताम् । इह । त्वा ॥ ७ ॥

पदार्थः—(सजूः) यः समानं प्रीणाति सेवते वा (ऋतुभिः) वसन्तादिभिश्च सह (सजूः) (विधाभिः) अद्भिः (सजूः) (देवैः) दिव्यैर्गुणैः (सजूः) दिव्यसुखप्रदैः (वयोनाधैः) वयांसि जीवनादीनि गायत्र्यादिछन्दांसि वा नह्यन्ति यैः प्राणैस्तैः (अग्नये) पावकाय (त्वा) त्वाम् (वैश्वानराय) अखिलानां पदार्थानां नयनाय प्रापणाय (अश्विना) (अध्वर्यू) (सादयताम्) (इह) (त्वा) त्वां स्त्रियं पुरुषं वा (सजूः) (ऋतुभिः) (सजूः) (विधाभिः) (सजूः) (वसुभिः) अग्न्यादिभिरष्टभिः (सजूः) (देवैः) दिव्यैः (वयोनाधैः) वयांसि विज्ञानानि नह्यन्ति यैर्विद्वद्भिः (अग्नये) विज्ञानाय (त्वा) (वैश्वानराय) विश्वस्य सर्वस्य जगतो नायकाय (अश्विना) (अध्वर्यू) (सादयताम्) (इह) (त्वा) (सजूः) (ऋतुभिः) (सजूः) (विधाभिः) विविधानि वस्तूनि दधति याभिः प्राणचेष्टाभिस्ताभिः (सजूः) (रुद्रैः) प्राणचेष्टाभिः ताभिः (सजूः) (रुद्रैः) प्राणापानव्यानोदानसमाननागकूर्मकृकलदेवदत्तधनंजयजीवैः (सजूः) (देवैः) विद्वद्भिः (वयोनाधैः) वेदादिशास्त्रप्रज्ञापनबन्धकैः (अग्नये) शास्त्रवि-

ज्ञानाय (त्वा) (वैश्वानराय) विश्वेषां नराणामिदं सुखसाधकं तस्मै (अश्विना) (अध्वर्यू) (सादयताम्) (इह) (त्वा) (सजूः) (ऋतुभिः) सहचरितैः सुखैः (सजूः) (विधाभिः) विविधाभिः सत्यक्रियाधारिकाभिः क्रियाभिः (सजूः) (आदित्यैः) संवत्सरस्य द्वादशमासैः (सजूः) (देवैः) पूर्णविद्यैः (वयोनाधैः) पूर्णविद्याविज्ञानमयाऽऽयुर्बन्धकैः (अग्नये) पूर्णाय विज्ञानाय (त्वा) (वैश्वानराय) विश्वेषां नराणामिदं पूर्णसुखसाधनं तस्मै (अश्विना) (अध्वर्यू) (सादयताम्) (इह) (त्वा) (सजूः) (ऋतुभिः) सर्वैः कालावयवैः (सजूः) (विधाभिः) समस्ताभिः सुखव्याप्तिकाभिः (सजूः) (विश्वैः) समस्तैः (देवैः) परोपकाराय सत्यासत्यविज्ञापयितृभिः (सजूः) (देवैः) (वयोनाधैः) ये वयः काम्यमानं जीवनं नह्यन्ति तैः (अग्नये) सुशिक्षाप्रकाशाय (त्वा) (वैश्वानराय) विश्वेषां नराणामिदं हितं तस्मै (अश्विना) (अध्वर्यू) (सादयताम्) (इह) (त्वा) ॥ ७ ॥

अन्वयः—हे स्त्रि पुरुष वा यं त्वा त्वामिहाध्वर्यू अश्विना वैश्वानरायाग्नये सादयतां वयं च यं त्वा सादयेम स त्वमृतुभिः सह सजूर्विधाभिः सह सजूर्देवैस्सह सजूर्वयोनाधैर्देवैः सह सजूश्च भव हे पुरुषार्थयुक्ते स्त्रि वा पुरुष यं त्वा त्वामिह वैश्वानरायाग्नयेऽध्वर्यू अश्विना सादयतां यं त्वा वयं च सादयेम स त्वमृतुभिः सह सजूर्विधाभिः सह सजूर्वसुभिः सह सजूर्वयोनाधैर्देवैः सह च सजूर्भव हे विद्याध्ययनाय प्रवृत्ते ब्रह्मचारिणि वा ब्रह्मचारिन् यं त्वेह वैश्वानरायाग्नयेऽध्वर्यू अश्विना सादयतां यं त्वा वयं च सादयेम स त्वमृतुभिः सह सजूर्विधाभिः सह सजू रुद्रैः सह सजूर्वयोनाधैर्देवैः सह च सजूर्भव हे पूर्णविद्ये स्त्रि पुरुष वा यं त्वेह वैश्वानरायाग्नयेऽध्वर्यू अश्विना सादयतां यं त्वा वयं च सादयेम स त्वमृतुभिः सह सजूर्विधाभिः सह सजूरादित्यैः सह सजूर्वयोनाधैर्देवैः सह च सजूर्भव हे सत्यार्थोपदेशिके स्त्रि पुरुष वा यं त्वेह वैश्वानरायाग्नयेऽध्वर्यू अश्विना सादयतां यं त्वा वयं च सादयेम स त्वमृतुभिः सह सजूर्विधाभिः सह सजूर्विश्वैर्देवैः सह सजूर्वयोनाधैर्देवैः सह च सजूर्भव ॥ ७ ॥

भावार्थः—अस्मिन् जगति मनुष्यजन्म प्राप्य स्त्रियो विदुष्यः पुरुषा विद्वांसश्च भूत्वा येषु ब्रह्मचर्यविद्यासुशिक्षाग्रहणादिषु शुभेषु कर्मसु स्वयं प्रवृत्ता भूत्वा यानन्यान् प्रवर्त्तयेयुस्तेऽत्र प्रवर्त्तित्वा परमेश्वरमारभ्य पृथिवीपर्य्यन्तानां पदार्थानां यथार्थेन विज्ञानेनोपयोगं संगृह्य सर्वेष्वृतुषु स्वयं सुखयन्त्वन्यांश्च ॥ ७ ॥

पदार्थः—हे स्त्रि वा पुरुष जिस (त्वा) तुझ को (इह) इस जगत् में (अध्वर्यू) रक्षा करने हारे (अश्विना) सब विद्याओं में व्यापक पढ़ाने और उपदेश करने वाले पुरुष और स्त्री (वैश्वानराय) संपूर्ण पदार्थों की प्राप्ति के निमित्त (अग्नये) अग्निविद्या के लिये (सादयताम्) नियुक्त करें और हम लोग भी जिस (त्वा) तुझ को स्थापित करें सो तूं (ऋतुभिः) वसन्त और वर्षा आदि ऋतुओं के साथ (सजूः) एकसी तृप्ति वा सेवा से युक्त (विधाभिः) जलों के साथ (सजूः) प्रीतियुक्त (देवैः) अच्छे गुणों के साथ (सजूः) प्रीति वाली वा प्रीति वाला और (वयोनाधैः) जीवन आदि वा गायत्री आदि छन्दों के साथ सम्बन्ध के हेतु (देवैः) दिव्य सुख देने हारे प्राणों के साथ (सजूः) समान सेवन से युक्त हो। हे पुरुषार्थयुक्त स्त्री वा पुरुष जिस (त्वा) तुझ को (इह) इस गृहाश्रम में (वैश्वानराय) सब जगत् के नायक (अग्नये) विज्ञानदाता ईश्वर की प्राप्ति के लिये (अध्वर्यू) रक्षक (अश्विना) सब विद्याओं में व्याप्त अध्यापक और उपदेशक (सादयताम्) स्थापित करें और जिस (त्वा) तुझ को हम लोग नियत करें सो तू (ऋतुभिः) ऋतुओं के साथ (सजूः) पुरुषार्थी (विधाभिः) विविध प्रकार के पदार्थों के धारण के हेतु प्राणों की चेष्टाओं के साथ (सजूः) समान सेवन वाले (वसुभिः) अग्नि आदि आठ पदार्थों के साथ (सजूः) प्रीतियुक्त और (वयोनाधैः) विज्ञान का सम्बन्ध कराने हारे (देवैः) सुन्दर विद्वानों के साथ (सजूः) समान प्रीति वाले हो। हे विद्या पढ़ने के लिये प्रवृत्त हुए ब्रह्मचारिणी वा ब्रह्मचारी जिस (त्वा) तुझ को (इह) इस ब्रह्मचर्याश्रम में (वैश्वानराय) सब मनुष्यों के सुख के साधन (अग्नये) शास्त्रों के विज्ञान के लिये (अध्वर्यू) पालने हारे (अश्विना) पूर्णविद्यायुक्त अध्यापक और उपदेशक लोग (सादयताम्) नियुक्त करें और जिस (त्वा) तुझ को हम लोग स्थापित करें सो

तू (ऋतुभिः) ऋतुओं के साथ (सजूः) अनुकूल सेवन वाले (विधाभिः) विविध प्रकार के पदार्थों के धारण के निमित्त प्राण की चेष्टाओं से (सजूः) समान प्रीति वाले (रुद्रैः) प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनंजय और जीवात्मा इन ग्यारहों के (सजूः) अनुसार सेवा करने हारे और (वयोनाधैः) वेदादि शास्त्रों के जनाने का प्रबन्ध करने हारे (देवैः) विद्वानों के साथ (सजूः) बराबर प्रीति वाले हों। हे पूर्ण विद्या वाले स्त्री वा पुरुष जिस (त्वा)-तुझ को (इह) इस संसार में (वैश्वानराय) सब मनुष्यों के लिये पूर्ण सुख के साथ (अग्नये) पूर्ण विज्ञान के लिये (अध्वर्यू) रक्षक (अश्विना) शीघ्र ज्ञानदाता लोग (सादयताम्) नियत करें और जिस (त्वा) तुझ को हम नियुक्त करें सो तू (ऋतुभिः) ऋतुओं के साथ (सजूः) अनुकूल आचरण वाले (विधाभिः) विविध प्रकार की सत्य क्रियाओं के साथ (सजूः) समान प्रीति वाले (आदित्यैः) वर्ष के बारह महीनों के साथ (सजूः) अनुकूल आहार विहार युक्त और (वयोनाधैः) पूर्ण विद्या के विज्ञान और प्रचार के प्रबन्ध करने हारे (देवैः) पूर्ण विद्यायुक्त विद्वानों के (सजूः) अनुकूल प्रीति वाले हों। हे सत्य अर्थों का उपदेश करने हारी स्त्री वा पुरुष जिस (त्वा) तुझ को (इह) इस जगत् में (वैश्वानराय) सब मनुष्यों के हितकारी (अग्नये) अच्छी शिक्षा के प्रकाश के लिये (अध्वर्यू) ब्रह्मविद्या के रक्षक (अश्विना) शीघ्र पढ़ाने और उपदेश करने हारे-लोग (सादयताम्) स्थित करें और जिस (त्वा) तुझ को हम लोग नियत करें सो तू (ऋतुभिः) काल क्षण आदि सब अवयवों के साथ (सजूः) अनुकूलसेवी (विधाभिः) सुखों में व्यापक सब क्रियाओं के (सजूः) अनुसार होकर (विश्वैः) सब (देवैः) सत्योपदेशक पतियों के साथ (सजूः) समान प्रीति वाले और (वयोनाधैः) कामयमान जीवन का सम्बन्ध कराने हारे (देवैः) परोपकार के लिये सत्य असत्य के जनाने वाले जनों के साथ (सजूः) समान प्रीति वाले हों ॥ ७ ॥

भावार्थ—इस संसार में मनुष्य का जन्म पा के स्त्री तथा पुरुष विद्वान् होकर जिन ब्रह्मचर्य्य-सेवन विद्या और अच्छी शिक्षा के ग्रहण आदि शुभ गुण कर्मों में आप प्रवृत्त होकर जिन अन्य लोगों को प्रवृत्त करें वे उन में

प्रवृत्त होकर परमेश्वर से ले के पृथिवीपर्यन्त पदार्थों के यथार्थ विज्ञान से उपयोग ग्रहण करके सब ऋतुओं में आप सुखी रहें और अन्यों को सुखी करें ॥ ७ ॥

प्राणम्म इत्यस्य विश्वदेव ऋषिः । दम्पती देवते ।
निचृदतिजगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर भी वही विषय अगले मंत्र में कहा है ॥

प्राणम्मे पाह्यपानम्मे पाहि व्यानम्मे पाहि चक्षुर्म उर्व्या वि भाहि श्रोत्रम्मे श्लोकय । अपः पिन्वौषधीर्जिन्व द्विपादव चतुष्पात्पाहि दिवो वृष्टिमेरय ॥ ८ ॥

प्राणम् । मे । पाहि । अपानमित्यपऽआनम् । मे । पाहि । व्यानमिति विऽआनम् । मे । पाहि । चक्षुः । मे । उर्व्या । वि । भाहि । श्रोत्रम् । मे । श्लोकय । अपः । पिन्व । ओषधीः । जिन्व । द्विपादिति द्विऽपात् । अव । चतुष्पात् । चतुष्पादिति चतुःऽपात् । पाहि । दिवः । वृष्टिम् । आ । ईरय ॥ ८ ॥

पदार्थः—(प्राणम्) नाभेरूर्ध्वगामिनम् (मे) मम (पाहि) रक्ष (अपानम्) यो नाभेरर्वाग्गच्छति तम् (मे) मम (पाहि) (व्यानम्) यो विविधेषु शरीरसंधिष्वानिति तम् (मे) (पाहि) (चक्षुः) नेत्रम् (मे) (उर्व्या) बहुरूपपोषणफलप्रदया पृथिव्या सह। उर्वीति पृथिवीना०। निघं० १ । १ । (वि) (भाहि) (श्रोत्रम्) (मे) (श्लोकय) शास्त्रश्र-

णाय सम्बन्धय (अपः) प्राणान् (पिन्व) पुष्टीहि सिंच (ओषधीः) सोमयवादीन् (जिन्व) प्राप्नुहि । जिन्वतीति गतिकर्म्मा० । निघं० २ । १४ । (द्विपात्) मनुष्यादीन् (अव) रक्ष (चतुष्पात्) गवादीन् (पाहि) (दिवः) सूर्यप्रकाशात् (वृष्टिम्) (आ) (ईरय) प्रेरय ॥ ८ ॥

अन्वयः—हे पते स्त्रि पुरुष वा त्वमूर्ध्या सह मे प्राणं पाहि मेऽपानं पाहि मे व्यानं पाहि मे चक्षुर्विभाहि मे श्रोत्रं श्लोकयापः पिन्वौषधीर्जिन्व द्विपादव चतुष्पात् पाहि यथा सूर्यो दिवो वृष्टिं करोति तथा गृहकृत्यमेरय ॥ ८ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—स्त्रीपुरुषौ स्वयंवरं विवाहं विधायातिप्रेम्णा परस्परं प्राणप्रियाचरणं शास्त्रश्रवणमोषध्यादिसेवनं कृत्वा यज्ञाद्वृष्टिं च कारयेताम् ॥ ८ ॥

पदार्थः—हे पते वा स्त्रि तू (ऊर्ध्या) बहुत प्रकार की उत्तम क्रिया से (मे) मेरे (प्राणम्) नाभि से ऊपर को चलने वाले प्राणवायु की (पाहि) रक्षा कर (मे) मेरे (अपानम्) नाभि के नीचे गुह्येन्द्रिय मार्ग से निकलने वाले अपान वायु की (पाहि) रक्षाकर (मे) मेरे (व्यानम्) विविध प्रकार की शरीर की संधियों में रहने वाले व्यान वायु की (पाहि) रक्षाकर (मे) मेरे (चक्षुः) नेत्रों को (विभाहि) प्रकाशित कर (मे) मेरे (श्रोत्रम्) कानों को (श्लोकय) शास्त्रों के श्रवण से संयुक्त कर (अपः) प्राणों को (पिन्व) पुष्ट कर (ओषधीः) सोमलता वा यव आदि ओषधियों को (जिन्व) प्राप्त हो (द्विपात्) मनुष्यादि दो पगवाले प्राणियों की (अव) रक्षा कर (चतुष्पात्) चार पग वाले गौ आदि की (पाहि) रक्षा कर और जैसे सूर्य (दिवः) अपने प्रकाश से (वृष्टिम्) वर्षा करता है वैसे घर के कार्यों को (एरय) अच्छे प्रकार प्राप्त कर ॥ ८ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचकलु०—स्त्री पुरुषों को चाहिये कि स्वयंवर विवाह करके अति प्रेम के साथ आपस में प्राण के समान प्रियाचरण शास्त्रों का सुनना ओषधि आदि का सेवन और यज्ञ के अनुष्ठान से वर्षा करावें ॥ ८ ॥

मूर्धा वय इत्यस्य विश्वेदेवा ऋषयः । प्राजापत्यादयो देवताः ।
पूर्वस्य निचृद्ब्राह्मी पङ्क्तिः । पुरुष इत्युत्तरस्य
ब्राह्मी पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥
फिर भी वही विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

मूर्धा वयः प्रजापतिश्छन्दः क्षत्रं वयो मयन्दं छन्दो विष्टम्भो वयोऽधिपतिश्छन्दो विश्वकर्मा वयः परमेष्ठी छन्दो बस्तो वयो विबलं छन्दो वृष्णिर्वयो विशालं छन्दः पुरुषो वयस्तन्द्रं छन्दो व्याघ्रो वयो नाधृष्टं छन्दः सिंहो वयश्छदिश्छन्दः पष्ठवाड्वयो बृहती छन्द उक्षा वयः ककुप् छन्द ऋषभो वयः सतो बृहती छन्दः ॥ ९ ॥

मूर्धा । वयः । प्रजापतिरिति प्रजाऽपतिः । छन्दः । क्षत्रम् । वयः । मयन्दम् । छन्दः । विष्टम्भः । वयः । अधिपतिरित्यधिऽपतिः । छन्दः । विश्वकर्मेति विश्वऽकर्म्मा । वयः । परमेष्ठी । परमेस्थीति परमेऽस्थी । छन्दः । बस्तः । वयः । विबलमिति विऽबलम् । छन्दः । वृष्णिः । वयः । विशालमिति विऽशालम् । छन्दः । पुरुषः । वयः । तन्द्रम् । छन्दः । व्याघ्रः । वयः । अनाधृष्टम् । छन्दः । सिंहः ।

वयः । छदिः । छन्दः । पृष्ठवाडिति पष्ठऽवाट् । वयः । बृहती । छन्दः । उक्षा । वयः । ककुप् । छन्दः । ऋषभः । वयः । सतोबृहतीति सतःऽबृहती । छन्दः ॥ ९ ॥

पदार्थः—(मूर्धा) मूर्धावदुत्तमं ब्राह्मणकुलम् (वयः) कमनीयम् (प्रजापतिः) प्रजापालकः (छन्दः) विद्याधर्मशमादिकर्म (क्षत्रम्) क्षत्रियकुलम् (वयः) न्यायविनयपराक्रमवत्त्वाप्तम् (मयन्दम्) यन्मयं सुखं ददाति तत् (छन्दः) बलयुक्तम् (विष्टम्भः) विशो वैश्यस्य विष्टम्भो रक्षणं येन (वयः) प्रजनकः (अधिपतिः) अधिष्ठाता (छन्दः) स्वाधीनः (विश्वकर्मा) अखिलोत्तमकर्मकर्ता राजा (वयः) कमिता (परमेष्ठी) सर्वेषां स्वामी (छन्दः) स्वाधीनः (वस्तः) व्यवहारैराच्छादितो युक्तः (वयः) विविधव्यवहारव्यापी (विबलम्) विविधं बलं यस्मात् (छन्दः) (वृष्णिः) सुखसेचकः (वयः) सुखप्रापकम् (विशालम्) विस्तीर्णम् (छन्दः) स्वाच्छन्द्यम् (पुरुषः) पुरुषार्थयुक्तः (वयः) कमनीयं कर्म (तन्द्रम्) कुटुम्बधारणम् । अत्र तन्त्रिकुटुम्बधारणे इत्यस्माद्बाहुलकाद्वर्णव्यत्ययेन दस्य दः (छन्दः) बलम् (व्याघ्रः) यो विविधान् समन्ताज्जिघ्रति (वयः) कमनीयम् (अनाधृष्टम्) धाष्टर्यम् (छन्दः) बलम् (सिंहः) यो हिनस्ति पश्वादीन् सः (वयः) पराक्रमम् (छदिः) अपवारणम् (छन्दः) प्रदीपनम् (पष्ठवाट्) यः पष्ठेन पृष्ठेन वहत्युष्ट्रादिः । वर्णव्यत्ययेन ऋकारस्यात्राकारादेशः (वयः) बलवान् (बृहती) महत्वम् (छन्दः) पराक्रमम् (उक्षा) सेचको वृषभः (वयः) बलिष्ठः (ककुप्) दिशः (छन्दः) आनन्दम् (ऋषभः) गतिमान् पशुः (वयः) बलिष्ठः (सतोबृहती) (छन्दः) स्वातन्त्र्यम् ॥ ९ ॥

अन्वयः—हे स्त्रि पुरुष वा मूर्धा प्रजापतिरिव त्वं वयो मयन्दं छन्दः क्षत्रमेरय विष्टम्भोऽधिपतिरिव त्वं वयश्छन्दः एरय विश्वकर्मा परमेष्ठीव त्वं वयश्छन्द एरय वस्त इव त्वं वयो विबलं छन्द एरय वृष्णिरिव त्वं विशालं वयश्छन्द एरय । पुरुष इव त्वं वयस्तन्द्रं छन्द एरय व्याघ्र इव त्वं वयो-

नाधृष्टं छन्द एरय सिंह इव त्वं वयश्छदिश्छन्द एरय पष्ठवाडिव त्वं बृहती वयश्छन्द एरयोक्षेव त्वं वयः ककुप्छन्द एरय । ऋषभ इव त्वं वयः सतो बृहतीं छन्द एरय मेरय ॥ ९ ॥

भावार्थः—अत्र श्लेषवाचकलु०—एरयेति पूर्वस्मान्मन्त्रादनुवर्त्तते । स्त्रीपुरुषैर्ब्राह्मणादिवर्णान् स्वच्छन्दान् संपाद्य वेदादीन् प्रचार्य पालनादिकं स्वीकृत्य सर्वे मङ्गलं सदा वर्द्धनीयम् ॥ ९ ॥

पदार्थः—हे स्त्रि वा पुरुष (मूर्धा) शिर के तुल्य उत्तम ब्राह्मण का कुल (प्रजापतिः) प्रजा के रक्षक राजा के समान तू (वयः) कामना के योग्य (मयन्दम्) सुखदायक (छन्दः) बलयुक्त (क्षत्रम्) क्षत्रिय कुल को प्रेरणा कर (विष्टम्भः) वैश्यों की रक्षा का हेतु (अधिपतिः) अधिष्ठाता पुरुष नृप के समान तू (वयः) न्याय विनय को प्राप्त हुए (छन्दः) स्वाधीन पुरुष को प्रेरणा कर (विश्वकर्मा) सब उत्तम कर्म करने हारे (परमेष्ठी) सब के स्वामी राजा के समान तू (वयः) चाहने योग्य (छन्दः) स्वतंत्रता को (एरय) बढ़ाइये (वस्तः) व्यवहारों से युक्त पुरुष के समान तू (वयः) अनेक प्रकार के व्यवहारों में व्यापी (विबलम्) विविध बल के हेतु (छन्दः) आनन्द को बढ़ा (वृष्णिः) सुख के सेचने वाले के सदृश तू (विशालम्) विस्तारयुक्त (वयः) सुखदायक (छन्दः) स्वतंत्रता को बढ़ा (पुरुषः) पुरुषार्थयुक्त जन के तुल्य तू (वयः) चाहने योग्य (तन्द्रम्) कुटुम्ब के धारणरूप कर्म और (छन्दः) बल को बढ़ा (व्याघ्रः) जो विविध प्रकार के पदार्थों को अच्छे प्रकार सूंघता है उस जन्तु के तुल्य राजा तू (वयः) चाहने योग्य (अनाधृष्टम्) दृढ़ (छन्दः) बल को बढ़ा (सिंहः) पशु आदि को मारने हारे सिंह के समान पराक्रमी राजा तू (वयः) पराक्रम के साथ (छदिः) निरोध और (छन्दः) प्रकाश को बढ़ा (पष्ठवाट्) पीठ से बोझ उठाने वाले ऊंट आदि के सदृश वैश्य तू (बृहती) बड़े (वयः) बलयुक्त (छन्दः) पराक्रम को प्रेरणा कर (उक्षा) सींचनेहारे बैल के तुल्य शूद्र तू (वयः) अति बल का हेतु (ककुप्) दिशाओं और (छन्दः) आनन्द को बढ़ा (ऋषभः) शीघ्रगंता पशु के तुल्य भृत्य तू (वयः) बल के साथ (सतोबृहती) उत्तम बड़ी (छन्दः) स्वतंत्रता की प्रेरणा कर ॥ ९ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में श्लेष और वाचकलु०—और पूर्व मन्त्र से पश्य पद की अनुवृत्ति आती है स्त्री पुरुषों को चाहिये कि ब्राह्मण आदि वर्णों को स्वतंत्र वेदादि शास्त्रों का प्रचार आलस्यादि त्याग और शत्रुओं का निवारण करके बड़े बल को सदा बढ़ाया करें ॥ ९ ॥

अनड्वानित्यस्य विश्वेदेव ऋषिः । विद्वांसो देवता । स्वराड्ब्राह्मी बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर भी वही विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

अनड्वान्वयः पुङ्क्तिश्छन्दो धेनुर्वयो जगती छन्दस्त्र्यविर्वयस्त्रिष्टुप् छन्दो दित्यवाड् वयो विराट् छन्दः पञ्चाविर्वयो गायत्री छन्दस्त्रिवत्सो वयं उष्णिक् छन्दं स्तुर्यवाड् वयोऽनुष्टुप् छन्दः ॥ १० ॥

अनड्वान् । वयः । पुङ्क्तिः । छन्दः । धेनुः । वयः । जगती । छन्दः । त्र्यविरिति त्रिऽअविः वयः । त्रिष्टुप् । त्रिस्तुबिति त्रिऽस्तुप् । छन्दः । दित्यवाडिति दित्यऽवाट् । वयः । विराडिति । विऽराट् । छन्दः । पञ्चाविरिति पञ्चऽअविः । वयः । गायत्री । छन्दः । त्रिवत्स इति त्रिऽवत्सः वयः । उष्णिक् । छन्दः । तुर्यवाडिति तुर्यऽवाट् । वयः । अनुष्टुप् । अनुस्तुबित्यनुऽस्तुप् । छन्दः ॥ १० ॥

पदार्थः—(अनड्वान्) वृषभः (वयः) बलम् (पंक्तिः) (छन्दः) (धेनुः) दुग्धप्रदा (वयः) कामनाम् (जगती) जगदुपकारकम् (छन्दः) आह्लादनम् (त्र्यविः) अयोऽव्यादयो यस्मात्तम् (वयः) मननम् (त्रिष्टुप्) त्रीणि कर्मोपासनाज्ञानानि स्तुवन्ति यया सा (छन्दः) (दित्यवाट्) दितिभिः खण्डनैर्निर्वृत्तान् यवादीन् वहति (वयः) प्रापणम् (विराट्) (छन्दः) आनन्दकरम् (पंचाविः) पंचेन्द्रियाण्यवन्ति येन सः (वयः) विज्ञानम् (गायत्री) (छन्दः) (त्रिवत्सः) त्रयः कर्मोपासनाज्ञानानि वत्सा इव यस्य सः (वयः) पराक्रमम् (उष्णिक्) यद्दुःखानि दहति तम् (छन्दः) (तुर्यवाट्) तुर्यान् चतुरो वेदान् वहति येन सः (अनुष्टुप्) अनुस्तौति यया सा (छन्दः) सुखसाधकम् । अत्र पूर्ववत् मंत्रप्रयतीकानि लोकन्वा इन्द्रामिति लिखितानि निवारितानि ॥ १० ॥

अन्वयः—हे स्त्रि पुरुष वाऽनड्वानिव त्वं पंक्तिश्छन्दो वय एरय धेनुरिव त्वं जगती छन्दो वय एरय त्र्यविरिव त्वं त्रिष्टुप् छन्दो वय एरय दित्यवाडिव त्वं विराट् छन्दो वय एरय पञ्चाविरिव त्वं गायत्री छन्दो वय एरय त्रिवत्स इव त्वमुष्णिक् छन्दो वय एरय तुर्यवाडिव त्वमनुष्टुप्छन्दो वय एरय ॥ १० ॥

भावार्थः—अत्र श्लेषवाचकलु०—यथाऽनड्वाहादीनां रक्षणेन कृषीवला अन्नादीन्युत्पाद्य सर्वान् सुखयन्ति तथैव विद्वांसः स्त्रीपुरुषा विद्याः प्रचार्य सर्वानानन्दयन्ति ॥ १० ॥

पदार्थः—हे स्त्रि वा पुरुष (अनड्वान्) गौ और बैल के समान बलवान् हो के तू (पंक्ति) प्रकट (छन्दः) स्वतंत्र (वयः) बल की प्रेरणा कर (धेनु.) दूध देने हारी गौ के समान तू (जगती) जगत् के उपकारक (छन्दः) आनन्द की (वयः) कामना को बढ़ा (त्र्यवि.) तीन भेड़ बकरी और गौ के अध्यक्ष के तुल्य वृद्धियुक्त हो के तू (त्रिष्टुप्) कर्म उपासना और ज्ञान की स्तुति के हेतु (छन्दः) स्वतंत्र (वयः) प्राप्ति को बढ़ा (दित्यवाट्) पृथिवी खोदने से उत्पन्न हुए जौ आदि को प्राप्त कराने हारी क्रिया के तुल्य तू (विराट्)-विविध प्रकाश युक्त (छन्दः) आनन्दकारक (वयः)

प्राप्ति को बढ़ा (पंचाविः) पंच इन्द्रियों की रक्षा के हेतु ओषधि के समान तू (गायत्री) गायत्री (छन्दः) मन्त्र के (वयः) विज्ञान को बढ़ा (त्रिवत्सः) कर्म उपासना और ज्ञान को चाहने हारे के तुल्य तू (उष्णिक्) दुःखों के नाशक (छन्दः) स्वतन्त्र (वयः) पराक्रम को बढ़ा और (तुर्य्यवाट्) चारों वेदों की प्राप्ति कराने हारे पुरुष के समान तू (अनुष्टुप्) अनुकूल स्तुति का निमित्त (छन्दः) सुखसाधक (वयः) इच्छा को प्रतिदिन बढ़ाया कर ॥ १० ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में श्लेष और वाचकलु०—जैसे खेती करने हारे लोग बैल आदि साधनों की रक्षा से अन्नादि पदार्थों को उत्पन्न करके सब को सुख देते हैं वैसे ही विद्वान् लोग विद्या का प्रचार करके सब प्राणियों को आनन्द देते हैं ॥ १० ॥

इन्द्राग्नी इत्यस्य विश्वदेवा ऋषयः । इन्द्राग्नी देवते । भुरिगनुष्टुप्छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर भी वही विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

इन्द्राग्नी अव्यथमानामिष्टकां दृꣳहतं युवम् । पृष्ठेन द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं च वि बाधसे ॥ ११ ॥

इन्द्राग्नी इतीन्द्राग्नी । अव्यथमानाम् । इष्टकाम् । दृꣳहतम् । युवम् । पृष्ठेन । द्यावापृथिवी इति द्यावापृथिवी । अन्तरिक्षम् । च । वि । बाधसे ॥ ११ ॥

पदार्थः—(इन्द्राग्नी) इन्द्रो विद्युदग्नी सूर्य्यमेव (अव्यथमानाम्) अपीडितामचलिताम् (इष्टकाम्) इष्टं कर्मयस्यास्ताम् (दृꣳहतम्) वर्धेताम्

(युवम्) युवाम् (पृष्ठेन) (द्यावापृथिवी) प्रकाशभूमी (अन्तरिक्षम्) आकाशम् (च) (वि) (बाधसे)॥ ११॥

अन्वयः—हे इन्द्राग्नी इव वर्त्तमानौ स्त्रीपुरुषौ युवं युवामव्यथमानां वृद्धिं प्राप्येष्टकामिव गृहाश्रमं दृंहतम्। यथा द्यावापृथिवी पृष्ठेनान्तरिक्षं बाधेते तथा दुःखानि शत्रूंश्च बाधेथाम्। हे पुरुष यथा त्वमेतस्याः स्वपत्न्याः पीडां विबाधसे तथा चेयमपि तव पीडां बाधताम्॥ ११॥

भावार्थः—अत्र श्लेषवाचकलु०—यथा विद्युत्सूर्य्यावपो वर्षित्वौषध्यादीन् वर्धयतस्तथैव स्त्रीपुरुषौ कुटुम्बं वर्धयेताम्। यथा प्रकाशः पृथिवी आकाशमाच्छादयतस्तथैव गृहाश्रमव्यवहारमलंकुर्य्याताम्॥ ११॥

पदार्थः—हे (इंद्राग्नी) बिजुली और सूर्य्य के समान वर्त्तमान स्त्री पुरुषो (युवम्) तुम दोनों (अव्यथमानाम्) जमी हुई वृद्धि को प्राप्त होके (इष्टकाम्) ईंट के समान गृहाश्रम को (दृंहतम्) दृढ़ करो जैसे (द्यावापृथिवी) प्रकाश और भूमि (पृष्ठेन) पीठ से आकाश को बांधते हैं वैसे तुम दुःख और शत्रुओं की बाधा करो हे पुरुष जैसे तू इस अपनी स्त्री की पीड़ा को (विबाधसे) विशेष करके हटाता है वैसे यह स्त्री भी तेरी सकल पीड़ा को हरा करे॥ ११॥

भावार्थः—इस मन्त्र में श्लेष और वाचकलु०—जैसे बिजुली और सूर्य्य जल वर्षा ओषधि आदि पदार्थों को बढ़ाते हैं वैसे ही स्त्री पुरुष कुटुम्ब को बढ़ावें जैसे प्रकाश और पृथिवी आकाश का आवरण करते हैं वैसे ही गृहाश्रम के व्यवहारों को पूर्ण करें॥ ११॥

विश्वकर्मेत्यस्य विश्वकर्मर्षिः। वायुर्देवता। विकृतिश्छन्दः।
मध्यमः स्वरः॥

पुनस्तमेव विषयमाह॥
फिर वही विषय अगले मंत्र में उपदेश किया है॥

विश्वकर्मा त्वा सादयत्वन्तरिक्षस्य पृष्ठे व्यचस्वतीं प्रथस्वतीमन्तरिक्षं यच्छान्तरिक्षं दृꣳहान्तरिक्षं मा हिꣳसीः। विश्वस्मै प्राणायाऽपानाय व्यानायोदानाय प्रतिष्ठायै चरित्राय वायुष्ट्वाऽभिपातु मह्या स्वस्त्या छर्दिषा शन्तमेन तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद ॥ १२ ॥

विश्वकर्मेति विश्वऽकर्मा। त्वा। सादयतु। अन्तरिक्षस्य। पृष्ठे। व्यचस्वतीमिति व्यचःऽवतीम्। प्रथस्वतीम्। अन्तरिक्षम्। यच्छ। अन्तरिक्षम्। दृꣳह। अन्तरिक्षम्। मा। हिꣳसीः। विश्वस्मै। प्राणाय। अपानाय। व्यानाय। उदानाय। प्रतिष्ठायै। चरित्राय। वायुः। त्वा। अभि। पातु। मह्या। स्वस्त्या। छर्दिषा। शन्तमेन। तया। देवतया। अङ्गिरस्वत्। ध्रुवा। सीद ॥ १२ ॥

पदार्थः—(विश्वकर्मा) अखिलशुभक्रियाकुशलः (त्वा) त्वाम् (सादयतु) संस्थापयतु (अन्तरिक्षस्य) आकाशस्य (पृष्ठे) भागे (व्यचस्वतीम्) प्रशस्तं व्यचो विज्ञानं सत्करणं विद्यते यस्यास्ताम् (प्रथस्वतीम्) उत्तमविस्तीर्णविद्यायुक्ताम् (अन्तरिक्षम्) जलम्। अन्तरिक्षमित्युदकनाम०। निघं० १। १२। (यच्छ) (अन्तरिक्षम्) प्रशस्तं शोधितमुदकम् (दृंह) (अन्तरिक्षम्) मधुरादिगुणयुक्तं रोगनाशकमुदकम् (मा) (हिंसीः) हिंस्याः (विश्वस्मै) समग्राय (प्राणाय) (अपानाय) (व्यानाय) (उदानाय) (प्रतिष्ठायै) (चरित्राय) शुभकर्माचाराय

(वायुः) प्राण इव (त्वा) (अभि) (पातु) (मह्या) महत्या (स्वस्त्या) सुखक्रियया (छर्दिषा) प्रकाशेन (शन्तमेन) अतिशयेन सुखकारकेण (तया) (देवतया) दिव्यसुखप्रदानक्रियया सह अङ्गिरस्वत् सूत्रात्मवायुवत् (ध्रुवा) निश्चलज्ञानयुक्ता (सीद) स्थिरा भव ॥ १२ ॥

अन्वयः—हे स्त्रि विश्वकर्मा पतिर्या व्यचस्वतीं प्रथस्वतीमन्तरिक्षस्य पृष्ठे त्वा सादयतु । सा त्वं विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानायोदानाय प्रतिष्ठायै चरित्रायान्तरिक्षं यच्छान्तरिक्षं दृंहान्तरिक्षं मा हिंसीः यो वायुः प्राण इव प्रियस्तव स्वामी मह्या स्वस्त्या छर्दिषा शन्तमेन त्वामभिपातु सा त्वं तया परयाऽनुपया देवतया सहाङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद ॥ १२ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—यथा पुरुषः स्त्रियं सत्कर्मसु नियोजयेत्तथा स्त्र्यपि स्वपतिं न प्रेरयेत् यतः सततमानन्दो वर्द्धेत ॥ १२ ॥

पदार्थः—हे स्त्रि (विश्वकर्मा) संपूर्ण शुभ कर्म करने में कुशल पति जिस (व्यचस्वतीम्) प्रशंसित विज्ञान वा सत्कार से युक्त (प्रथस्वतीम्) उत्तम विस्तृत विद्या वाली (अन्तरिक्षस्य) प्रकाश के (पृष्ठे) एक भाग में (त्वा) तुझ को (सादयतु) स्थापित करे सो तू (विश्वस्मै) सब (प्राणाय) प्राण (अपानाय) अपान (व्यानाय) व्यान और (उदानाय) उदानरूप शरीर के वायु तथा (प्रतिष्ठायै) प्रतिष्ठा (चरित्राय) और शुभ कर्मों के आचरण के लिये (अन्तरिक्षम्) जलादि को (यच्छ) दिया कर (अन्तरिक्षम्) प्रशंसित शुद्ध किये जल से युक्त अन्न और धनादि को (दृंह) बढ़ा और (अन्तरिक्षम्) मधुरता आदि गुणयुक्त रोगनाशक आकाशस्थ सब पदार्थों को (मा हिंसीः) नष्ट मत कर जिस (त्वा) तुझ को (वायुः) प्राण के तुल्य प्रिय पति (मह्या) बड़ी (स्वस्त्या) सुखरूप क्रिया (छर्दिषा) प्रकाश और (शन्तमेन) अति सुखदायक विज्ञान से तुझ को (अभिपातु) सब ओर से रक्षा करे सो तू (तया) उस (देवतया) दिव्य सुख देने वाली क्रिया के साथ वर्त्तमान पतिरूप देवता के साथ (अङ्गिरस्वत्) व्यापक वायु के समान (ध्रुवा) निश्चल ज्ञान से युक्त (सीद) स्थिर हो ॥ १२ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में श्लेष और वाचकलु०—जैसे पुरुष स्त्री को अच्छे कर्मों में नियुक्त करे वैसे स्त्री भी अपने पति को अच्छे कर्मों में प्रेरणा करे जिस से निरन्तर आनन्द बढ़े ॥ १२ ॥

राज्ञ्यसीत्यस्य विश्वदेव ऋषिः । दिशो देवताः ।
विराट् पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ।
फिर वही विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

राज्ञ्यसि प्राची दिग्विराडसि दक्षिणा दिक् सम्राडसि प्रतीची दिक् स्वराडस्युदीची दिगधिपत्न्यसि बृहती दिक् ॥ १३ ॥

राज्ञी । असि । प्राची । दिक् । विराडिति विऽराट् । असि । दक्षिणा । दिक् । सम्राडिति सम्ऽराट् । असि । प्रतीची । दिक् । स्वराडिति स्वऽराट् । असि । उदीची । दिक् । अधिपत्नीत्यधिऽपत्नी । असि । बृहती । दिक् ॥ १३ ॥

पदार्थः—(राज्ञी) राजमाना (असि) (प्राची) पूर्वा (दिक्) दिगिव (विराट्) विविधविनयविद्याप्रकाशयुक्ता (असि) (दक्षिणा) (दिक्) दिगिव (सम्राट्) सम्यक् सुखे भूगोले राजमाना (असि) (प्रतीची) पश्चिमा (दिक्) (स्वराट्) या स्वयं राजते सा (असि) (उदीची) उत्तरा (दिक्) (अधिपत्नी) गृहेऽधिकृता स्त्री (असि) (बृहती) महती (दिक्) अध ऊर्ध्वा ॥ १३ ॥

अन्वयः—हे स्त्रि या त्वं प्राची दिगिव राज्ञ्यसि दक्षिणा दिगिव विराडसि प्रतीची दिगिव सम्राडस्युदीची दिगिव स्वराडसि बृहती दिगिवाधिपत्न्यसि सा त्वं सर्वान् पत्यादीन् प्रीणीहि ॥ १३ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०— यथा दिशः सर्वतोऽभिव्याप्ता विद्याविका अचञ्चलाः सन्ति तथैव स्त्री शुभगुणकर्मस्वभावैः सहिता स्यात् ॥ १३ ॥

पदार्थः—हे स्त्रि जो तू (प्राची) पूर्व (दिक्) दिशा के तुल्य (राज्ञी) प्रकाशमान (असि) है (दक्षिणा) दक्षिण (दिक्) दिशा के समान (विराट्) अनेक प्रकार का विनय और विद्या के प्रकाश से युक्त (असि) है (प्रतीची) पश्चिम (दिक्) दिशा के सदृश (सम्राट्) चक्रवर्ती राजा के सदृश अच्छे सुखयुक्त पृथिवी पर प्रकाशमान (असि) है (उदीची) उत्तर (दिक्) दिशा के तुल्य (स्वराट्) स्वयं प्रकाशमान (असि) है (बृहती) बड़ी (दिक्) ऊपर नीचे की दिशा के तुल्य (अधिपत्नी) घर में अधिकार को प्राप्त हुई (असि) है सो तू सब पति आदि को तृप्त कर ॥ १३ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु०—जैसे दिशा सब ओर से अभिव्याप्त बोध करने हारी चंचलतारहित हैं वैसे ही स्त्री शुभ गुणकर्म और स्वभावों से युक्त होवे ॥ १३ ॥

विश्वकर्मेत्यस्य विश्वेदेवा ऋषयः । वायुर्देवता । स्वराड्
ब्राह्मी बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥
फिर भी उक्त विषय ही अगले मंत्र में कहा है ॥

विश्वकर्मा त्वा सादयत्वन्तरिक्षस्य पृष्ठे ज्योतिष्मतीम् । विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानाय विश्वं ज्योतिर्यच्छ । वायुष्टेऽधिपतिस्तया देवतयाङ्गिरस्वद्ध्रुवा सीद ॥ १४ ॥

विश्वकर्मेति विश्वऽकर्मा । त्वा । सादयतु । अन्तरिक्षस्य । पृष्ठे । ज्योतिष्मतीमिति ज्योतिःऽमतीम् । विश्वस्मै ।

प्राणाय॑ । अ॒पा॒नाय॑ । व्या॒नाय॑ । विश्व॑म् । ज्योति॑ः । य॒च्छ॒ । वा॒युः । ते॒ । अधि॑पति॒रित्यधि॑ऽपतिः । तया॑ । दे॒वत॑या । अ॒ङ्गि॒र॒स्वत् । ध्रु॒वा । सी॒द॒ ॥ १४ ॥

पदार्थः—(विश्वकर्मा) सकलेष्टक्रियः (त्वा) त्वाम् (सादयतु) (अन्तरिक्षस्य) जलस्य (पृष्ठे) उपरिभागे (ज्योतिष्मतीम्) बहु ज्योतिर्विद्यते यस्यास्ताम् (विश्वस्मै) सर्वस्मै (प्राणाय) (अपानाय) (व्यानाय) (विश्वम्) संपूर्णम् (ज्योतिः) विज्ञानम् (यच्छ) गृहाण (वायुः) प्राण इव प्रियः (ते) तव (अधिपतिः) (तया) (देवतया) (अङ्गिरस्वत्) सूर्यवत् (ध्रुवा) दृढा (सीद) ॥ १४ ॥

अन्वयः—हे स्त्रि या ज्योतिष्मतीं त्वा विश्वस्मै प्राणायाऽपानाय व्यानायाऽन्तरिक्षस्य पृष्ठे विश्वकर्मा सादयतु सा त्वं विश्वं ज्योतिर्यच्छ यो वायुरिव तेऽधिपतिरस्ति तया देवतया सह ध्रुवाङ्गिरस्वत् सीद ॥ १४ ॥

भावार्थः—स्त्री ब्रह्मचर्येण स्वयं विदुषी भूत्वा शरीरात्मबलवर्द्धनाय स्वापत्येभ्यो विज्ञानं सततं प्रदद्यादिति ग्रीष्मर्त्तुव्याख्यानं कृतम् ॥ १४ ॥

पदार्थः—हे स्त्रि जिस (ज्योतिष्मतीम्) बहुत विज्ञान वाली (त्वा) तुझ को (विश्वस्मै) सब (प्राणाय) प्राण (अपानाय) अपान और (व्यानाय) व्यान की पुष्टि के लिये (अन्तरिक्षस्य) जल के (पृष्ठे) ऊपरले भाग में (विश्वकर्मा) सब शुभ कर्मों का चाहने हारा पति (सादयतु) स्थापित करे सो तू (विश्वम्) संपूर्ण (ज्योतिः) विज्ञान को (यच्छ) ग्रहण कर जो (वायुः) प्राण के समान प्रिय (ते) तेरा (अधिपतिः) स्वामी है (तया) उस (देवतया) देवस्वरूप पति के साथ (ध्रुवा) दृढ़ (अङ्गिरस्वत्) सूर्य के समान (सीद) स्थिर हो ॥ १४ ॥

भावार्थः—स्त्री को उचित है कि ब्रह्मचर्याश्रम के साथ आप विद्वान् हो के शरीर आत्मा का बल बढ़ाने के लिये अपने सन्तानों को निरन्तर विज्ञान देवे । यहांतक ग्रीष्म ऋतु का व्याख्यान पूरा हुआ ॥ १४ ॥

नभश्चेत्यस्य विश्वदेव ऋषिः । ऋतवो देवताः ।
स्वराडुत्कृतिश्छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

अथ वर्षर्त्तुर्व्याख्यायते ॥

अब वर्षा ऋतु का व्याख्यान अगले मन्त्र में कहा है ॥

नभश्च नभस्यश्च वार्षिकावृतू अग्नेरन्तःश्लेषोऽसि कल्पेतां द्यावापृथिवी कल्पन्तामापऽओषधयः कल्पन्तामग्नयः पृथङ्मम ज्यैष्ठ्याय सव्रताः । ये अग्नयः समनसोऽन्तरा द्यावापृथिवी इमे वार्षिकावृतू अभिकल्पमाना इन्द्रमिव देवा अभिसंविशन्तु तया देवतयाऽङ्गिरस्वद् ध्रुवे सीदतम् ॥ १५ ॥

नभः । च । नभस्यः । च । वार्षिकौ । ऋतू इत्यृतू । अग्नेः । अन्तःश्लेष इत्यन्तःश्लेषः । असि । कल्पेताम् । द्यावापृथिवी इति द्यावापृथिवी । कल्पन्ताम् । आपः । ओषधयः । कल्पन्ताम् । अग्नयः । पृथक् । मम । ज्यैष्ठ्याय । सव्रता इति सऽव्रताः । ये । अग्नयः । समनस इति सऽमनसः । अन्तरा । द्यावापृथिवी इति द्यावापृथिवी । इमे इतीमे । वार्षिकौ । ऋतू इत्यृतू । अभिकल्पमाना इत्यभिऽकल्पमानाः । इन्द्रमिवेतीन्द्रम्ऽइव । अभिसंविशन्त्वित्यभि-

भि॒ऽसंवि॑शन्तु । तया॑ । दे॒वत॑या । अ॒ङ्गि॒र॒स्वत् । ध्रु॒वे इति॑ ध्रु॒वे । सी॒द॒त॒म् ॥ १५ ॥

पदार्थः—(नभः) नह्यन्ति घना यस्मिन् स श्रावणो मासः (च) (नभस्यः) नभस्सु भवो भाद्रपदः (च) (वार्षिकौ) वर्षासु भवौ (ऋतू) वर्षर्तुसम्बन्धिनौ (अग्नेः) ऊष्मणः (अन्तःश्लेषः) मध्ये स्पर्शो यस्य (असि) अस्ति (कल्पेताम्) (द्यावापृथिवी) (कल्पन्ताम्) (आपः) (ओषधयः) (कल्पन्ताम्) (अग्नयः) (पृथक्) (मम) (ज्यैष्ठ्याय) महत्त्वभावाय (सव्रताः) समानानि व्रतानि नियमा येषान्ते (ये) (अग्नयः) (समनसः) समानं मनो ज्ञानं येभ्यस्ते (अन्तरा) मध्ये (द्यावापृथिवी) (इमे) (वार्षिकौ) वर्षासु भवौ (ऋतू) वृष्टिप्रापकौ (अभिकल्पमानाः) आभितः सुखाय समर्थयन्तः (इन्द्रमिव) यथा विद्युतम् (अभिसंविशन्तु) आभिमुख्येन सम्यक् प्रविशन्तु (तया) (देवतया) (अङ्गिरस्वत्) (ध्रुवे) (सीदतम्) ॥ १५ ॥

अन्वयः—हे स्त्रीपुरुषौ युवां यौ नभश्च नभस्यश्च वार्षिकावृतू मम ज्यैष्ठ्याय कल्पेतां ययोरग्नेरन्तः श्लेषोऽस्यस्ति याभ्यां सह द्यावापृथिवी कल्पेतां ताभ्यां युवां कल्पेतां यथाप ओषधयश्च कल्पन्तामग्नयः पृथक् कल्पन्ते तथा सव्रताः समनसोऽग्नयः कल्पन्तां य इमे द्यावापृथिवी कल्पेते तौ वार्षिकावृतू अभिकल्पमाना देवा इन्द्रमिव तया देवतया सहाऽभिसंविशन्तु तयोरन्तराऽङ्गिरस्वद् ध्रुवे सीदतम् ॥ १५ ॥

भावार्थः—अत्रोपमावाचकलु०—मनुष्यैर्विद्वद्वद्वर्षासु सामग्री संप्राप्य यथा वर्त्तौ सर्वाणि सुखानि भवेयुः ॥ १५ ॥

पदार्थः—हे स्त्री पुरुषो तुम दोनों जो (नभः) प्रबन्धित मेघोंवाला श्रावण (च) और (नभस्यः) वर्षा का मध्यभागी भाद्रपद (च) ये दोनों (वार्षिकौ) वर्षा (ऋतू) ऋतु के महीने (मम) मेरे (ज्यैष्ठ्याय) प्रशंसित होने के लिये हैं जिन में (अग्नेः) उष्णता तथा (अन्तश्श्लेषः) जिन के मध्य में शीत

का स्पर्श (असि) होता है जिन के साथ (द्यावापृथिवी) आकाश और भूमि समर्थ होते हैं उन के भोग में तुम दोनों (कल्पेताम्) समर्थ हो जैसे ऋतु योग से (आपः) जल और (ओषधयः) ओषधी वा (अग्नयः) अग्नि (पृथक्) जल से अलग समर्थ होते हैं वैसे (सव्रताः) एक प्रकार के श्रेष्ठ नियम (समनसः) एक प्रकार का ज्ञान देने हारे (अग्नयः) तेजस्वी लोग (कल्पन्ताम्) समर्थ होवें (ये) जो (इमे) (द्यावापृथिवी) आकाश और भूमि वर्षा ऋतु के गुणों में समर्थ होते हैं उन को (वार्षिकौ) (ऋतू) वर्षाऋतुरूप (अभिकल्पमानाः) सब ओर से सुख के लिये समर्थ करते हुए विद्वान् लोग (इन्द्रमिव) बिजुली के समान प्रकाश और बल को (तया) उस (देवतया) दिव्य वर्षा ऋतु के साथ (अभिसंविशन्तु) सन्मुख होकर अच्छे प्रकार स्थित होवें (अन्तरा) उन दोनों महीनों में प्रवेश करके (अङ्गिरस्वत्) प्राण के समान परस्पर प्रेमयुक्त (ध्रुवे) निश्चल (सीदतम्) रहो ॥ १५ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में उपमा और वाचकलु०—सब मनुष्यों को चाहिये कि विद्वानों के समान वर्षा ऋतु में वह सामग्री ग्रहण करें जिस से सब सुख होवें ॥ १५ ॥

इषश्चेत्यस्य विश्वेदेवा ऋषयः । ऋतवो देवताः ।
भुरिगुत्कृतिश्छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

अथ शारदर्तुव्याख्यानमाह ॥
अब शरद् ऋतु का व्याख्यान अगले मन्त्र में किया है ॥

इषश्चोर्जश्च शारदावृतू अग्नेरन्तःश्लेषोऽ-
सि कल्पेतां द्यावापृथिवी कल्पन्तामाप ओषधयः
कल्पन्तामग्नयः पृथङ् मम ज्यैष्ठ्याय सव्रताः ।
ये अग्नयः समनसोऽन्तरा द्यावापृथिवी इमे

शा॒र॒दावृ॒तू अ॑भि॒कल्प॑माना॒ इन्द्र॑मिव दे॒वा अ॑भि॒सं॑विशन्तु॒ तया॑ दे॒वत॑याङ्गिर॒स्वद् ध्रु॒वे सी॑दताम्॥१६॥

इ॒षः। च॒। ऊ॒र्जः। च॒। शा॒र॒दौ। ऋ॒तू इत्यृ॒तू। अ॒ग्नेः। अ॒न्तः॒श्ले॒ष इत्य॑न्तःऽश्ले॒षः। अ॒सि॒। कल्पे॑ताम्। द्यावा॑पृथि॒वी इति॒ द्यावा॑पृथि॒वी। कल्प॑न्ताम्। आपः॑। ओष॑धयः। कल्प॑न्ताम्। अ॒ग्नयः॑। पृथ॑क्। मम॑। ज्यैष्ठ्या॑य। सव्र॑ता॒ इति॒ सऽव्र॑ताः। ये। अ॒ग्नयः॑। सम॑नस॒ इति॒ सऽम॑नसः। अ॒न्त॒रा। द्यावा॑पृथि॒वी इति॒ द्यावा॑पृथि॒वी। इ॒मे इती॒मे। शा॒र॒दौ। ऋ॒तू इत्यृ॒तू। अ॒भि॒कल्प॑माना॒ इत्य॑भि॒ऽकल्प॑मानाः। इन्द्र॑मि॒वेतीन्द्र॑म्ऽइव। अ॒भि॒सं॒वि॒श॒न्त्वित्य॑भि॒ऽसं॒वि॒श॒न्तु। तया॑। दे॒वत॑या। अ॒ङ्गि॒र॒स्वत्। ध्रु॒वे इति॑ ध्रु॒वे। सी॒द॒त॒म्॥१६॥

पदार्थः—(इषः) इष्यतेऽसावाश्विनो मासः (च) (ऊर्जः) ऊर्जयन्ति सर्वे पदार्था यस्मिन् स कार्त्तिकः (च) (शारदौ) शरदि भवौ (ऋतू) बलप्रदौ (अग्नेः) (अन्तःश्लेषः) मध्यस्पर्शः (असि) अस्ति (कल्पेताम्) (द्यावापृथिवी) (कल्पन्ताम्) (आपः) (ओषधयः) (कल्पन्ताम्) (अग्नयः) बहिःस्थाः (पृथक्) (मम) (ज्यैष्ठ्याय) प्रशस्तसुखभावाय (सव्रताः) सनियमाः (ये) (अग्नयः) शरीरस्थाः (समनसः) मनसा सह वर्त्तमानाः (अन्तरा) मध्ये (द्यावापृथिवी) (इमे) (शारदौ) (ऋतू) (अभिकल्पमानाः) (इन्द्रमिव) (देवाः) (अभिसंविशन्तु) (तया) (देवतया) सह (अङ्गिरस्वत्) आकाशवत् (ध्रुवे) निश्चलसुखे (सीदतम्) सीदतः। अत्र पुरुषव्यत्ययः॥१६॥

अन्वयः—हे मनुष्या या विषश्चोर्जश्च शारदावृतू यथा मम ज्यैष्ठ्याय भवतो ययोरग्नेरन्तःश्लेषोऽस्त्यस्ति। तौ द्यावापृथिवी कल्पेतामाप ओषधयश्च

कल्पन्ताम् । सव्रता अग्नयः पृथक् कल्पन्ताम् । येऽन्तरा समनसोऽग्नय इमे द्यावापृथिवी कल्पेताम् । शारदावृतू इन्द्रमिवाभि कल्पमाना देवा अभिसंविशन्तु तया तया देवतया सह ध्रुवे सीदतं गच्छतः ॥ १६ ॥

भावार्थः—अत्रोपमालं०-हे मनुष्या ये शरदृतुयुक्ताः पदार्थाः सन्ति तान् यथायोग्यं संस्कृत्य सेवध्वम् ॥ १६ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो जैसे (इषः) चाहने योग्य क्वार महीना (च) और (ऊर्जः) अन्न पदार्थों के बलवान् होने का हेतु कार्तिक (च) ये दोनों (शारदौ) शरद् (ऋतू) ऋतु के महीने (मम) मेरे (जैष्ठ्याय) प्रशंसित सुख होने के लिये होते हैं जिन के (अन्तःश्लेषः) मध्य में किञ्चित् शीतस्पर्श (असि) होता है वे (द्यावापृथिवी) अवकाश और पृथिवी को (कल्पेताम्) समर्थ करें (आपः) जल और (ओषधयः) ओषधियां (कल्पन्ताम्) समर्थ होवें (सव्रताः) सब कार्यों के नियम करने हारे (अग्नयः) शरीर के अग्नि (पृथक्) अलग (कल्पन्ताम्) समर्थ हों (ये) जो (अन्तरा) बीच में (समनसः) मन के सम्बन्धी (अग्नयः) बाहर के भी अग्नि (इमे) इन (द्यावापृथिवी) आकाश भूमि को (कल्पेताम्) समर्थ करें (शारदौ) शरद् (ऋतू) ऋतु के दोनों महीनों में (इन्द्रमिव) परमैश्वर्य के तुल्य (अभिकल्पमानाः) सब ओर से आनंद की इच्छा करते हुए (देवाः) विद्वान् लोग (अभिसंविशन्तु) प्रवेश करें (तया) उस (देवतया) दिव्य शरदृतु रूप देवता के नियम के साथ (ध्रुवे) निश्चल सुख वाले (सीदतम्) प्राप्त होते हैं वैसे तुम लोगों को (ज्यैष्ठ्याय) प्रशंसित सुख होने के लिये भी होने योग्य हैं ॥ १६ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में उपमालं०-हे मनुष्यो जो शरद् ऋतु में उपयोगी पदार्थ हैं उन का यथायोग्य शुद्ध करके सेवन करो ॥ १६ ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर भी पूर्वोक्त विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

आयुर्मे पाहि प्राणं मे पाह्यपानं मे पाहि व्यानं मे पाहि चक्षुर्मे पाहि श्रोत्रं मे पाहि वाचंम्मे पिन्व मनो मे जिन्वात्मानं मे पाहि ज्योतिर्मे यच्छ ॥ १७ ॥

आयुः । मे । पाहि । प्राणम् । मे । पाहि । अपानमित्यपऽआनम् । मे । पाहि । व्यानमिति विऽआनम् । मे । पाहि । चक्षुः । मे । पाहि । श्रोत्रम् । मे । पाहि । वाचम् । मे । पिन्व । मनः । मे । जिन्व । आत्मानम् । मे । पाहि । ज्योतिः । मे । यच्छ ॥ १७ ॥

पदार्थः—(आयुः) जीवनम् (मे) मम (पाहि) (प्राणम्) (मे) (पाहि) (अपानम्) (मे) (पाहि) (व्यानम्) (मे) (पाहि) (चक्षुः) दर्शनम् (मे) (पाहि) (श्रोत्रम्) श्रवणम् (मे) (पाहि) (वाचम्) वाणीम् (मे) (पिन्व) सुशिक्षया सिंच (मनः) (मे) (जिन्व) प्रीणीहि (आत्मानम्) चेतनम् (मे) (पाहि) (ज्योतिः) विज्ञानम् (मे) मह्यम् (यच्छ) देहि ॥ १७ ॥

अन्वयः—हे स्त्रि पुरुष वा त्वं शरदृतावायुर्मे पाहि प्राणं मे पाह्यपानं मे पाहि व्यानं मे पाहि चक्षुर्मे पाहि श्रोत्रं मे पाहि वाचं मे पिन्व मनो मे जिन्वात्मानं मे पाहि ज्योतिर्मे यच्छ ॥ १७ ॥

भावार्थः—स्त्री पुरुषस्य पुरुषः स्त्रियाश्च यथाऽऽयुरादीनां वृद्धिः स्यात्तथैव नित्यमाचरेताम् ॥ १७ ॥

पदार्थः—हे स्त्री वा पुरुष तू शरद् ऋतु में (मे) मेरी (आयुः) अवस्था की (पाहि) रक्षा कर (मे) मेरे (प्राणम्) प्राण की (पाहि) रक्षा

कर (मे) मेरे (अपानम्) अपान वायु की (पाहि) रक्षा कर (मे) मेरे (व्यानम्) व्यान की (पाहि) रक्षा कर (मे) मेरे (चक्षुः) नेत्रों की (पाहि) रक्षा कर (मे) मेरे (श्रोत्रम्) कानों की (पाहि) रक्षा कर (मे) मेरी (वाचम्) वाणी को (पिन्व) अच्छी शिक्षा से युक्त कर (मे) मेरे (मनः) मन को (जिन्व) तृप्त कर (मे) मेरे (आत्मानम्) चेतन आत्मा की (पाहि) रक्षा कर और (मे) मेरे लिये (ज्योतिः) विज्ञान का (यच्छ) दान कर ॥ १७ ॥

भावार्थः—स्त्री पुरुष का और पुरुष स्त्री की जैसे अवस्था आदि की वृद्धि होवे वैसे परस्पर नित्य आचरण करें ॥ १७ ॥

माछन्द इत्यस्य विश्वदेव ऋषिः । छन्दांसि देवता । भुरिगतिजगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

स्त्रीपुरुषैः कथं विज्ञानं वर्द्धनीयमित्याह ॥
स्त्री पुरुषों को कैसे विज्ञान बढ़ाना चाहिये इस वि० ॥

माच्छन्दः॑ प्र॒माच्छन्दः॑ प्रति॒माच्छन्दो॑ अस्त्री॒व॒यश्छन्दः॑ प॒ङ्क्तिश्छन्दः॑ उ॒ष्णिक् छन्दो॑ बृह॒ती छन्दो॑ऽनु॒ष्टुप्छन्दो॑ वि॒राट् छन्दो॑ गा॒य॒त्री छन्द॑स्त्रि॒ष्टुप्छन्दो॒ जग॑ती॒ छन्दः॑ ॥ १८ ॥

मा । छन्दः॑ । प्र॒मेति॑ प्र॒ऽमा । छन्दः॑ । प्र॒ति॒मेति॑ प्रति॒ऽमा । छन्दः॑ । अ॒स्त्री॒वयः॑ । छन्दः॑ । प॒ङ्क्तिः । छन्दः॑ । उ॒ष्णिक् । छन्दः॑ । बृ॒ह॒ती । छन्दः॑ । अ॒नु॒ष्टुप् । अ॒नु॒स्तु॒पित्य॑नु॒ऽस्तुप् । छन्दः॑ । वि॒राडिति॑ वि॒ऽराट् । छन्दः॑ । गा॒य॒त्री । छन्दः॑ । त्रि॒ष्टुप् । त्रि॒स्तु॒बिति॑ त्रि॒ऽस्तुप् । छन्दः॑ । जग॑ती । छन्दः॑ ॥ १८ ॥

पदार्थः—(मा) यया मीयते सा (छन्दः) आनन्दकरी (प्रमा) यया प्रमीयते सा प्रज्ञा (छन्दः) बलम् (प्रतिमा) प्रतिमीयते यया क्रियया सा (छन्दः) (अस्रीवयः) यदस्रयति कामयते च तदस्रीवयोऽन्नादिकम् (छन्दः) बलकारि (पङ्क्तिः) पंचावयवो योगः (छन्दः) प्रकाशः (उष्णिक्) स्नेहनम् (छन्दः) (बृहती) महती प्रकृतिः (छन्दः) (अनुष्टुप्) सुखानामनुष्टम्भनम् (छन्दः) (विराट्) विविधविद्याप्रकाशनम् (छन्दः) (गायत्री) या गायन्तं त्रायते सा (छन्दः) (त्रिष्टुप्) यया त्रीणि सुखानि स्तोभति सा (छन्दः) (जगती) गच्छति सर्वं जगद्यस्यां सा (छन्दः) ॥ १८ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या युष्माभिर्माछन्दः प्रमाछन्दः प्रतिमा छन्दोऽस्रीवयश्छन्द पङ्क्तिश्छन्द उष्णिक् छन्दो बृहती छन्दोऽनुष्टुप् छन्दो विराट् छन्दो गायत्री छन्दस्त्रिष्टुप् छन्दो जगती छन्दः स्वीकृत्य विज्ञाय च सुखयितव्यम् ॥ १८ ॥

भावार्थः—ये मनुष्याः प्रमादिभिः साध्यानि धर्म्याणि कर्माणि साध्नुयन्ति ते सुखालंकृता भवन्ति ॥ १८ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो तुम लोग (मा) परिमाण का हेतु (छन्दः) आनन्दकारक (प्रमा) प्रमाण का हेतु बुद्धि (छन्दः) बल (प्रतिमा) जिस से प्रतीति निश्चय की क्रिया हेतु (छन्दः) स्वतंत्रता (अस्रीवयः) बल और कान्तिकारक अन्नादि पदार्थ (छन्दः) बलकारी विज्ञान (पङ्क्तिः) पांच अवयवों से युक्त योग (छन्दः) प्रकाश (उष्णिक्) स्नेह (छन्दः) प्रकाश (बृहती) बड़ी प्रकृति (छन्दः) आश्रय (अनुष्टुप्) सुखों का आलम्बन (छन्दः) भोग (विराट्) विविध प्रकार की विद्याओं का प्रकाश (छन्दः) विज्ञान (गायत्री) गाने वाले का रक्षक ईश्वर (छन्दः) उसका बोध (त्रिष्टुप्) तीन सुखों का आश्रय (छन्दः) आनन्द और (जगती) जिस में सब जगत् चलता है उस (छन्दः) पराक्रम को ग्रहण कर और ज्ञान के सब को सुखयुक्त करो ॥ १८ ॥

भावार्थः—जो मनुष्य निश्चय के हेतु आनन्द आदि से साध्य धर्मयुक्त कर्मों को सिद्ध करते हैं वे सुखों से शोभायमान होते हैं ॥ १८ ॥

पृथिवी छन्द इत्यस्य विश्वदेवर्षिः । पृथिव्यादयो देवताः । आर्षी जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर वही उक्त विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पृथिवी छन्दोऽन्तरिक्षञ्छन्दो द्यौश्छन्दः समाश्छन्दो नक्षत्राणिच्छन्दो वाक्छन्दो मनश्छन्दः कृषिश्छन्दो हिरण्यञ्छन्दो गौश्छन्दोऽजाछन्दोऽश्वश्छन्दः ॥ १९ ॥

पृथिवी । छन्दः । अन्तरिक्षम् । छन्दः । द्यौः । छन्दः । समाः । छन्दः । नक्षत्राणि । छन्दः । वाक् । छन्दः । मनः । छन्दः । कृषिः । छन्दः । हिरण्यम् । छन्दः । गौः । छन्दः । अजा । छन्दः । अश्वः । छन्दः ॥ १९ ॥

पदार्थः—(पृथिवी) भूमिः (छन्दः) स्वच्छन्दा (अन्तरिक्षम्) आकाशम् (छन्दः) (द्यौः) प्रकाशः (छन्दः) (समाः) वर्षाणि (छन्दः) (नक्षत्राणि) (छन्दः) (वाक्) (छन्दः) (मनः) (छन्दः) (कृषिः) भूमिविलेखनम् (छन्दः) (हिरण्यम्) सुवर्णम् (छन्दः) (गौः) (छन्दः) (अजा) (छन्दः) (अश्वः) (छन्दः) ॥ १९ ॥

अन्वयः—हे स्त्रीपुरुषा यूयं यथा पृथिवी छन्दोऽन्तरिक्षं छन्दो द्यौश्छन्दः समाश्छन्दो नक्षत्राणि छन्दो वाक् छन्दो मनश्छन्दः कृषिश्छन्दो

हिरण्यं छन्दो गौश्छन्दोऽजाछन्दोऽश्वश्छन्दोऽस्ति तथा विद्याविनयधर्माचरणेषु स्वाधीनतया वर्त्तध्वम् ॥ १९ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—स्त्रीपुरुषैः स्वच्छविद्याक्रियाभ्यां स्वातन्त्र्येण पृथिव्यादिपदार्थानां गुणादीन् विज्ञाय कृष्यादिकर्मभिः सुवर्णादिं प्राप्य गवादीन् संरक्ष्यैश्वर्यमुन्नेयम् ॥ १९ ॥

पदार्थः—हे स्त्री पुरुषो तुम लोग जैसे (पृथिवी) भूमि (छन्दः) स्वतंत्र (अन्तरिक्षम्) आकाश (छन्दः) आनन्द (द्यौः) प्रकाश (छन्दः) विज्ञान (समाः) वर्ष (छन्दः) बुद्धि (नक्षत्राणि) तारे लोक (छन्दः) स्वतंत्र (वाक्) वाणी (छन्दः) सत्य (मनः) मन (छन्दः) निष्कपट (कृषिः) जोतना (छन्दः) सम्पत्ति (हिरण्यम्) सुवर्ण (छंदः) सुखदायी (गौः) गौ (छंदः) आनन्द-हेतु (अजा) बकरी (छन्दः) सुख का हेतु और (अश्वः) घोड़े आदि (छन्दः) स्वाधीन हैं वैसे विद्या विनय और धर्म के आचरण विषय में स्वाधीनता से वर्त्तो ॥ १९ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु०—स्त्री पुरुषों को चाहिये कि शुद्ध विद्या क्रिया और स्वतन्त्रता से पृथिवी आदि पदार्थों के गुण कर्म और स्वभावों को जान खेती आदि कर्मों से सुवर्ण आदि रत्नों को प्राप्त हों और गौ आदि पशुओं की रक्षा करके ऐश्वर्य्य बढ़ावें ॥ १९ ॥

अग्निर्देवतेत्यस्य विश्वदेव ऋषिः । अग्न्यादयो देवताः ।
भुरिग् ब्राह्मी त्रिष्टुप्छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर भी वही वि० ॥

अग्निर्देवता वातो देवता सूर्यो देवता चन्द्रमा देवता वसवो देवता रुद्रा देवताऽऽदित्या देवता म-

रुतो॑ दे॒वता॒ विश्वे॑ दे॒वा दे॒वता॒ बृह॒स्पति॑र्दे॒वतेन्द्रो॑ दे॒वता॒ वरु॑णो दे॒वता॑ ॥ २० ॥

अ॒ग्निः । दे॒वता॑ । वातः॑ । दे॒वता॑ । सूर्यः॑ । दे॒वता॑ । च॒न्द्रमाः॑ । दे॒वता॑ । वस॑वः । दे॒वता॑ । रु॒द्राः । दे॒वता॑ । आ॒दि॒त्याः । दे॒वता॑ । म॒रुतः॑ । दे॒वता॑ । विश्वे॑ । दे॒वाः । दे॒वता॑ । बृह॒स्पतिः॑ । दे॒वता॑ । इन्द्रः॑ । दे॒वता॑ । वरु॑णः । दे॒वता॑ ॥ २० ॥

पदार्थः—(अग्निः) प्रकटः पावकः (देवता) देव एव दिव्यगुणत्वात् (वातः) पवनः (देवता) (सूर्य्यः) सविता (देवता) (चन्द्रमाः) इन्दुः (देवता) (वसवः) वसुसंज्ञकाः प्रसिद्धाग्न्यादयोऽष्टौ (देवता) (रुद्राः) प्राणादय एकादश (देवता) (आदित्याः) द्वादश मासा वसुरुद्रादित्यसंज्ञका विद्वांसश्च (देवता) (मरुतः) ब्रह्माण्डस्थाः प्रसिद्धा मनुष्या विद्वांस ऋत्विजः । मरुत इत्यृत्विङ्नाम० । निघं० ३ । १८ । (देवता) (विश्वे) सर्वे (देवाः) दिव्यगुणयुक्ता मनुष्याः पदार्थाश्च (देवता) (बृहस्पतिः) बृहतो वचनस्य ब्रह्माण्डस्य वा पालकः (देवता) (इन्द्रः) विद्युत्परमैश्वर्य्यं वा (देवता) (वरुणः) जलं वरगुणाढ्यो योद्धा वा (देवता) ॥ २० ॥

अन्वयः—हे स्त्रीपुरुषा युष्माभिरग्निर्देवता वातो देवता सूर्य्यो देवता चन्द्रमा देवता वसवो देवता रुद्रा देवताऽऽदित्या देवता मरुतो देवता विश्वेदेवा देवता बृहस्पतिर्देवतेन्द्रो देवता वरुणो देवता सम्यग्विज्ञेयाः ॥ २० ॥

भावार्थः—ये दिव्याः पदार्था विद्वांसः सन्ति ते दिव्यगुणकर्मस्वभावत्वाद् देवतासंज्ञां लभन्ते । यश्च देवतानां देवतात्वान्महादेवः सर्वस्य धर्त्ता स्रष्टा पाता व्यवस्थापकः प्रलापकः सर्वशक्तिमानजोऽस्ति तमपि परमात्मानं सकलाधिष्ठातारं सर्वे मनुष्या जानीयुः ॥ २० ॥

पदार्थः—हे सत्पुरुषो तुम लोगों को योग्य है कि (अग्निः) प्रसिद्ध अग्नि (देवता) दिव्य गुण वाला (वातः) पवन (देवता) शुद्धगुणयुक्त (सूर्य्यः) सूर्य्य (देवता) अच्छे गुणों वाला (चन्द्रमाः) चन्द्रमा (देवता) शुद्ध गुणयुक्त (वसवः) प्रसिद्ध आठ अग्नि आदि वा प्रथम कक्षा के विद्वान् (देवता) दिव्यगुण वाले (रुद्राः) प्राण आदि ११ ग्यारह वा मध्यम कक्षा के विद्वान् (देवता) शुद्ध गुणों वाले (आदित्याः) बारह महीने वा उत्तम कक्षा के विद्वान् लोग (देवता) शुद्ध (मरुतः) मननकर्त्ता विद्वान् ऋत्विग् लोग (देवता) दिव्य गुण वाले (विश्वे) सब (देवता) अच्छे गुणों वाले विद्वान् मनुष्य वा दिव्य पदार्थ (देवता) देवसंज्ञा वाले हैं (बृहस्पतिः) बड़े वचन वा ब्रह्माण्ड का रक्षक परमात्मा (देवता) (इन्द्रः) बिजुली वा उत्तम धन (देवता) दिव्य गुणयुक्त और (वरुणः) जल वा श्रेष्ठ गुणों वाला पदार्थ (देवता) अच्छे गुणों वाला है इन को तुम निश्चय जानो ॥ २० ॥

भावार्थः—इस संसार में जो अच्छे गुणों वाले पदार्थ हैं वे दिव्य गुण कर्म और स्वभाव वाले होने से देवता कहाते हैं और जो देवतों का देवता होने से महादेव सब का धारक रचक रक्षक सब की व्यवस्था और प्रलय करने हारा सर्वशक्तिमान् दयालु न्यायकारी उत्पत्ति धर्म से रहित है उस सब के अधिष्ठाता परमात्मा को सब मनुष्य जानें ॥ २० ॥

मूर्द्धासीत्यस्य विश्वदेव ऋषिः । विदुषी देवता ।
निचृदनुष्टुप्छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥
किं प्रकारिकया विदुष्या भवितव्यमित्याह ॥
विद्वान् स्त्री कैसी हो इस वि० ॥

मूर्द्धासि राड् ध्रुवासि धरुणा धर्त्र्यसि धरणी ।
आयुषे त्वा वर्चसे त्वा कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा ॥ २१ ॥

मूर्द्धा । असि । राट् । ध्रुवा । असि । धरुणा । धर्त्री । असि । धरणी । आयुषे । त्वा । वर्चसे । त्वा । कृष्यै । त्वा । क्षेमाय । त्वा ॥ २१ ॥

पदार्थः—(मूर्द्धा) उत्कृष्टा (असि) (राट्) राजमाना (ध्रुवा) दृढा स्वकक्षायां गच्छन्त्यपि निश्चला (असि) (धरुणा) पुष्टिकर्त्री (धर्त्री) धारिका (असि) अग्नि (धरणी) आधारभूता (आयुषे) जीवनाय (त्वा) त्वाम् (वर्चसे) अन्नाय (त्वा) त्वाम् (कृष्यै) कृषिकर्मणे (त्वा) त्वाम् (क्षेमाय) रक्षणाय (त्वा) त्वाम् ॥ २१ ॥

अन्वयः—हे स्त्रि या त्वं सूर्य्यवन्मूर्द्धासि राडिव ध्रुवासि धरुणा धरणीव धर्त्र्यसि तामायुषे त्वा वर्चसे त्वा कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वामहं परिगृह्णामि ॥ २१ ॥

भावार्थः—यथोत्तमाङ्गेन स्थितेन शिरसा सर्वेषां जीवनं, राज्येन लक्ष्मीः, कृष्या अन्नादिकं, निवासेन रक्षणं जायते सेयं सर्वेषामाधारभूता मातृवन्मान्यकर्त्री भूमिर्वर्त्तते तथा सती विदुषी स्त्री भवेदिति ॥ २१ ॥

पदार्थः—हे स्त्री जो तू सूर्य के तुल्य (मूर्द्धा) उत्तम (असि) है (राट्) प्रकाशमान निश्चल के समान (ध्रुवा) निश्चल शुद्ध (असि) है (धरुणा) पुष्टि करने हारी (धरणी) आधार रूप पृथिवी के तुल्य (धर्त्री) धारण करने हारी (असि) है उस (त्वा) तुझे (आयुषे) जीवन के लिये उस (त्वा) तुझे (वर्चसे) अन्न के लिये उस (त्वा) तुझे (कृष्यै) खेती होने के लिये और उस (त्वा) तुझ को (क्षेमाय) रक्षा होने के लिये मैं सब ओर से ग्रहण करता हूं ॥ २१ ॥

भावार्थः—जैसे स्थित उत्तमांग शिर से सब का जीवन राज्य से लक्ष्मी खेती से अन्न आदि पदार्थ और निवास से रक्षा होती है सो यह सब का आधारभूत माता के तुल्य मान्य करने हारी पृथिवी है वैसे ही विद्वान् स्त्री को होना चाहिये ॥ २१ ॥

यन्त्रीत्यस्य विश्वदेव ऋषिः। विदुषी देवता
निचृदुष्णिक्छन्दः। ऋषभः स्वरः ॥

पुनः पत्नी कीदृशी स्यादित्याह ॥

फिर स्त्री कैसी होवे इस वि० ॥

यन्त्री राड् यन्त्र्यसि यमनी ध्रुवासि धरित्री। इषे त्वोर्जे त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा ॥२२॥

यन्त्री। राट्। यन्त्री। असि। यमनी। ध्रुवा। असि। धरित्री। इषे। त्वा। ऊर्जे। त्वा। रय्यै। त्वा। पोषाय। त्वा ॥ २२ ॥

पदार्थः—(यन्त्री) यन्त्रवत्स्थिता (राट्) प्रकाशमाना (यन्त्री) यन्त्रनिमित्ता (असि) (यमनी) आकर्षणेन नियन्तुं शीला आकाशवद्दृढा (ध्रुवा) (असि) (धरित्री) सर्वेषां धारिका (इषे) इच्छासिद्धये (त्वा) त्वाम् (ऊर्जे) पराक्रमप्राप्तये (त्वा) त्वाम् (रय्यै) धनाय (त्वा) त्वाम् (पोषाय) (त्वा) त्वाम् ॥ २२ ॥

अन्वयः—हे स्त्रि या त्वं यन्त्री राट् यन्त्री भूमिरिवाऽसि यमनी ध्रुवा धरित्र्यसि त्वेषेत्वोर्जे त्वा रय्यै त्वा पोषाय चाऽहं स्वीकरोमि ॥ २२ ॥

भावार्थः—या स्त्री भूमिवत् क्षमान्विताऽन्तरिक्षवदक्षोभा यन्त्रवज्जितेन्द्रिया भवति सा कुलदीपिकाऽस्ति ॥ २२ ॥

पदार्थः—हे स्त्रि जो तू (यन्त्री) यन्त्र के तुल्य स्थित (राट्) प्रकाशयुक्त (यन्त्री) यन्त्र का निमित्त पृथिवी के समान (असि) है (यमनी) आकर्षण शक्ति से नियम करने हारी (ध्रुवा) आकाश-सदृश दृढ़ निश्चल (धर्त्री) सब शुभगुणों का धारण करने वाली (असि) है (त्वा) तुझ को (इषे) इच्छा सिद्धि के लिये (त्वा) तुझ को (ऊर्जे) पराक्रम की प्राप्ति के लिये (त्वा) तुझ को (रय्यै) लक्ष्मी के लिये और (त्वा) तुझ को (पोषाय) पुष्टि होने के लिये मैं ग्रहण करता हूं ॥ २२ ॥

भावार्थः—जो स्त्री पृथिवी के समान क्षमायुक्त आकाश के समान निश्चल और यन्त्रकला के तुल्य जितेन्द्रिय होती है वह कुल का प्रकाश करने वाली है ॥ २२ ॥

आशुस्त्रिवृदित्यस्य विश्वेदेव ऋषिः । यज्ञो देवता । पूर्वस्य भुरिग्ब्राह्मी पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः । गर्भा इत्युत्तरस्य भुरिगतिजगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

अथ संवत्सरः कीदृशोऽस्तीत्याह ॥

अब संवत्सर कैसा है यह विषय अगले मन्त्र० ॥

आ॒शुस्त्रि॒वृद्भा॒न्तः प॑ञ्चद॒शो व्यो॒मा स॑प्तद॒शो ध॒रुणं॑ एकवि॒ꣳश॒: प्रतू॑र्त्तिरष्टाद॒शस्तपो॑ नवद॒शो॑ऽभीव॒र्त्तः स॑वि॒ꣳशो वर्चो॑ द्वावि॒ꣳशः स॒म्भर॑णस्त्रयोवि॒ꣳशो योनि॑श्चतुर्वि॒ꣳशः । गर्भा॑: पञ्चवि॒ꣳश ओज॑स्त्रिण॒वः क्रतु॑रेकत्रि॒ꣳशः प्र॑ति॒ष्ठा त्र॑यस्त्रि॒ꣳशो ब्र॒ध्नस्य॑ वि॒ष्टपं॑ चतुस्त्रि॒ꣳशो नाक॑: षट्त्रि॒ꣳशो वि॑व॒र्त्तो॑ऽष्टाचत्वारि॒ꣳशो ध॒र्त्रं च॑तुष्टो॒मः ॥ २३ ॥

आ॒शुः । त्रि॒वृदिति॑ त्रि॒ऽवृत् । भा॒न्तः । प॒ञ्च॒द॒श इति॑ पञ्चऽद॒शः । व्यो॒मेति॑ विऽओ॑मा । स॒प्त॒द॒श इति॑ स॒प्तऽद॒शः । ध॒रुणः॑ । ए॒क॒वि॒ꣳश इत्येक॑ऽवि॒ꣳशः । प्रतू॑र्त्ति॒रिति॑ प्रऽतू॑र्त्तिः । अ॒ष्टा॒द॒श इत्य॑ष्टाऽद॒शः । तपः॑ । न॒व॒द॒श इति॑ नवऽद॒शः । अ॒भी॒व॒र्त्तः । अ॒भी॒व॒र्त्त इत्य॑भिऽव॒र्त्तः । स॒वि॒ꣳश इति॑ सऽवि॒ꣳशः । वर्चः॑ । द्वा॒वि॒ꣳशः । स॒म्भर॑ण॒ इति॑ स॒म्ऽभर॑णः ।

त्रयोविंश इति त्रयःऽविंशः । योनिः । चतुर्विंश इति चतुःऽविंशः । गर्भाः । पञ्चविंश इति पञ्चऽविंशः । ओजः । त्रिणवः । त्रिनव इति त्रिऽनवः । क्रतुः । एकत्रिंश इत्येकऽत्रिंशः । प्रतिष्ठा । प्रतिस्थेति प्रतिऽस्था । त्रयस्त्रिंश इति त्रयःऽत्रिंशः । ब्रध्नस्य । विष्टपम् । चतुस्त्रिंश इति चतुःऽत्रिंशः । नाकः । षट्त्रिंश इति षट्ऽत्रिंशः । विवर्त्त इति विऽवर्त्तः । अष्टाचत्वारिंश इत्यष्टाऽचत्वारिंशः । धर्त्रम् । चतुष्टोमः । चतुस्तोम इति चतुःऽस्तोमः ॥ २३ ॥

पदार्थः—(आशुः) (त्रिवृत्) शीते चोष्णे द्वयोर्मध्ये च वर्त्तते सः (भान्तः) प्रकाशः (पञ्चदशः) पंचदशानां पूरणः पंचदशविधः (व्योमा) व्योमवद्विस्तृतः (सप्तदशः) सप्तदशविधः (धरुणः) धारणगुणः (एकविंशः) एकविंशतिविधा (प्रतूर्त्तिः) शीघ्रगतिः (अष्टादशः) अष्टादशधा (तपः) संतापो गुणः (नवदशः) नवदशधा (अभीवर्त्तः) य आभिमुख्ये वर्त्तते सः (सविंशः) विंशत्या सह वर्त्तमानः (वर्चः) दीप्तिः (द्वाविंशः) द्वाविंशतिविधा (संभरणः) सम्यग्धारकः (त्रयोविंशः) त्रयोविंशतिविधा (योनिः) संयोजको वियोजको गुणः (चतुर्विंशः) चतुर्विंशतिविधा (गर्भाः) गर्भधारणशक्तयः (पंचविंशः) पंचविंशतिविधा (ओजः) पराक्रमः (त्रिणवः) सप्तविंशतिविधा (क्रतुः) कर्म प्रज्ञा वा (एकत्रिंशः) एकत्रिंशद्धा (प्रतिष्ठा) प्रतितिष्ठन्ति यस्यां सा (त्रयस्त्रिंशः) त्रयस्त्रिंशत्प्रकारः (ब्रध्नस्य) महतः (विष्टपम्) व्याप्तिम् । अत्र विष् धातोर्बाहुलकादौणादिकस्तपः प्रत्ययः (चतुस्त्रिंशः) चतुस्त्रिंशद्विधः (नाकः) आनन्दः (षट्त्रिंशः) षट्त्रिंशत्प्रकारः (विवर्त्तः) विविधं वर्त्तते यस्मिन् सः (अष्टाचत्वारिंशः) अष्टाचत्वारिंशद्धा (धर्त्रम्) धारणम् (चतुष्टोमः) चत्वारः स्तोमाः स्तुतयो यस्मिन् संवत्सरे सः ॥ २३ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यूयं यस्मिन् संवत्सर आशुस्त्रिवृद् भान्तः पंचदशो व्योमा सप्तदशो धरुण एकविंशः प्रतूर्त्तिरष्टादशस्तपो नवदशोऽभीवर्त्तः सविंशोवर्चो द्वाविंशः संभरणस्त्रयोविंशो योनिश्चतुर्विंशो गर्भाः पंचविंश ओजस्त्रिणवः क्रतुरेकत्रिंशः प्रतिष्ठा त्रयस्त्रिंशो ब्रध्नस्य विष्टपं चतुस्त्रिंशो नाकः षट्त्रिंशो विवर्त्तोऽष्टाचत्वारिंशो धर्त्रं चतुष्टोमोऽस्ति तं संवत्सरं विजानीत ॥२३॥

भावार्थः—यस्य संवत्सरस्य संबन्धिनो भूतभविष्यद्वर्त्तमानादयोऽवयवाः सन्ति तस्य संबन्धादेते व्यवहारा भवन्तीति यूयं बुध्यध्वम् ॥ २३ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो तुम लोग इस वर्त्तमान संवत् में (आशुः) शीघ्र (त्रिवृत्) शीत और उष्ण के बीच वर्त्तमान (भान्तः) प्रकाश (पंचदशः) पन्द्रह प्रकार का (व्योमा) आकाश के समान विस्तारयुक्त (सप्तदशः) सत्रह प्रकार का (धरुणः) धारण गुण (एकविंशः) इकीस प्रकार का (प्रतूर्त्तिः) शीघ्र गति वाला (अष्टादशः) अठारह प्रकार का (तपः) सन्तापी गण (नवदशः) उन्नीस प्रकार का (अभीवर्त्तः) सन्मुख वर्त्तने वाला गुण (सविंशः) इकीस प्रकार की (वर्चः) दीप्ति (द्वाविंशः) बाईस प्रकार का (संभरणः) अच्छे प्रकार धारणकारक गुण (त्रयोविंशः) तेईस प्रकार का (योनिः) संयोग वियोगकारी गुण (चतुर्विंशः) चौबीस प्रकार की (गर्भाः) गर्भ धारण की शक्ति (पंचविंशः) पचीस प्रकार का (ओजः) पराक्रम (त्रिणवः) सत्ताईस प्रकार का (क्रतुः) कर्म्म या बुद्धि (एकत्रिंशः) एकतीस प्रकार की (प्रतिष्ठा) सब की स्थिति का निमित्त क्रिया (त्रयस्त्रिंशः) तेंतीस प्रकार की (ब्रध्नस्य) बड़े ईश्वर की (विष्टपम्) व्याप्ति (चतुस्त्रिंशः) चौंतीस प्रकार का (नाकः) आनन्द (षट्त्रिंशः) छत्तीस प्रकार का (विवर्त्तः) विविध प्रकार से वर्त्तने का व्यवहार (अष्टाचत्वारिंशः) अड़तालीस प्रकार का (धर्त्रम्) धारण और (चतुष्टोमः) चार स्तुतियों का आधार है उस को संवत्सर जानो ॥ २३ ॥

भावार्थः—जिस संवत्सर के सम्बन्धी भूत भविष्यत् और वर्त्तमान काल आदि अवयव हैं उस के सम्बन्ध से ही ये सब संसार के व्यवहार होते हैं ऐसा तुम लोग जानो ॥ २३ ॥

अग्नेर्भाग इत्यस्य विश्वदेव ऋषिः । मेधाविनो देवताः ।
भुरिग्विकृतिश्छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

अथ मनुष्यैः कथं विद्या अधीत्य किमाचरणीयमित्याह ॥
अब मनुष्य किस प्रकार विद्या पढ़ के कैसा आचरण करें यह वि० ॥

अग्नेर्भागोऽसि दीक्षाया आधिपत्यं ब्रह्म स्पृतं त्रिवृत्स्तोमः । इन्द्रस्य भागोऽसि विष्णोराधिपत्यं क्षत्रꣳस्पृतं पञ्चदश स्तोमः । नृचक्षसां भागोऽसि धातुराधिपत्यं जनित्रꣳ स्पृतꣳ सप्तदश स्तोमः । मित्रस्य भागोऽसि वरुणस्याधिपत्यं दिवो वृष्टिर्वात स्पृत एकविꣳश स्तोमः ॥ २४ ॥

अग्नेः । भागः । असि । दीक्षायाः । आधिपत्यमित्याधिऽपत्यम् । ब्रह्म । स्पृतम् । त्रिवृदिति त्रिऽवृत् । स्तोमः । इन्द्रस्य । भागः । असि । विष्णोः । आधिपत्यमित्याधिऽपत्यम् । क्षत्रम् । स्पृतम् । पञ्चदश इति पञ्चऽदशः । स्तोमः । नृचक्षसामिति नृऽचक्षसाम् । भागः । असि । धातुः । आधिपत्यमित्याधिऽपत्यम् । जनित्रम् । स्पृतम् । सप्तदश इति सप्तऽदशः । स्तोमः । मित्रस्य । भागः । असि । वरुणस्य । आधिपत्यमित्याधिऽपत्यम् । दिवः । वृष्टिः । वातः । स्पृतः । एकविꣳश इत्येकऽविꣳशः । स्तोमः ॥ २४ ॥

पदार्थः—(अग्नेः) सूर्य्यस्य (भागः) विभजनीयः (असि) (दीक्षायाः) ब्रह्मचर्यादेः (आधिपत्यम्) (ब्रह्म) ब्रह्मवित्कुलम् (स्पृतम्) प्रीतं सेवितम् (त्रिवृत्) यस्त्रिभिः कायिकवाचिकमानसैः साधनैः शुद्धं वर्त्तते (स्तोमः) यः स्तूयते (इन्द्रस्य) विद्युतः परमैश्वर्यस्य वा (भागः) (असि) (विष्णोः) व्यापकस्य जगदीश्वरस्य (आधिपत्यम्) (क्षत्रम्) क्षात्रधर्मयुक्तं राजन्यकुलम् (स्पृतम्) (पञ्चदशः) पञ्चदशानां पूर्णः (स्तोमः) स्तोता (नृचक्षसाम्) येऽर्थान् नृभिः ख्यापयन्ते तेषाम् (भागः) (असि) (धातुः) धर्तुः (आधिपत्यम्) अधिपतेर्भावः (जनित्रम्) जननम् (स्पृतम्) (सप्तदशः) (स्तोमः) स्तावकः (मित्रस्य) (भागः) (असि) वरुणस्य श्रेष्ठोदकसमूहस्य वा (आधिपत्यम्) (दिवः) प्रकाशस्य (वृष्टिः) वर्षा (वातः) वायुः (स्पृतः) सेवितः (एकविंशः) (स्तोमः) स्तुवन्ति येन सः ॥ २४ ॥

अन्वयः—हे विद्वन् यस्त्वमग्नेर्भागः संवत्सर इवाऽसि स त्वं दीक्षायाः स्पृतमाऽधिपत्यं ब्रह्म प्राप्नुहि । यस्त्रिवृत्स्तोम इन्द्रस्य भाग इवासि स त्वं विष्णोः स्पृतमाधिपत्यं क्षत्रं प्राप्नुहि । यस्त्वं पञ्चदश स्तोमो नृचक्षसां भाग इवासि स त्वं धातुः स्पृतं जनित्रमाधिपत्य माप्नुहि । यस्त्वं सप्तदश स्तोमो मित्रस्य भाग इवासि स त्वं वरुणस्याधिपत्यं याहि । यस्त्वं वात स्पृत एकविंशस्तोम इवासि तेन त्वया दिवो वृष्टिर्विधेया ॥ २४ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—ये बाल्यावस्थामारभ्य सज्जनोपदिष्टविद्याः प्रख्याप प्रयत्नेनाधिपत्यं लभन्ते ते स्तुत्यानि कर्माणि कृत्वोत्तमा भूत्वा सर्वं कालं विज्ञाय विज्ञापयेयुः ॥ २४ ॥

पदार्थः—हे विद्वन् पुरुष जो तू (अग्नेः) सूर्य्य का (भागः) विभाग के योग्य संवत्सर के तुल्य (असि) है सो तू (दीक्षायाः) ब्रह्मचर्य्य आदि की दीक्षा का (स्पृतम्) प्रीति से सेवन किये हुए (आधिपत्यम्) (ब्रह्म) ब्राह्मण कुल के अधिकार को प्राप्त हो जो (त्रिवृत्) शरीर वाणी और मानस साधनों से शुद्ध वर्त्तमान (स्तोमः) स्तुति के योग्य (इन्द्रस्य) बिजुली वा

उत्तम ऐश्वर्य्य के (भागः) विभाग के तुल्य (असि) है सो तूं (विष्णोः) व्यापक ईश्वर के (स्पृतम्) प्रीति से सेवने योग्य (क्षत्रम्) क्षत्रियों के धर्म के अनुकूल राजकुल के (आधिपत्यम्) अधिकार को प्राप्त हो जो तू (पंचदशः) पन्द्रह का पूरक (स्तोमः) स्तुतिकर्त्ता (नृचक्षसाम्) मनुष्यों से कहने योग्य पदार्थों के (भागः) विभाग के तुल्य (असि) है सो तूं (धातुः) धारणकर्त्ता के (स्पृतम्) ईप्सित (जनित्रम्) जन्म और (आधिपत्यम्) अधिकार को प्राप्त हो जो तूं (सप्तदशः) सत्रह संख्या का पूरक (स्तोमः) स्तुति के योग्य (मित्रस्य) प्राण का (भागः) विभाग के समान (असि) है सो तू (वरुणस्य) श्रेष्ठ जलों के (आधिपत्यम्) स्वामीपन को प्राप्त हो जो तूं (वातः स्पृतः) सेवित पवन और (एकविंशः) इक्कीस संख्या का पूरक (स्तोमः) स्तुति के साधन के समान (असि) है सो तूं (दिवः) प्रकाशरूप सूर्य्य से (वृष्टिः) वर्षा होने का हवन आदि उपाय कर ॥ २४ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु०—जो पुरुष बाल्यावस्था से लेकर सज्जनों से उपदेश की हुई विद्याओं के ग्रहण के लिये प्रयत्न कर के अधिकारी होवे हैं वे स्तुति के योग्य कर्मों को कर और उत्तम हो के विधान के सहित काल को जान के दूसरों को जनावें ॥ २४ ॥

वसूनां भाग इत्यस्य विश्वदेव ऋषिः। वस्वादयो लिंगोक्ता देवताः। स्वराट् संकृतिश्छन्दः। गान्धारः स्वरः॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर भी पूर्वोक्त विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

वसूनां भागोऽसि रुद्राणामाधिपत्यं चतुष्पात्स्पृतं चतुर्विंशस्तोमः। आदित्यानां भागोऽसि मरुतामाधिपत्यं गर्भाः स्पृताः पंचविंशस्तोमः अदित्यै भागोऽसि पूष्ण आधिपत्यमोजस्पृतं

त्रिणवस्तोमः । देवस्य सवितुर्भागोऽसि बृहस्पते
राधिपत्यꣳ समीचीर्दिश स्पृताश्चतुष्टोमः ॥२५॥

वसूनाम् । भागः । असि । रुद्राणाम् । आधिपत्यमित्याधिऽपत्यम् । चतुष्पात् । चतुष्पादिति चतुःऽपात् । स्पृतम् । चतुर्विꣳश इति चतुःऽविꣳशः । स्तोमः । आदित्यानाम् । भागः । असि । मरुताम् । आधिपत्यमित्याधिऽपत्यम् । गर्भाः । स्पृताः । पञ्चविꣳश इति पञ्चऽविꣳशः । स्तोमः । अदित्यै । भागः । असि । पूष्णः । आधिपत्यमित्याधिऽपत्यम् । ओजः । स्पृतम् । त्रिणवः । त्रिनव इति त्रिऽनवः । स्तोमः । देवस्य । सवितुः । भागः । असि । बृहस्पतेः । आधिपत्यमित्याधिऽपत्यम् । समीचीः । दिशः । स्पृताः । चतुष्टोमः । चतुस्तोम इति चतुःऽस्तोमः ॥ २५ ॥

पदार्थः—(वसूनाम्) अग्न्यादीनामादिमानां विदुषां वा (भागः) (असि) (रुद्राणाम्) प्राणादीनां मध्यमानां विदुषां वा (आधिपत्यम्) चतुष्पात् गवादिकम् (स्पृतम्) सेवितम् (चतुर्विंशः) चतुर्विंशतिधा (स्तोमः) स्तोता (आदित्यानाम्) मासानामुत्तमानां विदुषां वा (भागः) (असि) (मरुताम्) मनुष्याणां पशूनां वा । मरुत इति पदना० । निघं० ५ । ५ । (आधिपत्यम्) (गर्भाः) गर्भ इव विद्याशुभगुणैरावृताः (स्पृताः) प्रीतिमन्तः (पञ्चविंशः) पञ्चविंशतिप्रकारः (स्तोमः) स्तोतव्यः (अदित्यै) प्रकाशस्य (भागः) (असि) (पूष्णः) पुष्टिकर्त्र्या भूमेः । पूषेति पृथिवीनाम० । निघं० १ । १ । (आधिपत्यम्) (ओजः) बलम् (स्पृतम्) सेवितम् (त्रिणवः) सप्तविंशतिधा (स्तोमः) स्तोतव्यः (देवस्य) सुखप्रद-

स्य (सवितुः) जनकस्य (भागः) (असि) (बृहस्पतेः) बृहत्या वेदवाचः पालकस्य (आधिपत्यम्) (समीचीः) याः सम्यगञ्चन्ते (दिशः) (स्पृताः) (चतुष्टोमः) चतुर्भिर्वेदैः स्तूयते चतुःस्तोमः स्तोता ॥ २५ ॥

अन्वयः—हे विद्वन् यस्त्वं वसूनां भागोऽसि स त्वं रुद्राणामाधिपत्यं गच्छ यश्चतुर्विंशस्तोम आदित्यानां भागोऽसि स त्वं चतुष्पात्स्पृतं कुरु मरुतामाधिपत्यं गच्छ यस्त्वं पञ्चविंशस्तोमोऽदित्यै भागोऽसि स त्वं पूष्ण ओजः स्पृतमाधिपत्यं माप्नुहि यस्त्वं त्रिणवः स्तोमो देवस्य सवितुर्भागोऽसि स त्वं बृहस्पतेराधिपत्यं याहि यस्त्वं चतुष्टोमोऽसि स त्वं गर्भाः स्पृता या जानन्ति ताः समीचीः स्पृता दिशो विजानीहि ॥ २५ ॥

भावार्थः—ये सुशीलत्वादिगुणान् गृह्णन्ति ते विद्वत्प्रियाः सन्तः सर्वाधिपत्यं प्राप्नुवन्ति । येऽधिपतयो भवेयुस्ते नृषु पितृवद्वर्त्तन्ताम् ॥ २५ ॥

पदार्थः—हे विद्वन् जो तू (वसूनाम्) अग्नि आदि आठ वा प्रथम कक्षा के विद्वानों का (भागः) सेवने योग्य (असि) है सो (रुद्राणाम्) दश प्राण आदि ग्यारहवां जीव वा मध्यकक्षा के विद्वानों के (आधिपत्यम्) अधिकार को प्राप्त हो जो (चतुर्विंशः) चौबीस प्रकार का (स्तोमः) स्तुतिकर्त्ता (आदित्यानाम्) बारह महीनों वा उत्तम कक्षा के विद्वानों के (भागः) सेवने योग्य (असि) है सो तू (चतुष्पात्) गौ आदि पशुओं का (स्पृतम्) सेवन कर (मरुताम्) मनुष्य वा पशुओं के (आधिपत्यम्) अधिष्ठाता हो जो तू (पञ्चविंशः) पचीस प्रकार का (स्तोमः) स्तुति के योग्य (अदित्यै) अखण्डित आकाश का (भागः) विभाग के तुल्य (असि) है सो तू (पूष्णः) पुष्टिकारक पृथिवी के (स्पृतम्) सेवने योग्य (ओजः) बल को प्राप्त हो के (आधिपत्यम्) अधिकार को (प्राप्नुहि) प्राप्त हो जो तू (त्रिणवः) सत्ताईस प्रकार का (स्तोमः) स्तुति के योग्य (देवस्य) सुखदाता (सवितुः) पिता का (भागः) विभाग (असि) है सो तू (बृहस्पतेः) बड़ी वेदरूपी वाणी के पालक ईश्वर के दिये हुए (आधिपत्यम्) अधिकार को प्राप्त हो जो तूं (चतुष्टोमः) चार वेदों से कहने योग्य स्तुतिकर्त्ता है सो तूं (गर्भाः) गर्भ के तुल्य विद्या और शुभ गुणों से आच्छादित (स्पृताः) प्रीतिमान् सज्जन लोग जिन को

जानते हैं उन (सर्मीचीः) सम्यक् प्राप्ति के साधन (स्पृताः) प्रीति का विषय (दिशः) पूर्व दिशाओं को जान ॥ २८ ॥

भावार्थः—जो सुन्दर स्वभाव आदि गुणों का ग्रहण करते हैं वे विद्वानों के प्यारे होके सब के अधिष्ठाता होते हैं और जो सब के ऊपर अधिकारी हों वे मनुष्यों में पिता के समान वर्त्तें ॥ २५ ॥

यवानां भाग इत्यस्य विश्वदेव ऋषिः । ऋभवो देवताः ।
निचृदतिजगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

पुनः स शरदि कथं वर्त्तेतेत्याह ॥
फिर वह शरद् ऋतु में कैसे वर्त्ते यह वि० ॥

यवानां भागोस्ययवानामाधिपत्यं प्रजा स्पृताश्चत्वारिꣳश स्तोमः । ऋभूणां भागोऽसि विश्वेषां देवानामाधिपत्यं भूतꣳ स्पृतं त्रयस्त्रिꣳश स्तोमः ॥ २६ ॥

यवानाम् । भागः । असि । अयवानाम् । आधिपत्यमित्याधिऽपत्यम् । प्रजा इति प्रऽजाः । स्पृताः । चतुश्चत्वारिꣳश इति चतुःऽचत्वारिꣳशः । स्तोमः । ऋभूणाम् । भागः । असि । विश्वेषाम् । देवानाम् । आधिपत्यमित्याधिऽपत्यम् । भूतम् । स्पृतम् । त्रयस्त्रिꣳश इति त्रयःऽत्रिꣳशः । स्तोमः ॥२६ ॥

पदार्थः—(यवानाम्) मिश्रितानाम् (भागः) (असि) (अयवानाम्) (अमिश्रितानाम्) (आधिपत्यम्) (प्रजाः) पालनीयाः (स्पृताः)

प्रीता। (चतुश्चत्वारिंशः) एतत्संख्यायाः पूरकः (स्तोमः) (ऋभूणाम्) मेधाविनाम् (भागः) (असि) (विश्वेषाम्) सर्वेषाम् (देवानाम्) विदुषाम् (आधिपत्यम्) (भूतम्) (स्पृतम्) सेवितम् (त्रयस्त्रिंशः) एतत्संख्यापूरकः (स्तोमः) स्तुतिविषयः ॥ २६ ॥

अन्वयः—हे मनुष्य यस्त्वं यवानां भागः शरदृतुरिवासि योऽयवानामाधिपत्यं प्राप्य प्रजाः स्पृताः करोति यश्चतुश्चत्वारिंश स्तोम ऋभूणां भागोऽसि विश्वेषां देवानां भूतं स्पृतमाधिपत्यं प्राप्य यस्त्रयस्त्रिंशः स्तोमोसि स त्वमस्माभिः सत्कर्त्तव्यः ॥ २६ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—मनुष्यैर्य इमे शरदृतोर्गुणा उक्तास्ते यथावत्सेवनीया इति ॥ २६ ॥

पदार्थः—हे मनुष्य जो तू (यवानाम्) मिले हुए पदार्थों का सेवन करने हारा शरद् ऋतु के समान (असि) है जो (अयवानाम्) पृथक् २ धर्म वाले पदार्थों के (आधिपत्यम्) अधिकार को प्राप्त होकर (स्पृताः) प्रीति से (प्रजाः) पालने योग्य प्रजाओं को प्रेमयुक्त करता है जो (चतुश्चत्वारिंशः) चवालीस संख्या का पूर्ण करने वाला (स्तोमः) स्तुति के योग्य (ऋभूणाम्) बुद्धिमानों के (भागः) सेवने योग्य (असि) है (विश्वेषाम्) सब (देवानाम्) विद्वानों के (भूतम्) हो चुके (स्पृतम्) सेवन किये हुए (आधिपत्यम्) अधिकार को प्राप्त हो कर जो (त्रयस्त्रिंशः) तेंतीस संख्या का पूरक (स्तोमः) स्तुति के विषय के समान (असि) है सो तू हम लोगों से सत्कार के योग्य है ॥ २६ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु०—मनुष्यों को चाहिये कि जो ये पीछे के मन्त्रों में शरद् ऋतु के गुण कहे हैं उन का यथावत् सेवन करें यह शरद् ऋतु का व्याख्यान पूरा हुआ ॥ २६ ॥

सहश्चेत्यस्य विश्वदेव ऋषिः । ऋतवो देवताः । पूर्वस्य भुरिगति जगती छन्दः । निषादः स्वरः । ये अग्ने इत्युत्तरस्य भुरिग्ब्राह्मी बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

अथ हेमन्तर्तुविधानमाह ॥

अथ हेमन्त ऋतु के विधान को अगले मन्त्र में कहा है ॥

सहश्च सहस्यश्च हैमन्तिकावृतू अग्नेरन्तःश्लेषोऽसि कल्पेतां द्यावापृथिवी कल्पन्तामाप ओषधयः कल्पन्तामग्नयः पृथङ् मम ज्यैष्ठ्याय सव्रताः । ये अग्नयः समनसोऽन्तरा द्यावापृथिवी इमे हैमन्तिकावृतू अभिकल्पमाना इन्द्रमिव देवा अभिसंविशन्तु तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवे सीदतम् ॥ २७ ॥

सहः । च । सहस्यः । च । हैमन्तिकौ । ऋतू इत्यृतू । अन्तःश्लेष इत्यन्तःऽश्लेषः । असि । कल्पेताम् । द्यावापृथिवी इति द्यावापृथिवी । कल्पन्ताम् । आपः । ओषधयः । कल्पन्ताम् । अग्नयः । पृथक् । मम । ज्यैष्ठ्याय । सव्रता इति सऽव्रताः । ये । अग्नयः । समनस इति सऽमनसः । अन्तरा । द्यावापृथिवी इति द्यावापृथिवी । इमे इतीमे । हैमन्तिकौ । ऋतू इत्यृतू । अभिकल्पमाना इत्यभिऽकल्पमानाः । इन्द्रमिवेतीन्द्रम्ऽइव । देवाः । अभिसंविशन्त्वित्यभिऽसंविशन्तु । तया । देवतया । अङ्गिरस्वत् । ध्रुवे इति ध्रुवे । सीदतम् ॥ २७ ॥

पदार्थः—(सहः) बलकारी मार्गशीर्षः (च) (सहस्यः) सहसि बले भवः पौषः (च) (हैमन्तिकौ) हेमन्ते भवौ मार्गशीर्षः पौषश्च मासौ (ऋतू) स्वलिङ्गप्रापकौ (अग्नेः) विद्युतः (अन्तःश्लेषः) मध्यः स्पर्शः (असि) (कल्पेताम्) (द्यावापृथिवी) (कल्पन्ताम्) (आपः) (ओषधयः) (अग्नयः) ऐश्वर्येण युक्ताः पावकाः (पृथक्) (मम) (ज्यैष्ठ्याय) ज्येष्ठानां वृद्धानां भावाय (सव्रताः) नियमैः सहिताः (ये) (अग्नयः) (समनसः) समानं मनो येभ्यस्ते (अन्तरा) आभ्यन्तरे (द्यावापृथिवी) (इमे) (हैमन्तिकौ) वर्त्तौ (ऋतू) (अभिकल्पमानाः) आभिमुख्येन समर्थयन्तः (इन्द्रमिव) यथैश्वर्यम् (देवाः) दिव्यगुणाः (अभिसंविशन्तु) (तया) (देवतया) (अङ्गिरस्वत्) (ध्रुवे) दृढे (सीदतम्) तिष्ठताम् ॥ २७ ॥

अन्वयः—हे मित्र यो मम ज्यैष्ठ्याय सहश्च सहस्यश्च हैमन्तिकावृतू अङ्गिरस्वत् सीदतं यस्याग्नेरन्तःश्लेष इवासि स त्वं तेन द्यावापृथिवी कल्पेतामाप ओषधयोऽग्नयश्च पृथक् कल्पन्तामिति जानीहि । येऽग्नय इवान्तरा सव्रताः समनस इमे ध्रुवे द्यावापृथिवी कल्पन्तामिन्द्रमिव हैमन्तिकावृतू अभिकल्पमाना देवा अभिसंविशन्तु ते तया देवतया सह युक्ताहारविहारा भूत्वा सुखिनः स्युः ॥ २७ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—हे मनुष्या यथा विद्वांसः स्वसुखाय हेमन्तर्त्तौ पदार्थान् सेवेरन् तथैवान्यानपि सेवयेयुः ॥ २७ ॥

पदार्थः—हे मित्रजन जो (मम) मेरे (ज्यैष्ठ्याय) वृद्ध श्रेष्ठ जनों के होने के लिये (सहः) बलकारी अगहन (च) और (सहस्यः) बल में प्रवृत्त हुआ पौष (च) ये दोनों महीने (हैमन्तिकौ) (ऋतू) हेमन्त ऋतु में हुए अपने चिह्न जानने वाले (अङ्गिरस्वत्) उस ऋतु के प्राण के समान (सीदतम्) स्थिर हैं जिस ऋतु के (अन्तःश्लेषः) मध्य में स्पर्श होता है उस के समान तू (असि) है सो तू उस ऋतु से (द्यावापृथिवी) आकाश और भूमि (कल्पेताम्) समर्थ हों (आपः) जल और (ओषधयः) ओषधियां और (अग्नयः) सफेदाई से युक्त अग्नि (पृथक्) पृथक् २

(कल्पन्ताम्) समर्थ हों ऐसा जान (ये) जो (अग्नयः) अग्नियों के तुल्य (अन्तरा) भीतर प्रविष्ट होने वाले (सव्रताः) नियमधारी (समनसः) अविरुद्ध विचार वाले लोग (इमे) इन (ध्रुवे) दृढ़ (द्यावापृथिवी) आकाश और भूमि को (कल्पन्ताम्) समर्थित करें (इन्द्रमिव , ऐश्वर्य्य के तुल्य (हैमन्तिकौ) (ऋतू) हेमन्त ऋतु के दोनों महीनों को (अभिकल्पमानाः) सम्मुख होकर समर्थ करने वाले (देवाः) दिव्य गुण बिजुली के समान (अभिसंविशन्तु) आवेश करें वे सज्जन लोग (तया) उस (देवतया) प्रकाशस्वरूप परमात्मा देव के साथ प्रेमबद्ध हो के नियम से आहार और विहार कर के सुखी हों ॥ २७ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में वाचकलु०—विद्वानों को योग्य है कि यथायोग्य सुख के लिये हेमन्त ऋतु में पदार्थों का सेवन करें और वैसे ही दूसरों को भी सेवन करावें ॥ १७ ॥

एकयेत्यस्य विश्वदेव ऋषिः । ईश्वरो देवता ।
निचृद्विकृतिश्छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

अथैतदृतुचक्रं केन सृष्टमित्याह ॥
अब यह ऋतुओं का चक्र किसने रचा है इस वि० ॥

एकयास्तुवत प्रजा अधीयन्त प्रजापतिरधिपतिरासीत् । तिसृभिरस्तुवत ब्रह्मासृज्यत ब्रह्मणस्पतिरधिपतिरासीत् । पञ्चभिरस्तुवत भूतान्यसृज्यन्त भूतानां पतिरधिपतिरासीत् । सप्तभिरस्तुवत सप्तऋषयोऽसृज्यन्त धाताऽधिपतिरासीत् ॥ २८ ॥

एकया । अस्तुवत । प्रजा इति प्रऽजाः । अधीयन्त । प्रजापतिरिति प्रजाऽपतिः । अधिपतिरित्यधिऽपतिः । आसीत् । तिसृभिरिति तिसृऽभिः । अस्तुवत । ब्रह्म । असृज्यत । ब्रह्मणः । पतिः । अधिपतिरित्यधिऽपतिः । आसीत् । पञ्चभिरिति पञ्चऽभिः । अस्तुवत । भूतानि । असृज्यन्त । भूतानाम् । पतिः । अधिपतिरित्यधिऽपतिः । आसीत् । सप्तभिरिति सप्तऽभिः । अस्तुवत । सप्तऋषय इति सप्तऽऋषयः । असृज्यन्त । धाता । अधिपतिरित्यधिऽपतिः । आसीत् ॥ २८ ॥

पदार्थः—(एकया) वाण्या (अस्तुवत) स्तुवन्तु (प्रजाः) (अधीयन्त) अधीयताम् (प्रजापतिः) प्रजायाः पालक ईश्वरः (अधिपतिः) (आसीत्) अस्ति (तिसृभिः) प्राणोदानव्यानगतिभिः (अस्तुवत) स्तुवन्तु (ब्रह्म) परमेश्वरेण वेदः (असृज्यत) सृष्टः (ब्रह्मणस्पतिः) वेदस्य पालकः (अधिपतिः) (आसीत्) अस्ति (पञ्चभिः) समानचित्तबुद्ध्यहंकारमनोभिः (अस्तुवत) स्तुवन्तु (भूतानि) पृथिव्यादीनि (असृज्यन्त) संसृष्टानि कुर्वन्तु (भूतानाम्) (पतिः) पालकः (अधिपतिः) पत्युः पतिः (आसीत्) भवति (सप्तभिः) नागकूर्मकृकलदेवदत्तधनंजयेच्छाप्रयत्नैः (अस्तुवत) स्तुवन्तु (सप्तऋषयः) पंच मुख्यप्राणा महत्तत्त्वमहंकारश्चेति (असृज्यन्त) सृज्यन्ते (धाता) धर्त्ता पोषको वा (अधिपतिः) सर्वेषां स्वामी (आसीत्) अस्ति ॥ २८ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यः प्रजापतिरधिपतिः सर्वस्य स्वामीश्वर आसीत्तमेकयाऽस्तुवत सर्वाः प्रजाश्चाधीयन्त । यो ब्रह्मणस्पतिरधिपतिरासीद्येनेदं सर्वविद्यामयं ब्रह्म वेदोऽसृज्यत तं तिसृभिरस्तुवत । येन भूतान्यसृज्यन्त यो

भूतानां पतिरधिपतिरासीत्तं सर्वे मनुष्याः। पंचभिरस्तुवत येन। सप्त ऋषयोऽसृज्यन्त यो धाताऽधिपतिरासीत्तं सप्तभिरस्तुवत ॥ २८ ॥

भावार्थः—सर्वैर्मनुष्यैः सर्वस्य जगत उत्पादको न्यायाधीशः परमेश्वरः स्तोतव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः। यथा हेमन्तर्त्तौ सर्वे पदार्थाः शीतला भवन्ति तथैव परमेश्वरकृपास्थाः शान्तियुक्ता भवन्तु ॥ २८ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो (प्रजापतिः) प्रजा का पालक (अधिपतिः) सब का अध्यक्ष परमेश्वर (आसीत्) है उस की (एकया) एक वाणी से (अस्तुवत) स्तुति करो और जिसने सब (प्रजाः) प्रजा के लोगों को वेदद्वारा (अधीयन्त) विद्यायुक्त किये हैं जो (ब्रह्मणस्पतिः) वेद का रक्षक (अधिपतिः) सब का स्वामी परमात्मा (आसीत्) है जिसने यह (ब्रह्म) सकलविद्यायुक्त वेद को (असृज्यत) रचा है उस की (तिसृभिः) प्राण उदान और व्यान वायु की गति से (अस्तुवत) स्तुति करो जिस ने (भूतानि) पृथिवी आदि भूतों को (असृज्यन्त) रचा है जो (भूतानाम्) सब भूतों का (पतिः) रक्षक (अधिपतिः) रक्षकों का भी रक्षक (आसीत्) है उस की सब मनुष्य (पञ्चभिः) समान वायु चित्त बुद्धि अहंकार और मन से (अस्तुवत) स्तुति करें जिस ने (सप्तऋषयः) पांच मुख्य प्राण, महत्तत्त्व-समष्टि और अहंकार सात पदार्थ (असृज्यन्त) रचे हैं जो (धाता) धारण वा पोषण कर्त्ता (अधिपतिः) सब का स्वामी (आसीत्) है उस की (सप्तभिः) नाग, कूर्म्म, कृकल, देवदत्त, धनंजय और इच्छा तथा प्रयत्नों से (अस्तुवत) स्तुति करो ॥ २८ ॥

भावार्थः—सब मनुष्यों को योग्य है कि सब जगत् के उत्पादक न्यायकर्त्ता परमात्मा की स्तुति करें सुनें विचारें और अनुभव करें। जैसे हेमन्त ऋतु में सब पदार्थ शीतल होते हैं वैसे ही परमेश्वर की उपासना करके शान्तिशील होवें ॥ २८ ॥

नवभिरस्तुवतेत्यस्य विश्वदेव ऋषिः। ईश्वरो देवता। पूर्वस्यार्षी त्रिष्टुप्छन्दः। धैवतः स्वरः। त्रयोदशभिरित्युत्तरस्य ब्राह्मी जगती छन्दः। निषादः स्वरः ॥

पुनः स जगत्स्रष्टा किंभूत इत्याह ॥

फिर वह जगत् का रचने वाला कैसा है इस वि० ॥

नवभिरस्तुवत पितरोऽसृज्यन्तादितिरधिपत्न्यासीत्। एकादशभिरस्तुवत ऋतवोऽसृज्यन्तार्त्तवा अधिपतय आसन्। त्रयोदशभिरस्तुवत मासा असृज्यन्त संवत्सरोऽधिपतिरासीत्। पञ्चदशभिरस्तुवत क्षत्रमसृज्यतेन्द्रोऽधिपतिरासीत्। सप्तदशभिरस्तुवत ग्राम्याः पशवोऽसृज्यन्त बृहस्पतिरधिपतिरासीत् ॥ २९ ॥

नवभिरिति नवऽभिः। अस्तुवत। पितरः। असृज्यन्त। अदितिः। अधिपत्नीत्यधिऽपत्नी। आसीत्। एकादशभिरित्येकाऽदशभिः। अस्तुवत। ऋतवः। असृज्यन्त। आर्त्तवाः। अधिपतय इत्यधिऽपतयः। आसन्। त्रयोदशभिरिति त्रयोदशऽभिः। अस्तुवत। मासाः। असृज्यन्त। संवत्सरः। अधिपतिरित्यधिऽपतिः। आसीत्। पञ्चदशभिरिति पञ्चऽदशभिः। अस्तुवत। क्षत्रम्। असृज्यत। इन्द्रः। अधिपतिरित्यधिपतिः। आसीत्। सप्तदशभिरिति सप्तऽदशभिः। अस्तुवत। ग्राम्याः। पशवः। असृज्यन्त। बृहस्पतिः। अधिपतिरित्यधिऽपतिः। आसीत् ॥ २९ ॥

पदार्थः—(नवभिः) प्राणविशेषैः (अस्तुवत) प्रशंसन्तु (पितरः) पालका वर्षादयः (असृज्यन्त) उत्पादिताः (अदितिः) मातेव पालिका भूमिः (अधिपत्नी) अधिपतिसहिता (आसीत्) अस्ति (एकादशभिः) दश प्राणा एकादश आत्मा तैः (अस्तुवत) स्तुवन्तु (ऋतवः) वसन्तादयः (असृज्यन्त) सृष्टाः (आर्त्तवाः) ऋतुषु भवा गुणाः (अधिपतयः) (आसन्) भवन्ति (त्रयोदशभिः) दश प्राणा द्वे प्रतिष्ठे त्रयोदश आत्मा तैः (अस्तुवत) स्तुवन्तु (मासाः) चैत्रादयः (असृज्यन्त) सृष्टाः (संवत्सरः) (अधिपतिः) अधिष्ठाता (आसीत्) अस्ति (पञ्चदशभिः) प्रतिपदादितिथिभिः (अस्तुवत) स्तुवन्तु संख्यायन्तु (क्षत्रम्) राज्यं क्षत्रियकुलं वा (असृज्यत) सृष्टम् (इन्द्रः) परमैश्वर्यहेतुः सूर्यः (अधिपतिः) अधिष्ठाता (आसीत्) (सप्तदशभिः) दश पादा अङ्गुलयश्चत्वार्यूर्वष्ठीवानि द्वे प्रतिष्ठे यदर्वाङ् नाभेस्तत्सप्तदशं तैः (अस्तुवत) स्तुवन्तु (ग्राम्याः) ग्रामे भवाः (पशवः) गवादयः (असृज्यन्त) (बृहस्पतिः) बृहतां पालको वैश्यः (अधिपतिः) अधिष्ठाता (आसीत्) अस्ति ॥ २९ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यूयं येन पितरोऽसृज्यन्त यत्राधिपत्न्यदितिरासीत्तं यूयं नवभिरस्तुवत येनर्त्तवोऽसृज्यन्त यत्रार्त्तवा अधिपतय आसंस्तमेकादशभिरस्तुवत येन मासा असृज्यन्त पञ्चदशभिः संवत्सरोऽधिपतिः सृष्ट आसीत् त्रयोदशभिरस्तुवत । यत्रेन्द्रोऽधिपतिरासीद्येन क्षत्रमसृज्यत तं सप्तदशभिरस्तुवत । येन बृहस्पतिराधिपतिः सृष्ट आसीद् ग्राम्याः पशवोऽसृज्यन्त तं परमेश्वरं सप्तदशभिरस्तुवत ॥ २९ ॥

भावार्थः—हे मनुष्या भवन्तो येन ऋत्वादयः प्रजापालका निर्मिताः पाल्यास्य येन कालनिर्मापकाः सूर्यादयः सर्वे पदार्थाः सृष्टास्तं परमात्मानमुपासीरन् ॥ २९ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो तुम लोग जिस ने (पितरः) रक्षक मनुष्य (असृज्यन्त) उत्पन्न किये हैं जहां (अदितिः) रक्षा के योग्य (अधिपत्नी) अत्यन्त रक्षक माता (आसीत्) होवे उस परमात्मा की (नवभिः) नव प्राणों से

(अस्तुवत) गुण प्रशंसा करो जिस ने (ऋतवः) वसन्त आदि ऋतु (असृज्यन्त) रचे हैं जहां (आर्त्तवाः) उन २ ऋतुओं के गुण (अधिपतयः) अपने २ विषय में अधिकारी (आसन्) होते हैं उस की (एकादशभिः) दश प्राणों और ग्यारहवें आत्मा से (अस्तुवत) स्तुति करो जिस ने (मासाः) चैत्रादि बारह महीने (असृज्यन्त) रचे हैं (पंचदशभिः) पन्द्रह तिथियों के सहित (संवत्सरः) संवत्सर (अधिपतिः) सब काल का अधिकारी रचा (आसीत्) है उस की (त्रयोदशभिः) दश प्राण ग्यारहवां जीवात्मा और दो प्रतिष्ठाओं से (अस्तुवत) स्तुति करो जिस से (इन्द्रः) परम संपत्ति का हेतु सूर्य्य (अधिपतिः) अधिष्ठाता उत्पन्न किया (आसीत्) है जिसने (क्षत्रम्) राज्य वा क्षत्रियकुल को (असृज्यत) रचा है उसको (सप्तदशभिः) दशपांव की अंगुली, दो जंघा, दो जानु, दो प्रतिष्ठा और एक नाभि से ऊपर का अंग इन सत्रहों से (अस्तुवत) स्तुति करो जिस ने (बृहस्पतिः) बड़े २ पदार्थों का रक्षक वैश्य (अधिपतिः) अधिकारी रचा (आसीत्) है और (ग्राम्याः) ग्राम के (पशवः) गौ आदि पशु (असृज्यन्त) रचे हैं उस परमेश्वर की पूर्वोक्त सब पदार्थों से युक्त होके (अस्तुवत) स्तुति करो ॥ २९ ॥

भावार्थः—हे मनुष्यो आप लोग जिस ने काल के विभाग करने वाले सूर्य्य आदि पदार्थ रचे हैं उस परमेश्वर की उपासना करो ॥ २९ ॥

नवदशभिरित्यस्य विश्वदेव ऋषिः । जगदीश्वरो देवता ।
पूर्वस्य ब्राह्मी जगती छन्दः । निषादः स्वरः ।
पञ्चविंशत्येत्यस्य ब्राह्मी पङ्क्तिश्छन्दः ।
पञ्चमः स्वरः ॥

पुनः स कीदृश इत्याह ॥
फिर वह कैसा है यह वि० ॥

नवदशभिरस्तुवत शूद्रार्य्यावसृज्येतामहोरात्रे अधिपत्नी आस्ताम् । एकविंशत्यास्तुव-

तैकशफाः पशवोऽसृज्यन्त वरुणोऽधिपतिरासीत् । त्रयोविꣳशत्यास्तुवत क्षुद्राः पशवोऽसृज्यन्त पूषाधिपतिरासीत् । पञ्चविꣳशत्यास्तुवताऽऽरण्याः पशवोऽसृज्यन्त वायुरधिपतिरासीत् । सप्तविꣳशत्यास्तुवत द्यावापृथिवी व्यैतां वसवो रुद्रा आदित्या अनुव्यायँस्त एवाधिपतय आसन् ॥३०॥

नवदशभिरिति नवऽदशभिः । अस्तुवत । शूद्रार्यौ । असृज्येताम् । अहोरात्रे इत्यहोरात्रे । अधिपत्नी इत्यधिऽपत्नी । आस्ताम् । एकविꣳशत्येकऽविꣳशत्या । अस्तुवत । एकशफा इत्येकऽशफाः । पशवः । असृज्यन्त । वरुणः । अधिपतिरित्यधिऽपतिः । आसीत् । त्रयोविꣳशत्येति त्रयःऽविंशत्या । अस्तुवत । क्षुद्राः । पशवः । असृज्यन्त । पूषा । अधिपतिरित्यधिऽपतिः । आसीत् । पञ्चविंशत्येति पञ्चऽविंशत्या । अस्तुवत । आरण्याः । पशवः । असृज्यन्त । वायुः । अधिपतिरित्यधिऽपतिः । आसीत् । सप्तविꣳशत्येति सप्तऽविꣳशत्या । अस्तुवत । द्यावापृथिवी इति द्यावापृथिवी । वि । ऐताम् । वसवः । रुद्राः । आदित्याः । अनुव्यायन्नित्यनुऽव्यायन् । ते । एव । अधिपतय इत्यधिऽपतयः । आसन् ॥ ३० ॥

पदार्थः—(नवदशभिः) दश प्राणाः पञ्चमहाभूतानि मनोबुद्धिचित्ताहंकारैः (अस्तुवत) स्तुवन्तु (शूद्रार्यौ) शूद्रश्चार्य्यो द्विजश्च तौ (असृज्येताम्) (अहोरात्रे) (अधिपत्नी) अधिष्ठात्र्यौ (आस्ताम्) भवतः (एकविंशत्या) मनुष्याणामङ्गैः (अस्तुवत) (एकशफाः) अश्वादयः (पशवः) (असृज्यन्त) सृष्टाः (वरुणः) जलम् (अधिपतिः) (आसीत्) (त्रयोविंशत्या) पश्वङ्गैः (अस्तुवत) (क्षुद्राः) नकुलपर्यन्ताः (पशवः) (असृज्यन्त) (पूषा) पुष्टिकर्त्ता भूगोलः (अधिपतिः) (आसीत्) (पञ्चविंशत्या) क्षुद्रपश्ववयवैः (अस्तुवत) (आरण्याः) अरण्ये भवाः (पशवः) सिंहादयः (असृज्यन्त) (वायुः) (अधिपतिः) (आसीत्) (सप्तविंशत्या) आरण्यपशुगुणैः (अस्तुवत) (द्यावापृथिवी) (वि) विविधतया (ऐताम्) प्राप्नुतः (वसवः) अग्न्यादयोऽष्टौ (रुद्राः) प्राणादयः (आदित्याः) चैत्रादयो द्वादशाः मासाः प्रथममध्यमोत्तमा विद्वांसो वा (अनुव्यायन्) अनुकूलतयोत्पादिताः (ते) (एव) (अधिपतयः) (आसन्) ॥ ३० ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यूयं येनोत्पादिते अहोरात्रे अधिपत्नी आस्ताम् । येन शूद्रार्यावसृज्येतां तं नवदशभिरस्तुवत । येनोत्पादितो वरुणोऽधिपतिरासीद्येनैकशफाः पशवोऽसृज्यन्त तं परमात्मानमेकविंशत्यास्तुवत । येन निर्मितः पूषाऽधिपतिरासीद् येन क्षुद्राः पशवोऽसृज्यन्त तं त्रयोविंशत्यास्तुवत । येनोत्पादितो वायुरधिपतिरासीद्येनाऽऽरण्याः पशवोऽसृज्यन्त तं पञ्चविंशत्यास्तुवत येन सृष्टे द्यावापृथिव्यैतां येन चरिता वसवो रुद्रा आदित्या अनुव्यायंस्त एवाऽधिपतय आसंस्तं सप्तविंशत्यास्तुवत ॥ ३० ॥

भावार्थः—हे मनुष्याः येनार्य्याः शूद्रा दस्यवश्च मनुष्याः सृष्टा येन स्थूलसूक्ष्मा प्राणिदेहा महद्भूताः पशव एतेषां पालनसाधनानि च यस्य सृष्टावल्पविद्याः समग्रविद्याश्च विद्वांसो भवन्ति तमेव यूयमुपास्यं मन्यध्वम् ॥ ३० ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो तुम जिसने उत्पन्न किये (अहोरात्रे) दिन और रात्रि (अधिपत्नी) सब काम कराने के अधिकारी (आस्ताम्) हैं जिसने (शूद्रा-

ष्यों) शूद्र और आर्य्य द्विज ये दोनों (असृज्येताम्) रचे हैं उस की (नवदशभिः) दश प्राण पांच महाभूत मन, बुद्धि, चित्त और अहंकारों से (अस्तुवत) स्तुति करो । जिसने उत्पन्न किया (वरुणः) जल (अधिपतिः) प्राण के समान प्रिय अधिष्ठाता (आसीत्) है जिसने (एकशफाः) जुड़े एक खुरों वाले घोड़े आदि (पशवः) पशु (असृज्यन्त) रचे हैं उस की (एकविंशत्या) मनुष्यों के इक्कीस अवयवों से (अस्तुवत) स्तुति करो जिसने बनाया (पूषा) पुष्टिकारक भूगोल (अधिपतिः) रक्षा करने वाला (आसीत्) है जिसने (क्षुद्राः) अतिसूक्ष्म जीवों से लेकर नकुलपर्यन्त (पशवः) पशु (असृज्यन्त) रचे हैं उस की (त्रयोविंशत्या) पशुओं के तेईस अवयवों से (अस्तुवत) स्तुति करो । जिसने बनाया हुआ (वायुः) वायु (अधिपतिः) पालने हारा (आसीत्) है जिसने (आरण्याः) वन के (पशवः) सिंह आदि पशु (असृज्यन्त) रचे हैं (पञ्चविंशत्या) अनेकों प्रकार के छोटे २ वन्य पशुओं के अवयवों के साथ अर्थात् उन अवयवों की कारीगरी के साथ (अस्तुवत) प्रशंसा करो जिसने बनाये (द्यावापृथिवी) आकाश और भूमि (ऐताम्) प्राप्त हैं जिस के बनाने से (वसवः) अग्नि आदि आठ पदार्थ वा प्रथम कक्षा के विद्वान् (रुद्राः) प्राण आदि वा मध्यम विद्वान् (आदित्याः) बारह महीने वा उत्तम विद्वान् (अनुव्यायन्) अनुकूलता से उत्पन्न हैं (ते) (एव) वे अग्नि आदि ही वा विद्वान् लोग (अधिपतयः) अधिष्ठाता (आसन्) होते हैं उस की (सप्तविंशत्या) सत्ताईस वन के पशुओं के गुणों से (अस्तुवत) स्तुति करो ॥ ३० ॥

भावार्थः—हे मनुष्यो जिसने ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र शांकू मनुष्य भी रचे हैं जिसने स्थूल तथा सूक्ष्म प्राणियों के शरीर अत्यन्त छोटे पशु और इन की रक्षा के साधन पदार्थ रचे और जिस की सृष्टि में न्यून विद्या और पूर्ण विद्या वाले विद्वान् होते हैं उसी परमात्मा की तुम लोग उपासना करो ॥ ३० ॥

नवविंशत्येत्यस्य विश्वदेव ऋषिः । प्रजापतिर्देवता ।
स्वराड् ब्राह्मी जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

पुनः स एव विषय उपदिश्यते ॥
फिर भी वही उक्त वि० ॥

नवविंशत्यास्तुवत वनस्पतयोऽसृज्यन्त सोमोऽधिपतिरासीत् । एकत्रिंशतास्तुवत । प्रजा असृज्यन्त यवाश्चायवाश्चाधिपतय आसन् । त्रयस्त्रिंशतास्तुवत भूतान्यशाम्यन्प्रजापतिः । परमेष्ठ्यधिपतिरासीत् ॥ ३१ ॥

नवविंशत्येति नवऽविंशत्या । अस्तुवत । वनस्पतयः । असृज्यन्त । सोमः । अधिपतिरित्यधिऽपतिः । आसीत् । एकत्रिंशतेत्येकऽत्रिंशता । अस्तुवत । प्रजाइति प्रऽजाः । असृज्यन्त । यवाः । च । अयवाः । च । अधिपतय इत्यधिऽपतयः । आसन् । त्रयस्त्रिंशतेति त्रयःऽत्रिंशता । अस्तुवत । भूतानि । अशाम्यन् । प्रजापतिरिति प्रजाऽपतिः । परमेष्ठी । परमेऽस्थीति परमेऽस्थी । अधिपतिरित्यधिऽपतिः । आसीत् ॥ ३१ ॥

पदार्थः—(नवविंशत्या) एतत्संख्याकैर्वनस्पतिगुणैः (अस्तुवत) जगत्स्रष्टारं परमात्मानं प्रशंसत (वनस्पतयः) अश्वत्थादयः (असृज्यन्त) सृष्टाः (सोमः) ओषधिराजः (अधिपतिः) अधिष्ठाता (आसीत्) भवति (एकत्रिंशता) प्रजाङ्गैः (अस्तुवत) प्रशंसत (प्रजाः) (असृज्यन्त) निर्मिताः (यवाः) मिश्रिताः (च) (अयवाः) अमिश्रिताः (च) (अधिपतयः) अधिष्ठातारः (आसन्) सन्ति (त्रयस्त्रिंशता) महाभूतगुणैः (अस्तुवत) प्रशंसत (भूतानि) महान्ति तत्त्वानि (अशाम्यन्) शाम्यन्ति (प्रजापतिः) प्रजापालक ईश्वरः (परमेष्ठी) परमेश्वररूपे आकाशे वाऽभि-

व्याप्य तिष्ठतीति (अधिपतिः) अधिष्ठाता (आसीत्) अत्राऽपि लोकन्ता इन्द्राग्नी इति पञ्चप्रतीकानि पूर्ववत्केनचित् क्षिप्तानीति वेद्यम् ॥ ३१ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यूयं येनोत्पादितः सोमोऽधिपतिरासीद्येन ते वनस्पतय उत्पन्नास्तं जगदीश्वरं नवविंशत्यास्तुवत । यासां यवा मिश्रिताः पर्वतादयश्च अणवादयश्चाऽयवाः प्रकृत्यवयवाः सत्त्वरजस्तमांसि गुणाः परमाण्वादयश्चाऽधिपतय आसन् ता असृज्यन्त तमेकत्रिंशतास्तुवत । यस्य प्रभावाद्भूतान्यशाम्यन्यः प्रजापतिः परमेष्ठ्यधिपतिरासीत्तं त्रयस्त्रिंशतास्तुवत ॥ ३१ ॥

भावार्थः—येन जगदीश्वरेण लोकानां रक्षणाय वनस्पत्यादीन् सृष्ट्वा ध्रियन्ते व्यवस्थाप्यन्ते स एव सर्वैर्मनुष्यैरुपासनीयः ॥ ३१ ॥

अस्मिन्नध्याये वसन्ताद्यृतुगुणवर्णनादेतदर्थस्य पूर्वाऽध्यायार्थेन सह संगतिरस्तीति बोध्यम् ।

पदार्थः—हे मनुष्यो तुम लोग जिस के बनाने से (सोमः) ओषधियों में उत्तम ओषधि (अधिपतिः) स्वामी (आसीत्) है जिसने उन (वनस्पतयः) पीपल आदि वनस्पतियों को (असृज्यन्त) रचा है उस परमात्मा की (नवविंशत्या) उनतीस प्रकार के वनस्पतियों के गुणों से (अस्तुवत) स्तुति करो । और जिसने उत्पन्न किये (यवाः) संगठितरूप बने पर्वत आदि (च) और असंगठित अणु आदि (अयवाः) भिन्न २ प्रकृति के अवयव सत्त्व रजस् और तमोगुण (च) तथा परमाणु आदि (अधिपतयः) मुख्य कारणरूप अध्यक्ष (आसन्) हैं उन (प्रजाः) प्रसिद्ध ओषधियों को जिसने (असृज्यन्त) रचा है उस ईश्वर की (एकत्रिंशता) इकत्तीस प्रकार के अवयवों से (अस्तुवत) प्रशंसा करो । जिस के प्रभाव से (भूतानि) प्रकृति के परिणाम महत्तत्त्व के कार्य्य (अशाम्यन्) शान्त हों जो (प्रजापतिः) प्रजा का रक्षक (परमेष्ठी) परमेश्वर के समान आकाश में व्यापक हो के स्थित परमेश्वर (अधिपतिः) अधिष्ठाता (आसीत्) है उस की (त्रयस्त्रिंशता) महाभूतों के तेतीस गुणों से (अस्तुवत) प्रशंसा करो ॥ ३१ ॥

भावार्थः—जिस परमेश्वर ने लोकों की रक्षा के लिये वनस्पति आदि ओषधियों को रस के धारण और व्यवस्थित किया है उसी की उपासना सब मनुष्यों को करनी चाहिये ॥ ३१ ॥

इस अध्याय में वसन्तादि ऋतुओं के गुण-वर्णन होने से इस अध्याय के अर्थ की संगति पूर्व अध्याय के अर्थ के साथ जाननी चाहिये ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्याणां परमविदुषां श्रीयुतविरजानन्दसरस्वतीस्वामिनां शिष्येण श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिना विरचिते संस्कृताऽऽर्य्यभाषाभ्यां विभूषिते सुप्रमाणयुक्ते यजुर्वेदभाष्ये चतुर्दशोऽध्यायः समाप्तः ॥ १४ ॥



अथ पञ्चदशाऽध्यायारम्भः ॥

ओं विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव। यद् भद्रं तन्न आ सुव ॥ १ ॥

अग्ने जातानित्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृत्
त्रिष्टुप्छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

अस्य प्रथममन्त्रे राजराजपुरुषैः किं किं कर्त्तव्यमित्याह ॥

अब पन्द्रहवें अध्याय का आरम्भ है इस के प्रथम मन्त्र में राजा
और राजपुरुषों को क्या २ करना चाहिये इस वि० ॥

अग्नें जातान् प्र णुदा नः सपत्नान् प्रत्यजा-
तान्नुद जातवेदः । अधिनो ब्रूहि सुमना अहेडँ-
स्तवं स्याम शर्मंस्त्रिवरूथ उद्भौ ॥ १ ॥

अग्नें । जातान् । प्र । नुद । नः । सपत्नानिति सऽ-
पत्नान् । प्रतिं । अजातान् । नुद । जातवेद इतिं जातऽवेदः ।
अधिं । नः । ब्रूहि । सुमना इतिं सुऽमनाः । अहेडन् । तवं ।
स्याम । शर्मन् । त्रिवरूथ इतिं त्रिऽवरूथे । उद्भाविति
त्युत्ऽभौ ॥ १ ॥

पदार्थः—(अग्ने) राजन् वा सेनापते (जातान्) उत्पन्नान् प्रसिद्धान्
(प्र) (नुद) दूरे प्रक्षिप । अत्र द्व्यचोऽतस्तिङ इति दीर्घः (नः) अस्मा-
कम् (सपत्नान्) सपत्नीव वर्त्तमानानरीन् । (प्रति) (अजातान्) अप्रकटान्
(नुद) प्रेरय (जातवेदः) जातबल (अधि) (नः) अस्मान् (ब्रूहि)

उपदिश (सुमनाः) प्रसन्नस्वान्तः (अहेडन्) अनादरमकुर्वन् (तव) (स्याम) (शर्मन्) गृहे (त्रिवरूथे) त्रीणि वरूथान्याध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकानि सुखानि यस्मिन् (उद्भौ) उद्भृतकृष्टानि वस्तूनि भवन्ति यस्मिंस्तस्मिन् ॥ १ ॥

अन्वयः—हे अग्ने त्वं नो जातान् सपत्नान् प्रणुद हे जातवेदस्त्वमजातान् शत्रून् नुद अस्मान् हेडन् सुमनास्त्वं नोऽस्मान् प्रत्यधिब्रूहि यतो वयं तवोद्भौ त्रिवरूथे शर्मन् सुखिनः स्याम ॥ १ ॥

भावार्थः—राजादिसभ्यजनैर्गुप्तचारैः प्रसिद्धाऽप्रसिद्धान् शत्रून् निश्चित्य वशं नेयाः। न कस्यापि धार्मिकस्यानादरोऽधार्मिकस्यादरश्च कर्त्तव्यः यतः सर्वे सज्जना विश्वस्ताः सन्तो राष्ट्रे वसेयुः ॥ १ ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) राजन् वा सेनापते आप (नः) हमारे (जातान्) प्रसिद्ध (सपत्नान्) शत्रुओं को (प्र, णुद) दूर कीजिये। हे (जातवेदः) प्रसिद्ध बलवान् राजन् आप (अजातान्) अप्रसिद्ध शत्रुओं को (नुद) प्रेरणा कीजिये और हमारा (अहेडन्) अनादर न करते हुए (सुमनाः) प्रसन्नचित्त आप (नः) (प्रति) हमारे प्रति (अधिब्रूहि) अधिक उपदेश कीजिये जिससे हम लोग (तव) आप के (उद्भौ) उत्तम पदार्थों से युक्त (त्रिवरूथे) आध्यात्मिक आधिभौतिक और आधिदैविक इन तीनों सुखों के हेतु (शर्मन्) घर में (स्याम) सुखी होवें ॥ १ ॥

भावार्थः—राजा आदि न्यायाधीश सभासदों को चाहिये कि गुप्त दूतों से प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध शत्रुओं को निश्चय करके वश में करें और किसी धर्मात्मा का तिरस्कार और अधर्मी का सत्कार भी कभी न करें जिस से सब सज्जन लोग विश्वासपूर्वक राज्य में वसें ॥ १ ॥

सहसा जातानित्यस्य परमेष्ठी ऋषिः। अग्निर्देवता।
भुरिक् त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर भी वही पूर्वोक्त विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

सहसा जातान् प्रणुदा नः सपत्नान् प्रत्यजातान् जातवेदो नुदस्व । अधि नो ब्रूहि सुमनस्यमानो वयᳯ स्याम प्रणुदा नः सपत्नान् ॥ २ ॥

सहसा । जातान् । प्र । नुद । नः । सपत्नानिति सऽपत्नान् । प्रति । अजातान् । जातवेद इति जातऽवेदः । नुदस्व । अधि । नः । ब्रूहि । सुमनस्यमान इति सुऽमनस्यमानः । वयम् । स्याम । प्र । नुद । नः । सपत्नानिति सुऽपत्नान् ॥ २ ॥

पदार्थः—(सहसा) बलेन सह (जातान्) प्रादुर्भूतान् विरोधिनः (प्र) (नुद) विजयस्व । अत्र द्व्यचोऽतस्तिङ इति दीर्घः (नः) अस्माकम् (सपत्नान्) सपत्नीव वर्त्तमानान् शत्रून् (प्रति) (अजातान्) युद्धेऽप्रकटान् शत्रुसेविनो मित्रान् (जातवेदः) जातप्रज्ञान् (नुदस्व) पृथक् कुरु (अधि) (नः) (ब्रूहि) विनयविधिमुपदिश (सुमनस्यमानः) सुष्ठु विचारयन् (वयम्) (स्याम) भवेम (प्र) (नुद) क्षिप । अत्रापि पूर्ववद्दीर्घः (नः) अस्माकम् (सपत्नान्) विरोधे वर्त्तमानान् सम्बन्धिनः ॥ २ ॥

अन्वयः—हे जातवेदस्त्वं नः सहसा जातान्त्सपत्नान् प्रणुद । तान् प्रत्यजातान् नुदस्व । सुमनस्यमानस्त्वं नोऽधि ब्रूहि । वय तत्र सहायाः स्याम । याश्च सपत्नान् त्वं प्रणुद तान् वयमपि प्रणुदेम ॥ २ ॥

भावार्थः—ये राजभृत्याः शत्रुनिवारणे यथाशक्ति न प्रयतन्ते ते सम्यग्दण्ड्याः । ये स्वसहायाः स्युस्तान् राजा सत्कुर्यात् ॥ २ ॥

पदार्थः—हे (जातवेदः) प्रकृष्ट ज्ञान को प्राप्त हुए राजन् आप (नः) हमारे (सहसा) बल के सहित (जातान्) प्रसिद्ध हुए (सपत्नान्) शत्रुओं को (प्रणुद) जीतिये और उन (प्रति) (अजातान्) युद्ध में छिपे हुए शत्रुओं के सेवक मित्रभाव से प्रविष्टों को (नुदस्व) पृथक् कीजिये तथा (सुमनस्यमानः) अच्छे प्रकार विचारते हुए आप (नः) हमारे लिये (अधिब्रूहि) अधिकता से विजय के विधान का उपदेश कीजिये (वयम्) हम लोग आप के सहायक (स्याम) होवें जिन (नः) हमारे (सपत्नान्) विरोध में प्रवृत्त सम्बन्धियों को आप (प्रणुद) मारें उन को हम लोग भी मारें ॥ २ ॥

भावार्थः—राजा को चाहिये कि जो राज्य के सेवक शत्रुओं के निवारण करने में यथाशक्ति प्रयत्न न करें उन को अच्छे प्रकार दण्ड देवें और जो अपने सहायक हों उन का सत्कार करें ॥ २ ॥

षोडशीत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । दम्पती देवते ।
ब्राह्मी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

अथ पतिपत्नीधर्म्ममाह ॥
अब स्त्री पुरुष का धर्म अगले मन्त्र में कहा है ॥

षोडशी स्तोम ओजो द्रविणं चतुश्चत्वारिꣳश स्तोमो वर्चो द्रविणम् । अग्नेः पुरीषमस्यप्सो नाम तान् त्वा विश्वे अभि गृणन्तु देवाः । स्तोमपृष्ठा घृतवतीह सीद प्रजावदस्मे द्रविणा यजस्व ॥ ३ ॥

षोडशी । स्तोमः । ओजः । द्रविणम् । चतुश्चत्वारिꣳश इति चतुःऽचत्वारिꣳशः । स्तोमः । वर्चः । द्रविणम् ।

अ॒ग्नेः । पुरी॑षम् । अ॒सि॒ । अ॒प्स॑ः । नाम॑ । ताम् । त्वा॒ । विश्वे॑ । अ॒भि । गृ॒ण॒न्तु॒ । दे॒वाः । स्तोम॑पृष्ठा॒ इति॒ स्तोम॑ऽपृष्ठाः । घृ॒तव॑ती॒ति॒ घृ॒तऽव॑ती । इ॒ह । सी॒द॒ । प्र॒जाव॒दिति॑ प्र॒जाऽव॑त् । अ॒स्मे । द्रवि॑णा । यज॑स्व ॥ ३ ॥

पदार्थः—(षोडशी) प्रशस्ताः षोडश कलाः सन्ति यस्मिन् सः (स्तोमः) स्तोतुमर्हः (ओजः) पराक्रमः (द्रविणम्) धनम् (चतुश्चत्वारिंशः) एतत्संख्यापूरको ब्रह्मचर्यव्यवहारकरः (स्तोमः) स्तुवन्ति येन सः (वर्चः) अध्ययनम् (द्रविणम्) यशो वा (अग्नेः) पावकस्य (पुरीषम्) पूर्तिकरम् (असि) (अप्सः) न विद्यते परपदार्थस्याप्सो भक्षणं यस्य सः (नाम) प्रसिद्धम् (ताम्) (त्वा) त्वाम् (विश्वे) (अभि) (गृणन्तु) प्रशंसन्तु (देवाः) विद्वांसः (स्तोमपृष्ठा) स्तोमाः पृष्ठा ज्ञापयितुमिष्टा यस्याः सा (घृतवती) प्रशस्ताज्यादियुक्ता (इह) गृहाश्रमे (सीद) (प्रजावत्) बह्व्यः प्रजा यस्मात्तत् (अस्मे) अस्मभ्यम् (द्रविणा) द्रविणं धनम् । अत्र सुपां सुलुगित्याकारादेशः (यजस्व) देहि ॥ ३ ॥

अन्वयः—या षोडशी स्तोम ओजो द्रविणं चतुश्चत्वारिंशः स्तोमो नाम वर्चो द्रविणं च ददाति योऽग्नेः पुरीषं प्राप्तोऽप्सोऽसि तं त्वां तां च विश्वे देवा अभिगृणन्तु सा त्वं स्तोमपृष्ठा घृतवती सतीह गृहाश्रमे सीदास्मे प्रजावद् द्रविणा यजस्व ॥ ३ ॥

भावार्थः—मनुष्यैः षोडशकलात्मके जगति विद्याबलं विस्तार्य गृहाश्रमं कृत्वा विद्यादानादीनि कर्माणि सततं कार्याणि ॥ ३ ॥

पदार्थः—जो (षोडशी) प्रशंसित सोलह कलाओं से युक्त (स्तोमः) स्तुति के योग्य (ओजः) पराक्रम (द्रविणम्) धन जो (चतुश्चत्वारिंशः) चवालीस संख्या को पूर्ण करने वाला ब्रह्मचर्य का आचरण (स्तोमः) स्तुति

का साधन (नाम) प्रसिद्ध (वर्चः) पढ़ना और (द्रविणम्) बल को देती है जो (अग्नेः) अग्नि की (पुरीषम्) पूर्त्ति को प्राप्त (अप्नः) दूसरे के पदार्थों के भोग की इच्छा से रहित (असि) हो उस (त्वा) पुरुष तथा (ताम्) स्त्री को (विश्वे) सब (देवाः) विद्वान् लोग (अभिगृणन्तु) प्रशंसा करें सो तू (स्तोमपृष्ठा) इष्ट स्तुतियों को जनाने वाली (घृतवती) प्रशंसित घी आदि पदार्थों से युक्त (इह) इस गृहाश्रम में (सीद) स्थित हो और (अस्मे) हमारे लिये (प्रजावत्) बहुत सन्तानों के हेतु (द्रविणा) धन को (यजस्व) दिया कर ॥ ३ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि सोलह कला रूप जगत् में विद्यारूप बल को फैला और गृहाश्रम करके विद्यादान कर्मों को निरन्तर किया करें ॥ ३ ॥

एवश्छन्द इत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । विद्वांसो देवताः ।
निचृदाकृतिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

मनुष्याः प्रयत्नेन साधनैः सुखानि वर्द्धयन्त्वित्याह ॥
मनुष्यों को चाहिये कि प्रयत्नपूर्वक साधनों से सुख बढ़ावें यह वि० ॥

एवश्छन्दो वरिवश्छन्दः शम्भूश्छन्दः परिभूश्छन्द आच्छच्छन्दो मनश्छन्दो व्यचश्छन्दः सिन्धुश्छन्दः समुद्रश्छन्दः सरिरं छन्दः ककुप् छन्दस्त्रिककुप्छन्दः काव्यं छन्दो अङ्कुपं छन्दोऽक्षरपङ्क्तिश्छन्दः पदपङ्क्तिश्छन्दो विष्टारपङ्क्तिश्छन्दः क्षुरश्छन्दो भ्रजश्छन्दः ॥ ४ ॥

एवः । छन्दः । वरिवः । छन्दः । शम्भूरिति शम्ऽभूः । छन्दः । परिभूरिति परिऽभूः । छन्दः । आच्छदित्याऽछत् ।

छन्दः । मनः । छन्दः । व्यचः । छन्दः । सिन्धुः । छन्दः । समुद्रः । छन्दः । सरिरम् । छन्दः । ककुप् । छन्दः । त्रिककुबिति त्रिऽककुप् । छन्दः । काव्यम् । छन्दः । अङ्कुपम् । छन्दः । अक्षरपङ्क्तिरित्यक्षरऽपङ्क्तिः । छन्दः । पदपंक्तिरिति पदऽपंक्तिः । छन्दः । विष्टारपंक्तिः । विस्तारपंक्तिरिति विस्तारऽपंक्तिः । छन्दः । क्षुरः । छन्दः । भ्रजः । छन्दः ॥ ४ ॥

पदार्थः—(एवः) ज्ञानम् (छन्दः) आनन्दम् (वरिवः) सत्यसेवनम् (छन्दः) सुखप्रदम् (शम्भूः) सुखंभावुकः (छन्दः) आह्लादकारी व्यवहारः (परिभूः) सर्वतः पुरुषार्थी (छन्दः) सत्यपरीरकः (आच्छत्) दोषापवारणम् (छन्दः) ऊर्जनम् (मनः) संकल्पो विकल्पः (छन्दः) प्रकाशकरम् (व्यचः) शुभगुणव्याप्तिः (छन्दः) आनन्दकारि (सिन्धुः) नदीव चलनम् (छन्दः) (समुद्रः) सागर इव गाम्भीर्यम् (छन्दः) हर्षकरम् (सरिरम्) जलमिव सरलता कोमलता (छन्दः) जलमिव शान्तिः (ककुप्) दिगिव यशः (छन्दः) प्रतिष्ठाप्रदम् (त्रिककुप्) त्रीणि कानि सुखानि स्कुभ्नाति येन कर्मणा तत् । अत्र छान्दसो वर्णलोप इति सलोपः (छन्दः) आनन्दकरम् (काव्यम्) कविभिर्निर्मितम् (छन्दः) प्रकाशकम् (अङ्कुपम्) अङ्कूनि कुटिलानि गमनानि पाति रक्षति तज्जलम् (छन्दः) तृप्तिकरं कर्म (अक्षरपङ्क्तिः) असौ च लोकः (छन्दः) आनन्दकरः (पदपङ्क्तिः) अयं लोकः (छन्दः) सुखप्रापकः (विष्टारपङ्क्तिः) सर्वा दिशः (छन्दः) सुखसाधिकाः (क्षुरः) क्षुर इव छेदक आदित्यः (छन्दः) विज्ञानम् (भ्रजः) दीप्तम् । अत्र वर्णव्यत्ययेन ह्रस्वत्वम् (छन्दः) शब्दज्ञानकरः ॥ ४ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यूयं पराक्रमैरेवश्छन्दो वरिवश्छन्दः शम्भूश्छन्दः परिभूश्छन्द आच्छच्छन्दो मनश्छन्दो व्यचश्छन्दः सिन्धुश्छन्दः समु-

द्रश्छन्दः सरिरं छन्दः ककुप् छन्दस्त्रिककुप्छन्दः काव्यं छन्दोऽङ्कुपं छन्दोऽक्षर-पंक्तिश्छन्दः पदपंक्तिश्छन्दो विष्टारपङ्क्तिश्छन्दः क्षुरश्छन्दो भ्रजश्छन्दः सुखाप साध्नुत ॥ ४ ॥

भावार्थः—ये मनुष्या धर्म्यकर्मपुरुषार्थानुष्ठानेन प्रिया भवन्ति ते सर्वेभ्यः सृष्टिस्थपदार्थेभ्यः सुखानि संग्रहीतुं शक्नुवन्ति ॥ ४ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो तुम लोग उत्तम प्रयत्न से (एवः) (छन्दः) आनन्द-दायक ज्ञान (वरिवः) सत्यसेवनरूप (छन्दः) सुखदायक (शम्भूः) सुख का अनुभव (छन्दः) आनन्दकारी (परिभूः) सब ओर से पुरुषार्थी (छन्दः) सत्य का प्रकाशक (आच्छत्) दोषों का हटाना (छन्दः) जीवन (मनः) संकल्प विकल्पात्मक (छन्दः) प्रकाशकारी (व्यचः) शुभ गुणों की व्याप्ति (छन्दः) आनन्दकारक (सिन्धुः) नदी के तुल्य चलना (छन्दः) स्वतंत्रता (समुद्रः) समुद्र के समान गंभीरता (छन्दः) प्रयोजनसिद्धिकारी (सरिरम्) जल के तुल्य कोमलता (छन्दः) जल के समान शान्ति (ककुप्) दिशाओं के तुल्य उज्ज्वल कीर्ति (छन्दः) प्रतिष्ठा देने वाला (त्रिककुप्) अध्यात्मादि तीन सुखों का प्राप्त करने वाला कर्म (छन्दः) आनन्दकारक (काव्यम्) दीर्घदर्शी कवि लोगों ने बनाया (छन्दः) प्रकाशक विज्ञानदायक (अङ्कुपम्) टेढ़ी गति वाला जल (छन्दः) उपकारी (अक्षरपङ्क्तिः) परलोक (छंदः) आनन्दकारी (पदपङ्क्तिः) यह लोक (छन्दः) सुखसाधक (विष्टारपङ्क्तिः) सब दिशा (छन्दः) सुख का साधक (क्षुरः) छुरा के समान पदार्थों का छेदक सूर्य्य (छन्दः) विज्ञानस्वरूप (भ्रजः) प्रकाशमय (छन्दः) स्वच्छ आनन्दकारी पदार्थ-सुख के लिये सिद्ध करो ॥ ४ ॥

भावार्थः—जो मनुष्य धर्मयुक्त कर्म में पुरुषार्थ करने से सब के प्रिय होना अच्छा समझते हैं वे सब सृष्टि के पदार्थों से सुख लेने को समर्थ होते हैं ॥ ४ ॥

आच्छच्छन्द इत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । विद्वांसो देवता । भुरिगभिकृतिश्छन्दः । ऋषभः स्वरः ॥

अथ मनुष्यैः प्रयत्नेन स्वातन्त्र्यं विधेयमित्याह ॥

मनुष्यों को चाहिये कि प्रयत्न के साथ स्वतन्त्रता बढ़ावें यह वि० ॥

आच्छच्छन्दः॑ प्रच्छच्छन्द॒स्सं॒यच्छन्दो॑ वि॒यच्छन्दो॑ बृ॒हच्छन्दो॑ रथन्त॒रञ्छन्दो॑ नि॒का॒यश्छन्दो॑ वि॒वधश्छन्दो॒ गिर॒श्छन्दो॒ भ्रज॒श्छन्दः॑ स॒ꣳस्तुप् छन्दो॑ऽनु॒ष्टुप् छन्दः॑ ए॒वश्छन्दो॑ वरि॑व॒श्छन्दो॒ व॒यश्छन्दो॑ व॒य॒स्कृच्छन्दो॑ वि॒ष्पर्द्धा॒श्छन्दो॑ वि॒शा॒लं छन्द॑श्छ॒दिश्छन्दो॑ दूरोह॒णं छन्द॑स्त॒न्द्रं छन्दो॑ अ॒ङ्का॒ङ्कं छन्दः॑ ॥ ५ ॥

आच्छादित्याऽच्छत् । छन्दः॑ । प्रच्छदिति॑ प्रऽछत् । छन्दः॑ । सं॒यदिति॑ सम्ऽयत् । छन्दः॑ । वि॒यदिति॑ विऽयत् छन्दः॑ । बृ॒हत् । छन्दः॑ । र॒थ॒न्त॒रमिति॑ रथम्ऽतरम् । छन्दः॑ । नि॒का॒य इति॑ निऽका॒यः । छन्दः॑ । वि॒व॒ध इति॑ विऽव॒धः । छन्दः॑ । गिरः॑ । छन्दः॑ । भ्रजः॑ । छन्दः॑ । स॒ꣳस्तु॒बिति॑ स॒म्ऽस्तुप् । छन्दः॑ । अ॒नु॒ष्टुप् । अ॒नु॒स्तु॒बित्य॑नुऽस्तुप् । छन्दः॑ । ए॒वः॑ । छन्दः॑ । व॒रिवः॑ । छन्दः॑ । व॒यः॑ । छन्दः॑ । व॒य॒स्कृत् । व॒यः॒कृदिति॑ व॒यः॒ऽकृत् । छन्दः॑ । वि॒ष्पर्द्धाः॑ । वि॒स्पर्द्धा॒ इति॑ विऽस्पर्द्धाः॑ । छन्दः॑ । वि॒शा॒लमिति॑ विऽशा॒लम् । छन्दः॑ ।

छदिः । छन्दः । दूरोहणमिति दुःऽरोहणम् । छन्दः । तन्द्रम् । छन्दः । अङ्काङ्कमित्यङ्कऽअङ्कम् । छन्दः ॥ ५ ॥

पदार्थः—(आच्छत्) समन्तात् पापनिवारकं कर्म (छन्दः) प्रकाशनम् (प्रच्छत्) प्रयत्नेन दुष्टस्वभावदूरीकरणार्थं कर्म (छन्दः) उत्साहनम् (संयत्) संयमः (छन्दः) (बलम्) (वियत्) विविधैः प्रकारैर्यतते येन तत् (छन्दः) उत्साहः (बृहत्) महद्वर्धनम् (छन्दः) स्वातन्त्र्यम् (रथन्तरम्) यदस्मिन् लोके तारकं वस्त्वस्ति तत् (छन्दः) स्वीकरणम् (निकायः) निचिन्वन्ति उपसमादधते येन वायुना तत् (छन्दः) स्वीकरणम् (विवधः) विशेषेण बध्नन्ति पदार्था यस्मिंस्तदन्तरिक्षम् (छन्दः) प्रकाशनम् (गिरः) गीर्यते निगल्यते यदन्नं तत् (छन्दः) स्वीकरणम् (भ्रजः) भ्राजते प्रकाशते योऽग्निः सः (छन्दः) स्वीकरणम् (संस्तुप्) सम्यक् स्तुभ्नाति शब्दार्थसम्बन्धान् यया सा वाक् (छन्दः) आह्लादकारि (अनुष्टुप्) श्रुत्वा पश्चात् स्तुभ्नाति जानाति शास्त्राणि यया मननक्रियया सा (छन्दः) उपदेशः (एवः) प्रापणम् (छन्दः) प्रयतनम् (वरिवः) विद्वत्परिचरणम् (छन्दः) स्वीकरणम् (वयः) जीवनम् (छन्दः) स्वाधीनम् (वयस्कृत्) यद्वयस्करोति तज्जीवनसाधनम् (छन्दः) स्वीकरणम् (विष्पर्धाः) विशेषेण यः स्पर्धते सः (छन्दः) प्रदीपनम् (विशालम्) विस्तीर्णं कर्म (छन्दः) परिग्रहणम् (छदिः) विघ्नापवारणम् (छन्दः) सुखावहम् (दूरोहणम्) दुःखेन रोढुमर्हम् (छन्दः) उत्क्रमणम् (तन्द्रम्) स्वतन्त्रताकरणम् (छन्दः) प्रकाशनम् (अङ्काङ्कम्) गणितविद्या (छन्दः) संस्थापनम् ॥ ५ ॥

अन्वयः—मनुष्यैराच्छच्छन्दः प्रच्छच्छन्दः संयच्छन्दो वियच्छन्दो बृहच्छन्दो रथन्तरं छन्दो निकायश्छन्दो विवधश्छन्दो गिरश्छन्दो भ्रजश्छन्दः संस्तुप्छन्दोऽनुष्टुप्छन्द एवश्छन्दो वरिवश्छन्दो वयश्छन्दो वयस्कृच्छन्दो विष्पर्धाश्छन्दो विशालं छन्दश्छदिश्छन्दो दूरोहणं छन्दस्तन्द्रं छन्दोऽङ्काङ्कं छन्दः स्वीकृत्य प्रचार्य प्रयतितव्यम् ॥ ५ ॥

भावार्थः—मनुष्यैः पुरुषार्थेन पारतन्त्र्यहानिः स्वातन्त्र्यस्वीकरणं सततं विधेयम् ॥ ५ ॥

पदार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि (आच्छत्) अच्छे प्रकार पापों की निवृत्ति करने हारा कर्म (छन्दः) प्रकाश (प्रच्छत्) प्रयत्न से दुष्ट स्वभाव को दूर करने वाला कर्म (छन्दः) उत्साह (संयत्) संयम (छन्दः) बल (वियत्) विविध यत्न का साधक (छन्दः) धैर्य्य (बृहत्) बहुत वृद्धि (छन्दः) स्वतन्त्रता (रथन्तरम्) समुद्ररूप संसार से पार करने वाला पदार्थ (छन्दः) स्वीकार (निकायः) संयोग का हेतु वायु (छन्दः) स्वीकार (विविधः) विशेष करके पदार्थों के रहने का स्थान अन्तरिक्ष (छन्दः) प्रकाशरूप (गिरः) भोगने योग्य अन्न (छन्दः) ग्रहण (भ्रजः) प्रकाशरूप अग्नि (छन्दः) छेदन (संस्तुप्) अच्छे प्रकार शब्दार्थ सम्बन्धों को जनाने हारी वाणी (छन्दः) आनन्दकारक (अनुष्टुप्) सुनने के पीछे शास्त्रों को जनाने हारी मन की क्रिया (छन्दः) उपदेश (एवः) प्राप्ति (छन्दः) प्रयत्न (वरिवः) विद्वानों की सेवा (छन्दः) स्वीकार (वयः) जीवन (छन्दः) स्वाधीनता (वयस्कृत्) अवस्थावर्द्धक जीवन के साधन (छन्दः) ग्रहण (विष्पर्धाः) विशेष करके जिससे ईर्ष्या करे वह (छन्दः) प्रकाश (विशालम्) विस्तीर्ण कर्म (छन्दः) ग्रहण करना (छदिः) विघ्नों का हटाना (छन्दः) सुखों को पहुंचाने वाला (दूरोहणम्) दुःख से चढ़ने योग्य (छन्दः) बल (तन्द्रम्) स्वतन्त्रता करना (छन्दः) प्रकाश और (अङ्काङ्कम्) गणितविद्या का (छन्दः) सम्यक् स्थापन करना स्वीकार और प्रचार के लिये प्रयत्न करें ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिये कि पुरुषार्थ करने से पराधीनता छुड़ा के स्वाधीनता का निरन्तर स्वीकार करें ॥ ५ ॥

रश्मिनेत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । विद्वांसो देवताः ।
विराडभिकृतिश्छन्दः । ऋषभः स्वरः ॥

अथ विद्वद्भिः पदार्थविद्या ज्ञातव्येत्याह ॥

विद्वानों को पदार्थविद्या के जानने का उपाय करना चाहिये यह वि० ॥

रश्मिनां सत्यायं सत्यञ्जिन्व प्रेतिना धर्म्मणा धर्मञ्जिन्वान्वित्यादिवा दिवञ्जिन्व सन्धिनान्तरिक्षेणान्तरिक्षं जिन्वप्रतिधिनां पृथिव्या पृथिवीं जिन्वविष्टम्भेन वृष्ट्या वृष्टिं जिन्व प्रवयाऽह्नाहंर्जिन्वानु या रात्र्या रात्रींञ्जिन्वोशिजा वसुंभ्यो वसूंञ्जिन्व प्रकेतेनांदित्येभ्य आदित्याञ्जिन्व ॥ ६ ॥

रश्मिनां । सत्यायं । सत्यम् । जिन्व । प्रेतिनेति प्रऽइंतिना । धर्मेणा । धर्मम् । जिन्व । अन्वित्येत्यनुंऽइत्या । दिवा । दिवम् । जिन्व । सन्धिनेति सम्ऽधिना । अन्तरिक्षेण । अन्तरिक्षम् । जिन्व । प्रतिधिनेति प्रतिऽधिना । पृथिव्या । पृथिवीम् । जिन्व । विष्टम्भेनं । वृष्ट्या । वृष्टिम् । जिन्व । प्रवयेति प्रऽवया । अह्ना । अहः । जिन्व । अनुयेत्यनुंऽया । रात्र्या । रात्रीम् । जिन्व । उशिजा । वसुंभ्य इति वसुंऽभ्यः । वसून् । जिन्व । प्रकेतेनेति प्रऽकेतेन । आदित्येभ्यः । आदित्यान् । जिन्व ॥ ६ ॥

पदार्थः—(रश्मिना) किरणसमूहेन (सत्याय) सति वर्त्तमाने भवाय स्थूलाय पदार्थसमूहाय (सत्यम्) अव्यभिचारि कर्म (जिन्व) प्राप्नुहि (प्रेतिना) प्रकृष्टविज्ञानयुक्तेन (धर्मणा) न्यायाचरणेन (धर्मम्) (जिन्व) जानीहि (अन्वित्या) अन्वेषणेन (दिवा) धर्मप्रकाशेन (दिवम्)

(सत्यप्रकाशम्) (जिन्व) (संधिना) सन्धानेन (अन्तरिक्षेण) आकाशेन (अन्तरिक्षम्) अवकाशम् (जिन्व) जानीहि (प्रतिधिना) प्रतिदधाति यस्तिंस्तेन (पृथिव्या) भूगर्भविद्यया (पृथिवीम्) भूमिम् (जिन्व) जानीहि (विष्टम्भेन) विशेषेण स्तभ्नोति शरीरं येन तेन (वृष्ट्या) वृष्टिविद्यया (वृष्टिम्) (जिन्व) जानीहि (प्रवया) कान्तिमता (अह्ना) अहर्विद्यया (अहः) दिनम् (जिन्व) जानीहि (अनुया) यानुयाति तया (रात्र्या) रात्रिविद्यया (रात्रीम्) रजनीम् (जिन्व) (उशिजा) कामयमानेन (वसुभ्यः) अग्न्यादिभ्यः (वसून्) अग्न्यादीन् (जिन्व) (प्रकेतेन) प्रकृष्टेन विज्ञानेन (आदित्येभ्यः) मासेभ्यः (आदित्यान्) द्वादशमासान् (जिन्व) विजानीहि ॥ ६ ॥

अन्वयः—हे विद्वंस्त्वं रश्मिना सत्याय सूर्य इव नित्यसुखाय सत्यं जिन्व प्रेतिना धर्मणा धर्मं जिन्वान्वित्या दिवा दिवं जिन्व सन्धिनान्तरिक्षेणान्तरिक्षं जिन्व । पृथिव्या प्रतिधिना पृथिवीं जिन्व विष्टम्भेन वृष्ट्या वृष्टिं जिन्व प्रवयाऽह्नाहर्जिन्व अनुया रात्र्या रात्रीं जिन्वोशिजा वसुभ्यो वसून् जिन्व प्रकेतेनादित्येभ्य आदित्यान् जिन्व ॥ ६ ॥

भावार्थः—विद्वद्भिर्यथा पदार्थपरीक्षणेन पदार्थविद्या विदिता कार्या तथैवान्येभ्य उपदेष्टव्या ॥ ६ ॥

पदार्थः—हे विद्वान् पुरुष तू (रश्मिना) किरणों से (सत्याय) वर्त्तमान में हुए सूर्य्य के तुल्य नित्य सुख और स्थूल पदार्थों के लिये (सत्यम्) अव्यभिचारी कर्म को (जिन्व) प्राप्त हो (प्रेतिना) उत्तम ज्ञान युक्त (धर्मणा) न्याय के आचरण से (धर्मम्) धर्म को (जिन्व) जान (अन्वित्या) खोज के हेतु (दिवा) धर्म के प्रकाश से (दिवम्) सत्य के प्रकाश को (जिन्व) प्राप्त हो (सन्धिना) सन्धिरूप (अन्तरिक्षेण) आकाश से (अन्तरिक्षम्) अवकाश को (जिन्व) जान (पृथिव्या) भूगर्भविद्या के (प्रतिधिना) सम्बन्ध से (पृथिवीम्) भूमि को (जिन्व) जान (विष्टम्भेन) शरीर धारण के हेतु आहार के रस से तथा (वृष्ट्या) वर्षा की विद्या से (वृष्टिम्) वर्षा को (जिन्व) जान (प्रवया) कान्तियुक्त (अह्ना) प्रकाश की

विद्या से (अहः) दिन को (जिन्व) जान (अनुया) प्रकाश के पीछे चलने वाली (रात्र्या) रात्रि की विद्या से (रात्रीम्) रात्रि को (जिन्व) जान (उशिजा) कामनाओं से (वसुभ्यः) अग्नि आदि आठ वसुओं की विद्या से (वसून्) उन अग्नि आदि वसुओं को (जिन्व) जान और (प्रकेतेन) उत्तम विज्ञान से (आदित्येभ्यः) बारह महीनों की विद्या से (आदित्यान्) बारह महीनों को (जिन्व) तत्त्वस्वरूप से जान ॥ ६ ॥

भावार्थः—विद्वानों को चाहिये कि जैसे पदार्थों की परीक्षा से अपने आप पदार्थविद्या को जानें वैसे ही दूसरों के लिये भी उपदेश करें ॥ ६ ॥

तन्तुनेत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । विद्वांसो देवताः । ब्राह्मी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

गृहाश्रमिणा केन किं कर्त्तव्यमित्याह ॥

गृहाश्रमी पुरुष को किस साधन से क्या करना चाहिये यह वि० ॥

तन्तुना रायस्पोषेण रायस्पोषं जिन्व सꣳसर्पेण श्रुताय श्रुतं जिन्वैडेनौषधीभिरोषधीर्जिन्वोत्तमेन तनूभिस्तनूर्जिन्व वयोधसाधीतेनाधीतञ्जिन्वाभिजिता तेजसा तेजो जिन्व ॥ ७ ॥

तन्तुना । रायः । पोषेण । रायः । पोषम् । जिन्व । सꣳसर्पेणेति सम्ऽसर्पेण । श्रुताय । श्रुतम् । जिन्व । ऐडेन । ओषधीभिः । ओषधीः । जिन्व । उत्तमेनेत्युत्ऽतमेन । तनूभिः । तनूः । जिन्व । वयोधसेति वयःऽधसा । आधीतेनेत्याऽधीतेन । आधीतमित्याऽधीतम् । जिन्व । अभिजितेत्यभिऽजिता । तेजसा । तेजः । जिन्व ॥ ७ ॥

पदार्थः—(तन्तुना) विस्तृतेन (रायः) धनस्य (पोषेण) पुष्ट्या (रायः) धनस्य (पोषम्) पुष्टिम् (जिन्व) प्राप्नुहि (संसर्पेण) सम्यक् प्रापणेन (श्रुताय) श्रवणाय (श्रुतम्) श्रवणम् (जिन्व) प्राप्नुहि (ऐडेन) इडायाऽन्नस्येदं संस्करणं तेन (ओषधीभिः) यवसोमलतादिभिः (ओषधीः) ओषधिविद्याम् (जिन्व) प्राप्नुहि (उत्तमेन) धर्माचरणेन (तनूभिः) सुसंस्कृतैः शरीरैः (तनूः) शरीराणि (जिन्व) प्राप्नुहि (वयोधसा) वयो जीवनं दधाति येन तेन (आधीतेन) समन्ताद्धारितेन (आधीतम्) सर्वतो धारितम् (जिन्व) प्राप्नुहि रक्ष वा (अभिजिता) आभिमुख्यगतान् शत्रून् जयति येन तेन (तेजसा) निशातेन तीव्रेण कर्मणा (तेजः) प्रागल्भ्यम् (जिन्व) प्राप्नुहि ॥ ७ ॥

अन्वयः—हे मनुष्य त्वं तन्तुना रायस्पोषेण रायस्पोषं जिन्व संसर्पेण श्रुताय श्रुतं जिन्वैडेनौषधीभिरोषधीर्जिन्वोत्तमेन तनूभिस्तनूर्जिन्व वयोधसाऽऽधीतेनाधीतं जिन्वाभिजिता तेजसा तेजो जिन्व ॥ ७ ॥

भावार्थः—मनुष्यैर्विस्तृतेन पुरुषार्थेनैश्वर्यं प्राप्य सार्वजनिकं हितं संसाध्यम् ॥ ७ ॥

पदार्थः—हे मनुष्य तू (तन्तुना) विस्तारयुक्त (रायः) धन की (पोषण) पुष्टि से (रायः) धन की (पोषम्) पुष्टि को (जिन्व) प्राप्त हो (संसर्पेण) सम्यक् प्राप्ति से (श्रुताय) श्रवण के लिये (श्रुतम्) शास्त्र के सुनने को (जिन्व) प्राप्त हो (ऐडेन) अन्न के संस्कार और (ओषधीभिः) जव तथा सोमलता आदि ओषधियों की विद्या से (ओषधीः) ओषधियों को (जिन्व) प्राप्त हो (उत्तमेन) उत्तम धर्म के आचरणयुक्त (तनूभिः) शुद्ध शरीरों से (तनूः) शरीरों को (जिन्व) प्राप्त हो (वयोधसा) जीवन के धारण करने हारे (आधीतेन) अच्छे प्रकार पढ़े से (आधीतम्) सब ओर से धारण की हुई विद्या को (जिन्व) प्राप्त हो (अभिजिता) सन्मुख शत्रुओं को जीतने के हेतु (तेजसा) तीक्ष्ण कर्म से (तेजः दृढ़ता को (जिन्व) प्राप्त हो ॥ ७ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि विस्तारयुक्त पुरुषार्थ से ऐश्वर्य को प्राप्त हो के सब प्राणियों का हित सिद्ध करें ॥ ७ ॥

प्रतिपदसीत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । प्रजापतिर्देवता ।
स्वराडार्ष्यनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनरेतैः किं कर्त्तव्यमित्याह ॥
फिर मनुष्यों को क्या करना चाहिये यह वि० ॥

प्रतिपदसि प्रतिपदे त्वानुपदस्यनुपदे त्वा संपदसि सम्पदे त्वा तेजोऽसि तेजसे त्वा ॥ ८ ॥

प्रतिपदिति प्रतिऽपत् । असि । प्रतिपद इति प्रतिऽपदे । त्वा । अनुपदित्यनुऽपत् । असि । अनुपद इत्यनुऽपदे । त्वा । संपदिति सम्ऽपत् । असि । सम्पद इति सम्ऽपदे । त्वा । तेजः । असि । तेजसे । त्वा ॥ ८ ॥

पदार्थः—(प्रतिपत्) प्रतिपद्यते प्राप्यते या सा (असि) (प्रतिपदे) ऐश्वर्याय (त्वा) त्वाम् (अनुपत्) अनु पश्चात् प्राप्यते या सा (असि) (अनुपदे) पश्चात् प्राप्तव्याय (त्वा) (सम्पत्) सम्यक् प्राप्यते या सा (असि) (सम्पदे) ऐश्वर्याय (त्वा) (तेजः) प्रागल्भ्यम् (असि) (तेजसे) (त्वा) त्वाम् ॥ ८ ॥

अन्वयः—हे पुरुषार्थिनि विदुषि स्त्रि यतस्त्वं प्रतिपदिवासि तस्यै प्रतिपदे त्वा याऽनुपदिवासि तस्या अनुपदे त्वा या संपदिवासि तस्यै संपदे त्वा या तेज इवासि तस्यै तेजसे त्वा त्वां स्वीकरोमि ॥ ८ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—मनुष्यैः सर्वसुखसिद्धये तुल्यगुणकर्मस्वभावैः स्त्रीपुरुषैः स्वयंवरेण विवाहेन परस्परं स्वीकृत्यानन्दितव्यम् ॥ ८ ॥

पदार्थः—हे पुरुषार्थिनि विद्वान् स्त्री जिस कारण तू (प्रतिपत्) प्राप्त होने के योग्य लक्ष्मी के तुल्य (असि) है इसलिये (प्रतिपदे) ऐश्वर्य की

प्राप्ति के लिये (त्वा) तुझ को जो (अनुपा) पीछे प्राप्त होने वाली शोभा के तुल्य (असि) है उस (अनुपदे) विद्याऽध्ययन के पश्चात् प्राप्त होने योग्य (त्वा) तुझ को जो तू (संपत्) संपत्ति के तुल्य (असि) है उस (सम्पदे) ऐश्वर्य के लिये (त्वा) तुझ को जो तू (तेजः) तेज के समान (असि) है इसलिये (तेजसे) तेज होने के लिये (त्वा) तुझ को ग्रहण करता हूं ॥ ८ ॥

भावार्थः—सब सुख सिद्ध होने के लिये तुल्य गुण कर्म और स्वभाव वाले स्त्री पुरुष स्वयंवर विवाह से परस्पर एक दूसरे का स्वीकार कर के आनन्द में रहें ॥ ८ ॥

त्रिवृदसीत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । प्रजापतिर्देवता ।
विराड् ब्राह्मी जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

पुनर्मनुष्यैः किं कर्त्तव्यमित्याह ॥
फिर मनुष्यों को क्या करना चाहिये यह वि० ॥

त्रिवृद॑सि त्रिवृते॑ त्वा प्रवृद॑सि प्रवृते॑ त्वा विवृद॑सि विवृते॑ त्वा सवृद॑सि सवृते॑ त्वाऽऽक्रमोऽस्याक्रमाय॑ त्वा संक्रमोऽसि॑ संक्रमाय त्वोत्क्रमोऽस्युत्क्रमाय त्वोत्क्रान्तिरस्युत्क्रान्त्यै त्वाऽधिपतिनोर्जोर्जं॑ जिन्व ॥ ९ ॥

त्रिवृदिति॑ त्रिऽवृत् । असि । त्रिवृत इति॑ त्रिऽवृते॑ । त्वा । प्रवृदिति॑ प्रऽवृत् । असि । प्रवृत इति॑ प्रऽवृते॑ । त्वा । विवृदिति॑ विऽवृत् । असि । विवृत इति॑ विऽवृते॑ ।

त्वा । प्रवृदिति प्रऽवृत् । असि । प्रवृत इति प्रऽवृते । त्वा । आक्रम इत्याऽक्रमः । असि । आक्रमायेत्याऽक्रमाय । त्वा । संक्रम इति समऽक्रमः । असि । संक्रमायेति समऽक्रमाय । त्वा । उत्क्रम इत्युत्ऽक्रमः । असि । उत्क्रमायेत्युत्ऽक्रमाय । त्वा । उत्क्रान्तिरित्युत्ऽक्रान्तिः । असि । उत्क्रान्त्या इत्युत्ऽक्रान्त्यै । त्वा । अधिपतिनेत्यधिऽपतिना । ऊर्जा । ऊर्जम् । जिन्व ॥ ६ ॥

पदार्थः—(त्रिवृत्) यत् त्रिभिः सत्त्वरजस्तमोगुणैः सह वर्त्तते तस्याव्यक्तस्य वेत्ता (असि) (त्रिवृते) (त्वा) त्वाम् (प्रवृत्) यत्कार्यरूपेण प्रवर्त्तते तस्य ज्ञाता (असि) (प्रवृते) (त्वा) (विवृत्) यद्विविधैराकारैर्वर्त्तते तज्जगदुपकर्त्ता (असि) (विवृते) (त्वा) (सवृत्) यः समानेन धर्मेण सह वर्त्तते तस्य बोधकः (असि) (सवृते) (त्वा) (आक्रमः) समन्तात्क्रमन्ते पदार्था यस्मिन्नन्तरिक्षे तस्य विज्ञापकः (असि) (आक्रमाय) (त्वा) (संक्रमः) सम्यक् क्रमन्ते यस्मिँस्तस्य (असि) (संक्रमाय) (त्वा) (उत्क्रमः) उदूर्ध्वं क्रमः क्रमणं यस्मात्तस्य (असि) (उत्क्रमाय) (त्वा) (उत्क्रान्तिः) उत्क्रामन्त्युल्लंघयन्ति समान् विषमान् देशान् यया गत्या तद्विद्याप्रज्ञी (असि) (उत्क्रान्त्यै) (त्वा) (अधिपतिना) अधिष्ठात्रा (ऊर्जा) पराक्रमेण (ऊर्जम्) बलम् (जिन्व) प्राप्नुहि ॥ ६ ॥

अन्वयः—हे मनुष्य यस्त्वं त्रिवृदसि तस्मै त्रिवृते त्वा यत्प्रवृदसि तस्मै प्रवृते त्वा यद्विवृदसि तस्मै विवृते त्वा य आक्रमोऽसि तस्मा आक्रमाय त्वा यत् सवृदसि तस्मै सवृते त्वा यः संक्रमोऽसि तस्मै संक्रमाय त्वा य उत्क्रमोऽसि तस्मा उत्क्रमाय त्वा योत्क्रान्तिरसि तस्या उत्क्रान्त्यै त्वा त्वामहं परिगृह्णामि तेन मयाधिपतिना सह वर्त्तमानस्त्वमूर्जोर्जं जिन्व ॥ ६ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—नहि पृथिव्यादिपदार्थानां गुणकर्मस्वभावविज्ञानेन विना कश्चिदपि विद्वान् भवितुमर्हति तस्मात् कार्य्यकारणसंघातं यथावद्विज्ञायान्येभ्य उपदेष्टव्यो यथाऽध्यक्षेण सह सेना विजयं करोति यथा स्वस्वामिना सह स्त्री सर्वं दुःखं जयति ॥ ६ ॥

पदार्थः—हे मनुष्य जो तू (त्रिवृत्) सत्त्वगुण रजोगुण और तमोगुण के सह वर्त्तमान अव्यक्त कारण का जानने हारा (असि) है उस (त्रिवृते) तीन गुणों से युक्त कारण के ज्ञान के लिये (त्वा) तुझ को जो तू (प्रवृत्) जिस कार्यरूप से प्रवृत्त संसार का ज्ञाता (असि) है उस (प्रवृते) कार्यरूप संसार को जानने के लिये (त्वा) तुझ को जो तू (विवृत्) जिस विविध प्रकार से प्रवृत्त जगत् का उपकारकर्त्ता (असि) है उस (विवृते) जगदुपकार के लिये (त्वा) तुझ को जो तू (सवृत्) जिस समान धर्म के साथ वर्त्तमान पदार्थों का जानने हारा (असि) है उस (सवृते) साधर्म्य पदार्थों के ज्ञान के लिये (त्वा) तुझ को जो तू (आक्रमः) अच्छे प्रकार पदार्थों के रहने के स्थान अन्तरिक्ष का जानने वाला (असि) है उस (आक्रमाय) अन्तरिक्ष को जानने के लिये (त्वा) तुझ को जो तू (संक्रमः) सम्यक् पदार्थों को जानता (असि) है उस (संक्रमाय) पदार्थ-ज्ञान के लिये (त्वा) तुझ को जो तू (उत्क्रमः) ऊपर मेघमंडल की गति का ज्ञाता (असि) है उस (उत्क्रमाय) मेघमंडल की गति जानने के लिये (त्वा) तुझ को तथा हे स्त्रि जो तू (उत्क्रान्तिः) सब विषम पदार्थों के उल्लंघन के हेतु विद्या को जानने हारी (असि) है उस (उत्क्रान्त्यै) गमन-विद्या के जानने के लिये (त्वा) तुझ को सब प्रकार ग्रहण करते हैं (अधिपतिना) अपने स्वामी के सहवर्त्तमान तू (ऊर्जा) पराक्रम से (ऊर्जम्) बल को (जिन्व) प्राप्त हो ॥ ९ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु०—पृथिवी आदि पदार्थों के गुण कर्म और स्वभावों के जाने बिना कोई भी विद्वान् नहीं हो सकता इसलिये कार्य कारण दोनों को यथावत् जान के अन्य मनुष्यों के लिये उपदेश करना चाहिये ॥ ९ ॥

राज्यसीत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । वसवो देवताः । पूर्वस्य विराड्
ब्राह्मी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः । प्रथमजा इत्युत्तरस्य,
ब्राह्मी बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

अग्न्यादिपदार्थाः कीदृशा इत्याह ॥
अग्नि आदि पदार्थ कैसे गुणों वाले हैं यह वि० ॥

राज्ञ्यसि प्राची दिग्वसवस्ते देवा अधिपतयोऽग्निर्हेतीनां प्रतिधर्त्ता त्रिवृत् त्वा स्तोमः पृथिव्याᳬश्रयत्वाज्यमुक्थमव्यथायै स्तभ्नातु रथन्तरᳬ साम प्रतिष्ठित्या अन्तरिक्ष ऋषयस्त्वा प्रथमजा देवेषु दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथन्तु विधर्त्ता चायमधिपतिश्च ते त्वा सर्वे संविदाना नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानं च सादयन्तु ॥ १० ॥

राज्ञी । असि । प्राची । दिक् । वसवः । ते । देवाः । अधिपतय इत्यधिऽपतयः । अग्निः । हेतीनाम् । प्रतिधर्त्तेति प्रतिऽधर्त्ता । त्रिवृदिति त्रिऽवृत् । त्वा । स्तोमः । पृथिव्याम् । श्रयतु । आज्यम् । उक्थम् । अव्यथायै । स्तभ्नातु । रथन्तरमिति रथम्ऽतरम् । साम । प्रतिष्ठित्यै । प्रतिस्थित्या इति प्रतिऽस्थित्यै । अन्तरिक्षे । ऋषयः । त्वा । प्रथमजा इति

प्रथमऽजाः। देवेषु। दिवः। मात्रया। वरिम्णा। प्रथन्तु। विधर्त्तेति विऽधर्त्ता। च। अयम्। अधिपतिरित्यधिऽपतिः। च। ते। त्वा। सर्वे। संविदाना इति सम्ऽविदानाः। नाकस्य। पृष्ठे। स्वर्ग इति स्वःऽगे। लोके। यजमानम्। च। सादयन्तु॥ १०॥

पदार्थः—(राज्ञी) राजमाना प्रधाना (असि) (प्राची) पूर्वा (दिक्) दिगिव (वसवः) अग्न्याद्याः (ते) तव (देवाः) देदीप्यमानाः (अधिपतयः) अधिष्ठातारः (अग्निः) विद्युदिव (हेतीनाम्) वज्रास्त्रादीनाम्। हेतिरिति वज्रना०। निघं० २। २०। (प्रतिधर्त्ता) प्रत्यक्षं धारकः (त्रिवृत्) यस्त्रिधा वर्त्तते (त्वा) (स्तोमः) स्तोतुमर्हः (पृथिव्याम्) भूमौ (श्रयतु) सेवताम् (आज्यम्) घृतम् (उक्थम्) वक्तुमर्हम् (अव्यथायै) अविद्यमानशरीरपीडायै (स्तभ्नातु) धरतु (रथन्तरम्) रथैस्तारकम् (साम) एतदुक्तं कर्म (प्रतिष्ठित्यै) प्रतितिष्ठन्ति यस्यां तस्यै (अन्तरिक्षे) आकाशे (ऋषयः) प्रापकाः (त्वा) (प्रथमजाः) प्रथमतो जाता वायवः (देवेषु) कमनीयेषु पदार्थेषु (दिवः) विद्युतः (मात्रया) लेशविषयेण (वरिम्णा) (प्रथन्तु) उपदिशन्तु। अत्र व्यत्ययेन परस्मैपदम् (विधर्त्ता) विविधानां धारकः (च) (अयम्) (अधिपतिः) उपरिष्टात्पालकः (च) (ते) (त्वा) सर्वे (संविदानाः) समाननिश्चयाः (नाकस्य) सुखप्रापकस्य भूगोलस्य (पृष्ठे) उपरि (स्वर्गे) सुखप्रापके (लोके) द्रष्टव्ये (यजमानम्) दातारम् (च) (सादयन्तु) अवस्थापयन्तु॥ १०॥

अन्वयः—हे स्त्रि तेऽधिपतिर्यथा यस्या वसवो देवा अधिपतय आसन् तथा प्राची दिगिव राज्ञ्यसि यथा हेतीनां प्रतिधर्त्ता त्रिवृत्स्तोमोऽग्निरस्ति तथा त्वाऽहं धरामि भवती पृथिव्यामव्यथायै उक्थमाज्यं श्रयतु प्रतिष्ठित्यै रथन्तरं साम स्तभ्नातु यथाऽन्तरिक्षे दिवो मात्रया वरिम्णा देवेषु प्रथमजा ऋषयस्त्वा प्रथन्तु यथा चायं विधर्त्ता ते पतिर्वर्त्तेत तथा तेन सह त्वं वर्त्तस्व

यथा च सर्वे संविदाना विद्वांसो नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके त्वा यजमानं च सादयन्तु तथा युवां सीदेतम् ॥ १० ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—पूर्वा दिक् तस्मादुत्तमास्ति यस्मात् प्रथमं सूर्य्य उदेति ये पूर्वस्या दिशो वायव आगच्छन्ति ते कस्मिंश्चिद्देशे मेघकरा भवन्ति । अयमग्निरेव सर्वेषां वर्चा वायुनिमित्तो वर्त्तते ये तं जानन्ति ते जगति सुखं संस्थापयन्ति ॥ १० ॥

पदार्थः—हे स्त्रि (ते) तेरा (अधिपतिः) स्वामी जैसे जिस के (वसवः) अग्न्यादिक (देवाः) प्रकाशमान (अधिपतयः) अधिष्ठाता हैं वैसे तू (प्राची) पूर्व (दिक्) दिशा के समान (राज्ञी) राणी (असि) है जैसे (हेतीनाम्) वज्रादि शस्त्रों का (प्रतिधर्त्ता) प्रत्यक्ष धारण करता (त्रिवृत्) विद्युत् भूमिस्थ और सूर्यरूप से तीन प्रकार वर्त्तमान (स्तोमः) स्तुतियुक्त गुणों से सहित (अग्निः) महाविद्युत् धारण करने वाली है वैसे (त्वा) तुझ को तेरा पति मैं धारण करता हूं तू (पृथिव्याम्) भूमि पर (अव्यथायै) पीड़ा न होने के लिये (उक्थम्) प्रशंसनीय (आज्यम्) घृत आदि पदार्थों को (अव्यतु) धारण कर (प्रतिष्ठित्यै) प्रतिष्ठा के लिये (रथन्तरम्) रथादि से तारने वाले (साम) सिद्धान्त कर्म को (स्तभ्नातु) धारण कर जैसे (अन्तरिक्षे) आकाश में (दिवः) बिजली का (मात्रया) लेश सम्बन्ध और (वरिम्णा) महापुरुषार्थ से (देवेषु) विद्वानों में (प्रथमजाः) पूर्व हुए (ऋषयः) वेदार्थवित् विद्वान् (त्वा) तुझ को शुभ गुणों से विशालबुद्धि करें (च) और जैसे (अयम्) यह (विधर्त्ता) विविध रीति से धारणकर्त्ता तेरा पति तुझ से वर्त्ते वैसे उस के साथ तू वर्त्ता कर (च) और जैसे (सर्वे) सब (संविदानाः) अच्छे विद्वान् लोग (नाकस्य) अविद्यमान दुःख के (पृष्ठे) मध्य में (स्वर्गे) जो स्वर्ग अर्थात् अतिसुखप्राप्ति (लोके) दर्शनीय है उस में (त्वा) तुझ को (च) और (यजमानम्) तेरे पति को (सादयन्तु) स्थापन करें वैसे तुम दोनों स्त्री पुरुष वर्त्ता करो ॥ १० ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु०—पूर्व दिशा इसलिये उत्तम कहाती है कि जिस से सूर्य प्रथम वहां उदय को प्राप्त होता है । जो पूर्व दिशा से वायु

चलता है वह किसी देश में मेघ को उत्पन्न करता है किसी में नहीं और यह अग्नि सब पदार्थों को धारण करता तथा वायु के संयोग से बढ़ता है जो पुरुष इन वायु और अग्नि को यथार्थ जानते हैं वे संसार में प्राणियों को सुख पहुंचाते हैं ॥ १० ॥

विराडसीत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । रुद्रा देवताः । पूर्वस्य भुरिग्ब्राह्मी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः । प्रथमजा इत्युत्तरस्य ब्राह्मी बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

पुनः स्त्रीपुरुषाः किं कुर्युरित्याह ॥
फिर स्त्री पुरुषों को क्या करना चाहिये यह वि० ॥

विराड॑सि दक्षि॑णा दिग्रुद्रास्ते॑ देवा अधि॑पतय इन्द्रो॑ हेतीनां प्र॑तिधर्त्ता प॑ञ्चदशस्त्वा स्तोमः॑ पृथि॒व्याᳪ श्र॑यतु प्रउ॑गमु॒क्थमव्य॑थायै स्तभ्नातु बृहत्साम॒ प्रति॑ष्ठित्याऽअन्तरि॑क्षऽऋष॑यस्त्वाऽप्रथम॒जा दे॒वेषु॑ दि॒वो मात्र॑या वरि॒म्णा प्र॑थन्तु विध॒र्त्ता चा॒यमधि॑पतिश्च ते त्वा सर्वे॑ संविदा॒ना नाक॑स्य पृ॒ष्ठे स्व॒र्गे लो॒के यज॑मानं च सादयन्तु ॥ ११ ॥

वि॒राडिति॑ वि॒ऽराट् । अ॒सि॒ । दक्षि॑णा । दिक् । रु॒द्राः । ते॒ । दे॒वाः । अधि॑पतय॒ इत्यधि॑ऽपतयः । इन्द्रः॑ । हे॒तीना॑म् । प्र॒ति॒ध॒र्त्तेति॑ प्रति॒ऽध॒र्त्ता । प॒ञ्च॒द॒श इति॑ पञ्चऽद॒शः । त्वा॒ ।

स्तोमः । पृथिव्याम् । श्रयतु । प्रऽउगम् । उक्थम् । अव्यथायै । स्तभ्नातु । बृहत् । साम । प्रतिष्ठित्यै । प्रतिस्थित्या इति प्रतिऽस्थित्यै । अन्तरिक्षे । ऋषयः । त्वा । प्रथमजा इति प्रथमऽजाः । देवेषु । दिवः । मात्रया । वरिम्णा । प्रथन्तु । विधर्त्तेति विऽधर्त्ता । च । अयम् । अधिपतिरित्यधिऽपतिः । च । ते । त्वा । सर्वे । संविदाना इति सम्ऽविदानाः । नाकस्य । पृष्ठे । स्वर्गे इति स्वःऽगे । लोके । यजमानम् । च । सादयन्तु ॥ ११ ॥

पदार्थः—(विराट्) विविधैः पदार्थैः राजमाना (असि) असि (दक्षिणा) (दिक्) काष्ठा (रुद्राः) बलवन्तो वायवः (ते) अस्याः (देवाः) मोदकाः (अधिपतयः) उपरिष्ठात्पालकाः (इन्द्रः) सूर्यः (हेतीनाम्) वज्राणाम् (प्रतिधर्त्ता) (पंचदशः) पंचदशानां पूरकः (त्वा) त्वाम् (स्तोमः) स्तुवन्ति येन सह ऋचां भागः (पृथिव्याम्) भूमौ (श्रयतु) सेवताम् (प्रउगम्) प्रयोगार्हम् (उक्थम्) वक्तुं योग्यम् (अव्यथायै) अविद्यमानमानसभयायै (स्तभ्नातु) स्थिरीकरोतु (बृहत्) महदर्थम् (साम) (प्रतिष्ठित्यै) प्रतिष्ठायै (अन्तरिक्षे) आकाशे (ऋषयः) ज्ञापकाः प्राणाः (त्वा) (प्रथमजाः) आदौ विद्वांसो जाताः (देवेषु) कमनीयेषु पदार्थेषु (दिवः) द्योतनकर्मणोऽग्नेः (मात्रया) भागेन (वरिम्णा) बहोर्भावेन (प्रथन्तु) अत्र व्यत्ययेन परस्मैपदम् (विधर्त्ता) विविधाकर्षणेन पृथिव्यादिधारकः (च) (अयम्) (अधिपतिः) द्योतकानामधिष्ठाता (च) (ते) (त्वा) (सर्वे) (संविदानाः) सम्यग् विचारशीलाः (नाकस्य) अविद्यमानदुःखस्याकाशस्य (पृष्ठे) सेचके भागे (स्वर्गे) सुखकारके (लोके) विज्ञातव्ये (यजमानम्) एतद्विद्यादातारम् (च) (सादयन्तु) स्थापयन्तु ॥ ११ ॥

अन्वयः—हे स्त्रि या त्वं विराड् दक्षिणा दिगिवासि यस्यास्ते पती रुद्रा देवा अधिपतय इव हेतीनां प्रतिधर्त्ता पञ्चदशः स्तोम इन्द्रस्त्वा पृथिव्यां श्रयत्वप्रथायै प्रउगमुक्थं स्तभ्नातु प्रतिष्ठित्यै बृहत्साम च स्थिरीकरोतु यथा चान्तरिक्षे देवेषु प्रथमजा ऋषयो दिवो मात्रया वरिम्णा सह वर्त्तन्ते तथा विद्वांसस्त्वा प्रथन्तु । यथा विधर्त्ता पोषकश्चाऽयमधिपतिस्त्वा पुष्णातु तथा संविदाना विद्वांसस्ते सर्वे नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके त्वां यजमानं च सादयन्तु ॥ ११ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—यथा विद्वांसो वायुभिः सह वर्त्तमानं सूर्य्यं तद्विद्याविज्ञापकं विद्वांसं च समाश्रित्यैतद्विद्यां विज्ञापयन्ति तथा स्त्रीपुरुषा ब्रह्मचर्येण विद्वांसो भूत्वाऽन्यानध्यापयन्तु ॥ ११ ॥

पदार्थः—हे स्त्रि जो तू (विराट्) विविध पदार्थों से प्रकाशमान (दक्षिणा) (दिक्) दक्षिण दिशा के तुल्य (असि) है जिस (ते) तेरा पति (रुद्राः) वायु (देवाः) दिव्य गुण युक्त वायु (अधिपतयः) अधिष्ठाताओं के समान (हेतीनाम्) वज्रों का (प्रतिधर्त्ता) निश्चय के साथ धारण करने वाला (पंचदशः) पन्द्रह संख्या का पूरक (स्तोमः) स्तुति का साधक गणाओं के अर्थों का भागी और (इन्द्रः) सूर्य्य (त्वा) तुझ को (पृथिव्याम्) पृथिवी में (श्रयतु) सेवन करे (अप्रथायै) मानस मद से रहित तेरे लिये (प्रउगम्) कथनीय (उक्थम्) उपदेश के योग्य वचन को (स्तभ्नातु) स्थिर करे तथा (प्रतिष्ठित्यै) प्रतिष्ठा के लिये (बृहत्) बहुत अर्थ से युक्त (साम) सामवेद को स्थिर करे और जैसे (अन्तरिक्षे) आकाशस्थ (देवेषु) कमनीय पदार्थों में (प्रथमजाः) पहिले हुए (ऋषयः) ज्ञान के हेतु प्राण (दिवः) प्रकाशकारक अग्नि के लेश और (वरिम्णा) बहुत्व के साथ वर्त्तमान हैं वैसे विद्वान् लोग (त्वा) तुझ को (प्रथन्तु) प्रसिद्ध करें जैसे (विधर्त्ता) विविध प्रकार के आकर्षण से पृथिवी आदि लोकों का धारण (च) तथा पोषण करने वाला (अधिपतिः) सब प्रकाशक पदार्थों में उत्तम सूर्य (त्वा) तुझ को पुष्ट करे वैसे (संविदानाः) सम्यक् विचारशील विद्वान् लोग हैं (ते) वे (सर्वे) सब (नाकस्य) दुःखरहित आकाश के (पृष्ठे) सेवक भाग में

(स्वर्गे) सुखकारक (लोके) जानने योग्य देश में (त्वा) तुझ को (च) और (यजमानम्) यज्ञविद्या के जानने हारे पुरुष को (सादयन्तु) स्थापित करें ॥ ११ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में वाचकलु०—जैसे विद्वान् लोग वायु के साथ वर्त्तमान सूर्य को और सूर्य वायु की विद्या को जानने वाले विद्वान् का आश्रय कर के इस विद्या को जनावें वैसे स्त्री पुरुष ब्रह्मचर्य के साथ विद्वान् हो के दूसरों को पढ़ावें ॥ ११ ॥

सम्राडसीत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । आदित्या देवताः । पूर्वस्य निचृद् ब्राह्मी जगती छन्दः । निषादः स्वरः । प्रथमजा इत्युत्तरस्य ब्राह्मी बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

पुनस्तौ कीदृशौ स्यातामित्याह ॥
फिर वे स्त्री पुरुष कैसे हों यह वि० ॥

सम्राडसि प्रतीची दिगादित्यास्ते देवा अधिपतयो वरुणो हेतीनां प्रतिधर्त्ता सप्तदशस्त्वा स्तोमः पृथिव्याᳫँश्रयतु मरुत्वतीयमुक्थमव्यथायै स्तभ्नातु वैरूपᳫँ साम प्रतिष्ठित्या अन्तरिक्ष ऋषयस्त्वा प्रथमजा देवेषु दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथन्तु विधर्त्ता चायमधिपतिश्च ते त्वा सर्वे संविदाना नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानं च सादयन्तु ॥ १२ ॥

सम्राडिति सम्ऽराट् । असि । प्रतीची । दिक् । आदित्याः । ते । देवाः । अधिपतय इत्यधिऽपतयः । वरुणः ।

हेतीनाम् । प्रतिधर्त्तेति प्रतिऽधर्त्ता । सप्तदश इति सप्तऽदशः । त्वा । स्तोमः । पृथिव्याम् । श्रयतु । मरुत्वतीयम् । उक्थम् । अव्यथायै । स्तभ्नातु । वैरूपम् । साम । प्रतिष्ठित्यै । प्रतिस्थित्या इति प्रतिऽस्थित्यै । अन्तरिक्षे । ऋषयः । त्वा । प्रथमजा इति प्रथमऽजाः । देवेषु । दिवः । मात्रया । वरिम्णा । प्रथन्तु । विधर्त्तेति विऽधर्त्ता । च । अयम् । अधिपतिरित्यधिऽपतिः । च । ते । त्वा । सर्वे । संविदाना इति सम्ऽविदानाः । नाकस्य । पृष्ठे । स्वर्ग इति स्वःऽगे । लोके । यजमानम् । च । सादयन्तु ॥ १२ ॥

पदार्थः—(सम्राट्) या सम्यक् प्रदीप्यते (असि) (प्रतीची) पश्चिमा (दिक्) दिशन्ति यया सा दिक् तद्वत् (आदित्याः) विद्युद्युक्ताः प्राणा वायवः (ते) तव (देवाः) दिव्यसुखप्रदाः (अधिपतयः) स्वामिनः (वरुणः) जलसमुदाय इव दुष्टानां बन्धकः (हेतीनाम्) विद्युताम् (प्रतिधर्त्ता) (सप्तदशः) एतत्संख्यापूरकः (त्वा) त्वाम् (स्तोमः) स्तोतुमर्हः (पृथिव्याम्) (श्रयतु) (मरुत्वतीयम्) बहवो मरुतो व्याख्यातारो मनुष्या विद्यन्ते यस्मिंस्तत्र भवम् (उक्थम्) वाच्यम् (अव्यथायै) अविद्यमानासंचलनायै (स्तभ्नातु) गृह्णातु (वैरूपम्) विविधानि रूपाणि प्रकृतानि यस्मिंस्तत् (साम) (प्रतिष्ठित्यै) प्रतिष्ठायै (अन्तरिक्षे) (ऋषयः) गतिमन्तः (त्वा) (प्रथमजाः) प्रथमाद्विस्तीर्णात्कारणाज्जाता वायवः (देवेषु) दानसाधकेषु (दिवः) प्रकाशस्य (मात्रया) भागेन (वरिम्णा) (प्रथन्तु) (विधर्त्ता) विविधानां रसानां धारकः (च) (अयम्) (अधिपतिः) (च) (ते) (त्वा) (सर्वे) (संविदानाः) सम्यग्जानानाः (नाकस्य) (पृष्ठे) (स्वर्गे) (लोके) (यजमानम्) (च) (सादयन्तु) ॥ १२ ॥

अन्वयः—हे स्त्रि या प्रतीची दिगिव सम्राडसि तस्यास्ते पतिरादित्यो देवा अधिपतय इवायं सप्तदशश्च स्तोमो वरुणो हेतीनां प्रतिधर्त्ताधिपतिस्त्वा पृथिव्यां श्रयत्वन्यथायै मरुत्वतीयमुक्थं प्रतिष्ठित्यै वैरूपं साम च स्तभ्नातु ये च दिवो मात्रया वरिम्णा सहान्तरिक्षे प्रथमजा ऋषयो देवेषु वर्त्तन्ते तद्वत्त्वा विद्वांसः प्रथन्तु । यथा विधर्त्ता चाधिपतिश्च राजा प्रजाः सुखे स्थापयतु तथा ते सर्वे संविदानाः सन्तस्त्वा यजमानं च नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके सादयन्तु ॥ १२ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—यथा विद्वांसः पश्चिमां दिशं तत्रस्थान् पदार्थांश्चान्येभ्यो विज्ञापयन्ति । तथा स्त्रीपुरुषाः स्वपत्यादीन् विद्यायाऽङ्ग- कुर्वन्तु ॥ १२ ॥

पदार्थः—हे स्त्रि जो तू (प्रतीची) पश्चिम (दिक्) दिशा के समान (सम्राट्) सम्यक् प्रकाशित (असि) है उस (ते) तेरा पति (आदित्यः) बिजुली से युक्त प्राण वायु (देवाः) दिव्य सुखदाता (अधिपतयः) स्वामियों के तुल्य (अयम्) यह (सप्तदशः) सत्रह संख्या का पूरक (च) और (स्तोमः) स्तुति के योग्य (वरुणः) जलसमुदाय के समान (हेतीनाम्) बिजुलियों का (प्रतिधर्त्ता) धारण करने वाला (अधिपतिः) स्वामी (त्वा) तुझ को (पृथिव्याम्) पृथिवी पर (श्रयतु) सेवन करे (अन्यथायै) तरह से चंचल तेरे लिये (मरुत्वतीयम्) बहुत मनुष्यों के व्याख्यान से युक्त (उक्थम्) कथनयोग्य वेदवचन तथा (प्रतिष्ठित्यै) प्रतिष्ठा के लिये (वैरूपम्) विविध रूपों के व्याख्यान से युक्त (साम) सामवेद को (स्तभ्नातु) ग्रहण करे । और जो (दिवः) प्रकाश के (मात्रया) भाग से (वरिम्णा) बहुत्व के साथ (अन्तरिक्षे) आकाश में (प्रथमजाः) विस्तारयुक्त कारण से उत्पन्न हुवे (ऋषयः) गतियुक्त वायु (देवेषु) दान के हेतु अवयवों में वर्त्तमान हैं वैसे (त्वा) तुझ को विद्वान् लोग (प्रथन्तु) प्रसिद्ध उपदेश करें । जैसे (विधर्त्ता) जो विविध रत्नों का धारने हारा है (च) यह भी (अधिपतिः) अध्यक्ष स्वामी राजा प्रजाओं को सुख में रखता है वैसे (ते) तेरे मध्य में (सर्वे) सब (संविदानाः) अच्छे प्रकार ज्ञान को प्राप्त हुए (त्वा) तुझ को (च) और

(यजमानम्) विद्वानों के सेवक पुरुष को (नाकस्य) दुःखरहित देश के (पृष्ठे) पृष्ठ भाग में (स्वर्गे) सुखप्रापक (लोके) दर्शनीय स्थान में (सादयन्तु) स्थापित करें ॥ १२ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु०—जैसे विद्वान् लोग पश्चिम दिशा और वहां के पदार्थों को दूसरों के लिये जानते हैं वैसे स्त्री पुरुष अपने सन्तानों आदि को विद्यादि गुणों से सुशोभित करें ॥ १२ ॥

स्वराडसीत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । मरुतो देवताः । पूर्वस्य भुरिग्ब्राह्मी त्रिष्टुप्छन्दः । धैवतः स्वरः । प्रथमजा इत्युत्तरस्य ब्राह्मी बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

पुनस्तौ कीदृशावित्याह ॥

फि० वे दोनों कैसे हों यह वि० ॥

स्वराडस्युदीची दिङ् मरुतस्ते देवा अधिपतयः सोमो हेतीनां प्रतिधर्त्तैकविꣳशस्त्वा स्तोमः पृथिव्याꣳ श्रयतु निष्केवल्यमुक्थमव्यथायै स्तभ्नातु । वैराजꣳसाम प्रतिष्ठित्या अन्तरिक्ष ऋषयस्त्वा प्रथमजा देवेषु दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथन्तु विधर्त्ता चायमधिपतिश्च ते त्वा सर्वे संविदाना नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानं च सादयन्तु ॥ १३ ॥

स्वराडिति स्वऽराट् । असि । उदीची । दिक् । मरुतः । ते । देवाः । अधिपतय इत्यधिऽपतयः । सोमः । हेतीनाम् ।

प्रतिधर्त्तेति प्रतिऽधर्त्ता । एकविंशः इत्येकऽविंशः । त्वा । स्तोमः । पृथिव्याम् । श्रयतु । निष्केवल्यम् । निःकेवल्यमिति निःऽकेवल्यम् । उक्थम् । अव्यथायै । स्तभ्नातु । वैराजम् । साम । प्रतिष्ठित्यै । प्रतिस्थित्या इति प्रतिऽस्थित्यै । अन्तरिक्षे । ऋषयः । त्वा । प्रथमजा इति प्रथमऽजाः । देवेषु । दिवः । मात्रया । वरिम्णा । प्रथन्तु । विधर्त्तेति विऽधर्त्ता । च । अयम् । अधिपतिरित्यधिऽपतिः । च । त्वा । सर्वे । संविदाना इति सम्ऽविदानाः । नाकस्य । पृष्ठे । स्वर्गे इति स्वःऽगे । लोके । यजमानम् । च । सादयन्तु ॥ १३ ॥

पदार्थः—(स्वराट्) या स्वयं राजते (असि) अस्ति (उदीची) य उदङ्ङुत्तरं देशमञ्चति सा (दिक्) (मरुतः) वायवः (ते) तव (देवाः) दिव्यसुखमदाः (अधिपतयः) (सोमः) चन्द्रः (हेतीनाम्) वज्रवद्वर्त्तमानानां किरणानाम् (प्रतिधर्त्ता) (एकविंशः) एतत्संख्यापूरकः (त्वा) त्वाम् (स्तोमः) स्तुतिसाधकः (पृथिव्याम्) (श्रयतु) (निष्केवल्यम्) निरन्तरं केवलं स्वरूपं यस्मिंस्तत्र साधुम् । अत्र केवलीतोर्वाहुलकादौणादिको यत् प्रत्ययः (उक्थम्) वक्तुं योग्यम् (अव्यथायै) अविद्यमानेन्द्रियभयायै (स्तभ्नातु) (वैराजम्) विराट्प्रतिपादकम् (साम) (प्रतिष्ठित्यै) (अन्तरिक्षे) (ऋषयः) बलवन्तः प्राणाः (त्वा) (प्रथमजाः) (देवेषु) (दिवः) (मात्रया) (वरिम्णा) (प्रथन्तु) (विधर्त्ता) विविधस्य शीतस्य धर्त्ता (च) (अयम्) (अधिपतिः) अधिष्ठाता (च) (ते) (त्वा) (सर्वे) (संविदानाः) सम्यक्कृतप्रतिज्ञाः (नाकस्य) (पृष्ठे) (स्वर्गे) (लोके) (यजमानम्) (च) (सादयन्तु) ॥ १३ ॥

अन्वयः—हे स्त्रि यथा स्वराडुदीची दिगस्यास्ति तथा त्वं पतिं भव यस्या दिशो मरुतो देवा अधिपतयः सन्ति तद्वद् एकविंशः स्तोमः सोमो

हेतीनां प्रतिधर्त्ता जनस्त्वां पृथिव्यां श्रयत्वव्यथायै निष्केवल्यमुक्थं प्रतिष्ठित्यै वैराजं साम च स्तभ्नातु यथा तेऽन्तरिक्षे स्थिता देवेषु प्रथमजा दिवो मात्रया वरिम्णा सह वर्त्तमाना ऋषयः सन्ति तथाऽयमेवैतेषां विधर्त्ता चाधिपतिरस्ति तत्र विषये ते सर्वे संविदाना विद्वांसस्त्वा प्रथन्तु नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके त्वा यजमानं च सादयन्तु ॥ १३ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—यथा विद्वांसः सोमं प्राणांश्च साधिष्ठानान् विदित्वा कार्येषूपयुज्य सुखं लभन्ते तथा अध्यापका अध्यापिकाश्च शिष्यान् शिष्याश्च विद्याग्रहणायोपयुज्यानन्दयन्तु ॥ १३ ॥

पदार्थः—हे स्त्रि जैसे (स्वराट्) स्वयं प्रकाशमान (उदीची) उत्तर (दिक्) दिशा (असि) है वैसा (ते) तेरा पति हो जिस दिशा के (मरुतः) वायु (देवाः) दिव्यरूप (अधिपतयः) अधिष्ठाता हैं उन के सदृश जो (एकविंशः) इक्कीस संख्या का पूरक (स्तोमः) स्तुति का साधक (सोमः) चन्द्रमा (हेतीनाम्) वज्र के समान वर्त्तमान किरणों का (प्रतिधर्त्ता) धारने हारा पुरुष (त्वा) तुझ को (पृथिव्याम्) भूमि में (श्रयतु) सेवन करे (अव्यथायै) इन्द्रियों के भय से रहित तेरे लिये (निष्केवल्यम्) जिस में केवल एक स्वरूप का वर्णन हो वह (उक्थम्) कहने योग्य वेदभाग तथा (प्रतिष्ठित्यै) प्रतिष्ठा के लिये (वैराजम्) विराट् रूप का प्रतिपादक (साम) सामवेद का भाग (स्तभ्नातु) ग्रहण करे (च) और जैसे तेरे शब्द में (अन्तरिक्षे) अवकाश में स्थित (देवेषु) इन्द्रियों में (प्रथमजाः) मुख्य प्रसिद्ध (दिवः) ज्ञान के (मात्रया) भागों से (वरिम्णा) अधिकता के साथ वर्त्तमान (ऋषयः) बलवान् प्राण हैं वैसे (अयम्) यही इन प्राणों का (विधर्त्ता), विविध शक्ति को धारणकर्त्ता (च) और (अधिपतिः) अधिष्ठाता है (ते) वे (सर्वे) सब इस विषय में (संविदानाः) सम्यक् बुद्धिमान् विद्वान् लोग प्रतिज्ञा से (त्वा) तुझको (प्रथन्तु) प्रसिद्ध करें और (नाकस्य) उत्तम सुखरूप लोक के (पृष्ठे) ऊपर (स्वर्गे) सुखदायक (लोके) लोक में (त्वा) तुझ को (च) और (यजमानम्) यजमान पुरुष को (सादयन्तु) स्थित करें ॥ १३ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु०—जैसे विद्वान् लोग आधार के सहित चन्द्रमा आदि पदार्थों और आधार के सहित प्राणों को यथावत् जान के संसारी कार्यों में उपयुक्त करके सुख को प्राप्त होते हैं। वैसे अध्यापक स्त्री पुरुष कन्या पुत्रों को विद्या-ग्रहण के लिये उपयुक्त करके आनन्दित करें ॥ १३ ॥

अधिपत्न्यसीत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः। विश्वेदेवा देवताः। पूर्वस्य ब्राह्मी जगती छन्दः। निषादः स्वरः। प्रतिष्ठित्या इत्युत्तरस्य ब्राह्मी त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर वही वि० ॥

अधिपत्न्यसि बृहती दिग्विश्वे ते देवा अधिपतयो बृहस्पतिर्हेतीनां प्रतिधर्त्ता त्रिणवत्रयस्त्रिꣳशौ त्वा स्तोमौ पृथिव्याꣳ श्रयतां वैश्वदेवाग्निमारुते उक्थे अव्यथायै स्तभ्नीताꣳ शाक्वररैवते सामनी प्रतिष्ठित्या अन्तरिक्षऽऋषयस्त्वा प्रथमजा देवेषु दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथन्तु विधर्त्ता चायमधिपतिश्च ते त्वा सर्वे संविदाना नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानञ्च सादयन्तु ॥ १४ ॥

अधिपत्नीत्यधिऽपत्नी। असि। बृहती। दिक्। विश्वे। ते। देवाः। अधिपतय इत्यधिऽपतयः। बृहस्पतिः। हेती-

नाम्। प्रतिधर्त्तेति प्रतिऽधर्त्ता। त्रिणवत्रयस्त्रिꣳशौ। त्रिनवत्रयस्त्रिꣳशाविति त्रिनवऽत्रयस्त्रिꣳशौ। त्वा। स्तोमौ। पृथिव्याम्। श्रयताम्। वैश्वदेवाग्निमारुते इति वैश्वदेवाग्निमारुते। उक्थे इत्युक्थे। अव्यथायै। स्तभ्नीताम्। शाक्वररैवते इति शाक्वररैवते। सामनी इति सामनी। प्रतिष्ठित्यै। प्रतिस्थित्या इति प्रतिऽस्थित्यै। अन्तरिक्षे। ऋषयः। त्वा। प्रथमजा इति प्रथमऽजाः। देवेषु। दिवः। मात्रया। वरिम्णा। प्रथन्तु। विधर्त्तेति विऽधर्त्ता। च। अयम्। अधिपतिरित्यधिऽपतिः। च। ते। त्वा। सर्वे। संविदाना इति सम्ऽविदानाः। नाकस्य। पृष्ठे। स्वर्ग इति स्वःऽगे। लोके। यजमानम्। च। सादयन्तु ॥ १४ ॥

पदार्थः—(अधिपत्नी) सर्वासां दिशामुपरि वर्त्तमाना (असि) (बृहती) महती (दिक्) (विश्वे) अखिलाः (ते) तव (देवाः) द्योतकाः (अधिपतयः) अधिष्ठातारः (बृहस्पतिः) पालकः सूर्यः (देवानाम्) वृद्धानाम् (प्रतिधर्त्ता) प्रतीत्या धर्त्ता (त्रिणवत्रयस्त्रिंशौ) (त्वा) (स्तोमौ) स्तुतिसाधकौ (पृथिव्याम्) (श्रयताम्) (वैश्वदेवाग्निमारुते) वैश्वदेवाग्निमरुद्व्याख्यापके (उक्थे) वक्तव्ये (अव्यथायै) अविद्यमानसांमनिकपीडायै (स्तभ्नीताम्) (शाक्वररैवते) शक्त्यैश्वर्यप्रतिपादिके (सामनी) (प्रतिष्ठित्यै) (अन्तरिक्षे) (ऋषयः) धनञ्जयादयः सूक्ष्मस्थूला वायवः प्राणाः (त्वा) (प्रथमजाः) आदिजाः (देवेषु) दिव्यगुणेषु पदार्थेषु वा (दिवः) (मात्रया) (वरिम्णा) (प्रथन्तु) (विधर्त्ता) (च) (अयम्) (अधिपतिः) (च) (ते) (त्वा) (सर्वे) (संविदानाः) कृतप्रतिज्ञाः (नाकस्य) (पृष्ठे) (स्वर्गे) (लोके) (यजमानम्) (च) (सादयन्तु) ॥१४॥

अन्वयः—हे स्त्रि या त्वं बृहत्यधिपत्नी दिगिवासि तस्यास्ते पतिर्विश्वे देवा अधिपतयः सन्ति तद्वद्यो बृहस्पतिर्देवीनां प्रतिधर्त्ता त्वा च त्रिणवत्रयस्त्रिंशौ स्तोमौ पृथिव्यामव्यथायै वैश्वदेवाग्निमारुते उक्थे च श्रयताम्। प्रतिष्ठित्यै शाक्वररैवते सामनी च स्तभ्नीताम्। यथा तेऽन्तरिक्षे प्रथमजा ऋषयो देवेषु दिवो मात्रया वरिम्णा त्वा प्रथन्ते तान् मनुष्याः प्रथन्तु। यथाऽयमधिपतिर्विधर्त्ता सूर्योऽस्ति यथा संविदाना विद्वांसस्त्वा नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके सादयन्ति यथा सर्वे ते यजमानं च सादयन्तु तथा त्वं पत्या सह वर्त्तेथाः॥ १४॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—यथा सर्वासां मध्यस्था दिक् सर्वाभ्योऽधिकाऽस्ति तथा सर्वेभ्यो गुणेभ्यः शरीरात्मबलमधिकमस्तीति वेद्यम्॥ १४॥

पदार्थः—हे स्त्रि! जो तू (बृहती) बड़ी (अधिपत्नी) सब दिशाओं के ऊपर वर्त्तमान (दिक्) दिशा के समान (असि) है उस (ते) तेरा पति (विश्वे) सब (देवाः) प्रकाशक सूर्य्यादि पदार्थ (अधिपतयः) अधिष्ठाता हैं। वैसे जो (बृहस्पतिः) विश्व का रक्षक (देवीनाम्) बड़े लोकों का (प्रतिधर्त्ता) प्रतीति के साथ धारण करने वाले सूर्य्य के तुल्य वह तेरा पति (त्वा) तुझ को (च) और (त्रिणवत्रयस्त्रिंशौ) सत्ताईस और तेंतीस (स्तोमौ) स्तुति के साधन (पृथिव्याम्) पृथिवी में (अव्यथायै) पीड़ारहितता के लिये (वैश्वदेवाग्निमारुते) सब विद्वान् और अग्नि वायुओं के व्याख्यान करने वाले (उक्थे) कहने योग्य वेद के दो भागों का (श्रयताम्) आश्रय करे और जैसे (प्रतिष्ठित्यै) प्रतिष्ठा होने के लिये (शाक्वररैवते) शक्वरी और रेवती छन्द से कहे अर्थों से (सामनी) सामवेद के दो भागों को (स्तभ्नीताम्) संगत करो। जैसे वे (अन्तरिक्षे) अवकाश में (प्रथमजाः) आदि में हुए (ऋषयः) धनञ्जय आदि सूक्ष्म स्थूल वायुरूप प्राण (देवेषु) दिव्य गुण वाले पदार्थों में (दिवः) प्रकाश की (मात्रया) मात्रा और (वरिम्णा) अधिकता से (त्वा) तुझ को प्रसिद्ध करते हैं उन को मनुष्य लोग (प्रथन्तु) प्रख्यात करें जैसे (अयम्) यह (अधिपतिः) स्वामी (विधर्त्ता) विविध प्रकार से सब को धारण करनेहारा सूर्य है जैसे (संविदानाः) सम्यक् सत्यप्रतिज्ञायुक्त ज्ञानवान्

विद्वान् लोग (त्वा) तुझ को (नाकस्य) (पृष्ठे) सुखदायक देश के उपरि (स्वर्गे) सुखरूप (लोके) स्थान में स्थापित करते हैं (ते) वे (सर्वे) सब (यजमानम्) तेरे पुरुष और तुझको (सादयन्तु) स्थित करें वैसे तुम स्त्री पुरुष दोनों वर्त्तो करो ॥ १४ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु०—जैसे सब के बीच की दिशा सब से अधिक है वैसे सब गुणों से शरीर और आत्मा का बल अधिक है ऐसा निश्चित जानना चाहिये ॥ १४ ॥

अयं पुर इत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । वसन्तर्तुर्देवता ।
विकृतिश्छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

अथ रश्म्यादिदृष्टान्तेन सद्विद्योपदिश्यते ॥
अब किरण आदि के दृष्टान्त से श्रेष्ठ विद्या का उ० ॥

अयं पुरो हरिकेशः सूर्यरश्मिस्तस्य रथगृत्सश्च रथौजाश्च सेनानीग्रामण्यौ। पुञ्जिकस्थला च क्रतुस्थला चाप्सरसौ। दङ्क्ष्णवः पशवो हेतिः पौरुषेयो वधः प्रहेतिस्तेभ्यो नमो अस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः ॥ १५ ॥

अयम् । पुरः । हरिकेश इति हरिऽकेशः । सूर्यरश्मिरिति सूर्यऽरश्मिः । तस्य । रथगृत्स इति रथऽगृत्सः । च । रथौजा इति रथऽओजाः । च । सेनानीग्रामण्यौ सेनानीग्रामण्याविति सेनानीग्रामण्यौ पुञ्जिकस्थलेति पुञ्जिकऽस्थला ।

च । क्रतुस्थलेति क्रतुऽस्थला । च । अप्सरसौ । दङ्क्ष्णवः । पशवः । हेतिः । पौरुषेयः । वधः । प्रहेतिरिति प्रऽहेतिः । तेभ्यः । नमः । अस्तु । ते । नः । अवन्तु । ते । नः । मृडयन्तु । ते । यम् । द्विष्मः । यः । च । नः । द्वेष्टि । तम् । एषाम् । जम्भे । दध्मः ॥ १५ ॥

पदार्थः—(अयम्) (पुरः) पूर्वस्मिन् काले वर्त्तमानः (हरिकेशः) हरणशीला हरितवर्णाः केशा इव केशाः प्रकाशा यस्य । अत्र क्लिशेरन् लो लोपश्च । उ० ५ । ३३ । इत्यन् लकारलोपश्च (सूर्यरश्मिः) सूर्यस्य किरणः (तस्य) (रथगृत्सः) रथस्य प्रवेत्ता गृत्सो मेधावीव वर्त्तमानः । गृत्स इति मेधाविना० । निघं० ३ । २५ । गृत्सो मेधावी गृणातेः स्तुतिकर्मणः । निरु० ९ । ५ । (च) (रथौजाः) रथेनौजो बलं यस्य (च) (सेनानीग्रामण्यौ) सेनानीश्च ग्रामणीश्च ताविव (पुञ्जिकस्थला) सम्पूर्णस्थाना दिक् (च) (क्रतुस्थला) प्रज्ञाकर्मज्ञापनोपदिक् (च) (अप्सरसौ) ये अप्सु प्राणेषु सरन्त्यौ गच्छन्त्यौ ते (दङ्क्ष्णवः) मांसघासादीनां दंशनशीला व्याघ्रादयः । अत्र दंशधातोर्बाहुलकात् क्स्नुः सुडागमश्च (पशवः) (हेतिः) वज्र इव घातुकः (पौरुषेयः) पुरुषाणां समूहः (वधः) हन्ति येन (प्रहेतिः) प्रकृष्टो हेतिर्वज्र इव वर्त्तमानः (तेभ्यः) (नमः) वज्रः (अस्तु) (ते) (नः) अस्मान् (अवन्तु) रक्षन्तु (ते) (नः) अस्मान् (मृडयन्तु) आनन्दयन्तु (ते) रक्षका वयम् (यम्) हिंसकम् (द्विष्मः) विरुन्ध्मः (यः) (च) (नः) अस्मान् (द्वेष्टि) विरुणद्धि (तम्) (एषाम्) पशूनाम् (जम्भे) जम्भन्ति गात्राणि विनामयन्ति येन मुखेन तस्मिन् (दध्मः) संस्थापयामः ॥ १५ ॥

अन्वयः—योऽयं पुरो हरिकेशः सूर्यरश्मिरस्ति तस्य रथगृत्सश्च रथौजाश्च सेनानीग्रामण्याविवापरौ रश्मी वर्त्तेते । तस्य पुञ्जिकस्थला च क्रतुस्थला चाप्सरसौ वर्त्तेते । ये दङ्क्ष्णवः पशवः सन्ति तेषामुपरि हेति-

वज्रः पतनु ये पौरुषेयो वधः प्रहेतिरिव वर्तमानाः सन्ति तेभ्यो नमोऽस्तु। ये धार्मिका राजादयः सभ्या राजपुरुषाः सन्ति ते नोऽवन्तु । ते नो मृडयन्तु ते वयं यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः ॥ १५ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०-यथा सूर्यस्य रश्मिर्हरितोऽस्ति तेन साकं रक्तपीतादयः किरणा वर्त्तन्ते तथा सेनानीग्रामण्यौ वर्त्तित्वा रक्षकौ भवेताम् । यथा राजादयः सिंहादिहिंसकान् पशून्निरुध्य गवादीन् रक्षन्ति । तथैव विद्वांसः सुशिक्षयाऽस्मान् सर्वान् मनुष्यानधर्मानुष्ठानान्निरुध्य धर्म्ये कर्मणि वर्त्तयित्वा द्वेष्टन् निवारयन्तु । इदमपि वसन्तर्त्तोर्व्याख्यानम् ॥१५॥

पदार्थः—जो (अयम्) यह (पुरः) पूर्वकाल में वर्त्तमान (हरिकेशः) हरितवर्ण केश के समान हरणशील और प्रकेशकारी ताप से युक्त (सूर्यरश्मिः) सूर्य की किरणें हैं (तस्य) उनका (रथगृत्सः) बुद्धिमान् सारथि (च) और (रथौजाः) रथ के ले चलाने के वाहन (च) इन दोनों के तथा (सेनानीग्रामण्यौ) सेनापति और ग्राम के अध्यक्ष के समान अन्य प्रकार के भी किरण होते हैं उन किरणों की (पुञ्जिकस्थला) सामान्य प्रधान दिशा (च) और (क्रतुस्थला) महाकर्म को जतानेवाली उपदिशा (च) ये दोनों (अप्सरसौ) प्राणों में चलने वाली अप्सरा कहाती हैं जो (दङ्क्ष्णवः) मांस और घास आदि पदार्थों को खाने वाले व्याघ्र आदि (पशवः) हानिकारक पशु हैं उनके ऊपर (हेतिः) बिजुली गिरे । जो (पौरुषेयः) पुरुषों के समूह (वधः) मारनेवाले और (प्रहेतिः) उत्तम वज्र के तुल्य नाश करने वाले हैं (तेभ्यः) उन के लिये (नमः) वज्र का प्रहार (अस्तु) हो । और जो धार्मिक राजा आदि सभ्य राजपुरुष हैं (ते) वे उन पशुओं से (नः) हम लोगों की (अवन्तु) रक्षा करें (ते) वे (नः) हम को (मृडयन्तु) सुखी करें (ते) वे रक्षक हम लोग (यम्) जिस हिंसक से (द्विष्मः) विरोध करें (च) और (यः) जो हिंसक (नः) हम से (द्वेष्टि) विरोध करे (तम्) उसको हम लोग (एषाम्) इन व्याघ्रादि पशुओं के (जम्भे) मुख में (दध्मः) स्थापन करें ॥ १५ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में वाचकलु०—जैसे सूर्य के किरण हरे वर्ण वाले हैं उस के साथ लाल पीले आदि वर्ण वाले भी किरण रहते हैं वैसे ही सेनापति और ग्रामाध्यक्ष वर्त्त के रक्षक होवें। जैसे राजा आदि पुरुष मृत्यु के हेतु सिंह आदि पशुओं को रोक के गौ आदि पशुओं की रक्षा करते हैं वैसे ही विद्वान् लोग अच्छी शिक्षा अधर्माचरण से पृथक् रख धर्म में चला के इन सब मनुष्यों की रक्षा करके द्वेषियों का निवारण करें। यह भी एक वसन्त ऋतु का व्याख्यान है ॥ १५ ॥

अयं दक्षिणेत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः। ग्रीष्मर्तुर्देवता।
प्रकृतिश्छन्दः। धैवतः स्वरः॥

पुनस्तादृशमेव विषयमाह॥
फिर भी वैसाही वि० ॥

अयं दक्षिणा विश्वकर्म्मा तस्य रथस्वनश्च रथे चित्रश्च सेनानीग्रामण्यौ। मेनका च सहजन्या चाप्सरसौ यातुधाना हेती रक्षाᳪसि प्रहेतिस्तेभ्यो नमो अस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः ॥ १६ ॥

अयम्। दक्षिणा। विश्वकर्मेति विश्वऽकर्मा। तस्य। रथस्वन इति रथऽस्वनः। च। रथे चित्र इति रथेऽचित्रः। च। सेनानीग्रामण्यौ। सेनानीग्रामन्याविति सेनानीग्राम्न्यौ। मेनका। च। सहजन्येति सहऽजन्या। च। अप्सरसौ।

यातुधाना इति यातुऽधानाः । हेतिः । रक्षांसि । प्रहेतिरिति प्रऽहेतिः । तेभ्यः । नमः । अस्तु । ते । नः । अवन्तु । ते । नः । मृडयन्तु । ते । यम् । द्विष्मः । यः । च । नः । द्वेष्टि । तम् । एषाम् । जम्भे । दध्मः ॥ १६ ॥

पदार्थः—(अयम्) (दक्षिणा) दक्षिणतः (विश्वकर्मा) विश्वानि सर्वाणि कर्माणि यस्मात्स वायुः (तस्य) (रथस्वनः) रथस्य स्वनः शब्द इव शब्दो यस्य सः (च) (रथेचित्रः) रथे रमणीये चित्राण्यद्भुतस्वरूपाणि चिह्नानि यस्य सः (च) (सेनानीग्रामण्यौ) (मेनका) यया मन्यते सा (च) (सहजन्या) सहोत्पन्ना (च) (अप्सरसौ) ये अप्स्वन्तरिक्षे सरतस्ते (यातुधानाः) प्रजापीडकाः (हेतिः) वज्रः (रक्षांसि) दुष्टकर्मकारिणः (प्रहेतिः) (तेभ्यः) (नमः) वज्रः (अस्तु) (ते) (नः) अस्मान् (अवन्तु) (ते) (नः) (मृडयन्तु) सुखयन्तु (ते) (यम्) (द्विष्मः) (यः) (च) (नः) (द्वेष्टि) (तम्) (एषाम्) वायूनाम् (जम्भे) व्याघ्रस्य मुख इव कष्टे (दध्मः) ॥ १६ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यथा योऽयं विश्वकर्मा वायुर्दक्षिणा याति तस्य वायो रथस्वनश्च रथेचित्रश्च सेनानीग्रामण्याविव वर्त्तमाने मेनका च सहजन्या चाप्सरसौ वर्त्तेते । ये यातुधानाः सन्ति तेषामुपरि हेतिर्यानि रक्षांसि वर्त्तन्ते तेषामुपरि प्रहेतिरिव तेभ्यो नमोऽस्त्विति कृत्वा शिक्षका न्यायाधीशास्ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते वयं यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां वायूनां जम्भे दध्मस्तथा प्रयतध्वम् ॥ १६ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—ये स्थूलसूक्ष्मस्थस्य वायोरुपयोगं कर्त्तुं जानन्ति ते शत्रून्निवार्य्य सर्वानानन्दयन्ति । इदमपि प्राग्वयोः शिष्टं व्याख्यानं वेद्यम् ॥ १६ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो जैसे (अयम्) यह (विश्वकर्मा) सब चेष्टारूप कर्मों का हेतु वायु (दक्षिणा) दक्षिण दिशा से चलता है (तस्य) इस वायु

के (रथस्वनः) रथ के शब्द के समान शब्द वाला (च) और (रथेचित्रः) रमणीय रथ में चिह्नयुक्त आश्चर्य कार्यों का करने वाला (च) ये दोनों (सेनानीग्रामण्यौ) सेनापति और ग्रामाध्यक्ष के समान वर्त्तमान (मेनका) जिस से मनन किया जाय वह (च) और (सहजन्या) एक साथ उत्पन्न हुई (च) ये दोनों (अप्सरसौ) अन्तरिक्ष में रहने वाली किरणादि अप्सरा हैं जो (यातुधाना) प्रजा को पीड़ा देने वाले हैं उन के ऊपर (हेतिः) वज्र जो (रक्षांसि) दुष्ट कर्म करने वाले हैं उन के ऊपर (प्रहेतिः) प्रकृष्ट वज्र के तुल्य (तेभ्यः) उन प्रजापीड़क आदि के लिये (नमः) वज्र का प्रहार (अस्तु) हो ऐसा करके जो न्यायाधीश शिक्षक हैं (ते) वे (नः) हमारी (अवन्तु) रक्षा करें (ते) वे (नः) हमको (मृडयन्तु) सुखी करें (ते) वे हम लोग (यम्) जिस दुष्ट से (द्विष्मः) द्वेष करें (च) और (यः) जो दुष्ट (नः) हम से (द्वेष्टि) द्वेष करे (तम्) उस को (एषाम्) इन वायुओं के (जम्भे) व्याघ्र के समान मुख में (दध्मः) धारण करते हैं वैसा प्रयत्न करो ॥ १६ ॥

भावार्थ।—इस मन्त्र में वाचकलु०—जो स्थूल सूक्ष्म और मध्यस्थ वायु से उपयोग लेने को जानते हैं वे शत्रुओं का निवारण करके सब को आनन्दित करते हैं। यह भी ग्रीष्म ऋतु का शेष व्याख्यान है ऐसा जानो ॥ १६ ॥

अयं पश्चादित्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । वर्षर्त्तुर्देवता ।
विराट् कृतिश्छन्दः । निषादः स्वरः ॥

पुनस्तादृशमेव विषयमाह ॥
फिर वैसा ही विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

अयं पश्चाद् विश्वव्यचास्तस्य रथप्रोतश्चासमरथश्च सेनानीग्रामण्यौ । प्रम्लोचन्ती चानुम्लोचन्ती चाप्सरसौ । व्याघ्रा हेतिः सर्पाः प्रहेतिस्ते-

भ्यो नमो अस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः ॥१७॥

अयम् । पश्चात् । विश्वव्यचा इति विश्वऽव्यचाः । तस्य । रथप्रोत इति रथऽप्रोतः । च । असमरथ इत्यसमऽरथः । च । सेनानीग्रामण्यौ । सेनानीग्रामण्याविति सेनानीग्रामण्यौ । प्रम्लोचन्तीति प्रऽम्लोचन्ती । च । अनुम्लोचन्तीत्यनुऽम्लोचन्ती । च । अप्सरसौ । व्याघ्राः । हेतिः । सर्पाः । प्रहेतिरिति प्रऽहेतिः । तेभ्यः । नमः । अस्तु । ते । नः । अवन्तु । ते । नः । मृडयन्तु । ते । यम् । द्विष्मः । यः । च । नः । द्वेष्टि । तम् । एषाम् । जम्भे । दध्मः ॥ १७ ॥

पदार्थः—(अयम्) (पश्चात्) (विश्वव्यचाः) विश्वं विचति व्याप्नोति स विद्युद्रूपोऽग्निः (तस्य) (रथप्रोतः) रथो रमणीयस्तेजःसमूहः प्रोतो व्यापितो येन सः (च) (असमरथः) अविद्यमानः समो रथो यस्य सः (च) (सेनानीग्रामण्यौ) एताविव (प्रम्लोचन्ती) प्रकृष्टतया सर्वानोषध्यादिपदार्थान् म्लोचयन्ती (च) (अनुम्लोचन्ती) अनुम्लोचयन्ती दीप्तिः (च) (अप्सरसौ) (व्याघ्राः) सिंहाः (हेतिः) (सर्पाः) ये सर्पन्ति तेऽहयः (प्रहेतिः) (तेभ्यः) (नमः) (अस्तु) (ते) (नः) (अवन्तु) (ते) (नः) (मृडयन्तु) (ते) (यम्) (द्विष्मः) (यः) (च) (नः) (द्वेष्टि) (तम्) (एषाम्) (जम्भे) (दध्मः) ॥ १७ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यथाऽयं पश्चाद्विश्वव्यचा अस्ति तस्य सेनानीग्रामण्याविव रथप्रोतश्चासमरथश्च प्रम्लोचन्ती चानुम्लोचन्ती चाप्सरसौ स्तः । यथा हेतिः प्रहेतिर्व्याघ्राः सर्पाश्च सन्ति तेभ्यो नमोऽस्तु । य एतेभ्यो रक्ष-

कारते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि यमेषां जम्भे दध्मस्तं वेऽपि धरन्तु ॥ १७ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—इदं वर्षर्तोः शिष्टं व्याख्यानमस्मिन् युक्ताहारविहारौ मनुष्यैः कार्यौ ॥ १७ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो जैसे (अयम्) यह (परचात्) पीछे से (विश्वव्यचाः) विश्व में व्याप्त बिजुली रूप अग्नि है उस के (सेनानीग्रामण्यौ) सेनापति और ग्रामपति के समान (रथप्रोतः) रमणीय तेजःस्वरूप में व्याप्त (च) और (असमरथः) जिस के समान दूसरा रथ न हो वह (च) ये दोनों (प्रम्लोचन्ती) अच्छे प्रकार सब ओषधि आदि पदार्थों को शुष्क कराने वाली (च) तथा (अनुम्लोचन्ती) पश्चात् ज्ञान का हेतु प्रकाश (च) ये दोनों (अप्सरसौ) क्रियाकारक आकाशस्थ किरण हैं जैसे (हेतिः) साधारण वज्र के तुल्य तथा (प्रहेतिः) उत्तम वज्र के समान (व्याघ्राः) सिंहों के तथा (सर्पाः) सर्पों के समान प्राणियों को दुःखदायी जीव हैं (तेभ्यः) इन के लिये (नमः) वज्रप्रहार (अस्तु) हो और जो इन पूर्वोक्तों से रक्षा करें (ते) वे (नः) हमारे (अवन्तु) रक्षक हों (ते) वे (नः) हम को (मृडयन्तु) सुखी करें तथा (ते) वे हम लोग (यम्) जिस से (द्विष्मः) द्वेष करें (च) और (यः) जो दुष्ट (नः) हम से (द्वेष्टि) द्वेष करे जिस को हम (एषाम्) इन सिंहादि के (जम्भे) मुख में (दध्मः) धरें (तम्) उस को वे रक्षक लोग भी सिंहादि के मुख में धरें ॥ १७ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है—यह वर्षा ऋतु का शेष व्याख्यान है। इस में मनुष्यों को नियमपूर्वक आहार विहार करने चाहियें ॥ १७ ॥

अयमुत्तरादित्यस्य परमेष्ठी ऋषिः। शरदृतुर्देवता।
भुरिगतिधृतिश्छन्दः। षड्जः स्वरः॥

पुनस्तादृशमेव विषयमाह ॥

फिर भी वैसा ही वि० ॥

अयमुत्तरात्संयद्वसुस्तस्य तार्क्ष्यश्चारिष्टनेमिश्च सेनानीग्रामण्यौ । विश्वाची च घृताची चाप्सरसावापो हेतिर्वातः प्रहेतिस्तेभ्यो नमो अस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः ॥ १८ ॥

अयम् । उत्तरात् । संयद्वसुरिति संयत्ऽवसुः । तस्य । तार्क्ष्यः । च । अरिष्टनेमिरित्यरिष्टऽनेमिः । च । सेनानीग्रामण्यौ । सेनानीग्रामण्याविति सेनानीग्रामण्यौ । विश्वाची । च । घृताची । च । अप्सरसौ । आपः । हेतिः । वातः । प्रहेतिरिति प्रऽहेतिः । तेभ्यः । नमः । अस्तु । ते । नः । अवन्तु । ते । नः । मृडयन्तु । ते । यम् । द्विष्मः । यः । च । नः । द्वेष्टि । तम् । एषाम् । जम्भे । दध्मः ॥ १८ ॥

पदार्थः—(अयम्) (उत्तरात्) (संयद्वसुः) यज्ञस्य संगतिकरणः (तस्य) (तार्क्ष्यः) तीक्ष्णतेजःप्रापक आश्विनः (च) (अरिष्टनेमिः) अरिष्टानि दुःखानि दूरे नयति स कार्त्तिकः (च) (सेनानीग्रामण्यौ) एतद्वद्वर्त्तमानौ (विश्वाची) या विश्वं सर्वं जगदञ्चति व्याप्नोति सा (च) (घृताची) घृतमाज्यमुदकं वाञ्चति प्राप्नोति सा दीप्तिः (च) (अप्सरसौ) अप्सु प्राणेषु सरन्त्यौ गती (आपः) (हेतिः) वृद्धिः (वातः) मिथः पवनः (प्रहेतिः) प्रकर्षेण वर्द्धकः (तेभ्यः) (नमः) (अस्तु) (ते) (नः) (अवन्तु) (ते) (नः) (मृडयन्तु) (ते) (यम्) (द्विष्मः) (यः) (च) (नः) (द्वेष्टि) (तम्) (एषाम्) (जम्भे) (दध्मः) ॥१८॥

अन्वयः—हे मनुष्या यथायमुत्तरात्संयद्वसुरिव शरदृतुरस्ति तस्य सेनानीग्रामण्याविव तार्क्ष्यश्चारिष्टनेमिश्च विश्वाची च घृताची चाप्सरसौ स्तः यत्राऽऽपो हेतिरिव वर्त्तिका वातः प्रहेतिरिवानन्दप्रदो भवति तं ये युक्त्या सेवन्ते तेभ्यो नमोऽस्तु । ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते वयं यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषामब्वातानां जम्भे दध्मस्तथा यूयं वर्त्तध्वम् ॥ १८ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—इदं शरदृतोः शिष्टं व्याख्यानम् । अत्रापि मनुष्यैर्युक्त्या प्रवर्त्तितव्यम् ॥ १८ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो जैसे (अयम्) यह (उत्तरात्) उत्तर दिशा से (संयद्वसुः) यज्ञ को संगत करने हारे के तुल्य शरद् ऋतु है (तस्य) उस के (सेनानीग्रामण्यौ) सेनापति और ग्रामाध्यक्ष के समान (तार्क्ष्यः) तीक्ष्ण तेज को प्राप्त कराने वाला आश्विन (च) और (अरिष्टनेमिः) दुःखों को दूर करने वाला कार्त्तिक (च) ये दोनों (विश्वाची) सब जगत् में व्यापक (च) और (घृताची) घी वा जल को प्राप्त कराने वाली दीप्ति (च) ये दोनों (अप्सरसौ) प्राणों की गति हैं जहां (आपः) जल (हेतिः) वृद्धि के तुल्य वर्त्ताने और (वातः) प्रिय पवन (प्रहेतिः) अच्छे प्रकार बढ़ाने हारे के समान आनन्ददायक होता है उस वायु को जो लोग युक्ति के साथ सेवन करते हैं (तेभ्यः) उन के लिये (नमः) नमस्कार (अस्तु) हो (ते) वे (नः) हमारी (अवन्तु) रक्षा करें (ते) वे (नः) हम को (मृडयन्तु) सुखी करें (ते) वे हम (यम्) जिससे (द्विष्मः) द्वेष करें (च) और (यः) जो (नः) हम से (द्वेष्टि) द्वेष करे (तम्) उस को (एषाम्) इन जल वायुओं के (जम्भे) दुःखदायी गुणरूप मुख में (दध्मः) धरें वैसे तुम लोग भी वर्त्तो ॥ १८ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में वाचकलु०—यह शरद् ऋतु का शेष व्याख्यान है । इस में भी मनुष्यों को चाहिये कि युक्ति के साथ कार्यों में प्रवृत्त हों ॥१८॥

अयमुपरीत्यस्य परमेष्ठीऋषिः । हेमन्तर्त्तुर्देवता । निचृत्कृतिश्छन्दः । निषादः स्वरः ॥

पुनस्तादृशमेव विषयमाह ॥

फिर भी वैसा ही विषय अगले मंत्र में कहा है ॥

अयमुपर्यर्वाग्वसुस्तस्य सेनजिच्च सुषेणश्च सेनानीग्रामण्यौ । उर्वशी च पूर्वचित्तिश्चाप्सरसा-
ववस्फूर्जन् हेतिर्विद्युत्प्रहेतिस्तेभ्यो नमो अस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः ॥ १९ ॥

अयम् । उपरि । अर्वाग्वसुरित्यर्वाक्ऽवसुः । तस्य । सेनजिदिति सेनऽजित् । च । सुषेणः । सुसेन इति सुऽसेनः । च । सेनानीग्रामण्यौ । सेनानीग्रामण्याविति सेनानीग्रामण्यौ । उर्वशी । च । पूर्वचित्तिरिति पूर्वऽचित्तिः । च । अप्सरसौ । अवस्फूर्जन्नित्यवऽस्फूर्जन् । हेतिः । विद्युदिति विऽद्युत् । प्रहेतिरिति प्रऽहेतिः । तेभ्यः । नमः । अस्तु । ते । नः । अवन्तु । ते । नः । मृडयन्तु । ते । यम् । द्विष्मः । यः । च । नः । द्वेष्टि । तम् । एषाम् । जम्भे । दध्मः ॥ १९ ॥

पदार्थः—(अयम्) (उपरि) वर्त्तमानः (अर्वाग्वसुः) अर्वागिष्टेः पश्चाद्वसु धनं यस्मात्स हेमन्तर्तुः (तस्य) (सेनजित्) यः सेनया जयति सः । अत्र ङ्यापोः संज्ञाछन्दसोर्बहुलमिति ह्रस्वत्वं च (सुषेणः) शोभना सेना यस्य सः (च) (सेनानीग्रामण्यौ) एतद्वद्वर्त्तमानौ पार्षदौ यौ तौ (उर्वशी) उरु बहु अश्नाति यया सा दीप्तिः (च) (पूर्वचित्तिः) पूर्वा

प्रथमा चित्तिः संज्ञानं यस्याः सा (च) (अप्सरसौ) (अवस्फूर्जन्) अर्वाचीनं घोषं कुर्वन् (हेतिः) वज्रघोषः (विद्युत्) (प्रहेतिः) प्रकृष्टो वज्र इव (तेभ्यः) (नमः) (अस्तु) (ते) (नः) (अवन्तु) (ते) (नः) (मृडयन्तु) (ते) (यम्) (द्विष्मः) (यः) (च) (नः) (द्वेष्टि) (तम्) (एषाम्) (जम्भे) (दध्मः) ॥ १९ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यथाऽयमुपरि वर्त्तमानोऽर्वाग्वसुर्हेमन्तर्तुरिव तस्य सेनजिच्च सुषेणश्च सेनानीग्रामण्याविव मार्गशीर्षपौषौ मासावुर्वशी च पूर्वचित्तिश्चाप्सरसाववस्फूर्जन् हेतिर्विद्युत्प्रहेतिश्चास्ति तेभ्यो नमोऽस्मदस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते वयं यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मस्तं यूयमपि तथा विदधत ॥ १९ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—इयमपि हेमन्तर्त्तोः शिष्टा व्याख्या। इमसृतुं मनुष्या युक्त्या सेवित्वा बलिष्ठा भवन्तु ॥ १९ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो जैसे (अयम्) यह (उपरि) ऊपर वर्त्तमान (अर्वाग्वसुः) वृष्टि के पश्चात् धन का हेतु है (तस्य) उस के (सेनजित्) सेना से जीतने वाला (च) और (सुषेणः) सुन्दर सेनापति (च) ये दोनों (सेनानीग्रामण्यौ) सेनापति और ग्रामाध्यक्ष के तुल्य वर्त्तमान अगहन और पौष महीने (उर्वशी) बहुत खाने का हेतु आन्तर्य दीप्ति (च) और (पूर्वचित्तिः) आदिज्ञान का हेतु (च) ये दोनों (अप्सरसौ) प्राणों में रहने वाली (अवस्फूर्जन्) भयंकर घोष करते हुए (हेतिः) वज्र के तुल्य (विद्युत्) बिजुली के पड़ाने हारे और (प्रहेतिः) उत्तम वज्र के समान रक्षक प्राणी हैं (तेभ्यः) उन के लिये (नमः) अन्नादि पदार्थ (अस्तु) मिलें (ते) वे (नः) हम लोगों की (अवन्तु) रक्षा करें (ते) वे (नः) हम को (मृडयन्तु) सुखी करें (ते) वे हम लोग (यम्) जिस दुष्ट से (द्विष्मः) द्वेष करें (च) और (यः) जो (नः) हम से (द्वेष्टि) द्वेष करे (तम्) उस को हम लोग (एषाम्) इन हिंसक प्राणियों के (जम्भे) मुख में (दध्मः) धरें। वैसे तुम लोग भी उस को धरो ॥ १९ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु०-यह भी हेमन्त ऋतु की शेष व्याख्या है। मनुष्यों को चाहिये कि इस ऋतु का युक्ति से सेवन करके बलवान् हों ॥१९॥

अग्निर्मूर्द्धेत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः। अग्निर्देवता।
निचृद्गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः॥

कथं जनैर्बलं वर्धनीयमित्याह ॥
मनुष्यों को किस प्रकार बल बढ़ाना चाहिये यह वि० ॥

अग्निर्मूर्द्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्या अयम्। अपाꣳरेताꣳसि जिन्वति ॥ २० ॥

अग्निः। मूर्द्धा। दिवः। ककुत्ऽपतिः। पृथिव्याः। अयम्। अपाम्। रेताꣳसि। जिन्वति ॥ २० ॥

पदार्थः—(अग्निः) प्रसिद्धः पावकः (मूर्द्धा) शिरइव सूर्यरूपेण वर्त्तमानः (दिवः) प्रकाशस्य (ककुत्पतिः) दिशां पालकः (पृथिव्याः) भूमेः (अयम्) (अपाम्) प्राणानाम् (रेतांसि) वीर्याणि (जिन्वति) प्रीणाति ॥ २० ॥

अन्वयः—यथा हेमन्तर्त्तावयमग्निर्दिवः पृथिव्याश्च मध्ये मूर्द्धा ककुत्पतिः सन्नपां रेतांसि जिन्वति तथैव मनुष्यैर्बलिष्ठैर्भवितव्यम् ॥ २० ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०-मनुष्यैर्युक्त्या जाठराग्निं वर्धयित्वा संयमेनाहारविहारौ कृत्वा सदा बलं वर्धनीयम् ॥ २० ॥

पदार्थः—जैसे हेमन्त ऋतु में (अयम्) यह प्रसिद्ध (अग्निः) अग्नि (दिवः) प्रकाश और (पृथिव्याः) भूमि के बीच (मूर्द्धा) शिर के तुल्य सूर्य्यरूप से वर्त्तमान (ककुत्पतिः) दिशाओं का रक्षक हो के (अपाम्) प्राणों के

(रेतांसि) पराक्रमों को (जिन्वति) पूर्णता से तृप्त करता है वैसे ही मनुष्यों को बलवान् होना चाहिये ॥ २० ॥

भावार्थः—इस मंत्र में वाचकलु०—मनुष्यों को चाहिये कि युक्ति से जाठराग्नि को सदा संयम से आहार विहार करके नित्य बल बढ़ाते रहें ॥ २० ॥

अयमग्निरित्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । अग्निर्देवता ।
निचृद् गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनर्मनुष्यः किं कुर्यादित्याह ॥
फिर मनुष्य क्या करे यह वि० ॥

अयमग्निः सहस्रिणो वाजस्य शतिनस्पतिः । मूर्धा कवी रयीणाम् ॥ २१ ॥

अयम् । अग्निः । सहस्रिणः । वाजस्य । शतिनः । पतिः । मूर्द्धा । कविः । रयीणाम् ॥ २१ ॥

पदार्थः—(अयम्) (अग्निः) हेमन्ते वर्त्तमानः (सहस्रिणः) सहस्रासंख्यपदार्थयुक्तस्य (वाजस्य) अन्नस्य (शतिनः) महाशर्वैर्गुणैः सह शतधा वर्त्तमानस्य (पतिः) पालकः (मूर्द्धा) उत्तमांगवद्वर्त्तमानः (कविः) क्रान्तदर्शनः (रयीणाम्) धनानाम् ॥ २१ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यथाऽयमग्निः सहस्रिणः शतिनो वाजस्य रयीणां च पतिर्मूर्द्धा कविरस्ति तथैव यूयं भवत ॥ २१ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—यथा विद्यायुक्तिभ्यां सेवितोऽग्निः पुष्कले धनधान्ये प्रयच्छति तथैव सेवितः पुरुषार्थो मनुष्यान् श्रीमतः संपादयति ॥ २१ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो (अयम्) यह (अग्निः) हेमन्त ऋतु में वर्त्तमान (सहस्रिणः) प्रशस्त असंख्य पदार्थों से युक्त (शतिनः) प्रशंसित गुणों के सहित अनेक प्रकार वर्त्तमान (वाजस्य) अन्न तथा (रयीणाम्) धनों का (पतिः) रक्षक (मूर्धा) उत्तम शिर के तुल्य (कविः) समर्थ है वैसे ही तुम लोग भी हो ॥ २१ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में वाचकलु०—जैसे विद्या और युक्ति से सेवन किया अग्नि बहुत अन्न धन प्राप्त कराता है वैसे ही सेवन किया पुरुषार्थ मनुष्यों को ऐश्वर्यवान् करदेता है ॥ २१ ॥

त्वामग्न इत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । अग्निर्देवता ।
निचृद्गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनः स कीदृशः स्यादित्याह ॥
फिर वह कैसा हो यह वि० ॥

त्वाम॑ग्ने॒ पुष्क॑रा॒दध्यथ॑र्वा॒ निर॑मन्थत ।
मू॒र्ध्नो विश्व॑स्य वा॒घतः॑ ॥ २२ ॥

त्वाम् । अ॒ग्ने॒ । पुष्क॑रात् । अधि॑ । अथ॑र्वा । निः । अ॒म॒न्थ॒त॒ । मू॒र्ध्नः । विश्व॑स्य । वा॒घतः॑ ॥ २२ ॥

पदार्थः—(त्वाम्) (अग्ने) विद्वन् (पुष्करात्) अन्तरिक्षात् । पुष्करमित्यन्तरिक्षनाम० । निघं० २ । ३ । (अधि) (अथर्वा) अहिंसकः (निः) नितराम् (अमन्थत) मथित्वा गृह्णीयात् (मूर्ध्नः) शिरोवद्वर्त्तमानस्य (विश्वस्य) समग्रस्य जगतो मध्ये (वाघतः) सुशिक्षिताभिर्वाग्भिर्विद्या हन्यते येन स मेधावी । वाघत इति मेधाविना० । निघं० । ३ । २५ ॥ २२ ॥

अन्वयः—हे अग्ने यथाऽथर्वा वाघतो विद्वान् पुष्करादधिमूर्ध्नो विश्वस्य च मध्येऽग्निं विद्युतं निरमन्थत तथैव त्वां बोधयामि ॥ २२ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—मनुष्यैर्विद्वदनुकरणेनाकाशात् पृथिव्याश्च विद्युतं संगृह्याश्चर्य्याणि कर्माणि साधनीयानि ॥ २२ ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) विद्वन् जैसे (अथर्वा) रक्षक (वाघतः) अच्छी शिक्षित वाणी से अविद्या का नाश करने हारा बुद्धिमान् विद्वान् पुरुष (पुष्करात्) अन्तरिक्ष के (अधि) बीच तथा (मूर्ध्नः) शिर के तुल्य वर्त्तमान (विश्वस्य) संपूर्ण जगत् के बीच अग्नि को (निरमन्थत) निरन्तर मन्थन करके ग्रहण करे वैसे ही (त्वाम्) तुझ को मैं बोध करता हूं ॥ २२ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में वाचकलु०—मनुष्यों को चाहिये कि विद्वानों के समान आकाश तथा पृथिवी के सकाश से बिजुली का ग्रहण कर आश्चर्य रूप कर्मों को सिद्ध करें ॥ २२ ॥

भुवइत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । अग्निर्देवता ।
निचृदार्षी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनः स कीदृशः स्यादित्याह ॥
फिर वह कैसा हो यह वि० ॥

भुवो॑ य॒ज्ञस्य॒ रज॑सश्च ने॒ता यत्रा॑ नि॒युद्भि॒ः सच॑से शि॒वाभि॑ः । दि॒वि मू॒र्धानं॑ दधिषे स्व॒र्षां जि॒ह्वाम॑ग्ने चकृषे हव्य॒वाह॑म् ॥ २२ ॥

भुव॑ः । य॒ज्ञस्य॑ । रज॑सः । च॒ । ने॒ता । यत्र॑ । नि॒युद्भि॒रिति॑ नि॒ऽयुद्भि॑ः । सच॑से । शि॒वाभि॑ः । दि॒वि । मू॒र्धान॑म् । द॒धि॒षे॒ । स्व॒र्षामिति॑ स्वः॒ऽसाम् । जि॒ह्वाम् । अग्ने॑ । च॒कृ॒षे॒ । ह॒व्य॒ऽवाह॑म् ॥ २३ ॥

पदार्थः—(भुवः) भवतीति तस्य (यज्ञस्य) संगतस्य कार्यसाधकस्य व्यवहारस्य (रजसः) लोकसमूहस्य (च) (नेता) नयनकर्त्ता (यत्र) अत्र ऋचि तुनु॰ इति दीर्घः (नियुद्भिः) मिश्रितामिश्रिताभिः क्रियाभिः (सचसे) युनक्षि (शिवाभिः) मंगलकारिणीभिः (दिवि) द्योतनात्मके स्वस्वरूपे (मूर्द्धानम्) मूर्द्धेव वर्त्तमानं सूर्यम् (दधिषे) धरसि (स्वर्षाम्) स्वः सुखं सनोति ददाति यया ताम् (जिह्वाम्) वाचम्। जिह्वेति वाङ्ना॰। निघं॰ १। ११। (अग्ने) विद्वन् (चकृषे) करोति (हव्यवाहम्) यो हव्यान् दातुमादातुं च योग्यान् रसान् वहति तम् ॥ २३ ॥

अन्वयः—हे अग्ने यथाऽयमग्निर्नियुद्भिः शिवाभिः सह वर्त्तमानो भुवो यज्ञस्य रजसश्च नेता सन् सचते यत्र दिवि मूर्द्धानं दधाति हव्यवाहं स्वर्षां जिह्वां चकृषे तथा तत्र त्वं दिवि सचसे विद्यां दधिषे ॥ २३ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु॰—यथाग्निरीश्वरेण नियुक्तः सन् सर्वस्य जगतः सुखकारी वर्त्तते तथैव विद्याग्राहका अध्यापकाः सर्वेषां जनानां सुखकारिणः सन्तीति वेद्यम् ॥ २३ ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) विद्वन् जैसे यह प्रत्यक्ष अग्नि (नियुद्भिः) संयोग विभाग कराने हारी क्रिया तथा (शिवाभिः) मंगलकारिणी दीप्तियों के साथ वर्त्तमान (भुवः) प्रगट हुए (यज्ञस्य) कार्यों के साधक संगत व्यवहार (च) और (रजसः) लोकसमूह को (नेता) आकर्षण करता हुआ सम्बन्ध कराता है और (यत्र) जिस (दिवि) प्रकाशमान अपने स्वरूप में (मूर्द्धानम्) उत्तमाङ्ग के तुल्य वर्त्तमान सूर्य को धारण करता तथा (हव्यवाहम्) ग्रहण करने तथा देने योग्य रसों को प्राप्त कराने वाली (स्वर्षाम्) सुखदायक (जिह्वाम्) वाणी को (चकृषे) प्रवृत्त करता है वैसे तू शुभ गुणों के साथ (सचसे) युक्त होता और सब विद्याओं को (दधिषे) धारण कराता है ॥ २३ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में वाचकलु०—जैसे ईश्वर ने नियुक्त किया हुआ अग्नि सब जगत् को सुखकारी होता है वैसे ही विद्या के ग्राहक अध्यापक लोग सब मनुष्यों को सुखकारी होते हैं ऐसा सब को जानना चाहिये ॥ २३ ॥

अबोधीत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । अग्निर्देवता ।
निचृत् त्रिष्टुप्छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनः स कीदृशो भवेदित्याह ॥
फिर वह कैसा हो यह वि० ॥

अबोध्यग्निः समिधा जनानां प्रतिं धेनुमिवा-
यतीमुषासम् । यह्वा इव प्र वयामुज्जिहानाः प्र भानवः
सिस्रते नाकमच्छ ॥ २४ ॥

अबोधि । अग्निः । समिधेति सम्ऽइधा । जनानाम् । प्रति । धेनुमिवेति धेनुम्ऽइव । आयतीमित्याऽयतीम् । उषासम् उषसमित्युषसम् । यह्वाइवेति यह्वाःऽइव । प्र । वयाम् । उज्जिहाना इत्युत्ऽजिहानाः । प्र । भानवः । सिस्रते । नाकम् । अच्छ ॥ २४ ॥

पदार्थः—(अबोधि) बुध्यते (अग्निः) (समिधा) प्रदीपनसाधनैः (जनानाम्) मनुष्याणाम् (प्रति) (धेनुमिव) यथा दुग्धदां गां तथा (आयतीम्) प्राप्नुवतीम् (उषासम्) उषसं प्रभातम् । अत्रान्येषामपीति दीर्घः (यह्वाइव) महान्तो धार्मिका जना इव (प्र) (वयाम्) व्यापिकां सुखनीतिम् (उज्जिहानाः) उत्कृष्टतया प्राप्नुवन्तः (प्र) (भानवः) किरणाः (सिस्रते) प्रापयन्ति । अत्र सृधातोर्लिटि शपः श्लुर्व्यत्ययेनात्मनेपदञ्च गतौ यपर्थश्च (नाकम्) अविद्यमानदुःखमाकाशम् (अच्छ) सम्यक् ॥ २४ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यथा समिधायमग्निरबोध्यायतीमुषासं प्रति जनानां धेनुमिवास्ति । यस्य यह्वा इव प्रवयामुज्जिहानाः प्रभानवो नाकमच्छ सिस्रते तं सुखाय यूयं संप्रयुङ्ग्ध्वम् ॥ २४ ॥

भावार्थः—अत्रोपमावाचकलु०—यथा दुग्धदात्री धेनुर्गौः संसेविता सती दुग्धादिभिः प्राणिनः सुखयति । यथाऽऽप्ता विद्वांसो विद्यादानेनाविद्यां निवार्य मनुष्यान्सुखयन्ति तथैवायमग्निर्वर्त्तत इति वेद्यम् ॥ २४ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो जैसे (समिधा) प्रज्वलित करने के साधनों से यह (अग्निः) अग्नि (अबोधि) प्रकाशित होता है (आयतीम्) प्राप्त होते हुए (उषासम्) प्रभातसमय के (प्रति) समीप (जनानाम्) मनुष्यों की (धेनुमिव) दूध देने वाली गौ के समान है । जिस अग्नि के (यह्वाइव) महान् धार्मिक जनों के समान (प्र) उत्कृष्ट (वयाम्) व्यापक सुख की नीति को (उज्जिहानाः) अच्छे प्रकार प्राप्त करते हुए (प्र) उत्तम (भानवः) किरण (नाकम्) सुख को (अच्छ) अच्छे प्रकार (सिस्रते) प्राप्त करते हैं उस को तुम लोग सुखार्थ संयुक्त करो ॥ २४ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में उपमा और वाचकलुप्तोपमालंकार है । जैसे दुग्ध देने वाली सेवन की हुई गौ दुग्धादि पदार्थों से प्राणियों को सुखी करती है और जैसे आप्त विद्वान् विद्यादान से अविद्या का निवारण कर मनुष्यों की उन्नति करते हैं वैसे ही यह अग्नि है ऐसा जानना चाहिये ॥ २४ ॥

अवोचामेत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । अग्निर्देवता ।
निचृत् त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनः स कीदृश इत्याह ॥
फिर वह कैसा है यह वि० ॥

अवोचाम कवये मेध्याय वचो वन्दारु वृषभाय वृष्णे । गविष्ठिरो नमसा स्तोममग्नौ दिवीव रुक्ममुरुव्यंचमश्रेत् ॥ २५ ॥

अवोचाम। कवये। मेध्याय। वचः। वन्दारु। वृषभाय। वृष्णे। गविष्ठिरः। गविस्थिर इति गविऽस्थिरः। नमसा। स्तोमम्। अग्नौ। दिवीवेति दिविऽइव। रुक्मम्। उरुव्यंचमित्युरुऽव्यचम्। अश्रेत्॥ २५॥

पदार्थः—(अवोचाम) उच्याम (कवये) मेधाविने (मेध्याय) सर्वशुभलक्षणसंगताय पवित्राय (वचः) वचनम् (वन्दारु) प्रशंसनीयम् (वृषभाय) बलिष्ठाय (वृष्णे) वृष्टिकर्त्रे (गविष्ठिरः) गोषु किरणेषु तिष्ठतीति (नमसा) अन्नादिना (स्तोमम्) स्तुत्यं कार्य्यम् (अग्नौ) पावके (दिवीव) यथा सूर्यप्रकाशे (रुक्मम्) आदित्यम् (उरुव्यचम्) उरुषु बहुषु विशेषेणाञ्चति तम् (अश्रेत्) श्रयेत्। अत्र विकरणस्य लुक्। लङ्प्रयोगश्च॥ २५॥

अन्वयः—वयं यथा गविष्ठिरो दिवीवोरुव्यचं रुक्ममश्रेत्तथा मेध्याय वृषभाय वृष्णे कवये वन्दारु वचोऽग्नौ नमसा स्तोमं चावोचाम॥ २५॥

भावार्थः—अत्रोपमालं॰—विद्वद्भिः सुशीलाय शुद्धाय विद्यार्थिने परमप्रयत्नेन विद्या देया यतोऽसौ विद्यामधीत्य सूर्यप्रकाशे घटपटादीन् पदार्थानिव सर्वान् पदार्थान् ज्ञातुं शक्नुयात्॥ २५॥

पदार्थः—हम लोग जैसे (गविष्ठिरः) किरणों में रहने वाली बिजुली (दिवीव) सूर्यप्रकाश के समान (उरुव्यचम्) विशेष करके बहुतों में गमनशील (रुक्मम्) सूर्य का (अश्रेत्) आश्रय करती है वैसे (मेध्याय) सब शुभ लक्षणों से युक्त पवित्र (वृषभाय) बली (वृष्णे) वर्षा के हेतु (कवये) बुद्धिमान् के लिये (वन्दारु) प्रशंसा के योग्य (वचः) वचन को और (अग्नौ) जाठराग्नि में (नमसा) अन्न आदि से (स्तोमम्) प्रशस्त कार्यों को (अवोचाम) कहें॥ २५॥

भावार्थः—इस मंत्र में उपमालं०—विद्वानों को चाहिये कि सुशील शुद्धबुद्धि विद्यार्थी के लिये परम प्रयत्न से विद्या देवें जिससे वह विद्या पढ़ के सूर्य के प्रकाश में घट पटादि को देखते हुए के समान सब को यथावत् जान सकें ॥ २५ ॥

अयमिहेत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । अग्निर्देवता ।
भुरिगार्षी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनः स कीदृश इत्याह ॥
फिर वह कैसा हो यह वि० ॥

अयमिह प्रथमो धायि धातृभिर्होता यजिष्ठो अध्वरेष्वीड्यः । यमप्नवानो भृगवो विरुरुचुर्वनेषु चित्रं विभ्वं विशेविशे ॥ २६ ॥

अयम् । इह । प्रथमः । धायि । धातृभिरिति धातृऽभिः । होता । यजिष्ठः । अध्वरेषु । ईड्यः । यम् । अप्नवानः । भृगवः । विरुरुचुरिति विऽरुरुचुः । वनेषु । चित्रम् । विभ्वमिति विऽभ्वम् । विशेविश इति विशेऽविशे ॥ २६ ॥

पदार्थः—(अयम्) (इह) (प्रथमः) विस्तीर्णोऽग्निः (धायि) ध्रियते (धातृभिः) धारकैः (होता) आदाता (यजिष्ठः) अतिशयेन यष्टा (अध्वरेषु) अहिंसनीयव्यवहारेषु (ईड्यः) अध्येषितुं योग्यः (यम्) (अप्नवानः) रूपवन्तः । अप्नइति रूपना० । निघं० ३ । ५ । अत्र छान्दसो वर्णलोप इति मतोर्मलोपः (भृगवः) परिपक्वविज्ञानाः (विरुरुचुः) विरोचन्ते प्रकाशयन्ते (वनेषु) रश्मिषु (चित्रम्) अद्भुतम् (विभ्वम्) व्यापकम् (विशेविशे) प्रजायै प्रजायै ॥ २६ ॥

अन्वयः—य इहाध्वरेष्वीड्यो यजिष्ठो होता प्रथमोऽयमग्निर्धातृभिर्धायि यं वनेषु चित्रं विभ्वं विशेविशेऽप्नवानो भृगवो विरुरुचुस्तं सर्वे मनुष्या अङ्गीकुर्युः ॥ २६ ॥

भावार्थः—विद्वांसोऽग्निविद्यां धृत्वाऽन्येभ्यः प्रदद्युः ॥ २६ ॥

पदार्थः—जो (इह) इस जगत् में (अध्वरेषु) रक्षा के योग्य व्यवहारों में (ईड्यः) खोजने योग्य (यजिष्ठः) अतिशय करके यज्ञ का साधक (होता) घृतादि का ग्रहणकर्त्ता (प्रथमः) सर्वत्र विस्तृत (अयम्) यह प्रत्यक्ष अग्नि (धातृभिः) धारणशील पुरुषों ने (धायि) धारण किया है (यम्) जिस को (वनेषु) किरणों में (चित्रम्) आश्चर्यरूप से (विभ्वम्) व्यापक अग्नि को (विशेविशे) समस्त प्रजा के लिये (अप्नवानः) रूपवान् (भृगवः) पूर्णज्ञानी (विरुरुचुः) विशेष करके प्रकाशित करते हैं उस अग्नि को सब मनुष्य स्वीकार करें ॥ २६ ॥

भावार्थः—विद्वान् लोग अग्निविद्या को धारण करके दूसरों को सिखावें ॥ २६ ॥

जनस्येत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । अग्निर्देवता ।
निचृदार्षी जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

पुनः स कीदृश इत्याह ॥
फिर वह कैसा हो यह वि० ॥

जन॑स्य गो॒पा अ॑जनिष्ट॒ जागृ॑विर॒ग्निः सु॒दक्षः॑ सुवि॒ताय॒ नव्य॑से । घृ॒तप्र॑तीको बृह॒ता दि॑वि॒स्पृशा॑ द्यु॒मद्वि भा॑ति भर॒तेभ्यः॒ शुचि॑: ॥ २७ ॥

जन॑स्य । गो॒पाः । अ॒ज॒नि॒ष्ट॒ । जागृ॑विः । अ॒ग्निः । सु॒दक्ष॒ इति॑ सु॒ऽदक्षः॑ । सु॒वि॒ताय॑ । नव्य॑से । घृ॒तप्र॑तीक॒ इति॑ घृ॒तऽप्र॑तीकः ।

बृहता । दिविस्पृशेति दिविऽस्पृशा । द्युमदिति द्युऽमत् । वि । भाति । भरतेभ्यः । शुचिः ॥ २७ ॥

पदार्थः—(जनस्य) जातस्य (गोपाः) रक्षकः (अजनिष्ट) जातः (जागृविः) जागरूकः (अग्निः) विद्युत् (सुदक्षः) सुष्ठुबलः (सुविताय) उत्पादनीयायैश्वर्याय (नव्यसे) अतिशयेन नवीनाय । अत्र छन्दसो वर्णलोपो वेति ईलोपः (घृतप्रतीकः) प्रतीतिकरं जलमाज्यं वा यस्य सः (बृहता) महता (दिविस्पृशा) दिवि प्रकाशे स्पृशति येन तेन (द्युमत्) द्यौः प्रकाशोऽस्त्यस्मिन् तद्वत् (वि) (भाति) (भरतेभ्यः) आदित्येभ्यः । भरत आदित्यः । निरु० ८ । १३ । (शुचिः) पवित्रः ॥ २७ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यो जनस्य गोपा जागृविः सुदक्षो घृतप्रतीकः शुचिरग्निर्नव्यसे सुवितायाऽजनिष्ट बृहता दिविस्पृशा भरतेभ्यो द्युमद्विभाति तं यूयं विजानीत ॥ २७ ॥

भावार्थः—मनुष्यैरैश्वर्यप्राप्तेरसाधारणं निमित्तं सृष्टिस्थानां सूर्याणां कारणं विद्युदेवास्ति तद्विद्योपयोक्तव्या ॥ २७ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो जो (जनस्य) उत्पन्न हुए संसार का (गोपाः) रक्षक (जागृविः) जागने रूप स्वभाव वाला (सुदक्षः) सुन्दर बल का हेतु (घृतप्रतीकः) घृत से बढ़ने हारा (शुचिः) पवित्र (अग्निः) बिजुली (नव्यसे) अत्यन्त नवीन (सुविताय) उत्पन्न करने योग्य ऐश्वर्य के लिये (अजनिष्ट) प्रकट हुआ है और (बृहता) बड़े (दिविस्पृशा) प्रकाश में स्पर्श से (भरतेभ्यः) सूर्यों से (द्युमत्) प्रकाशयुक्त हुआ (विभाति) शोभित होता है उस को तुम लोग जानो ॥ २७ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि जो ऐश्वर्य प्राप्ति का विशेष कारण सृष्टि के सूर्यों का निमित्त बिजुली रूप तेज है उसको जान के उपकार लिया करें ॥ २७ ॥

त्वामग्न इत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः। अग्निर्देवता। विराडार्षी जगती छन्दः। निषादः स्वरः॥

पुनः स कीदृश इत्याह॥

फिर वह कैसा हो यह वि०॥

त्वमग्ने अङ्गिरसो गुहा हितमन्वविन्दञ्छिश्रियाणं वनेवने। स जायसे मथ्यमानः सहो महत् त्वामाहुः सहसस्पुत्रमङ्गिरः॥ २८॥

त्वाम्। अग्ने। अङ्गिरसः। गुहा। हितम्। अनु। अविन्दन्। शिश्रियाणम्। वनेवन इति वनेऽवने। सः। जायसे। मथ्यमानः। सहः। महत्। त्वाम्। आहुः। सहसः। पुत्रम्। अङ्गिरः॥ २८॥

पदार्थः—(त्वाम्) (अग्ने) विद्वन् (अङ्गिरसः) विद्वांसः (गुहा) गुहायां बुद्धौ। अत्र सुपां सुलुगिति ङेर्लुक् (हितम्) हितकारिणम् (अनु) (अविन्दन्) प्राप्नुयुः (शिश्रियाणम्) श्रयन्तम् (वनेवने) रश्मौ रश्मौ पदार्थे पदार्थे वा (सः) (जायसे) (मथ्यमानः) संघृष्यमाणः (सहः) बलम् (महत्) (त्वाम्) तम् (आहुः) कथयन्ति (सहसः) बलवतो वायोः (पुत्रम्) उत्पन्नम् (अङ्गिरः) प्राणवत् प्रिय॥ २८॥

अन्वयः—हेऽङ्गिरोऽग्ने त्वं स मथ्यमानोऽग्निरिव विद्यया जायसे यथा महत्सहो युक्तं सहसस्पुत्रं वने वने शिश्रियाणं गुहाहितं त्वामाहुरङ्गिरसोऽन्वविन्दंस्तथा त्वामहं बोधयामि॥ २८॥

भावार्थः—द्विविधोऽग्निर्मानसो बाह्यश्चास्ति तयोराभ्यन्तरं युक्ताभ्यामाहारविहाराभ्यां बाह्यं मन्थनादिभ्यः सर्वे विद्वांसः सेवन्ताम्। तथोपरे भजन्तु॥ २८॥

पदार्थः—हे (अङ्गिरः) प्राणवत्प्रिय (अग्ने) विद्वन्! जैसे (यः) यह (मथ्यमानः) मथन किया हुआ अग्नि प्रसिद्ध होता है वैसे तू विद्या से (जायसे) प्रकट होता है जिस को (महत्) बड़े (सहः) बलयुक्त (सहसः) बलवान् वायु से (पुत्रम्) उत्पन्न हुए पुत्र के तुल्य (वनेवने) किरण २ वा पदार्थ २ में (शिश्रियाणम्) आश्रित (गुहा) बुद्धि में (हितम्) स्थित हितकारी (त्वाम्) उस अग्नि को (आहुः) कहते हैं (अङ्गिरसः) विद्वान् लोग (अन्वविन्दन्) प्राप्त होते हैं उस का बोध (त्वाम्) तुझे कराता हूं ॥ २८ ॥

भावार्थः—अग्नि दो प्रकार का होता है। एक मानस और दूसरा बाह्य, इस में आभ्यन्तर को युक्त आहार विहारों से और बाह्य को मन्थनादि से सब विद्वान् सेवन करें वैसे इतर जन भी सेवन किया करें ॥ २८ ॥

सखाय इत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः। अग्निर्देवता।
विराडनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः॥

मनुष्याः कीदृशा भूत्वाग्निं विजानीयुरित्याह॥
मनुष्य लोग कैसे होके अग्नि को जानें यह विषय॥

सखायः सं वः सम्यञ्चमिषꣳस्तोमं चाग्नये।
वर्षिष्ठाय क्षितीनामूर्जो नप्त्रे सहस्वते॥ २९॥

सखायः। सम्। वः। सम्यञ्चम्। इषम्। स्तोमम्। च। अग्नये। वर्षिष्ठाय। क्षितीनाम्। ऊर्जः। नप्त्रे। सहस्वते॥ २९॥

पदार्थः—(सखायः) सुहृदः (सम्) (वः) युष्माकम् (सम्यञ्चम्) यः समीचीनमञ्चति तम् (इषम्) अन्नम् (स्तोमम्) स्तुतिसमूहम् (च) (अग्नये) पावकाय (वर्षिष्ठाय) अतिवृद्धाय (क्षितीनाम्) मनुष्याणाम्

(ऊर्जः) बलस्य (नप्त्रे) पौत्र इव वर्त्तमानाय (सहस्वते) बहुबलयुक्ताय ॥ २६ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यथा विद्वांसः सखायः सन्तः शिवीनां वो युष्माकमूर्जो नप्त्रे सहस्वते वर्षिष्ठायाग्नये यं सम्यञ्चमिषं स्तोमं च समाहुस्तथा यूयमनुतिष्ठत ॥ २६ ॥

भावार्थः—अत्र पूर्वमन्त्रादाहुरित्यनुवर्त्तते । शिल्पिनः सुहृदो भूत्वा विद्वदुक्तानुकूलतया पदार्थविद्यामनुतिष्ठेयुः । विद्युत् कारणरूपाद्बलाज्जायते सा पुत्रवत् यां सूर्यादेः सकाशादुत्पद्यते सा पौत्रवद्वर्त्ततीति वेद्यम् ॥ २६ ॥

पदार्थः—हे (सखायः) मित्रो (शिवीनाम्) मननशील मनुष्य (वः) तुम्हारे (ऊर्जः) बल के (नप्त्रे) पौत्र के तुल्य वर्त्तमान (सहस्वते) बहुत बल वाले (वर्षिष्ठाय) अत्यन्त बड़े (अग्नये) अग्नि के लिये जिस (सम्यञ्चम्) सुन्दर सत्कार के हेतु (इषम्) अन्न को (च) और (स्तोमम्) स्तुतियों को (समाहुः) अच्छे प्रकार कहते हैं वैसे तुम लोग भी उस का अनुष्ठान करो ॥ २९ ॥

भावार्थः—यहां पूर्व मन्त्र से (आहुः) इस पद की अनुवृत्ति आती है। कारीगरों को चाहिये कि सब के मित्र होकर विद्वानों के कथनानुसार पदार्थविद्या का अनुष्ठान करें जो बिजुली कारणरूप बल से उत्पन्न होती है वह पुत्र के तुल्य है और जो सूर्यादि के सकाश से उत्पन्न होती है सो पौत्र के समान है ऐसा जानना चाहिये ॥ २६ ॥

संसमिदित्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । अग्निर्देवता ।
विराडनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

वैश्येन किं कार्यमित्युपदिश्यते ।
वैश्य को क्या करना चाहिये यह वि० ॥

सꣳसमिद्युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य्य आ ।
इडस्पदे समिध्यसे स नो वसून्या भर ॥ ३० ॥

सꣳसमिति सम्ऽसम् । इत् । युवसे । वृषन् । अग्ने । विश्वानि । अर्य्यः । आ । इडः । पदे । सम् । इध्यसे । सः । नः । वसूनि । आ । भर ॥ ३० ॥

पदार्थः—(संसम्) सम्यक् (इत्) एव (युवसे) मिश्रय । अत्र विकरणात्मनेपदव्यत्ययौ (वृषन्) बलवन् (अग्ने) प्रकाशमान (विश्वानि) अखिलानि (अर्य्यः) वैश्यः । अर्य्यः स्वामिवैश्ययोरिति वैश्यार्थे निपातितः । (आ) (इडः) प्रशंसनीयस्य । इड इति पदना० । निघं० ५ । २ । अमेड-धातोर्बाहुलकादौणादिकः क्विप् । आदेर्ह्रस्वश्च (पदे) प्रापणीये (सम्) (इध्यसे) प्रदीप्यसे (सः) (नः) अस्मभ्यम् (वसूनि) (आ) (भर) धर ॥ ३० ॥

अन्वयः—हे वृषन्नग्ने अर्य्यस्त्वं संसमायुवसे इडस्पदे समिध्यसे स त्वमिदग्निना नो विश्वानि वसून्याभर ॥ ३० ॥

भावार्थः—राजभिः संरक्षिता वैश्या अग्न्यादिविद्याभ्यः स्वेभ्यो राजपुरुषेभ्यश्चाखिलानि धनानि संभरेयुः ॥ ३० ॥

पदार्थ—हे (वृषन्) बलवन् (अग्ने) प्रकाशमान (अर्य्यः) वैश्य जो तू (संसमायुवसे) सम्यक् अच्छे प्रकार सम्बन्ध करते हो (इडः) प्रशंसा के योग्य (पदे) प्राप्ति के योग्य अधिकार में (समिध्यसे) सुशोभित होते हो (सः) सो तू (इत्) ही अग्नि के योग से (नः) हमारे लिये (विश्वानि) सब (वसूनि) धनों को (आभर) अच्छे प्रकार धारण कर ॥ ३० ॥

भावार्थ—राजाओं से रक्षा प्राप्त हुए वैश्य लोग अग्न्यादि विद्याओं के लिये और अपने राजपुरुषों के लिये संपूर्ण धन धारण करें ॥ ३० ॥

त्वामित्यस्य परमेष्ठी ऋषिः। अग्निर्देवता।
विराडनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः॥

मनुष्यैरग्निना किं साध्यमित्युपदिश्यते॥
मनुष्य लोग अग्नि से क्या सिद्ध करें यह वि०॥

त्वां चित्रश्रवस्तम हवन्ते विक्षु जन्तवः।
शोचिष्केशं। पुरुप्रियाग्ने हव्याय वोढवे॥ ३१॥

त्वाम्। चित्रश्रवस्तमेति चित्रश्रवःऽतम। हवन्ते। विक्षु। जन्तवः। शोचिष्केशम्। शोचिःकेशमिति शोचिःऽकेशम्। पुरुप्रियेति पुरुऽप्रिय। अग्ने। हव्याय। वोढवे॥ ३१॥

पदार्थः—(त्वाम्) (चित्रश्रवस्तम) चित्राण्यद्भुतानि श्रवांस्यविशेषितान्यन्नानि वा यस्य (हवन्ते) स्वीकुर्वन्तु (विक्षु) प्रजासु (जन्तवः) जनाः (शोचिष्केशम्) शोचिषः केशाः सूर्यस्य रश्मय इव तेजांसि यस्य तम् (पुरुप्रिय) बहून् प्रीणाति बहूनां प्रियो वा तत्सम्बुद्धौ (अग्ने) विद्वन् (हव्याय) स्वीकर्त्तव्यमन्नादिपदार्थम्। अत्र सुपां व्यत्ययेन द्वितीयैकवचनस्य चतुर्थ्येकवचनम् (वोढवे) वोढुम्। अत्र तुमर्थे तवेन् प्रत्ययः॥ ३१॥

अन्वयः—हे पुरुप्रिय चित्रश्रवस्तमाग्ने विक्षु हव्याय वोढवे यं शोचिष्केशं त्वा जन्तवो हवन्ते तं वयमपि हवामहे॥ ३१॥

भावार्थः—मनुष्या यमग्निं जीवाः सेवन्ते तेन भारवहनादीनि कार्य्याण्यपि साध्नुवन्तु॥ ३१॥

पदार्थः—हे (पुरुप्रिय) बहुतों के प्रसन्न करने हारे वा बहुतों के प्रिय (चित्रश्रवस्तम) आश्चर्य्यरूप अन्नादि पदार्थों से युक्त (अग्ने) तेजस्वी विद्वन् (विक्षु) प्रजाओं में (हव्याय) स्वीकार के योग्य अन्नादि उत्तम पदार्थों को

(वोढवे) प्राप्ति के लिये जिस (शोचिष्केशम्) सुखाने वाली सूर्य की किरणों के तुल्य तेजस्वी (त्वाम्) आपको (जन्तवः) मनुष्य लोग (ईळते) स्वीकार करते हैं उसी को हम लोग भी स्वीकार करते हैं ॥ ३१ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को योग्य है कि जिस अग्नि को जीव सेवन करते हैं उस से भार पहुंचाना आदि कार्य भी सिद्ध किया करें ॥ ३१ ॥

एनाव इत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः। अग्निर्देवता। विराड् बृहती छन्दः। मध्यमः स्वरः॥

पुनः स कीदृश इत्याह ॥

फिर वह कैसा हो यह वि० ॥

एना वो अग्निं नमसोर्जो नपातमा हुवे। प्रियं चेतिष्ठमरतिꣳस्वध्वरं विश्वस्य दूतममृतम् ॥ ३२ ॥

एना । वः । अग्निम् । नमसा । ऊर्जः । नपातम् । आ । हुवे । प्रियम् । चेतिष्ठम् । अरतिम् । स्वध्वरमिति सुऽअध्वरम् । विश्वस्य । दूतम् । अमृतम् ॥ ३२ ॥

पदार्थः—(एना) एतेन पूर्वोक्तेन । अत्राकारादेशः (वः) युष्मभ्यम् (अग्निम्) (नमसा) प्राप्तेणान्नेन (ऊर्जः) पराक्रमवान् (नपातम्) अपतनशीलम् (आ) (हुवे) आह्वये (प्रियम्) प्रीत्युत्पादकम् (चेतिष्ठम्) अतिशयेन चेतयितारं संज्ञापकम् (अरतिम्) नास्ति रतिर्यस्यान्यपदार्थेषु तम् (स्वध्वरम्) सुष्ठ्वध्वरा अहिंसनीया व्यवहारा यस्मात्तम् (विश्वस्य) समग्रस्य जगतः (दूतम्) सर्वत्राभिगन्तारं विद्युतम् (अमृतम्) कारणरूपेण नित्यम् ॥ ३२ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यथाऽहं वो युष्मभ्यमेना नमसा नपातं प्रियं चेतिष्ठं स्वध्वरमरतिममृतं विश्वस्य दूतमग्निमूर्जश्चाहुवे तथा यूयं मह्यं जुहुत ॥ ३२ ॥

भावार्थः-हे मनुष्या वयं युष्मदर्थं या अग्न्यादिविद्याः प्रकटयेम ता यूयं स्वीकुरुत ॥ ३२ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो जैसे मैं (वः) तुम्हारे लिये (एना) इस पूर्वोक्त (नमसा) ग्रहण के योग्य अन्न से (नपातम्) दृढ़स्वभाव (प्रियम्) प्रीतिकारक (चेतिष्ठम्) अत्यन्त चेतनता कराने हारे (अरतिम्) चेतनता रहित (स्वध्वरम्) अच्छे रक्षणीय व्यवहारों से युक्त (अमृतम्) कारणरूप से नित्य (विश्वस्य) संपूर्ण जगत् के (दूतम्) सब ओर चलनेहारे (अग्निम्) बिजुली को और (ऊर्जः) पराक्रमों को (आहुवे) स्वीकार करूं वैसे तुम लोग भी मेरे लिये ग्रहण करो ॥ ३२ ॥

भावार्थः—हे मनुष्यो हम लोग तुम्हारे लिये जो अग्नि आदि की विद्या प्रसिद्ध करें उनको तुम लोग भी स्वीकार करो ॥ ३२ ॥

विश्वस्य दूतमित्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । अग्निर्देवता ।
निचृद्बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

पुनः सः कीदृशः स्यादित्याह ॥
फिर वह कैसा हो यह वि० ॥

विश्वस्य दूतमृतं विश्वस्य दूतममृतम् । स योजते अरुषा विश्वभोजसा स दुद्रवत्स्वाहुतः ॥३३॥

विश्वस्य । दूतम् । अमृतम् । विश्वस्य । दूतम् । अमृतम् । सः । योजते । अरुषा । विश्वभोजसेति विश्वऽभोजसा । सः । दुद्रवत् । स्वाहुतइति सुऽआहुतः ॥ ३३ ॥

पदार्थः—(विश्वस्य) समग्रस्य भूगोलसमूहस्य (हुतम्) परितापकं विद्युदाख्यमग्निम् (अमृतम्) कारणरूपेणाविनाशि स्वरूपम् (विश्वस्य) अखिलपदार्थजातस्य (हुतम्) परितापेन दाहकम् (अमृतम्) उदकेऽपि व्यापकं कारणम् । अमृतमित्युदकनाम० । निघं० १ । १२ । (सः) (योजते) युनक्ति । अत्र व्यत्ययेन शप् (अरूपा) रूपवता पदार्थसमूहेन (विश्वभोजसा) विश्वस्य पालकेन (सः) (द्रुहवत्) शरीरादौ द्रवति गच्छति । अत्र वर्त्तमाने लङ् । माङ्योगमन्तरेणाप्यडभावः (स्वाहुतः) सुष्ठु समन्तात्कृत आदत्तः सन् ॥ ३३ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यथाऽहं विश्वस्य हुतममृतं विश्वस्य हुतममृतमग्निमाहुवे तथा विश्वभोजसाऽरूपा सर्वैः पदार्थैः सह वर्त्तते स योजते । यः स्वाहुतः सन् द्रुहवत्स युष्माभिर्वेद्यः ॥ ३३ ॥

भावार्थः—अत्र पूर्वमन्त्रादाहुवे इति पदमनुवर्त्तते विश्वस्य हुतममृतमिति द्विरावृत्त्य द्विविधस्य स्थूलसूक्ष्मस्याग्नेर्ग्रहणम् । स सर्वः कारणरूपेण नित्यइति वेद्यम् ॥ ३३ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो जैसे मैं (विश्वस्य) सब भूगोलों के (हुतम्) तपाने वाले सूर्यरूप (अमृतम्) कारणरूप से अविनाशि स्वरूप (विश्वस्य) संपूर्ण पदार्थों को (हुतम्) ताप से जलाने वाले (अमृतम्) जल में भी व्यापक कारणरूप अग्नि को स्वीकार करूं वैसे (विश्वभोजसा) जगत् के रक्षक (अरूपा) रूपवान् सब पदार्थों के साथ वर्त्तमान है (सः) वह (योजते) युक्त करता है जो (स्वाहुतः) अच्छे प्रकार ग्रहण किया हुआ (द्रुहवत्) शरीरादि में चलता है (सः) वह तुम लोगों को जानना चाहिये ॥ ३३ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में पूर्व मन्त्र से (आहुवे) इस पद की अनुवृत्ति आती है । तथा (विश्वस्य हुतममृतम्) इन तीन पदों की दो वार आवृत्ति से स्थूल आर्त्ती है और सूक्ष्म दो प्रकार के अग्नि का ग्रहण होता है । वह सब अग्नि कारणरूप से नित्य है ऐसा जानना चाहिये ॥ ३३ ॥

स द्रुद्रवदित्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । अग्निर्देवता ।
आर्ष्यनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनः स कीदृश इत्याह ॥
फिर वह कैसा हो यह वि० ॥

स दुद्रवत्स्वाहुतः स दुद्रवत् स्वाहुतः । सुब्रह्मा यज्ञः सुशमी वसूनां देवꣳराधो जनानाम् ॥३४॥

सः । दुद्रवत् । स्वाहुतइति सुऽआहुतः । सः । दुद्रवत् । स्वाहुतइति सुऽआहुतः । सुब्रह्मा । यज्ञः । सुशमीति सुऽशमी । वसूनाम् । देवम् । राधः । जनानाम् ॥ ३४ ॥

पदार्थः—(सः) अग्निः (दुद्रवत्) द्रवति (स्वाहुतः) सुष्ठु कृताह्वानः सखा (सः) (दुद्रवत्) गच्छति (स्वाहुतः) सुष्ठु निमंत्रितो विद्वान् (सुब्रह्मा) सुष्ठुतया चतुर्वेदवित् (यज्ञः) संगन्तुं योग्यः (सुशमी) सुष्ठु शमादिकर्मा (वसूनाम्) पृथिव्यादीनाम् (देवम्) कमनीयम् (राधः) सुखसाधनं धनम् (जनानाम्) ॥ ३४ ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः स स्वाहुतः सखिवद्दुद्रवत् स स्वाहुतो विद्वानिव दुद्रवत् सुब्रह्मा यज्ञः सुशमीव यो वसूनां जनानां च देवं राधोऽस्ति तं यूयं संप्रयुङ्ग्ध्वम् ॥ ३४ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—यो वेगवानन्येभ्यो वेगप्रदः शान्तिकरः पृथिव्यादीनां प्रकाशकोऽग्निर्वर्त्तते स कथं न विज्ञेयः ? ॥ ३४ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! (सः) वह अग्नि (स्वाहुतः) अच्छे प्रकार बुलाये हुए मित्र के समान (दुद्रवत्) चलता है तथा (सः) वह (स्वाहुतः) अच्छे प्रकार निमंत्रण किये विद्वान् के तुल्य (दुद्रवत्) जाता है (सुब्रह्मा)

अच्छे प्रकार चारों वेदों के ज्ञाता (नक्षः) समागम के योग्य (सुशमी) अच्छे शान्तिशील पुरुष के समान जो (वसूनाम्) पृथिवी आदि वसुओं और (जनानाम्) मनुष्यों का (देवम्) अभीप्सित (राधः) धनरूप है उस अग्नि को तुम लोग उपयोग में लाओ ॥ ३४ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में वाचकलु०—जो वेगवान् अन्य पदार्थों को वेग देने वाला शान्तिकारक पृथिव्यादि पदार्थों का प्रकाशक अग्नि है उसका विचार क्यों न करना चाहिये ॥ ३४ ॥

अग्ने वाजस्येत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । अग्निर्देवता ।
उष्णिक् छन्दः । ऋषभः स्वरः ॥

पुनः स कीदृश इत्याह ॥
फिर वह अग्नि कैसा है यह वि० ॥

अग्ने वाजस्य गोमत ईशानः सहसो यहो ।
अस्मे धेहि जातवेदो महि श्रवः ॥ ३५ ॥

अग्ने । वाजस्य । गोमतइति गोऽमतः । ईशानः । सहसः । यहोइति यहो । अस्मेइत्यस्मे । धेहि । जातवेदइति जातऽवेदः । महि । श्रवः ॥ ३५ ॥

पदार्थः—(अग्ने) विद्वन् (वाजस्य) अन्नस्य (गोमतः) प्रशस्त धेनुपृथिवीयुक्तस्य (ईशानः) साधकः समर्थः (सहसः) बलवतः (यहो) सुसन्तान (अस्मे) अस्मभ्यम् (धेहि) (जातवेदः) जातं विज्ञानं यस्य सः (महि) महत् (श्रवः) धनम् ॥ ३५ ॥

अन्वयः—हे सहसो यहो जातवेदोऽग्ने त्वमग्निरिव वाजस्य गोमत ईशानः सन्नस्मे महि श्रवो धेहि ॥ ३५ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—साधुरीत्योपयुक्तोऽग्निः पुष्कलं धनं प्रयच्छतीति वेद्यम् ॥ ३५ ॥

पदार्थः—हे (सहसः) बलवान् पुरुष के (यहो) सन्तान (जातवेदः) विज्ञान को प्राप्त हुए (अग्ने) तेजस्वी विद्वान् आप अग्नि के तुल्य (गोमतः) प्रशस्त गौ और पृथिवी से युक्त (वाजस्य) अन्न के (ईशानः) स्वामी समर्थ हुए (अस्मे) हमारे लिये (महि) बड़े (श्रवः) धन को (धेहि) धारण कीजिये ॥ ३५ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु०—अच्छी रीति से उपयुक्त किया अग्नि बहुत धन देता है ऐसा जानना चाहिये ॥ ३५ ॥

स इधान इत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । अग्निर्देवता ।
निचृदुष्णिक् छन्दः । ऋषभः स्वरः ॥

पुनः स कीदृश इत्याह ॥
फिर वह कैसा हो यह वि० ॥

स इ॑धा॒नो वसु॑ष्क॒विर॒ग्निरी॒डेन्यो॑ गि॒रा । रे॒वद॒स्मभ्यं॑ पुर्वणीक दीदिहि ॥ ३६ ॥

सः । इ॒धा॒नः । वसुः॑ । क॒विः । अ॒ग्निः । ई॒डेन्यः॑ । गि॒रा । रे॒वत् । अ॒स्मभ्य॑म् । पु॒र्व॒णी॒क॒ । पु॒र्व॒णी॒केति॑ पुरुऽअ॒नीक । दी॒दि॒हि॒ ॥ ३६ ॥

पदार्थः—(सः) पूर्वोक्तः (इधानः) प्रदीप्तः (वसुः) वासयिता (कविः) समर्थः (अग्निः) पावकः (ईडेन्यः) अन्वेषणीयः (गिरा) वाण्या (रेवत्) प्रशस्तधनयुक्तम् (अस्मभ्यम्) (पुर्वणीक) पुरु बहु अनीकं सैन्यं यस्य तत्संबुद्धौ (दीदिहि) प्रकाशय ॥ ३६ ॥

अन्वयः—हे पुर्वणीक विद्वन् स गिरेडेन्यो वसुः कविरिधानः सोऽग्निरिवाऽस्मभ्यं रेवद्दीदिहि प्रकाशय ॥ ३६ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०-विदुषाऽग्निगुणकर्मस्वभावप्रकाशनेन मनुष्येभ्य ऐश्वर्यमुन्नेयम् ॥ ३६ ॥

पदार्थः—हे (पुर्वणीक) बहुत सेना वाले राजपुरुष विद्वान् (गिरा) वाणी से (ईडेन्यः) खोजने योग्य (वसुः) निवास का हेतु (कविः) समर्थ (इधानः) प्रदीप्त (सः) सो पूर्वोक्त (अग्निः) अग्नि के समान (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (रेवत्) प्रशंसित धनयुक्त पदार्थों को (दीदिहि) प्रकाशित कीजिये ॥ ३६ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में वाचकलु०-विद्वान् को चाहिये कि अग्नि के गुण कर्म,और स्वभाव के प्रकाश के तुल्य मनुष्यों के लिये ऐश्वर्य की उन्नति करे॥ ३६ ॥

क्षपो राजन्नित्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । अग्निर्देवता ।

निचृदुष्णिक्छन्दः । ऋषभः स्वरः ॥

पुनः स कीदृश इत्याह ॥

फिर वह कैसा हो यह वि० ॥

क्षपो राजन्नुत त्मनाग्ने वस्तोरुतोषसः ।
स तिग्मजम्भ रक्षसो दह प्रति ॥ ३७ ॥

क्षपः । राजन् । उत । त्मना । अग्ने । वस्तोः । उत । उषसः । सः । तिग्मजम्भेति तिग्मऽजम्भ । रक्षसः । दह । प्रति ॥ ३७ ॥

पदार्थः—(क्षपः) रात्रीः (राजन्) राजमान (उत) (त्मना) आत्मना । अत्र छान्दसो वर्णलोप इत्याकारलोपः (अग्ने) विद्वन् (वस्तोः)

दिनम् (उत) (उषसः) प्रातः सायंसमयान् (सः) उक्तः (तिग्मजम्भ) तिग्मं तीव्रं जम्भो गात्रविनामनं यस्मात्तत्संबुद्धौ (रक्षसः) दुष्टान् (दह) भस्मीकुरु (प्रति) प्रत्यक्षे ॥ ३७ ॥

अन्वयः—हे तिग्मजम्भ राजन्नग्ने स त्वं यथा तीक्ष्णतेजा अग्निः क्षप उत वस्तोरुतोषसो जनयति तथा सुशिक्षां जनय रक्षसस्तम इव तीव्रात्मना प्रति दह ॥ ३७ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—मनुष्यैर्यथा प्रभातस्य दिनस्य रात्रेश्च निमित्तमग्निर्विज्ञायते तथा राजा न्यायप्रकाशस्यान्यायनिवृत्तेश्च हेतुरस्तीति वेद्यम् ॥ ३७ ॥

पदार्थः—हे (तिग्मजम्भः) तीक्ष्ण अवयवों के चलाने वाले (राजन्) प्रकाशमान (अग्ने) विद्वान् जन (सः) सो पूर्वोक्त गुणयुक्त आप जैसे तीक्ष्ण तेजयुक्त अग्नि (क्षपः) रात्रियों (उत) और (वस्तोः) दिन के (उत) ही (उषसः) प्रभात और सायंकाल के प्रकाश को उत्पन्न करता है वैसे (त्मना) तीक्ष्ण स्वभाव युक्त अपने आत्मा से (रक्षसः) दुष्ट जनों को रात्रि के समान (प्रतिदह) निश्चय करके भस्म कीजिये ॥ ३७ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में वाचकलु०—मनुष्यों को चाहिये कि जैसे प्रभात दिन और रात्रि का निमित्त अग्नि को जानते हैं वैसे राजा न्याय के प्रकाश और अन्याय की निवृत्ति का हेतु है ऐसा जानें ॥ ३७ ॥

भद्रो न इत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । अग्निर्देवता ।

निचृदुष्णिक् छन्दः । ऋषभः स्वरः ॥

पुनः स कीदृश इत्युपदिश्यते ॥

फिर वह कैसा हो यह वि० ॥

भद्रो नो॑ अ॒ग्निराहु॑तो भ॒द्रा रा॒तिः सु॑भग भ॒द्रो अ॑ध्व॒रः । भ॒द्रा उ॒त प्रश॑स्तयः ॥ ३८ ॥

भद्रः । नः । अग्निः । आहुतइत्याऽहुतः । भद्रा । रातिः । सुभगेति सुऽभग । भद्रः । अध्वरः । भद्राः । उत । प्रशस्तय इति प्रऽशंस्तयः ॥ ३८ ॥

पदार्थः—(भद्रः) भजनीयः (नः) अस्मभ्यम् (अग्निः) पावकः (आहुतः) संप्रदीप्तो यज्ञ इव (भद्रा) सेवनीया (रातिः) दानम् (सुभग) शोभनैश्वर्य (भद्रः) कल्याणकरः (अध्वरः) अहिंसनीयो व्यवहारः (भद्राः) कल्याणप्रतिपादिकाः (उत) (प्रशस्तयः) प्रशंसाः ॥ ३८ ॥

अन्वयः—हे सुभग विद्वन् यथाऽऽहुतः सन्नग्निर्भद्रो रातिर्भद्राऽध्वरो भद्र उत प्रशस्तयो भद्राः स्युस्तथा त्वं नो भव ॥ ३८ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—मनुष्यैर्यथा विद्यया सुसेविता जगत्स्थाः पदार्थाः सुखकारिणो भवन्ति तथाऽऽप्ता विद्वांसः सन्तीति वेद्यम् ॥ ३८ ॥

पदार्थः—हे (सुभग) सुन्दर ऐश्वर्य वाले विद्वान् पुरुष जैसे (आहुतः) धर्म के तुल्य सेवन किया मित्ररूप (अग्निः) अग्नि (भद्रः) सेवने योग्य (भद्रा) कल्याणकारी (रातिः) दान (भद्रः) कल्याणकारी (अध्वरः) रक्षणीय व्यवहार (उत) और (भद्राः) कल्याण करने वाली (प्रशस्तयः) प्रशंसा होवें वैसे आप (नः) हमारे लिये हूजिये ॥ ३८ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में वाचकलु०—मनुष्यों को योग्य है कि जैसे विद्या से अच्छे प्रकार सेवन किये जगत् के पदार्थ सुखकारी होते हैं वैसे आप्त विद्वान् लोगों को भी जानें ॥ ३८ ॥

भद्रा उतेत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । अग्निर्देवता ।
निचृदुष्णिक् छन्दः । ऋषभः स्वरः ॥

पुनः स विद्वान् कीदृश इत्याह ॥
फिर वह विद्वान् कैसा हो यह वि० ॥

भद्रा उत प्रशंस्तयो भद्रं मनः कृणुष्व वृत्रतूर्य्ये । येना समत्सु सासहः ॥ ३९ ॥

भद्राः । उत । प्रशंस्तयइति प्रऽशंस्तयः । भद्रम् । मनः । कृणुष्व । वृत्रतूर्य्यइति वृत्रऽतूर्य्ये । येन । समत्स्विति समत्ऽसु । सासहः । ससह इति ससहः ॥ ३९ ॥

पदार्थः—(भद्राः) भन्दनीयाः (उत) अपि (प्रशस्तयः) प्रशंसनीयाः प्रजाः (भद्रम्) भन्दनीयं कल्याणकरम् (मनः) मननात्मकम् (कृणुष्व) कुरु (वृत्रतूर्य्ये) संग्रामे (येन) अत्रान्येषामपीति दीर्घः (समत्सु) संग्रामेषु (सासहः) अतिशयेन सोढा ॥ ३९ ॥

अन्वयः—हे सुभग त्वं येन नोऽस्माकं वृत्रतूर्य्ये भद्रं मन उतापि भद्राः प्रशस्तयो येन च समत्सु सासहः स्यात्तत्कृणुष्व ॥ ३९ ॥

भावार्थः—अत्र (सुभग) (नः) इति पदद्वयं पूर्वमन्त्रादनुवर्त्तते । विदुषा राज्ञा तत्कर्मानुष्ठेयं येन प्रजाः सेनाश्चोत्तमाः स्युः ॥ ३९ ॥

पदार्थः—हे (सुभग) शोभन सम्पत्ति वाले पुरुष आप (येन) जिस से हमारे (वृत्रतूर्य्ये) युद्ध में (भद्रम्) कल्याणकारी (मनः) विचारशक्तियुक्त चित्त (उत) और (भद्राः) कल्याण करने हारी (प्रशस्तयः) प्रशंसा के योग्य प्रजा और जिस से (समत्सु) संग्रामों में (सासहः) अत्यन्त सहनशील वीर पुरुष हों वैसा कर्म (कृणुष्व) कीजिये ॥ ३९ ॥

भावार्थः—यहां (सुभग, नः) इन दो पदों की अनुवृत्ति पूर्व मंत्र से आती है । विद्वान् राजा को चाहिये कि ऐसे कर्म का अनुष्ठान करे जिस से प्रजा और सेना उत्तम हों ॥ ३९ ॥

येनेत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । अग्निर्देवता ।

निचृदुष्णिक् छन्दः । ऋषभः स्वरः ॥

पुनः स कीदृश इत्याह ॥

फिर वह कैसा हो यह वि० ॥

येना॑ स॒मत्सु॑ सा॒सहोऽव॑ स्थि॒रा त॑नु॒हि भूरि॒ शर्ध॑ताम् । व॒नेमा॑ ते अ॒भिष्टि॑भिः ॥ ४० ॥

येन॑ । स॒मत्स्विति॑ स॒मत्ऽसु॑ । सा॒सहः॑ । स॒सह॒ इति॑ स॒सहः॑ । अव॑ । स्थि॒रा । त॒नु॒हि । भूरि॑ । शर्ध॑ताम् । व॒नेम॑ । ते॒ । अ॒भिष्टि॑भि॒रित्य॒भिष्टि॑ऽभिः ॥ ४० ॥

पदार्थः—(येन) अत्र संहितायामिति दीर्घः (समत्सु) संग्रामेषु (सासहः) भृशं सोढा (अव) (स्थिरा) स्थिराणि सैन्यानि (तनुहि) विस्तृणु (भूरि) बहु (शर्धताम्) बलं कुर्वताम् । बलवाचिशर्धशब्दात्करोत्यर्थे क्विप् ततः शतृ (वनेम) संभजेम । अत्र संहितायामिति दीर्घः (ते) तव (अभिष्टिभिः) इष्टाभिरिच्छाभिः ॥ ४० ॥

अन्वयः—हे सुभग येन त्वं समत्सु सासहः स्या तत्र त्वं भूरि शर्धतामस्माकं स्थिराऽवतनुहि तेऽभिष्टिभिः सह वर्त्तमाना वयं तानि वनेम ॥ ४० ॥

भावार्थः—अत्रापि (सुभग) (नः) इति पदद्वयं पूर्वतोऽनुवर्त्तते । विद्वद्भिर्बहुबलयुक्तानां वीराणां नित्यमुत्साहो वर्धनीयः । येनोत्साहिताः सन्तो राजप्रजाहितानि कर्माणि कुर्युः ॥ ४० ॥

पदार्थः—हे (सुभग) सुन्दर लक्ष्मीयुक्त पुरुष आप (येन) जिस के प्रताप से हमारे (समत्सु) युद्धों में (सासहः) शीघ्र सहना हो सब को तथा (भूरि) बहुत प्रकार (शर्धताम्) बल करते हुए हमारे (स्थिरा) स्थिर सेना के साधनों का (अवतनुहि) अच्छे प्रकार बढ़ाइये (ते) आप की (अभिष्टिभिः) इच्छाओं के अनुसार वर्त्तमान हम लोग उस सेना के साधनों का (वनेम) सेवन करें ॥ ४० ॥

भावार्थः—यहां भी (सुभग, नः) इन दोनों पदों की अनुवृत्ति आती है विद्वानों को उचित है कि बहुत बलयुक्त वीर पुरुषों का उत्साह नित्य बढ़ावें जिससे ये लोग उत्साही हुए राज और प्रजा के हितकारी काम किया करें ॥४०॥

अग्निं तमित्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । अग्निर्देवता ।
निचृत्पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

पुनः स किं कुर्य्यादित्याह ॥
फिर वह क्या करे यह वि० ॥

अग्निं तं मन्ये यो वसुरस्तं यं यन्ति धेनवः । अस्तमर्वन्त आशवोऽस्तं नित्यासो वाजिन इषꣳ स्तोतृभ्य आ भर ॥ ४१ ॥

अग्निम् । तम् । मन्ये । यः । वसुः । अस्तम् । यम् । यन्ति । धेनवः । अस्तम् । अर्वन्तः । आशवः । अस्तम् । नित्यासः । वाजिनः । इषम् । स्तोतृभ्य इति स्तोतृऽभ्यः । आ । भर ॥ ४१ ॥

पदार्थः—(अग्निम्) (तम्) पूर्वोक्तम् (मन्ये) (यः) (वसुः) सर्वत्र निवसता (अस्तम्) गृहम् (यम्) (यन्ति) गच्छन्ति (धेनवः) गावः (अस्तम्) गृहम् (अर्वन्तः) अश्वाः (आशवः) आशुगामिनः (अस्तम्) (नित्यासः) कारणरूपेणाविनाशिनः (वाजिनः) वेगवन्तः (इषम्) अन्नादिकम् (स्तोतृभ्यः) स्तावकेभ्यः विद्वद्भ्यः (आभर) ॥४१॥

अन्वयः—हे विद्वन् यो वसुरस्ति यमग्निं धेनवोऽस्तं यन्तीव नित्यासो वाजिन आशवोऽर्वन्तोऽस्तमिवाहं तं मन्ये स्तोतृभ्य इषमाभरामि तथैव त्वं तमग्निमस्तं मन्यस्वेषं चाभर ॥ ४१ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०-विद्यार्थिनः प्रत्यध्यापक एवं वदेयुयदस्माचरेयं तथा यूयमप्याचरत यथा गवादयः पशवः इतस्ततो दिने भ्रान्त्वा सायं स्वगृहं प्राप्य मोदन्ते तथैव विद्यागृहं प्राप्य यूयमपि मोदध्वम् ॥ ४१ ॥

पदार्थः—हे विद्वान् पुरुष (यः) जो (वसुः) सर्वत्र रहने वाला अग्नि है (यम्) जिस (अग्निम्) प्राणी के समान अग्नि को (धेनवः) गौ (अस्तम्) घर को (यन्ति) जाती हैं तथा जैसे (नित्यासः) कारणरूप से विनाशरहित (वाजिनः) वेग वाले (आशवः) शीघ्रगामी (अर्वन्तः) घोड़े (अस्तम्) घर को प्राप्त होते हैं वैसे मैं (तम्) उस पूर्वोक्त अग्नि को (मन्ये) मानता हूं और (स्तोतृभ्यः) स्तुतिकारक विद्वानों के लिये (इषम्) अच्छे अन्नादि पदार्थों को धारण करता हूं वैसे ही तू उस अग्नि को (आभर) धारण कर ॥ ४१ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु०-अध्यापक लोग विद्यार्थियों के प्रति ऐसा कहें कि जैसे हम लोग आचरण करें वैसा तुम भी करो। जैसे गौ आदि पशु दिन में इधर उधर भ्रमण कर सायंकाल अपने घर आके प्रसन्न होते हैं वैसे विद्या के स्थान को प्राप्त होके तुम भी प्रसन्न हुआ करो ॥ ४१ ॥

सो अग्निरित्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । अग्निर्देवता ।
आर्षी पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

पुनः सः कीदृश इत्युपदिश्यते ॥
फिर वह कैसा है यह वि० ॥

सो अग्निर्यो वसुंर्गृणे सं यमायन्ति धेनवः । समर्वन्तो रघुद्रुवः सश्सुंजातासः सूरयः इषःस्तोतृभ्य आभर ॥ ४२ ॥

सः । अग्निः । यः । वसुः । गृणे । सम् । यम् । आयन्तीत्याऽयन्ति । धेनवः । सम् । अर्वन्तः । रघुद्रुव इति रघुऽ-

द्रुवः । सम् । सुजातास इति सुऽजातासः । सूरयः । इषम् । स्तोतृभ्य इति स्तोतृऽभ्यः । आ । भर ॥ ४२ ॥

पदार्थः—(सः) (अग्निः) (यः) (वसुः) (गृणे) स्तुवे (सम्) (यम्) (आयन्ति) (धेनवः) वाण्यः (सम्) (अर्वन्तः) प्रशस्तविज्ञानवन्तः (रघुद्रुवः) ये रघु लघु द्रवन्ति गच्छन्ति ते । अत्र कपिलकादित्वाल्लत्वम् (सम्) (सुजातासः) विद्यासु सुष्ठु जाताः प्रसिद्धाः (सूरयः) विद्वांसः (इषम्) ज्ञानम् (स्तोतृभ्यः) स्तावकेभ्यो विद्यार्थिभ्यः (आ) (भर) ॥ ४२ ॥

अन्वयः—हे विद्वन् यथाऽहं यो वसुरग्निरस्ति तं गृणे यं धेनवः समायन्ति रघुद्रुवोऽर्वन्तः सुजातासः सूरयः स्तोतृभ्य इषं समाभरन्ति स स्तौति च तथा त्वमेतानि समाभर ॥ ४२ ॥

भावार्थः—अध्यापका यथा धेनवो वत्सान् प्रीणयन्ति तथा विद्यार्थिन आनन्दयेयुः । यथाऽश्वाः शीघ्रं गमयन्ति तथा सर्वविद्यापारगान् कुर्युः ॥ ४२ ॥

पदार्थ—हे विद्यार्थी विद्वान् पुरुष जैसे मैं (यः) जो (वसुः) निवास का हेतु (अग्निः) अग्नि है उस की (गृणे) अच्छे प्रकार स्तुति करता हूं (यम्) जिस को (धेनवः) वाणी (समायन्ति) अच्छे प्रकार प्राप्त होती हैं और (रघुद्रुवः) धीरज से चलने वाले (अर्वन्तः) प्रशंसित ज्ञानी (सुजातासः) अच्छे प्रकार विद्याओं में प्रसिद्ध (सूरयः) विद्वान् लोग (स्तोतृभ्यः) स्तुति करने हारे विद्यार्थियों के लिये (इषम्) ज्ञान को (सम्) अच्छे प्रकार धारण करते हैं और जैसे (सः) वह पढ़ानेहारा ईश्वरादि पदार्थों के गुण वर्णन करता है वैसे तू भी इन पूर्वोक्तों को (समाभर) ज्ञान से धारण कर ॥ ४२ ॥

भावार्थः—अध्यापकों को चाहिये कि जैसे गौ अपने बछड़ों को तृप्त करती हैं वैसे विद्यार्थियों को प्रसन्न करें और जैसे घोड़े शीघ्र चला के पहुंचाते हैं वैसे विद्यार्थियों को सब विद्याओं के पार शीघ्र पहुंचावें ॥ ४२ ॥

उभे इत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । अग्निर्देवता ।
निचृत्पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

पुनः सा किं कुर्यादित्याह ॥
फिर वह क्या करे यह वि० ॥

उभे सुश्चन्द्र सर्पिषो दर्वी श्रीणीष आसनि । उतो न उत्पुपूर्या उक्थेषु शवसस्पत इषंस्तोतृभ्य आ भर ॥ ४३ ॥

उभेइत्युभे । सुश्चन्द्र । सुचन्द्रेति सुऽचन्द्र । सर्पिषः । दर्वी इति दर्वी । श्रीणीषे । आसनि । उतोइत्युतो । नः । उत् । पुपूर्याः । उक्थेषु । शवसः । पते । इषम् । स्तोतृभ्य इति स्तोतृऽभ्यः । आ । भर ॥ ४३ ॥

पदार्थः—(उभे) द्वे अध्ययनाध्यापनक्रिये (सुश्चन्द्र) शोभनश्चासौ चन्द्र आह्लादकारकश्च तत्सम्बुद्धौ (सर्पिषः) घृतस्य (दर्वी) ग्रहणाग्रहणसाधने (श्रीणीषे) पचसि (आसनि) आस्ये (उतो) अपि (नः) अस्मभ्यम् (उत्) (पुपूर्याः) पूर्णं कुर्याः (उक्थेषु) वक्तुं श्रोतुमर्हेषु वेदविभागेषु (शवसः) बलस्य (पते) पालक (इषम्) अन्नम् (स्तोतृभ्यः) विद्वद्भ्यः (आ) (भर) ॥ ४३ ॥

अन्वयः—हे सुश्चन्द्र त्वं सर्पिषो दर्वी श्रीणीष इवासन्युभे आ भर । हे शवसस्पते त्वमुक्थेषु नोऽस्मभ्यमुतो अपि स्तोतृभ्य इषं चोत्पुपूर्याः ॥ ४३ ॥

भावार्थः—यथर्त्विजो घृतं संशोध्य दर्व्याऽग्नौ हुत्वा वायुवृष्टिजले रोगनाशके कृत्वा सर्वान् सुखयन्ति । तथैवाध्यापका विद्यार्थिमनांसि सुशि-

त्या संशोध्य तत्र विद्या हुत्वाऽऽत्मनः पवित्रीकृत्य सर्वान् प्राणिनः सुख-येयुः ॥ ४३ ॥

पदार्थः—हे (सुश्चन्द्र) सुन्दर आनन्ददाता अध्यापक पुरुष आप (सर्पिषः) घी के (दर्वी) चलाने पकड़ने की दो कर्छी से (श्रीणीषे) पकाने के समान (आसनि) मुख में (उभे) पढ़ने पढ़ाने की दो क्रियाओं को (आ-भर) धारण कीजिये । हे (शवसः) बल के (पते) रक्षकजन तू (उक्थेषु) कहने सुनने योग्य वेदविभागों में (नः) हमारे (उतो-) और (स्तोतृभ्यः) विद्वानों के लिये (इषम्) अन्नादि पदार्थों को (उत्पुपूर्याः) उत्कृष्टता से पूरण कर ॥ ४३ ॥

भावार्थः—जैसे ऋत्विज् लोग घृत को शोध कर्छी से अग्नि में होम कर और वायु तथा वर्षाजल को रोगनाशक करके सब को सुखी करते हैं वैसे ही अध्यापक लोगों को चाहिये कि विद्यार्थियों के मन अच्छी शिक्षा से शोध कर उन को विद्यादान देके आत्माओं को पवित्र कर सब को सुखी करें ॥ ४३ ॥

अग्ने तमित्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । अग्निर्देवता ।
आर्षी गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनः सा कीदृशा स्यादित्याह ॥
फिर वह कैसा हो यह वि० ॥

अग्ने॒ तम॒द्याश्वं॒ न स्तोमैः॒ क्रतुं॒ न भ॒द्रꣳ हृ॑दि॒-स्पृश॑म् । ऋ॒ध्यामा॑ त॒ ओहैः॑ ॥ ४४ ॥

अग्ने॑ । तम् । अ॒द्य । अश्व॑म् । न । स्तोमैः॑ । क्रतु॑म् । न । भ॒द्रम् । हृ॒दि॒स्पृश॒मिति॑ हृदि॒ऽस्पृश॑म् । ऋ॒ध्याम॑ । ते॒ । ओहैः॑ ॥ ४४ ॥

पदार्थः—(अग्ने) अध्यापक (तम्) विद्याबोधम् (अद्य) अस्मिन् वर्त्तमाने समये (अश्वम्) सुशिक्षितं तुरङ्गम् (न) इव (स्तोमैः) विद्यास्तुतिविशेषैर्वेदभागैः (क्रतुम्) प्रज्ञानम् (न) इव (भद्रम्) कल्याणकरं (हृदिस्पृशम्) यो हृद्यात्मनि स्पृशति तम् (ऋध्याम) वर्धेमहि । अत्रान्येषामपीति दीर्घः (ते) तव सकाशात् (ओहैः) विद्यासुखप्रापकैः ॥ ४४ ॥

अन्वयः—हे अग्नेऽध्यापक वयं ते तव सकाशादोहैः स्तोमैरद्याश्वं न भद्रं क्रतुं न तं हृदिस्पृशं प्राप्य सततमृध्याम ॥ ४४ ॥

भावार्थः—अत्रोपमालङ्कारौ । अध्येतारो यथा सुशिक्षितेनाश्वेन सद्योऽभीष्टं स्थानं गच्छन्ति यथा विद्वांसः सर्वशास्त्रबोधसंपन्नया कल्याणकर्या प्रज्ञया धर्मार्थकाममोक्षान् प्राप्नुवन्ति तथा तेभ्योऽध्यापकेभ्यो विद्यापारं गत्वा प्रशस्तां प्रज्ञां प्राप्य स्वयं वर्धेरन्नन्यांश्च वेदाध्यापनोपदेशाभ्यां वर्धयेयुः ॥ ४४ ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) अध्यापक जन हम लोग (ते) आप से (ओहैः) विद्या का सुख देने वाले (स्तोमैः) विद्या की स्तुति रूप वेद के भागों से (अद्य) आज (अश्वम्) घोड़े के (न) समान (भद्रम्) कल्याणकारक (क्रतुम्) बुद्धि के (न) समान (तम्) उस (हृदिस्पृशम्) आत्मा के साथ सम्बन्ध करने वाले विद्याबोध को प्राप्त हो के निरन्तर (ऋध्याम) वृद्धि को प्राप्त हों ॥ ४४ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में दो उपमालंकार हैं। अध्येता लोगों को चाहिये कि जैसे अच्छे शिक्षित घोड़े से अभीष्ट स्थान में शीघ्र पहुंच जाते हैं जैसे विद्वान् लोग सब शास्त्रों के बोध से युक्त कल्याण करने हारी बुद्धि से धर्म अर्थ काम और मोक्ष फलों को प्राप्त होते हैं वैसे उन अध्यापकों से पूर्ण विद्या पढ़ प्रशंसित बुद्धि को पा के आप उन्नति को प्राप्त हों तथा वेद के पढ़ाने और उपदेश से अन्य सब मनुष्यों की भी उन्नति करें ॥ ४४ ॥

अथाङ्गिरसस्य परमेष्ठी ऋषिः । अग्निर्देवता । भुरिगार्षी
गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनः स कीदृशः स्यादित्याह ॥

फिर वह कैसा हो यह वि० ॥

अधा॒ह्य॑ग्ने॒ क्रतो॑र्भ॒द्रस्य॒ दक्ष॑स्य सा॒धोः । र॒थीर्ऋ॒तस्य॑ बृह॒तो ब॒भूथ॑ ॥ ४५ ॥

अध॑ । हि । अ॒ग्ने॒ । क्रतोः॑ । भ॒द्रस्य॑ । दक्ष॑स्य । सा॒धोः । र॒थीः । ऋ॒तस्य॑ । बृ॒ह॒तः । ब॒भूथ॑ ॥ ४५ ॥

पदार्थः—(अध) अथ मङ्गले । अत्र निपातस्य चेति दीर्घः । वर्णव्यत्ययेन थस्य धश्च (हि) खलु (अग्ने) विद्वन् (क्रतोः) प्रज्ञायाः (भद्रस्य) आनन्दकरस्य (दक्षस्य) शरीरात्मबलयुक्तस्य (साधोः) सन्मार्गे वर्त्तमानस्य (रथीः) प्रशस्ता रथा रमणसाधनानि यानानि विद्यन्ते यस्य सः (ऋतस्य) प्राप्तसत्यस्य (बृहतः) महाविषयस्य (बभूथ) भवेः ॥ ४५ ॥

अन्वयः—हे अग्ने यथा त्वं भद्रस्य दक्षस्य साधोर्ऋतस्य बृहतः क्रतोः सकाशाद्रथीर्बभूथ तथाऽध हि वयमपि भवेम ॥ ४५ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—यथा शास्त्रयोगजां श्रियं प्राप्य विद्वांसो वर्धन्ते तथैवाध्येतृभिरपि वर्धितव्यम् ॥ ४५ ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) विद्वन् जन जैसे तू (भद्रस्य) आनन्दकारक (दक्षस्य) शरीर और आत्मा के बल से युक्त (साधोः) अच्छे मार्ग में प्रवर्त्तमान (ऋतस्य) सत्य को प्राप्त हुए पुरुष की (बृहतः) बड़े विषय वा ज्ञानरूप (क्रतोः) बुद्धि से (रथीः) प्रशंसित रमणसाधन यानों से युक्त (बभूथ) हूजिये वैसे (अध) मंगलाचरणपूर्वक (हि) निश्चय करके हम भी होवें ॥ ४५ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में वाचकलु०—जैसे शास्त्र और योग से उत्पन्न हुई बुद्धि को प्राप्त हो के विद्वान् लोग पढ़ते हैं वैसे ही अध्येता लोगों को भी पढ़ना चाहिये ॥ ४५ ॥

एभिर्न इत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । अग्निर्देवता ।
भुरिगार्षी गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥
फिर भी वही वि० ॥

एभिर्नो अर्कैर्भवा नो अर्वाङ् स्वर्ण ज्योतिः । अग्ने विश्वेभिः सुमना अनीकैः ॥ ४६ ॥

एभिः । नः । अर्कैः । भवं । नः । अर्वाङ् । स्वः । न । ज्योतिः । अग्ने । विश्वेभिः । सुमनाइति सुऽमनाः । अनीकैः ॥ ४६ ॥

पदार्थः—(एभिः) पूर्वोक्तैः (नः) अस्मभ्यम् (अर्कैः) पूज्यैर्विद्वद्भिः (भव) द्व्यचोऽतस्तिङ इति दीर्घः (नः) अस्मभ्यम् (अर्वाङ्) योऽर्वाचीनानत्युत्कृष्टादुत्कृष्टान् कर्तुमञ्चति जानाति सः (स्वः) सुखम् (न) इव (ज्योतिः) प्रकाशकः (अग्ने) विद्याप्रकाशाढ्य (विश्वेभिः) समग्रैः (सुमनाः) सुखकारिमनाः (अनीकैः) सैन्यैरिव ॥ ४६ ॥

अन्वयः—हे अग्ने त्वं नोऽस्मभ्यं विश्वेभिरनीकै राजेव सुमना भव । एभिरर्कैर्नोऽस्मभ्यं ज्योतिरर्वाङ् स्वर्न भव ॥ ४६ ॥

भावार्थः—अत्रोपमावाचकलु०—यथा राजा सुशिक्षितैर्वीरादिभिः सैन्यैः शत्रून् जित्वा सुखी भवति तथैव मद्यादिभिर्गुणैरविद्याक्लेशान् जित्वा मनुष्याः सुखिनः सन्तु ॥ ४६ ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) विद्याप्रकाश से युक्त पुरुष आप (नः) हमारे लिये (विश्वेभिः) सब (अनीकैः) सेनाओं के सहित राजा के तुल्य (सुमनाः) मन से सुखदाता (भव) हूजिये (एभिः) इन पूर्वोक्त (अर्कैः) पूजा के योग्य विद्वानों के सहित (नः) हमारे लिये (ज्योतिः) ज्ञान के प्रकाशक (अर्वाङ्) नीचों को उत्तम करने को जानने वाले (स्वः) सुख के (न) समान हूजिये॥४६॥

भावार्थः—इस मन्त्र में उपमा और वाचकलु०—जैसे राजा अच्छी शिक्षा बलयुक्त सेनाओं से शत्रुओं को जीत के सुखी होता है वैसे ही बुद्धि आदि गुणों से अविद्या से हुए क्लेशों को जीत के मनुष्य लोग सुखी होवें ॥ ४६ ॥

अग्निᳬं होतारमित्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । अग्निर्देवता ।
विराड् ब्राह्मी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥
फिर वही विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

अ॒ग्निᳬं होता॑रं मन्ये॒ दास्व॑न्तं॒ वसु॑ᳬं सू॒नुᳬं सह॑सो जा॒तवे॑दस॒ं विप्रं॒ न जा॒तवे॑दसम् । य ऊ॒र्ध्वया॑ स्वध्व॒रो दे॒वो दे॒वाच्या॑ कृ॒पा । घृ॒तस्य॒ विभ्रा॑ष्टि॒मनु॑ वष्टि शो॒चिषा॒जुह्वा॑नस्य स॒र्पिषः॑ ॥ ४७॥

अ॒ग्निम् । होता॑रम् । म॒न्ये॒ । दास्व॑न्तम् । वसु॑म् । सू॒नुम् । सह॑सः । जा॒तवे॑दस॒मिति॑ जा॒तऽवे॑दसम् । विप्र॑म् । न । जा॒तवे॑दस॒मिति॑ जा॒तऽवे॑दसम् । यः । ऊ॒र्ध्वया॑ । स्व॒ध्व॒र इति॑ सुऽअ॒ध्व॒रः । दे॒वः । दे॒वाच्या॑ । कृ॒पा । घृ॒तस्य॑ । विभ्रा॑ष्टि॒मिति॒ विऽभ्रा॑ष्टिम् । अनु॑ । व॒ष्टि॒ । शो॒चिषा॑ । आ॒जुह्वा॑न॒स्येत्या॒ऽजुह्वा॑नस्य । स॒र्पिषः॑ ॥ ४७ ॥

पदार्थः—(अग्निम्) (होतारम्) सुखदातारम् (मन्ये) सत्करोमि (दास्वन्तम्) दातारम् (वसुम्) धनप्रदम् (सूनुम्) पुत्रमिव (सहसः) बलिष्ठस्य (जातवेदसम्) सर्वेषु जातेषु पदार्थेषु विद्यमानम् (विप्रम्) आप्तं मेधाविनम् (न) इव (जातवेदसम्) प्रसिद्धप्रज्ञम् (यः) (ऊर्ध्वया) उपरिगतया (स्वध्वरः) शोभनकारित्वाद्‌हिंसनीयः (देवः) दिव्यगुणः (देवाच्या) देवानञ्चति तया (कृपा) समर्थया क्रियया (घृतस्य) उदकस्य (विभ्राष्टिम्) विविधा भ्राष्टयः प्रकाशनानि यस्मिंस्तम् (अनु) (वष्टि) प्रकाशते (शोचिषा) दीप्त्या (आजुह्वानस्य) समन्ताद्धूयमानस्य (सर्पिषः) आज्यस्य ॥ ४७ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या य ऊर्ध्वया स्वध्वरो देवाच्या कृपा देवः शोचिषाऽऽजुह्वानस्य सर्पिषो घृतस्य विभ्राष्टिमनुवष्टि तं होतारं जातवेदसं सहसः सूनुमिव वसुं दास्वन्तं जातवेदसमग्निं विप्रं न यथाऽहं मन्ये तथा यूयमपि मन्यध्वम् ॥ ४७ ॥

भावार्थः—अत्रोपमावाचकलु०—यथा सुसेविता विद्वांसो विद्याधर्मसुशिक्षाभिः सर्वानर्थान् संपादयन्ति तथा युक्त्या संवितोऽग्निः स्वगुणकर्मस्वभावैः सर्वानुन्नयति ॥ ४७ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! (यः) जो (ऊर्ध्वया) ऊर्ध्वगति के साथ (स्वध्वरः) शुभ कर्म करने से अहिंसनीय (देवाच्या) विद्वानों के सत्कार के हेतु (कृपा) समर्थ क्रिया से (देवः) दिव्य गुणों वाला पुरुष (शोचिषा) दीप्ति के साथ (आजुह्वानस्य) अच्छे प्रकार हवन किये (सर्पिषः) घी और (घृतस्य) जल के प्रकाशक (विभ्राष्टिम्) विविध प्रकार की ज्योतियों को (अनुवष्टि) प्रकाशित करता है उस (होतारम्) सुख के दाता (जातवेदसम्) उत्पन्न हुए सब पदार्थों में विद्यमान (सहसः) बलवान् पुरुष के (सूनुम्) पुत्र के समान (वसुम्) धनदाता (दास्वन्तम्) दानशील (जातवेदसम्) बुद्धिमानों में प्रसिद्ध (अग्निम्) तेजस्वी अग्नि के (न) समान (विप्रम्) आप्त ज्ञानी का मैं (मन्ये) सत्कार करता हूं वैसे तुम लोग भी उस को मानो ॥ ४७ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में उपमा और वाचकलु०–जैसे अच्छे प्रकार सेवन किये विद्वान् लोग विद्या धर्म और अच्छी शिक्षा से सब को आर्य करते हैं वैसे युक्ति से सेवन किया अग्नि अपने गुण कर्म और स्वभावों से सब के सुख की उन्नति करता है ॥ ४७ ॥

अग्ने त्वन्न इत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । अग्निर्देवता ।
स्वराड्ब्राह्मी बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥
फिर भी वही विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

अग्ने त्वन्नो अन्तम उत त्राता शिवो भवावरूथ्यः । वसुरग्निर्वसुश्रवा अच्छा नक्षि द्युमत्तमꣳरयिन्दाः । तं त्वा शोचिष्ठ दीदिवः सुम्नाय नूनमीमहे सखिभ्यः ॥ ४८ ॥

अग्ने । त्वम् । नः । अन्तमः । उत । त्राता । शिवः । भव । वरूथ्यः । वसुः । अग्निः । वसुश्रवा इति वसुऽश्रवाः । अच्छ । नक्षि । द्युमत्तममिति द्युमत्ऽतमम् । रयिम् । दाः । तम् । त्वा । शोचिष्ठ । दीदिव इति दीदिऽवः । सुम्नाय । नूनम् । ईमहे । सखिभ्य इति सखिऽभ्यः ॥ ४८ ॥

पदार्थः—(अग्ने) विद्वन् (त्वम्) (नः) अस्माकम् (अन्तमः) अतिशयेनान्तिकः । अन्तमानामित्यन्तिकना० । निघं० २ । १६ । (उत) अपि (त्राता) रक्षकः (शिवः) मङ्गलकारी (भव) द्व्यचोऽतस्तिङ इति दीर्घः (वरूथ्यः) वरः (वसुः) धनप्रदः (अग्निः) मापकः (वसुश्रवाः)

वसूनि धनानि श्रवांस्यन्नानि च यस्मात्सः (अच्छ) अत्र संहितायामिति दीर्घः (नक्षि) प्राप्नोमि । अत्र णक्ष गताविस्यस्माल्लडुत्तमैकवचनेऽड्विकरणयोरभावः (द्युमत्तमम्) प्रशस्ता दिवः प्रकाशा कामना वा विद्यन्ते यस्मिन् सोऽतिशयितस्तम् (रयिम्) धनम् (दाः) ददाति । अत्राऽडभावः (तम्) (त्वा) त्वाम् (शोचिष्ठ) अतिशयेन तेजस्विन् (दीदिवः) ये दीदयन्ति ते दीदयः प्रकाशास्ते बहवो विद्यन्ते यस्मिन् तत्सम्बुद्धौ (सुम्नाय) सुखाय (नूनम्) निश्चितम् (ईमहे) याचामहे (सखिभ्यः) मित्रेभ्यः ॥ ४८ ॥

अन्वयः—हे अग्ने त्वं यथाऽयं वसुर्वसुश्रवा अग्नी रयिन्दा ददाति तथा नोऽस्माकमन्तमस्त्राता वरूथ्य उतापि शिवो भव । हे शोचिष्ठ दीदिवो विद्वन् यथा वयं त्वा सखिभ्यः सुम्नाय नूनमीमहे तथा तं त्वां सर्वे मनुष्या याचन्ताम् । यथाऽहं द्युमत्तमं त्वामच्छ नक्षि प्राप्नोमि तथात्वमस्मान्प्राप्नुहि ॥ ४८ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—यथा सुहृदो मित्राणीच्छन्त्युन्नयन्ति तथा विद्वान् सर्वस्य मित्रः सर्वान्सुखिनः सम्पादयेत् ॥ ४८ ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) विद्वान् (त्वम्) आप जैसे यह (वसुः) धनदाता (वसुश्रवाः) अन्न और धन का हेतु (अग्निः) अग्नि (रयिम्) धन को (दाः) देता है वैसे (नः) हमारे (अन्तमः) अत्यन्त समीप (त्राता) रक्षक (वरूथ्यः) श्रेष्ठ (उत) और (शिवः) मंगलकारी (भव) हूजिये हे (शोचिष्ठ) अतितेजस्वी (दीदिवः) बहुत प्रकाशों से युक्त वा कामना वाले विद्वान् जैसे हम लोग (त्वा) तुझ को (सखिभ्यः) मित्रों से (सुम्नाय) सुख के लिये (नूनम्) निश्चय (ईमहे) मांगते हैं वैसे (तम्) उस तुझ को सब मनुष्य चाहें जैसे मैं (द्युमत्तमम्) प्रशंसित प्रकाशों से युक्त तुझ को (अच्छ) अच्छे प्रकार (नक्षि) प्राप्त होता हूं वैसे तू हम को प्राप्त हो ॥ ४८ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में वाचकलु०—जैसे मित्र अपने मित्रों को चाहते और उन की उन्नति करते हैं वैसे विद्वान् सब का मित्र सब को सुख देवे ॥४८॥

येन ऋषय इत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः। अग्निर्देवता॥
आर्षी त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

पुनस्तमेव विषयमाह॥
फिर भी उसी विषय को अगले मन्त्र में कहा है॥

येन॒ ऋष॑यस्तप॑सा स॒त्रमाय॒न्निन्धा॑ना अ॒ग्निꣳ स्व॑रा॒भर॑न्तः। तस्मि॑न्न॒हं नि द॑धे॒ नाके॑ अ॒ग्निं यमा॒हुर्मन॑वस्ती॒र्णब॑र्हिषम्॥ ४९॥

येन॑। ऋष॑यः। तप॑सा। स॒त्रम्। आ॒यन्। इन्धा॑नाः। अ॒ग्निम्। स्वः॑। आ॒ऽभर॑न्तः। तस्मि॑न्। अ॒हम्। नि। द॒धे॒। नाके॑। अ॒ग्निम्। यम्। आ॒हुः। मन॑वः। स्ती॒र्णब॑र्हि॒ष॒मिति॑ स्ती॒र्णऽब॑र्हिषम्॥ ४९॥

पदार्थः—(येन) कर्मणा (ऋषयः) वेदार्थवेत्तारः (तपसा) धर्मानुष्ठानेन (सत्रम्) सत्रा सत्यं विद्यते यस्मिन् विज्ञाने तत् (आयन्) प्राप्नुयुः (इन्धानाः) प्रकाशमानाः (अग्निम्) विद्युदादिम् (स्वः) सुखं (आभरन्तः) समन्ताद्धरन्तः (तस्मिन्) (अहम्) (निदधे) (नाके) अविद्यमानदुःखे सुखे प्राप्तव्ये सति (अग्निम्) उक्तम् (यम्) (आहुः) वदन्ति (मनवः) मननशीला विद्वांसः (स्तीर्णबर्हिषम्) स्तीर्णमाच्छादितं बर्हिरन्तरिक्षं येन तम्॥ ४९॥

अन्वयः—येन तपसेन्धानाः स्वराभरन्त ऋषयः सत्रमग्निमायंस्तस्मिन्नाके मनवो यं स्तीर्णबर्हिषमग्निमाहुस्तमहं निदधे॥ ४९॥

भावार्थः—येन प्रकारेण वेदपारगाः सत्यमनुष्ठाय विद्युदादिपदार्थान् सम्प्रयुज्य समर्था भवन्ति तेनैव मनुष्यैः समृद्धियुक्तैर्भवितव्यम्॥ ४९॥

पदार्थः—(येन) जिस (तपसा) धर्मानुष्ठानरूप कर्म से (इन्धानाः) प्रकाशमान (स्वः) सुख को (आभरन्तः) अच्छे प्रकार धारण करते हुए (ऋषयः) वेद का अर्थ जानने वाले ऋषि लोग (प्रथम्) सत्य विज्ञान से युक्त (अग्निम्) विद्युत् आदि अग्नि को (आयन्) प्राप्त हों (तस्मिन्) उस कर्म के होते (नाके) दुःखरहित प्राप्त होने योग्य सुख के निमित्त (मनवः) विचारशील विद्वान् लोग (यम्) जिस (स्तीर्णबर्हिषम्) आकाश को आच्छादन करने वाले (अग्निम्) अग्नि को (आहुः) कहते हैं उस को (अहम्) मैं (नि, दधे) धारण करता हूं ॥ ४९ ॥

भावार्थः—जिस प्रकार से वेदपारग विद्वान् लोग सत्य का अनुष्ठान कर बिजुली आदि पदार्थों को उपयोग में लाके समर्थ होते हैं वैसे प्रकार मनुष्यों को समृद्धियुक्त होना चाहिये ॥ ४९ ॥

तं पत्नीभिरित्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । अग्निर्देवता ।
भुरिगार्षी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

विद्वद्भिः कथं भवितव्यमित्याह ॥
विद्वानों को कैसा होना चाहिये यह वि० ॥

तं पत्नी॑भि॒रनु॑ गच्छेम देवाः पु॒त्रैर्भ्रातृ॑भिरु॒त वा॒ हिर॑ण्यैः । नाकं॑ गृभ्णा॒नाः सु॑कृ॒तस्य॑ लो॒के तृ॒तीये॑ पृ॒ष्ठे अधि॑ रोच॒ने दि॒वः ॥ ५० ॥

तम् । पत्नी॑भिः । अनु॑ । ग॒च्छे॒म॒ । दे॒वाः॒ । पु॒त्रैः । भ्रातृ॑भि॒रिति॒ भ्रातृ॑ऽभिः । उ॒त । वा॒ । हिर॑ण्यैः । नाक॑म् । गृ॒भ्णा॒नाः । सु॒कृ॒तस्येति॑ सुऽकृ॒तस्य॑ । लो॒के । तृ॒तीये॑ । पृ॒ष्ठे । अधि॑ । रो॒च॒ने । दि॒वः ॥ ५० ॥

पदार्थः—(तम्) अग्निम् (पत्नीभिः) स्वस्त्रीभिः (अनु) (गच्छेम) (देवाः) विद्वांसः (पुत्रैः) वृद्धावस्थाजन्यदुःखात्त्रातृभिः (भ्रातृभिः) बन्धुभिः (उत) (वा) अन्यैरनुक्तैः सम्बन्धिभिः (हिरण्यैः) सुवर्णादिभिः (नाकम्) आनन्दम् (गृभ्णानाः) गृह्णन्तः (सुकृतस्य) सुष्ठुकृतस्य वेदोक्तकर्मणः (लोके) द्रष्टव्ये स्थाने (तृतीये) विज्ञानजे (पृष्ठे) ज्ञीप्सिते (अधि) उपरिभागे (रोचने) रुचिकरे (दिवः) द्योतनकर्मणः ॥ ५० ॥

अन्वयः—हे देवा विद्वांसो यथा यूयं तं गृभ्णाना दिवः सुकृतस्याधिरोचने तृतीये पृष्ठे लोके वर्त्तमानाः पत्नीभिः पुत्रैर्भ्रातृभिरुत वा हिरण्यैः सह नाकं गच्छत तथैतैः सहिता वयमनुगच्छेम ॥ ५० ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०-यथा विद्वांसः स्वस्त्रीपुत्रभ्रातृदुहितृमातृपितृभृत्यपार्श्वस्थान् विद्यासुशिक्षाभ्यां धार्मिकान् पुरुषार्थिनः कृत्वा सन्तुष्टा भवन्ति तथैव सर्वैरप्यनुवर्त्तनीयम् ॥ ५० ॥

पदार्थः—हे (देवाः) विद्वान् लोगो जैसे तुम लोग (तम्) उस पूर्वोक्त अग्नि को (गृभ्णानाः) ग्रहण करते हुए (दिवः) प्रकाशयुक्त (सुकृतस्य) सुन्दर वेदोक्त कर्म (अधि) में वा (रोचने) रुचिकारक (तृतीये) विज्ञान से हुए (पृष्ठे) जानने को इष्ट (लोके) विचारने वा देखने योग्य स्थान में वर्त्तमान (पत्नीभिः) अपनी २ स्त्रियों (पुत्रैः) वृद्धावस्था में हुए दुःख से रक्षक पुत्रों (भ्रातृभिः) बन्धुओं (उत, वा) और अन्य सम्बन्धियों तथा (हिरण्यैः) सुवर्णादि के साथ (नाकम्) आनन्द को प्राप्त होते हो वैसे इन सब के सहित हम लोग भी (अनु, गच्छेम) अनुगत हों ॥ ५० ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु०-जैसे विद्वान् लोग अपनी स्त्री, पुत्र, भाई, कन्या, माता, पिता, सेवक और परोसियों को विद्या और अच्छी शिक्षा से धर्मात्मा पुरुषार्थी करके सन्तोषी होते हैं वैसे ही सब मनुष्यों को होना चाहिये ॥ ५० ॥

आ वाच इत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । अग्निर्देवता ।
स्वराडार्षी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

ईश्वरवद्राज्ञा किं कार्य्यमित्याह ॥

ईश्वर के तुल्य राजा को क्या करना चाहिये यह वि० ॥

आ वाचो मध्यमरुहद् भुरण्युरयमग्निः सत्पतिश्चेकितानः । पृष्ठे पृथिव्या निहितो दविद्युतदधस्पदं कृणुतां ये पृतन्यवः ॥ ५१ ॥

आ । वाचः । मध्यम् । अरुहत् । भुरण्युः । अयम् । अग्निः । सत्पतिरिति सत्ऽपतिः । चेकितानः । पृष्ठे । पृथिव्याः । निहित इति निऽहितः । दविद्युतत् । अधस्पदम् । अधःपदमित्यधःऽपदम् । कृणुताम् । ये । पृतन्यवः ॥ ५१ ॥

पदार्थः—(आ) (वाचः) (मध्यम्) मध्ये भवम् (अरुहत्) रोहति (भुरण्युः) पोषकः (अयम्) (अग्निः) विद्वान् (सत्पतिः) सतां पालकः (चेकितानः) विज्ञानयुक्तः (पृष्ठे) उपरिभागे (पृथिव्याः) भूमेः (निहितः) नितरां धृतः (दविद्युतत्) प्रकाशयति (अधस्पदम्) नीचाधिकारम् (कृणुताम्) करोतु (ये) (पृतन्यवः) युद्धायात्मनः पृतनां सेनामिच्छवः ॥ ५१ ॥

अन्वयः—हे विद्वन् चेकितानः सत्पतिर्भवान् वाचो मध्यं प्राप्य यथाऽयं भुरण्युरग्निः पृथिव्याः पृष्ठे निहितो दविद्युतदारुहत्तथा ये पृतन्यवस्तानधस्पदं कृणुताम् ॥ ५१ ॥

भावार्थः—विद्वांसो राजानो यथेश्वरो ब्रह्माण्डस्य मध्ये सूर्यं निधाय सर्वान् सुखेनोपकरोति तथैव राज्यमध्ये विद्यार्कं धृत्वा शत्रून् जित्वा [illegible] मनुष्यानुपकुर्युः ॥ ५१ ॥

पदार्थः—हे विद्वान् पुरुष (चेकितानः) विज्ञानयुक्त (सत्पतिः) श्रेष्ठों के रक्षक आप (वाचः) वाणी के (मध्यम्) बीच हुए उपदेश को प्राप्त हो के जैसे (अयम्) यह (भुरण्युः) पुष्टिकर्त्ता (अग्निः) विद्वान् (पृथिव्याः) भूमि के (पृष्ठे) ऊपर (निहितः) निरन्तर स्थिर किया (दविद्युतत्) उपदेश से सब को प्रकाशित करता और धर्म पर (आ, रुहत्) आरूढ होता है उस के साथ (ये) जो लोग (पृतन्यवः) युद्ध के लिये सेना की इच्छा करते हैं उन को (अधरपदम्) अपने अधिकार से च्युत जैसे हों वैसा (कृणुताम्) कीजिये ॥ ५१ ॥

भावार्थः—विद्वान् मनुष्यों को चाहिये कि जैसे ईश्वर ब्रह्माण्ड में सूर्य-लोक को स्थापन करके सब को सुख पहुंचाता है। वैसे ही राज्य में विद्या और बल को धारण कर शत्रुओं को जीत के प्रजा के मनुष्यों का सुख से उपकार करें ॥ ५१ ॥

अयमग्निरित्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृदार्षी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

धार्मिकजनवदितरैर्वर्त्तितव्यमित्याह ॥

धर्मात्माओं के तुल्य अन्य लोगों को वर्त्तना चाहिये यह वि० ॥

अयमग्निर्वीरतमो वयोधाः सहस्रियो द्योतताम्प्रयुच्छन् । विभ्राजमानः सरिरस्य मध्य उप प्रयाहि दिव्यानि धाम ॥ ५२ ॥

अयम् । अग्निः । वीरतम इति वीरऽतमः । वयोधा इति वयःऽधाः । सहस्रियः । द्योतताम् । अप्रयुच्छन्नित्यप्रऽयुच्छन् । विभ्राजमान इति विऽभ्राजमानः । सरिरस्य । मध्ये । उप । प्र । याहि । दिव्यानि । धाम ॥ ५२ ॥

पदार्थः—(अयम्) (अग्निः) पावक इव सेनापतिः (वीरतमः) वेति स्वबलेन शत्रुबलं व्याप्नोति सोऽतिशयितः (वयोधाः) यः सर्वेषां जीवनं दधाति सः (सहस्रियः) सहस्रेणासङ्ख्यातेन योद्धृसमूहेन सम्मितस्तुल्यः (द्योतताम्) प्रकाशताम् (अप्रयुच्छन्) अप्रमाद्यन् (विभ्राजमानः) विशेषेण विद्यान्यायाभ्यां देदीप्यमानः (सरिरस्य) अन्तरिक्षस्य (मध्ये) (उप) (प्र) (याहि) प्राप्नुहि (दिव्यानि) (धाम) जन्मकर्मस्थानानि ॥ ५२ ॥

अन्वयः—योऽयं वीरतमो वयोधाः सहस्रियः सरिरस्य मध्ये विभ्राजमानोऽप्रयुच्छन्नग्निरिव स भवान् द्योतताम् । दिव्यानि धाम धामानि त्वमुपप्रयाहि ॥ ५२ ॥

भावार्थः—मनुष्या धार्मिकैर्जनैः सहोषित्वा प्रमादं विहाय जितेन्द्रियत्वेन जीवनं वर्धयित्वा विद्याधर्मानुष्ठानेन पवित्रा भूत्वा परोपकारिणः सन्तु ॥ ५२ ॥

पदार्थः—जो (अयम्) यह (वीरतमः) अपने बल से शत्रुओं को अत्यन्त व्याप्त होने तथा (वयोधाः) सब के जीवन को धारण करने वाला (सहस्रियः) असंख्य योद्धाजनों के समान योद्धा (सरिरस्य) आकाश के (मध्ये) बीच (विभ्राजमानः) विशेष करके विद्या और न्याय से प्रकाशित हो (अप्रयुच्छन्) प्रमादरहित होते हुए (अग्निः) अग्नि के तुल्य सेनापति आप (द्योतताम्) प्रकाशित हूजिये और (दिव्यानि) अच्छे (धाम) जन्म कर्म और स्थानों को (उप, प्र, याहि) प्राप्त हूजिये ॥ ५२ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि धर्मात्मा जनों के साथ निवास कर प्रमाद को छोड़ और जितेन्द्रियता से अवस्था बढ़ा के विद्या और धर्म के अनुष्ठान से पवित्र होके परोपकारी होवें ॥ ५२ ॥

संप्रच्यवध्वमित्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । अग्निर्देवता ।
भुरिगार्षी पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

कथं विवाहं कृत्वा किं कुर्य्यातामित्याह ॥

स्त्री पुरुष कैसे विवाह करके क्या करें यह वि० ॥

सम्प्रच्यवध्वमुप सम्प्रयाताग्ने पथो देवयानान् कृणुध्वम् । पुनः कृण्वाना पितरा युवानाऽन्वाताꣳसीत् त्वयि तन्तुमेतम् ॥ ५३ ॥

सम्प्रच्यवध्वमिति सम्ऽप्रच्यवध्वम् । उप । सम्प्रयातेति सम्ऽप्रयात । अग्ने । पथः । देवयानानिति देवऽयानान् । कृणुध्वम् । पुनरिति पुनः । कृण्वाना । पितरा । युवाना । अन्वाताꣳसीदित्यनुऽआताꣳसीत् । त्वयि । तन्तुम् । एतम् ॥ ५३ ॥

पदार्थः—(संप्रच्यवध्वम्) सम्यग्गच्छत (उप) (संप्रयात) सम्यक् प्राप्नुत (अग्ने) विद्वन् (पथः) मार्गान् (देवयानान्) देवा धार्मिका यान्ति येषु तान् (कृणुध्वम्) कुरुत (पुनः) (कृण्वाना) कुर्वन्तौ (पितरा) पालकौ मातापितरौ (युवाना) पूर्णयुवावस्थास्थौ । अत्र सर्वत्र विभक्तेराकारादेशः (अन्वातांसीत्) पश्चात् समन्तात्तनुताम् । अत्र वचनव्यत्ययेन द्विवचनस्थान एकवचनम् (त्वयि) पितामहे विद्यमाने सति (तन्तुम्) सन्तानम् (एतम्) गर्भाधानादिरीत्या यथोक्तम् ॥ ५३ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यूयं विद्या उपसम्प्रयात देवयानान् पथः सम्प्रच्यवध्वं धर्मं कृणुध्वं हे अग्ने त्वयि पितामहे विद्यमाने सति पितरा ब्रह्मचर्य्यं कृण्वाना युवाना भूत्वा स्वयंवरं विवाहं कृत्वा पुनरेतं तन्तुमन्वातांसीत् ॥५३॥

भावार्थः—कुमारा धर्म्येण सेवितब्रह्मचर्य्येण पूर्णां विद्यां अधीत्य स्वयं धार्मिका भूत्वा पूर्णयुवावस्थायां प्राप्तायां कन्यानां परुषाः पुरुषाणां च कन्याः

परीक्षां कृत्वाऽत्यन्तप्रीत्याऽऽकर्षितहृदयाः स्वेच्छया विवाहं विधाय धर्मेण सन्तानानुत्पाद्य सेवया मातापितरौ च सन्तोष्याप्तानां विदुषां मार्गं सततमन्वाययुः यथा सरलान् धर्ममार्गान्कुर्युस्तथैव भूमिजलान्तरिक्षमार्गानपि निष्पादयेरन् ॥ ५३ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो तुम लोग विद्याओं को (उपप्रयात) अच्छे प्रकार प्राप्त होओ (देवयानान्) धार्मिकों के (पथः) मार्गों से (संदध्वम्) सम्यक् धरो धर्म को (कृणुध्वम्) करो हे (अग्ने) विद्वान् पितामह (त्वयि) तुम्हारे बने रहते ही (पितरा) रक्षा करने वाले माता पिता तुम्हारे पुत्र आदि ब्रह्मचर्य को (कृण्वाना) करते हुए (युवाना) पूर्ण युवावस्था को प्राप्त हो और स्वयंवर विवाह कर (पुनः) पश्चात् (एतम्) गर्भाधानादिरीति से यथोक्त (तन्तुम्) सन्तान को (अन्वातांसीत्) अनुकूल उत्पन्न करें ॥ ५३ ॥

भावार्थः—कुमार स्त्री पुरुष धर्मयुक्त सेवन किये ब्रह्मचर्य से पूर्ण विद्या पढ़ आप धार्मिक हो पूर्ण युवावस्था की प्राप्ति में कन्याओं की पुरुष और पुरुषों की कन्या परीक्षा कर अत्यन्त प्रीति के साथ चित्त से परस्पर आकर्षित होके अपनी इच्छा से विवाह कर धर्मानुकूल सन्तानों को उत्पन्न और सेवा से अपने माता पिता का संतोष कर के आप्त विद्वानों के मार्ग से निरन्तर चलें और जैसे धर्म के मार्गों को सरल करें वैसे ही भूमि जल और अन्तरिक्ष के मार्गों को भी बनावें ॥ ५३ ॥

उद्बुध्यस्वेत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । अग्निर्देवता ।
आर्षी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर वही पूर्वोक्त वि० ॥

उद्बुध्यस्वाग्ने प्रति जागृहि त्वमिष्टापूर्ते सᳬसृजेथामयं च । अस्मिन्सधस्थे अध्युत्तरस्मिन् विश्वे देवा यजमानश्च सीदत ॥ ५४ ॥

उत् । बुध्यस्व । अग्ने । प्रति । जागृहि । त्वम् । इष्टापूर्त्ते इतीष्टाऽपूर्त्ते । सम् । सृजेथाम् । अयम् । च । अस्मिन् । सधस्थ इति सधऽस्थे । अधि । उत्तरस्मिन्नित्युत्ऽतरस्मिन् । विश्वे । देवाः । यजमानः । च । सीदत ॥ ५४ ॥

पदार्थः—(उत्) उत्कृष्टरीत्या (बुध्यस्व) जानीहि (अग्ने) विद्यया सुप्रकाशिते स्त्रि पुरुष वा (प्रति) (जागृहि) अविद्यानिद्रां त्यक्त्वा विद्यया चेत (त्वम्) स्त्री (इष्टापूर्त्ते) इष्टं सुखं विद्वत्सत्करणमीश्वराराधनं सत्संगतिकरणं सत्यविद्यादिदानं च पूर्त्तं पूर्णं बलं ब्रह्मचर्यं विद्यालंकरणं पूर्णं यौवनं पूर्णं साधनोपसाधनं च ते (सम्) सम्यक् (सृजेथाम्) निष्पादयेतम् । अत्र व्यत्ययेनात्मनेपदम् (अयम्) पुरुषः (च) (अस्मिन्) वर्त्तमाने (सधस्थे) सहस्थाने (अधि) उपरि (उत्तरस्मिन्) आगामिनि (विश्वे) सर्वे (देवाः) विद्वांसः (यजमानः) पुरुषः (च) स्त्री (सीदत) अवस्थिता भवत ॥ ५४ ॥

अन्वयः—हे अग्ने त्वमुद्बुध्यस्व सर्वान् प्रति जागृहि त्वमयं चास्मिन्त्सधस्थ उत्तरस्मिँश्च सदेष्टापूर्त्ते संसृजेथाम् । विश्वे देवा यजमानश्चैतस्मिन्नधि सीदत ॥ ५४ ॥

भावार्थः—यथाऽग्निर्यजमानो सुखं पूर्णां सामग्रीं च साध्नुतस्तथा कृतविवाहाः स्त्रीपुरुषा अस्मिन् जगति समाचरन्तु । यदा विवाहाय दृढप्रीती स्त्रिपुरुषौ भवेतां तदा विदुष आहूयैतेषां सन्निधौ वेदोक्ताः प्रतिज्ञाः कृत्वा पतिः पत्नी च भवेताम् ॥ ५४ ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) अच्छी विद्या से प्रकाशित स्त्री वा पुरुष तू (उद्बुध्यस्व) अच्छे प्रकार ज्ञान को प्राप्त हो सब के प्रति (प्रति, जागृहि) अविद्यारूप निद्रा को छोड़ के विद्या से चेतन हो (त्वम्) तू स्त्री (च) और (अयम्) यह पुरुष दोनों (अस्मिन्) इस वर्त्तमान (सधस्थे) एक स्थान में

और (उत्तरस्मिन्) आगामी समय में सदा (इष्टापूर्ते) इष्ट सुख विद्वानों का सत्कार, ईश्वर का आराधन, अच्छा सङ्ग करना और सत्यविद्या आदि का दान देना यह इष्ट और पूर्णबल, ब्रह्मचर्य्य, विद्या की शोभा, पूर्णयुवा अवस्था, साधन और उपसाधन यह सब पूर्त्त इन दोनों को (सं, सृजेथाम्) सिद्ध किया करो (विश्वे) सब (देवा,) विद्वान् लोग (च) और (यजमानः) यज्ञ करने वाले पुरुष तू इस एक स्थान में (अधि, सीदत) उन्नतिपूर्वक स्थिर होओ ॥ ५४ ॥

भावार्थः—जैसे अग्नि सुगंधादि के होम से इष्ट सुख देता और यज्ञकर्त्ता जन यज्ञ की सामग्री पूरी करता है वैसे उत्तम विवाह किये स्त्री पुरुष इस जगत् में आचरण किया करें। जब विवाह के लिये दृढ़प्रीति वाले स्त्री पुरुष हों तब विद्वानों को बुला के उन के समीप वेदोक्त प्रतिज्ञा करके पति और पत्नी बनें ॥ ५४ ॥

येन वहसीत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः। अग्निर्देवता। निचृदनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर वही वि० ॥

येन॒ वह॑सि स॒हस्रं॒ येना॑ग्ने सर्ववेद॒सम्। तेने॒मं य॒ज्ञं नो॑ नय॒ स्व॑र्दे॒वेषु॒ गन्त॑वे ॥ ५५ ॥

येन॑। वह॑सि। स॒हस्र॑म्। येन॑। अ॒ग्ने॒। स॒र्व॒वे॒द॒समिति॑ सर्वऽवेद॒सम्। तेन॑। इ॒मम्। य॒ज्ञम्। नः॒। न॒य॒। स्वः॑। दे॒वेषु॑। गन्त॑वे ॥ ५५ ॥

पदार्थः—(येन) प्रतिज्ञातेन कर्मणा (वहसि) (सहस्रम्) असंख्यं गृहाश्रमव्यवहारं (येन) विज्ञानेन (अग्ने) विद्वन् विदुषि वा (सर्ववेद·

सम्) सर्ववेदैरुक्तं कर्म (तेन) (इमम्) गृहाश्रमम् (यज्ञं) संगन्तव्यम् (नः) अस्मान् (नय) (स्वः) सुखम् (देवेषु) विद्वत्सु (गन्तवे) गन्तुं प्राप्तुम् ॥ ५५ ॥

अन्वयः—हे अग्ने त्वं देवेषु स्वर्गन्तवे येन सहस्रं वहसि येन सर्ववेदसं वहसि तेनेमं यज्ञं नोऽस्मान्नय ॥ ५५ ॥

भावार्थः—विवाहप्रतिज्ञास्वियमपि प्रतिज्ञा कारयितव्या । हे स्त्रीपुरुषौ युवां यथा स्वहितायाचरतं तथास्माकं मातापित्राचार्य्यातिथीनां सुखायापि सततं वर्त्तेयाथामिति ॥ ५५ ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) विद्वान् पुरुष वा विदुषि स्त्री तू (देवेषु) विद्वानों में (स्वः) सुख को (गन्तवे) प्राप्त होने के लिये (येन) जिस प्रतिज्ञा किये कर्म से (सहस्रम्) गृहाश्रम के असंख्य व्यवहारों को (वहसि) प्राप्त होवे हो तथा (येन) जिस विज्ञान से (सर्ववेदसम्) सब वेदों में कहे कर्म को यथावत् करते हो (तेन) उससे (इमम्) इस गृहाश्रमरूप (यज्ञम्) संगति के योग्य यज्ञ को (नः) हम को (नय) प्राप्त कीजिये ॥ ५५ ॥

भावार्थः—विवाह की प्रतिज्ञाओं में यह भी प्रतिज्ञा करानी चाहिये कि कि हे स्त्रीपुरुषो तुम दोनों जैसे अपने हित के लिये आचरण करो वैसे हम माता पिता आचार्य्य और अतिथियों के सुख के लिये भी निरन्तर वर्त्ताव करो ॥ ५५ ॥

अयन्त इत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । अग्निर्देवता ।
निचृदनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर वही वि० ॥

अ॒यं ते॒ योनि॑र्ऋ॒त्वियो॒ यतो॑ जा॒तो अरो॑चथाः ।
तञ्जा॒नन्न॑ग्न॒ आ रो॑हाथा॑ नो वर्धया र॒यिम् ॥ ५६ ॥

अयम्। ते। योनिः। ऋत्वियः। यतः। जातः। अरोचथाः। तम्। जानन्। अग्ने। आ। रोह। अथ। नः। वर्धय। रयिम् ॥ ५६ ॥

पदार्थः—(अयम्) (ते) तव (योनिः) गृहम् (ऋत्वियः) ऋतुः प्राप्तोऽस्य सः (यतः) यस्य विद्याध्ययनस्याध्यापनस्य च सकाशात् (जातः) जाता च (अरोचथाः) प्रदीप्येथाः (तम्) (जानन्) जानन्ती च (अग्ने) विद्वन् विदुषि च (आ) (रोह) (अथ) आनन्तर्ये। निपातस्य चेति दीर्घः (नः) अस्माकम् (वर्धय) अन्येषामपीति दीर्घः (रयिम्) संपत्तिम् ॥५६॥

अन्वयः—हे अग्ने योऽयं ते तव ऋत्वियो योनिरस्ति यतो जातो जाता त्वं चारोचथास्तं जानन् जानन्ती चारोहाथ नो रयिं वर्धय ॥ ५६ ॥

भावार्थः—विवाहे स्त्रीपुरुषाभ्यामियमपि द्वितीया प्रतिज्ञा कारयितव्या। येन ब्रह्मचर्येण यया विद्यया च युवां स्त्रीपुरुषौ कृतकृत्यौ भवथस्तथां च सदैव प्रचारयतम्। पुरुषार्थेन धनादिकं च वर्धयित्वैतत् सन्मार्गे यीतम्। इत्येतत् सर्वं हैमन्तस्य ऋतोर्व्याख्यानं समाप्तम् ॥ ५६ ॥

पदार्थ—हे (अग्ने) विद्वन् वा विदुषि (अयम्) यह (ते) तेरा (ऋत्वियः) ऋतु अर्थात् समय को प्राप्त हुआ (योनिः) घर है (यतः) जिस विद्या के पढ़न पाठन से (जातः) प्रसिद्ध हुआ वा हुई तू (अरोचथाः) प्रकाशित हो (तम्) उस को (जानन्) जानता वा जानती हुई (आ, रोह) धर्म पर आरूढ़ हो (अथ) इसके पश्चात् (नः) हमारी (रयिम्) संपत्ति को (वर्धय) बढ़ाया कर ॥ ५६ ॥

भावार्थ—स्त्री पुरुषों से विवाह में यह भी दूसरी प्रतिज्ञा करानी चाहिये कि जिस ब्रह्मचर्य और जिस विद्या के साथ तुम दोनों स्त्री पुरुष कृतकृत्य होवे हो उस २ को सदैव प्रचारित किया करो। और पुरुषार्थ से धनादि पदार्थ को बढ़ा के उस को अच्छे मार्ग में खर्च किया करो। यह सब हेमन्त ऋतु का व्याख्यान पूरा हुआ ॥ ५६ ॥

तपश्चेत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । शिशिरर्त्तुर्देवता ।
स्वराडुत्कृतिश्छन्दः । षड्जः स्वरः ॥
अथ शिशिरस्य ऋतोर्वर्णनमाह ॥
अब अगले मन्त्र में शिशिर ऋतु का वर्णन किया है ॥

तपश्च तपस्यश्च शैशिरावृतू अग्नेरन्तःश्लेषोऽसि कल्पेतां द्यावापृथिवी कल्पन्तामाप ओषधयः कल्पन्तामग्नयः पृथङ्मम ज्यैष्ठ्याय सव्रताः । ये अग्नयः समनसोऽन्तरा द्यावापृथिवी इमे शैशिरावृतू अभिकल्पमाना इन्द्रमिव देवा अभिसंविशन्तु तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवे सीदतम् ॥५७॥

तपः । च । तपस्यः । च । शैशिरौ । ऋतू इत्यृतू । अग्नेः । अन्तःश्लेष इत्यन्तःऽश्लेषः । असि । कल्पेताम् । द्यावापृथिवी इति द्यावापृथिवी । कल्पन्ताम् । आपः । ओषधयः । कल्पन्ताम् । अग्नयः । पृथक् । मम । ज्यैष्ठ्याय । सव्रता इति सऽव्रताः । ये । अग्नयः । समनस इति सऽमनसः । अन्तरा । द्यावापृथिवी इति द्यावापृथिवी । इमे इतीमे । शैशिरौ । ऋतू इत्यृतू । अभिकल्पमाना इत्यभिऽकल्पमानाः । इन्द्रमिवेतीन्द्रम्ऽइव । देवाः । अभिसंविशन्त्वित्यभिसम्ऽविशन्तु । तया । देवतया । अङ्गिरस्वत् । ध्रुवे इति ध्रुवे । सीदतम् ॥ ५७ ॥

पदार्थः—(तपः) यस्तापहेतुः स माघो मासः (च) (तपस्यः) तपो धर्मो विद्यतेऽस्मिन् स फाल्गुनो मासः (च) (शैशिरौ) शिशिरर्त्तौ भवौ (ऋतू) स्वलिङ्गप्रापकौ (अग्नेः) (अन्तःश्लेषः) मध्यप्रवेशः (असि) (कल्पेताम्) (द्यावापृथिवी) (कल्पन्ताम्) (आपः) (ओषधयः) (कल्पन्ताम्) (अग्नयः) पावकाः (पृथक्) (मम) (ज्यैष्ठ्याय) (सव्रताः) समाननियमाः (ये) (अग्नयः) (समनसः) समानमनोनिमित्ताः (अन्तरा) मध्ये (द्यावापृथिवी) प्रकाशभूमी (इमे) (शैशिरौ) शिशिरर्त्तुसंपादकौ (ऋतू) (अभिकल्पमानाः) संपादयन्तः (इन्द्रमिव) ऐश्वर्यमिव (देवाः) विद्वांसः (अभिसंविशन्तु) (तया) (देवतया) पूज्यतमया व्याप्तया ब्रह्माख्यया सह (अङ्गिरस्वत्) प्राणवत् (ध्रुवे) दृढे (सीदतम्) सीदतः ॥ ५७ ॥

अन्वयः—हे ईश्वर मम ज्यैष्ठ्याय तपश्च तपस्यश्च शैशिरावृतू सुखकारकौ भवतः । त्वं ययोरग्नेरन्तःश्लेषोऽसि ताभ्यां द्यावापृथिवी कल्पेतामाप ओषधयश्च कल्पन्ताम् । सव्रता अग्नयः पृथक् कल्पन्तां ये समनसोऽग्नय इमे द्यावापृथिवी अन्तरा शैशिरावृतू अभिकल्पमानाः सन्ति तानिन्द्रमिव देवा अभिसंविशन्तु हे स्त्रीपुरुषौ युवां तया देवतया सहाङ्गिरस्वद् वर्त्तमानौ ध्रुवे द्यावापृथिवी इव सीदतम् ॥ ५७ ॥

भावार्थः—अत्रोपमालं०—मनुष्यैः सर्वर्त्तुसुखमीश्वरादेव याचनीयम् । ईश्वरस्य विभुत्वेनाभिव्याप्तत्वात्सर्वे पदार्थाः स्वस्वनियमेन समर्था भवन्ति विद्वांसः सर्वपदार्थगतविद्युदग्नीनां गुणदोषान् विजानन्तु स्त्रीपुरुषौ गृहाश्रमे स्थिरमती शैशिरं सुखं भुञ्जाताम् ॥ ५७ ॥

पदार्थः—हे ईश्वर (मम) मेरी (ज्यैष्ठ्याय) ज्येष्ठता के लिये (तपः) ताप बढ़ाने का हेतु माघ महीना (च) और (तपस्यः) तापवाला फाल्गुन मास (च) ये दोनों (शैशिरौ) शिशिर ऋतु में प्रख्यात (ऋतू) अपने चिह्नों को प्राप्त करने वाले सुखदायी होते हैं आप जिनके (अग्नेः) अग्नि के भी (अन्तःश्लेषः) मध्य में प्रविष्ट (असि) हैं उन दोनों से (द्यावापृ-

थिवी) आकाश भूमि (कल्पेताम्) समर्थ हों (आपः) जल (ओषधयः) ओषधियां (कल्पन्ताम्) समर्थ हों (सव्रताः) एक प्रकार के नियमों में वर्त्तमान (अग्नयः) विद्युत् आदि अग्नि (पृथक्) अलग २ (कल्पन्ताम्) समर्थ होवें (ये) जो (समनसः) एक प्रकार के मन के निमित्तवाले हैं वे (अग्नयः) विद्युत् आदि अग्नि (इमे) इन (द्यावापृथिवी) आकाश भूमि के (अन्तरा) बीच में होने वाले (शैशिरौ) शिशिर ऋतु के साधक (ऋतू) माघ फाल्गुन महीनों को (अभिकल्पमानाः) समर्थ करते हैं। उन अग्नियों को (इन्द्रमिव) ऐश्वर्य के तुल्य (देवाः) विद्वान् लोग (अभिसंविशन्तु) ज्ञानपूर्वक प्रवेश करें। हे स्त्री पुरुषो तुम दोनों (तया) उस (देवतया) पूजा के योग्य सर्वत्र व्याप्त जगदीश्वर देवता के साथ (अङ्गिरस्वत्) प्राण के समान वर्त्तमान इन आकाश भूमि के तुल्य (ध्रुवे) दृढ (सीदतम्) स्थिर होओ ॥ ५७ ॥

भावार्थ—इस मंत्र में उपमालं०—मनुष्यों को चाहिये कि सब ऋतुओं में ईश्वर से ही सुख चाहें ईश्वर विद्युत् अग्नि के भी बीच व्याप्त है इस कारण सब पदार्थ अपने २ नियम से कार्य में समर्थ होते हैं विद्वान् लोग सब वस्तुओं में व्याप्त बिजुली रूप अग्निओं के गुण दोष जाने स्त्री पुरुष गृहाश्रम में स्थिरबुद्धि होके शिशिर ऋतु के सुख को भोगें ॥ ५७ ॥

परमेष्ठीत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः। विदुषी देवता।
भुरिग्ब्राह्मी बृहती छन्दः। मध्यमः स्वरः॥

स्त्रिया किं कार्यमित्याह॥
स्त्री को क्या करना चाहिये यह वि० ॥

परमेष्ठी त्वां सादयतु दिवस्पृष्ठे ज्योतिष्मतीम्।
विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानाय विश्वं ज्योति-

यच्छ । सूर्यस्तेऽधिपतिस्तया देवतयाऽङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद ॥ ५८ ॥

परमेष्ठी । परमेस्थीति परमेऽस्थी । त्वा । सादयतु । दिवः । पृष्ठे । ज्योतिष्मतीम् । विश्वस्मै । प्राणाय । अपानाय । अपानायेत्यपऽआनाय । व्यानायेति विऽआनाय । विश्वम् । ज्योतिः । यच्छ । सूर्यः । ते । अधिपतिरित्यधिऽपतिः । तया । देवतया । अङ्गिरस्वत् । ध्रुवा । सीद ॥ ५८ ॥

पदार्थः—(परमेष्ठी) परम आकाशेऽभिव्याप्य स्थितः (त्वा) (सादयतु) स्थापयतु (दिवः) प्रकाशस्य (पृष्ठे) उपरि (ज्योतिष्मतीम्) प्रशस्तानि ज्योतींषि ज्ञानानि विद्यन्तेऽस्यां ताम् (विश्वस्मै) सर्वस्मै (प्राणाय) (अपानाय) (व्यानाय) (विश्वम्) सर्वम् (ज्योतिः) प्रकाशम् (यच्छ) (सूर्यः) सूर्य इव वर्त्तमानः (ते) तव (अधिपतिः) स्वामी (तया) परयाण्यया (देवतया) दिव्यगुणयुक्तया (अङ्गिरस्वत्) (ध्रुवा) दृढा (सीद) स्थिरा भव ॥ ५८ ॥

अन्वयः—हे स्त्रि परमेष्ठी ज्योतिष्मतीं त्वा दिवस्पृष्ठे विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानाय सादयतु त्वं विश्वं ज्योतिः सर्वाभ्यः स्त्रीभ्यो यच्छ यस्यास्ते तव सूर्य इवाधिपतिरस्ति तया देवतया सह वर्त्तमानाऽङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद ॥ ५८ ॥

भावार्थः—अत्रोपमावाचकलु०—येन परमेश्वरेण याः शरदृतुरचितास्तस्योपासनापुरस्सरं तं युक्त्या सेवित्वा स्त्रीपुरुषाः सुखं सदा वर्धयन्तु ॥५८॥

पदार्थ—हे स्त्रि (परमेष्ठी) महान् आकाश में व्याप्त होकर स्थित परमेश्वर (ज्योतिष्मतीम्) प्रशस्तज्ञानयुक्त (त्वा) तुझ को (दिवः) प्रकाश के

(पृष्ठे) उत्तर भाग में (विश्वस्मै) सब (प्राणाय) प्राण (अपानाय) अपान और (व्यानाय) व्यान आदि की यथार्थ क्रिया होने के लिये (सादयतु) स्थित करे । तू सब स्त्रियों के लिये (विश्वम्) समस्त (ज्योतिः) ज्ञान के प्रकाश को (यच्छ) दिया कर जिस (ते) तेरा (सूर्यः) सूर्य के समान तेजस्वी (अधिपतिः) स्वामी है (तया) उस (देवतया) अच्छे गुणोंवाले पति के साथ वर्त्तमान (अङ्गिरस्वत्) सूर्य के समान (ध्रुवा) दृढ़ता से (सीद) स्थिर हो ॥ ५८ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में उपमा तथा वाचकलु०—जिस परमेश्वर ने जो शरद् ऋतु बनाया है उस की उपासनापूर्वक इस ऋतु को युक्ति से सेवन करके स्त्री पुरुष सदा सुख बढ़ाया करें ॥ ५८ ॥

लोकं पृणेत्यस्य परमेष्ठीऋषिः । इन्द्राग्नी देवते ।
विराडनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥
फिर वही वि० ॥

लोकं पृण छिद्रं पृणाथो सीद ध्रुवा त्वम् । इन्द्राग्नी त्वा बृहस्पतिरस्मिन् योनावसीषदन् ॥ ५९ ॥

लोकम् । पृण । छिद्रम् । पृण । अथो इत्यथो । सीद । ध्रुवा । त्वम् । इन्द्राग्नी इतीन्द्राग्नी । त्वा । बृहस्पतिः । अस्मिन् । योनौ । असीषदन्नित्यसीसदन् ॥ ५९ ॥

पदार्थः—(लोकम्) इमं परं च (पृण) सुखय (छिद्रम्) (पृण) पिपूर्द्धि (अथो) (सीद) (ध्रुवा) निश्चला (त्वम्) (इन्द्राग्नी) इन्द्रा

परमैश्वर्यश्चाग्निर्विद्वांश्च तौ (त्वा) त्वाम् (बृहस्पतिः) अध्यापकः (अस्मिन्) (योनौ) गृहाश्रमे (असीषदन्) सादयन्तु ॥ ५९ ॥

अन्वयः—हे स्त्रि त्वं लोकं पृण छिद्रं पृण ध्रुवा सीदाथो इन्द्राग्नी बृहस्पतिश्चास्मिन् योनौ त्वाऽसीषदन् ॥ ५९ ॥

भावार्थः—सुलक्षणया स्त्रिया गृहकृत्यसाधनानि पूर्णानि कृत्वा कार्याणि साधनीयानि विदुषां विदुषीणां च गृहाश्रमकृत्येषु प्रीतिर्यथा स्यात्तथोपदेष्टव्यम् ॥ ५९ ॥

पदार्थः—हे स्त्रि (त्वम्) तू इस (लोकम्) लोक तथा परलोक को (पृण) सुखयुक्त कर (छिद्रम्) अपनी न्यूनता को (पृण) पूरी कर और (ध्रुवा) निश्चलता से (सीद) घर में बैठ (अथो) इसके अनन्तर (इन्द्राग्नी) उत्तम धनी ज्ञानी तथा (बृहस्पतिः) अध्यापक (अस्मिन्) इस (योनौ) गृहाश्रम में (त्वा) तुझ को (असीषदन्) स्थापित करें ॥ ५९ ॥

भावार्थः—अच्छी चतुर स्त्री को चाहिये कि घर के कार्यों के साधनों को पूरे करके सब कार्यों को सिद्ध करें। जैसे विद्वान् स्त्री और विद्वान् पुरुषों की गृहाश्रम के कर्त्तव्य कर्मों में प्रीति हो वैसा उपदेश किया करें ॥ ५९ ॥

ता अस्येत्यस्य प्रियमेधा ऋषिः। आपो देवताः।
विराडनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः।

अथ राजप्रजाधर्ममाह ॥

अब राजा प्रजा का धर्म अगले मन्त्र में कहा है ॥

ता अ॑स्य सू॒ददो॑हसः॒ सोमं॑ श्रीणन्ति॒ पृश्न॑यः। जन्म॑न्दे॒वानां॒ विश॑स्त्रि॒ष्वा रो॑च॒ने दि॒वः ॥ ६० ॥

ताः । अस्य । सूदंदोहस इति सूदंऽदोहसः । सोमम् । श्रीणन्ति । पृश्नयः । जन्मन् । देवानाम् । विशः । त्रिषु । आ । रोचने । दिवः ॥ ६० ॥

पदार्थः—(ताः) (अस्य) सभाध्यक्षस्य (सूददोहसः) सूदाः पाककर्त्तारो दोहसः प्रपूरकाश्च यासु ताः (सोमम्) सोमवल्याद्योषधिरसान्वितं पाकम् (श्रीणन्ति) पचन्ति (पृश्नयः) मनुष्यः (जन्मन्) जन्मनि (देवानाम्) विदुषाम् (विशः) या विशन्ति (त्रिषु) वेदरीत्या कर्मोपासनाज्ञानेषु (आ) (रोचने) प्रकाशने (दिवः) द्योतनात्मकस्य परमात्मनः ॥ ६० ॥

अन्वयः—या विद्यासुशिक्षान्विता देवानां जन्मन् पृश्नयः सूददोहसस्त्रिषु दिवो रोचने च प्रवर्त्तमाना विशः सन्ति ता अस्य सोममाश्रीणन्ति ॥ ६० ॥

भावार्थः—प्रजापतिभिः सर्वाः प्रजाः विद्यासुशिक्षाग्रहणे नियोजनीयाः प्रजाश्च नियुञ्जन्तु । नह्येतेन विना कर्मोपासनाज्ञानेश्वराणां यथार्थो बोधो भवितुमर्हति ॥ ६० ॥

पदार्थः—जो विद्या और अच्छी शिक्षा से युक्त (देवानाम्) विद्वानों के (जन्मन्) जन्म विषय में (पृश्नयः) पूछने हारी (सूददोहसः) रसोया और कार्य्यों के पूर्ण करने वाले पुरुषों से युक्त (त्रिषु) वेदरीति से कर्म उपासना और ज्ञानों तथा (दिवः) सब के अन्तःप्रकाशक परमात्मा के (रोचने) प्रकाश में वर्त्तमान (विशः) प्रजा हैं (ताः) वे (अस्य) इस सभाध्यक्ष राजा के (सोमम्) सोमवल्ली आदि ओषधियों के रसों से युक्त भोजनीय पदार्थों को (आ) सब ओर से (श्रीणन्ति) पकाती हैं ॥ ६० ॥

भावार्थः—प्रजापालक पुरुषों को चाहिये कि सब प्रजाओं को विद्या और अच्छी शिक्षा के ग्रहण में नियुक्त करें और प्रजा भी स्वयं नियुक्त हों

इस के बिना कर्म उपासना ज्ञान और ईश्वर का यथार्थ बोध कभी नहीं हो सकता॥ ६०॥

इन्द्रं विश्वा इत्यस्य मधुच्छन्दा ऋषिः। इन्द्रो देवता।
निचृदनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः॥

पुनस्तमेव विषयमाह॥
फिर वही वि०॥

इन्द्रं विश्वा अवीवृधन् समुद्रव्यचसं गिरः।
रथीतमꣳ रथीनां वाजानाꣳ सत्पतिं पतिम्॥६१॥

इन्द्रम्। विश्वाः। अवीवृधन्। समुद्रव्यचसमिति समुद्रऽव्यचसम्। गिरः। रथीतमम्। रथितममिति रथिऽतमम्। रथीनाम्। रथिनामिति रथिऽनाम्। वाजानाम्। सत्पतिमिति सत्ऽपतिम्। पतिम्॥ ६१॥

पदार्थः—(इन्द्रम्) परमैश्वर्ययुक्तं सर्वेशम् (विश्वाः) अखिलाः (अवीवृधन्) वर्धयन्तु (समुद्रव्यचसम्) समुद्रस्यान्तरिक्षस्य व्यचो व्याप्तिर्यस्य तम् (गिरः) विद्यासुशिक्षान्विता वाचः (रथीतमम्) अतिशयितो रथी। अत्र ईद्रथिनः। ८। २। १७। इति वार्तिकेन ईकारादेशः। (रथीनाम्) शूरवीराणां मध्ये अत्रान्येषामपीति दीर्घः (वाजानाम्) विज्ञानवताम् (सत्पतिम्) सतां व्यवहाराणां विदुषां वा पालकम् (पतिम्) स्वामिनम्॥ ६१॥

अन्वयः—विश्वा गिरः समुद्रव्यचसं रथीनां वाजानां सत्पतिं समानां पतिमिन्द्रमवीवृधन्॥ ६१॥

भावार्थः—राजप्रजाजना राजधर्मयुक्तमीश्वरमिव वर्त्तमानं न्यायाधीशं सभापतिं सततं प्रोत्साहयन्तु । एवं सभापतिरेनाँश्च ॥ ६१ ॥

पदार्थः—(विश्वाः) सब (गिरः) विद्या और शिक्षा से युक्त वाणी (समुद्रव्यचसम्) आकाश के तुल्य व्याप्तिवाले (रथीनाम्) शूरवीरों में (रथीतमम्) उत्तम शूरवीर (वाजानाम्) विज्ञानी पुरुषों के (सत्पतिम्) सत्य-व्यवहारों और विद्वानों के रक्षक तथा प्रजाओं के (पतिम्) स्वामी (इन्द्रम्) परमसंपत्तियुक्त सभापति राजा को (अवीवृधन्) बढ़ावें ॥ ६१ ॥

भावार्थः—राज और प्रजा के जन राजधर्म से युक्त ईश्वर के समान वर्त्तमान न्यायाधीश सभापति को निरन्तर उत्साह देवें, ऐसे ही सभापति इन प्रजा और राज के पुरुषों को भी उत्साही करें ॥ ६१ ॥

प्रोथदश्व इत्यस्य वसिष्ठ ऋषिः । अग्निर्देवता ।
विराट्त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥
फिर भी वही विषय० ॥

प्रोथदश्वो न यवसेऽविष्यन्यदा महः संवरणाद्व्यस्थात् । आदस्य वातो अनु वाति शोचिरध स्म ते व्रजनं कृष्णमस्ति ॥ ६२ ॥

प्रोथत् । अश्वः । न । यवसे । अविष्यन् । यदा । महः । संवरणादिति सम्ऽवरणात् । वि । अस्थात् । आत् । अस्य । वातः । अनु । वाति । शोचिः । अध । स्म । ते । व्रजनम् । कृष्णम् । अस्ति ॥ ६२ ॥

पदार्थः—(प्रोषत्) पर्याप्नुयात् (अश्वः) वाजी (न) इव (यवसे) घुसाधाय (अविष्यन्) रक्षणादिकं कुर्वन् (यदा) (महः) महतः (संवरणात्) आच्छादनात् (वि) (अस्थात्) तिष्ठेत् (आत्) (अस्य) (वातः) गन्ता (अनु) (वाति) गच्छति (शोचिः) प्रकाशः (अध) अथ (स्म) एव (ते) तव (व्रजनम्) गमनम् (कृष्णम्) कर्षकम् (अस्ति) ॥ ६२ ॥

अन्वयः—हे राजन् भवान् यवसेऽश्वो न प्रजाः प्रोषत् । यदा महः संवरणाद्विष्यन् व्यस्थादादस्य ते तव व्रजनं कृष्णं शोचिरस्ति । अध स्मास्य तव वातोऽनुवाति ॥ ६२ ॥

भावार्थः—अत्रोपमालं०-यथा पालनातुरंगाः पुष्टा भूत्वा कार्यसिद्धिदा भवन्ति तथैव न्यायेन संपालिताः प्रजाः सन्तुष्टा भूत्वा राज्यं वर्धयन्ति ॥ ६२ ॥

पदार्थः—हे राजन् आप (यवसे) भूसा आदि के लिये (अश्वः) घोड़े के (न) समान प्रजाओं को (प्रोषत्) समर्थ कीजिये (यदा) जब (महः) बड़े (संवरणात्) आच्छादन से (अविष्यन्) रक्षा आदि करते हुए (व्यस्थात्) स्थित होवें (आत्) पुनः (अस्य) इस (ते) आप का (व्रजनम्) चलने तथा (कृष्णम्) आकर्षण करने वाला (शोचिः) प्रकाश (अस्ति) है (अध) इस के पश्चात् (स्म) ही आप का (वातः) चलने वाला भृत्य (अनु, वाति) पीछे चलता है ॥ ६२ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में उपमालं०—जैसे रक्षा करने से घोड़े पुष्ट होकर कार्य्य सिद्ध करने में समर्थ होते हैं वैसे ही न्याय से रक्षा की हुई प्रजा सन्तुष्ट होकर राज्य को बढ़ाती है ॥ ६२ ॥

आयोष्ट्वेत्यस्य वसिष्ठ ऋषिः । विदुषी देवता ।
विराट् त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

विदुष्या किं कर्त्तव्यमित्याह ॥

विदुषी स्त्री को क्या करना चाहिये यह वि० ॥

आयोष्ट्वा सदने सादयाम्यवतश्छायायांᳬस-
मुद्रस्य हृदये। रश्मीवतीं भास्वतीमा या द्यां
भास्या पृथिवीमोर्वन्तरिक्षम् ॥ ६३ ॥

आयोः । त्वा । सदने । सादयामि । अवतः । छाया-
याम् । समुद्रस्य । हृदये । रश्मीवतीम् । रश्मिवतीमिति रश्मिऽ-
वतीम् । भास्वतीम् । आ । या । द्याम् । भासि । आ ।
पृथिवी । आम् । उरु । अन्तरिक्षम् ॥ ६३ ॥

पदार्थः—(आयोः) न्यायानुगामिनो दीर्घजीवितस्य (त्वा) त्वाम् (सदने) स्थाने (सादयामि) (अवतः) रक्षणादि कुर्वतः (छायायाम्) आश्रये (समुद्रस्य) (हृदये) मध्ये (रश्मीवतीम्) प्रशस्तविद्याप्रकाशयुक्ताम्। अत्रान्येषामपीति दीर्घः (भास्वतीम्) देदीप्यमानाम् (आ) (या) (द्याम्) प्रकाशम् (भासि) दीपयसि (आ) (पृथिवीम्) भूमिम् (आ) (उरु) (अन्तरिक्षम्) आकाशम् ॥ ६३ ॥

अन्वयः—हे स्त्रि या त्वं द्यां पृथिवीमन्तरिक्षमुर्वाभासि तां रश्मीवतीं भास्वतीं त्वा त्वामायोः सदनेऽवतश्छायायामा सादयामि समुद्रस्य हृदयेऽहमा सादयामि ॥ ६३ ॥

भावार्थः—हे स्त्रि सम्यक्पालकस्य पत्युः सदने तदाश्रये समुद्रवदक्षोभ्यां हृद्यां त्वां स्थापयामि त्वं गृहाश्रमधर्मं प्रकाश्य पत्यादीन् सुखय त्वां चैते सुखयन्तु ॥ ६३ ॥

पदार्थः—हे स्त्रि (या) जो तू (द्याम्) प्रकाश (पृथिवीम्) भूमि और (अन्तरिक्षम्) आकाश को (उरु) बहुत (आ, भासि) प्रकाशित करती है उस (रश्मीवतीम्) शुद्ध विद्या के प्रकाश से युक्त (भास्वतीम्)

शोभा को प्राप्त हुई (त्वा) तुझ को (आयोः) न्यायानुकूल चलने वाले चिरंजीवि पुरुष के (सदने) स्थान में और (अवत.) रक्षा आदि करते हुए के (छायायाम्) आश्रय में (आ, सादयामि) अच्छे प्रकार स्थापित तथा (समुद्राय) अन्तरिक्ष के (हृदये) बीच (आ) शुद्ध प्रकार से मैं स्थित कराता हूं ॥६३॥

भावार्थः—हे स्त्रि ! अच्छे प्रकार पालने हारे पति के आश्रयरूप स्थान में समुद्र के तुल्य चंचलतारहित गम्भीरतायुक्त प्यारी तुझ को स्थित करता हूं तू गृहाश्रम के धर्म का प्रकाश कर पति आदि को सुखी रख और तुझ को भी पति आदि सुखी रक्खें ॥ ६३ ॥

परमेष्ठीत्यस्य वसिष्ठ ऋषिः । परमात्मा देवता ।
आकृतिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

दम्पतीभ्यां कथं भवितव्यमित्याह ॥
स्त्री पुरुष परस्पर कैसे हों यह वि० ॥

परमेष्ठी त्वा सादयतु दिवस्पृष्ठे व्यचस्वतीं प्रथस्वतीं दिवं यच्छ दिवं दृंह दिवं मा हिंसीः । विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानायोदानाय प्रतिष्ठायै चरित्राय । सूर्यस्त्वाऽभिपातु मह्या स्वस्त्या छर्दिषा शन्तमेन तया देवतयाऽङ्गिरस्वद् ध्रुवे सीदतम् ॥ ६४ ॥

परमेष्ठी । परमेस्थीति परमेऽस्थी । त्वा । सादयतु । दिवः । पृष्ठे । व्यचस्वतीम् । प्रथस्वतीम् । दिवम् । यच्छ । दिवम् । दृंह । दिवम् । मा । हिंसीः । विश्वस्मै । प्राणाय ।

अपानायेत्यपऽआनाय । व्यानायेति विऽआनाय । उदानायेत्युत्ऽआनाय । प्रतिष्ठायै । प्रतिस्थायाऽइति प्रतिऽस्थायै । चरित्राय । सूर्यः । त्वा । अभि । पातु । मह्या । स्वस्त्या । छर्दिषा । शन्तमेनेति शम्ऽतमेन । तया । देवतया । अङ्गिरस्वत् । ध्रुवे । सीदतम् ॥ ६४ ॥

पदार्थः—(परमेष्ठी) परमात्मा (त्वा) त्वां सतीं स्त्रियम् (सादयतु) (दिवः) कमनीयस्य गृहस्थव्यवहारस्य (पृष्ठे) आधारे (व्यचस्वतीम्) प्रशस्तविद्याव्याप्तिकाम् (प्रथस्वतीम्) बहुः प्रथः प्रख्यातिः प्रशंसा विद्यते यस्यां ताम् (दिवम्) न्यायप्रकाशम् (यच्छ) देहि (दिवम्) विद्या सूर्यम् (दृंह) (दिवम्) धर्मप्रकाशम् (मा) (हिंसीः) हिंस्याः (विश्वस्मै) समग्राय (प्राणाय) जीवनसुखाय (अपानाय) दुःखनिवृत्तये (व्यानाय) विविधविद्याव्याप्तये (उदानाय) उत्कृष्टबलाय (प्रतिष्ठायै) सर्वत्रसत्कराय (चरित्राय) सत्कर्मानुष्ठानाय (सूर्यः) चराचरात्मेश्वरः (त्वा) त्वाम् (अभि) सर्वतः (पातु) रक्षतु (मह्या) महत्या (स्वस्त्या) सत्क्रियया (छर्दिषा) सत्यासत्यदीप्तेन (शन्तमेन) अतिशयसुखेन (तया) (देवतया) (अङ्गिरस्वत्) (ध्रुवे) पुरुषः स्त्री च (सीदतम्) ॥ ६४ ॥

अन्वयः—हे स्त्रि परमेष्ठी विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानायोदानाय प्रतिष्ठायै चरित्राय दिवस्पृष्ठे प्रथस्वतीं व्यचस्वतीं यां त्वा त्वां सादयतु सा त्वं दिवं यच्छ दिवं दृंह दिवं मा हिंसीः सूर्यो मह्या स्वस्त्या शन्तमेन छर्दिषा त्वाऽभिपातु सपतिस्त्वं च तया देवतयाऽङ्गिरस्वद् ध्रुवे सीदतम् ॥ ६४ ॥

भावार्थः—परमेश्वर आज्ञापयति यथा शिशिरर्त्तुः सुखप्रदो भवति तथा स्त्रीपुरुषौ परस्परं संतुष्टौ भूत्वा सर्वाण्युत्तमानि कर्माण्यनुष्ठाय दुष्टानि त्यक्त्वा परमेश्वरोपासनया च सततं प्रमोदेताम् ॥ ६४ ॥

पदार्थः—हे स्त्रि (परमेष्ठी) परमात्मा (विश्वस्मै) समग्र (प्राणाय) जीवन के सुख (अपानाय) दुःखनिवृत्ति (व्यानाय) नाना विद्याओं की

व्याप्ति (उद्गानाय) उत्तम यश (प्रतिष्ठायै) सर्वत्र सत्कार और (चरित्राय) श्रेष्ठ कर्मों के अनुष्ठान के लिये (दिवः) कमनीय गृहस्थ व्यवहार के (पृष्ठे) आधार में (प्रथस्वतीम्) बहुत प्रसिद्ध प्रशंसा वाली (व्यचस्वतीम्) प्रशंसित विद्या में व्याप्त जिस (त्वा) तुझ को (सादयतु) स्थापित करे सो तू (दिवम्) न्याय के प्रकाश को (यच्छ) दिया कर (दिवम्) विद्यारूप सूर्य को (दृंह) दृढ़ कर (दिवम्) धर्म के प्रकाश को (मा, हिंसीः) मत नष्ट कर (सूर्यः) चराचर जगत् का स्वामी ईश्वर (मह्या) बड़े अच्छे (स्वस्त्या) सत्कार (शन्तमेन) अतिशय सुख और (छर्दिषा) सत्यासत्य के प्रकाश से (त्वा) तुझ को (अभिपातु) सब ओर से रक्षा करे यह तेरा पति और तू दोनों (तया) उस (देवतया) परमेश्वर देवता के साथ (अङ्गिरस्वत्) प्राण के तुल्य (ध्रुवे) निश्चल (सीदतम्) स्थिर रहो ॥ ६४ ॥

भावार्थः—परमेश्वर आज्ञा करता है कि जैसे शिशिर ऋतु सुखदायी होता है वैसे स्त्रीपुरुष परस्पर संतोषी हों सब उत्तम कर्मों का अनुष्ठान कर और दुष्ट कर्मों को छोड़ के परमेश्वर की उपासना से निरन्तर आनन्द किया करें ॥६४॥

सहस्रस्येत्यस्य मधुच्छन्दा ऋषिः । विद्वान् देवता ।
विराडनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनर्मनुष्यैः किं कर्त्तव्यमित्याह ॥

फिर मनुष्यों को क्या करना चाहिये यह वि० ॥

सहस्रस्य प्रमासि सहस्रस्य प्रतिमासि सहस्रस्योन्मासि साहस्रोऽसि सहस्राय त्वा ॥ ६५ ॥

सहस्रस्य । प्रमेति प्रऽमा । असि । सहस्रस्य । प्रतिमेति प्रतिऽमा । असि । सहस्रस्य । उन्मेत्युत्ऽमा । असि । साहस्रः । असि । सहस्राय । त्वा ॥ ६५ ॥

पदार्थः—(सहस्रस्य) असंख्यपदार्थयुक्तस्य जगतः (प्रमा) प्रमाणं यथार्थविज्ञानम् (असि) (सहस्रस्य) असंख्य पदार्थविशेषस्य (प्रतिमा) प्रतिमीयन्ते परिमीयन्ते सर्वे पदार्था यया सा (असि) (सहस्रस्य) असंख्यातस्य स्थूलवस्तुनः (उन्मा) ऊर्ध्वं मिनोति यया तुलया तद्वत् (असि) (साहस्रः) सहस्रमसंख्याताः पदार्था विद्या वा विद्यन्ते यस्य सः (असि) (सहस्राय) असंख्यप्रयोजनाय (त्वा) त्वाम् ॥ ६५ ॥

अन्वयः—हे विद्वन् विदुषि वा यतस्त्वं सहस्रस्य प्रमेवासि सहस्रस्य प्रतिमेवासि सहस्रस्योन्मेवासि साहस्रोऽसि तस्मात्सहस्राय त्वा त्वां परमेष्ठी सत्ये व्यवहारे सादयतु ॥ ६५ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—पूर्वमन्त्रात्परमेष्ठीसादयत्विति पदद्वयमनुवर्त्तते । मनुष्याणां त्रिभिः साधनैर्व्यवहाराः सिध्यन्ति । एकं प्रमा यथार्थविज्ञानम् । द्वितीया प्रतिमा यानि परिमाणसाधनानि पदार्थतोलनार्थानि तृतीयमुन्मा तुलादिकं चेति ॥ ६५ ॥

इति शिशिरर्त्तोर्वर्णनम् । अत्रर्त्तुविद्याप्रतिपादनादेतदर्थस्य पूर्वाध्यायार्थेन सह संगतिरस्तीति वेद्यम् ॥

पदार्थः—हे विद्वन् पुरुष विदुषी स्त्रि वा जिस कारण तू (सहस्रस्य) असंख्यात पदार्थों से युक्त जगत् के (प्रमा) प्रमाण यथार्थ ज्ञान के तुल्य (असि) है (सहस्रस्य) असंख्य विशेष पदार्थों के (प्रतिमा) तोलनसाधन के तुल्य (असि) है (सहस्रस्य) असंख्य स्थूल वस्तुओं के (उन्मा) तोलने की तुला के समान (असि) है (साहस्रः) असंख्य पदार्थ और विद्याओं से युक्त (असि) है इस कारण (सहस्राय) असंख्यात प्रयोजनों के लिये (त्वा) तुझ को परमात्मा व्यवहार में स्थित करे ॥ ६५ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में वाचकलु०—यहां पूर्वमंत्र से परमेष्ठी, सादयतु, इन दो पदों की अनुवृत्ति आती है। तीन साधनों से मनुष्यों के व्यवहार सिद्ध होते हैं। एक तो यथार्थविज्ञान दूसरा पदार्थ तोलने के लिये तोल के साधन बाट और तीसरा तराजू आदि। यह शिशिर ऋतु का वर्णन पूरा हुआ ॥६५॥

इस अध्याय में ऋतुविद्या का प्रतिपादन होने से इस अध्याय के अर्थ की पूर्व अध्याय के अर्थ के साथ संगति जाननी चाहिये।

इति श्रीमद्विद्वद्वरपरमहंसपरिव्राजकाचार्याणां परमविदुषां
श्रीयुतविरजानन्दसरस्वतीस्वामिनां शिष्येण श्रीमत्पर-
महंसपरिव्राजकाचार्येण श्रीयुतदयानन्दसरस्वती
स्वामिना विरचिते संस्कृतार्य्यभाषाभ्यां
विभूषिते सुप्रमाणयुक्ते यजुर्वेदभाष्ये
पञ्चदशोऽध्यायः सम्पूर्णः ॥१५॥

अथ षोडशोऽध्याय आरम्यते ॥

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव । यद्भद्रं तन्न आसुव ॥ १ ॥

नमस्त इत्यस्य परमेष्ठी कुत्स ऋषिः । रुद्रो देवता ।
आर्षी गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

अथ राजधर्म उपदिश्यते ॥

अब सोलहवें अध्याय का आरम्भ करते हैं ॥

इस के प्रथम मन्त्र में राजधर्म का उपदेश किया है ॥

नमस्ते रुद्र मन्यवऽ उतोत इषवे नमः ।
बाहुभ्यामुत ते नमः ॥ १ ॥

नमः । ते । रुद्र । मन्यवे । उतोऽइत्युतो । ते । इषवे ।
नमः । बाहुभ्यामिति बाहुऽभ्याम् । उत । ते । नमः ॥ १ ॥

पदार्थः—(नमः) वज्रम् । नम इति वज्रना० । निघं० २ । २० । (ते) तवोपरि (रुद्र) दुष्टानां शत्रूणां रोदयितः । कतमे ते रुद्रा इति दशेमे पुरुषे प्राणा एकादश आत्मा । एकादश रुद्राः कस्मादेते रुद्रा यदस्मान्मर्त्याच्छरीरादुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति यत्तद्रोदयन्ति तस्माद्रुद्राः । इति शतपथब्राह्मणे । रोदेर्णिलुक् च । अनेनोणादिगणसूत्रेण रोदिधातो रक् प्रत्ययो णिलुक् च (मन्यवे) क्रोधयुक्ताय वीराय (उतो) अपि (ते) तव (इषवे) इष्णात्यभीक्ष्णं हिनस्ति शत्रून् येन तस्मै (नमः) अन्नम् । नम इत्यन्नना० । निघं० २ । ७ । (बाहुभ्याम्) भुजाभ्याम् (उत) अपि (ते) तव (नमः) वज्रम् ॥ १ ॥

अन्वयः—हे रुद्र ते मन्यवे नमोऽस्तु । उतो इषवे ते नमोऽस्तु । उत ते बाहुभ्यां नमोऽस्तु ॥ १ ॥

भावार्थः—ये राज्यं चिकीर्षेयुस्ते बाहुबलं युद्धशिक्षाशस्त्रास्त्राणि च संपादयेयुः ॥ १ ॥

पदार्थः—हे (रुद्र) दुष्ट शत्रुओं को रुलानेहारे राजन् (ते) तेरे (मन्यवे) क्रोधयुक्त वीर पुरुष के लिये (नमः) वज्र प्राप्त हो (उतो) और (इषवे) शत्रुओं को मारनेहारे (ते) तेरे लिये (नमः) अन्न प्राप्त हो (उत) और (ते) तेरे (बाहुभ्याम्) भुजाओं से (नमः) वज्र शत्रुओं को प्राप्त हो ॥ १ ॥

भावार्थः—जो राज्य किया चाहैं वे हाथ पांव का बल, युद्ध की शिक्षा तथा शस्त्र और अस्त्रों का संग्रह करें ॥ १ ॥

या त इत्यस्य परमेष्ठी वा कुत्स ऋषिः । रुद्रो देवता ।
आर्षी स्वराडनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

अथ शिक्षकशिष्यव्यवहारमाह ॥

अब शिक्षक और शिष्य का व्यवहार अगले मंत्र में क० ॥

या ते॑ रुद्र शि॒वा त॒नूरघो॒राऽपा॑पकाशिनी । तया॑ नस्त॒न्वा॒ शन्त॑मया॒ गिरि॑शन्ता॒भि चा॑कशीहि ॥ २ ॥

या । ते॒ । रु॒द्र॒ । शि॒वा । त॒नूः । अघो॑रा । अपा॑पकाशि॒नीत्यपा॑पऽकाशिनी । तया॑ । नः॒ । त॒न्वा॒ । शन्त॑म॒येति॒ शम्ऽत॑मया । गिरि॑श॒न्तेति॒ गिरि॑ऽशन्त । अ॒भि । चा॒क॒शी॒हि॒ ॥ २ ॥

पदार्थः—(या) (ते) तव (रुद्र) दुष्टानां भयंकर श्रेष्ठानां सुखकर (शिवा) कल्याणकारिणी (तनूः) शरीरं विस्तृतोपदेशनीतिर्वा (अघोरा) अविद्यमानो घोर उपद्रवो यया सा (अपापकाशिनी) अपापान्सत्यधर्मान् काशितुं शीलमस्याः सा (तया) (नः) अस्मान् (तन्वा) विस्तृतया (शन्तमया) अतिशयेन सुखमापिकया (गिरिशन्त) यो गिरिणा मेघेन सत्योपदेशेन वा शं सुखं तनोति तत्सम्बुद्धौ । गिरिरिति मेघना० निघं० १ । १० । (अभि) सर्वतः (चाकशीहि) भृशं कदव पुनः पुनः शाधि । अयं कशधातोर्यङ्लुगन्तः प्रयोगः । वा छन्दसीति मिस्त्वादीट् ॥२॥

अन्वयः—हे गिरिशन्त रुद्र या ते तवाघोराऽपापकाशिनी शिवा तनूरस्ति तया शन्तमया तन्वा नस्त्वमभिचाकशीहि ॥ २ ॥

भावार्थः—शिक्षकाः शिष्येभ्यः धर्म्यां नीतिं शिक्षित्वा निष्पापान् कल्याणाचरणान् सम्पादयन्तु ॥ २ ॥

पदार्थः—हे (गिरिशन्त) मेघ वा सत्य उपदेश से सुख पहुंचाने वाले (रुद्र) दुष्टों को भय और श्रेष्ठों के लिये सुखकारी शिक्षक विद्वन् (या) जो (ते) आप की (अघोरा) घोर उपद्रव से रहित (अपापकाशिनी) सत्य धर्मों को प्रकाशित करने हारी (शिवा) कल्याणकारिणी (तनूः) देह वा विस्तृत उपदेश रूप नीति है (तया) उस (शन्तमया) अत्यन्त सुख प्राप्ति कराने वाली (तन्वा) देह वा विस्तृत उपदेश की नीति से (नः) हम लोगों को आप (अभि, चाकशीहि) सब ओर से शीघ्र शिक्षा कीजिये ॥ २ ॥

भावार्थः—शिक्षक लोग शिष्यों के लिये धर्मयुक्त नीति की शिक्षा दें और पापों से पृथक् करके कल्याण रूपी कर्मों के आचरण में नियुक्त करें ॥ २ ॥

यामिषुमित्यस्य परमेष्ठी वा कुत्स ऋषिः । रुद्रो देवता ।
विराडार्ष्यनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

अथ राजपुरुषैः किं कर्त्तव्यमित्याह ॥

अब राजपुरुषों को क्या करना चाहिये यह वि० ॥

यामिषुं गिरिशन्त हस्ते बिभर्ष्यस्तवे । शिवां गिरित्र तां कुरु मा हिꣳसीः पुरुषं जगत् ॥ ३ ॥

याम् । इषुम् । गिरिशन्तेति गिरिऽशन्त । हस्ते । बिभर्षि । अस्तवे । शिवाम् । गिरित्रेति गिरिऽत्र । ताम् । कुरु । मा । हिꣳसीः । पुरुषम् । जगत् ॥ ३ ॥

पदार्थः—(याम्) (इषुम्) बाणावलिम् (गिरिशन्त) गिरिणा मेघेन शं करोषि तत्सम्बुद्धौ (हस्ते) (बिभर्षि) धरसि (अस्तवे) असितुं प्रक्षेप्तुम् । अत्र असु धातोस्तुमर्थे तवेन् प्रत्ययः (शिवाम्) मङ्गलकारिणम् (गिरित्र) गिरीन् विद्योपदेशकान् मेघान् वा त्रायते रक्षति तत्सम्बुद्धौ (ताम्) (कुरु) (मा) निषेधे (हिंसीः) हिंस्याः (पुरुषम्) पुरुषार्थयुक्तम् (जगत्) संसारम् ॥ ३ ॥

अन्वयः—हे गिरिशन्त सेनापते यतस्त्वमस्तवे यामिषुं हस्ते बिभर्षि। अतस्तां शिवां कुरु । हे गिरित्र त्वं पुरुषं जगन्मा हिंसीः ॥ ३ ॥

भावार्थः—राजपुरुषैर्युद्धविद्यां बुद्ध्वा शस्त्राणि धृत्वा मनुष्यादयः श्रेष्ठाः प्राणिनो नो हिंसनीयाः किन्तु मङ्गलाचारेण रक्षणीयाः ॥ ३ ॥

पदार्थः—हे (गिरिशन्त) मेघद्वारा सुख पहुंचानेवाले सेनापति जिस कारण तू (अस्तवे) फेंकने के लिये (याम्) जिस (इषुम्) बाण को (हस्ते) हाथ में (बिभर्षि) धारण करता है इसलिये (ताम्) उसको (शिवाम्) मङ्गलकारी (कुरु) कर हे (गिरित्र) विद्या के उपदेशकों वा मेघों की रक्षा करनेहारे राजपुरुष तू (पुरुषम्) पुरुषार्थयुक्त मनुष्यादि (जगत्) संसार को (मा) मत (हिंसीः) मार ॥ ३ ॥

भावार्थः—राजपुरुषों को चाहिये कि युद्ध विद्या को जान और शस्त्र अस्त्रों को धारण करके मनुष्यादि श्रेष्ठ प्राणियों को क्लेश न देवें वा न मारें किन्तु मंगलरूप आचरण से सब की रक्षा करें ॥ ३ ॥

शिवेनत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । रुद्रो देवता ।
निचृदार्ष्यनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

अथ चिकित्सककृत्यमाह ।

अब वैद्य का कृत्य अगले मंत्र में क० ॥

शिवेन वचसा त्वा गिरिशाच्छा वदामसि ।
यथा नः सर्वमिज्जगदयक्ष्मꣳसुमना असत् ॥ ४ ॥

शिवेन । वचसा । त्वा । गिरिशेति गिरिऽश । अच्छ ।
वदामसि । यथा । नः । सर्वम् । इत् । जगत् । अयक्ष्मम् ।
सुमना इति सुऽमनाः । असत् ॥ ४ ॥

पदार्थः—(शिवेन) कल्याणकारकेण (वचसा) वचनेन (त्वा) त्वाम् (गिरिश) यो गिरिषु पर्वतेषु मेघेषु वा शेते तत्सम्बुद्धौ (अच्छ) सम्यक् । निपातस्य चेति दीर्घः । (वदामसि) वदेम (यथा) (नः) अस्माकम् (सर्वम्) (इत्) एव (जगत्) मनुष्यादिकं जङ्गमं राज्यम् (अयक्ष्मम्) यक्ष्मादिरोगरहितम् (सुमनाः) शोभनम् मनो यस्य सः (असत्) स्यात् ॥ ४ ॥

अन्वयः—हे गिरिश रुद्र वैद्यराज सुमनास्त्वं यथा नः सर्वं जगदयक्ष्ममसत् तथेच्छिवेन वचसा त्वा वयमच्छवदामसि ॥ ४ ॥

भावार्थः—अत्रोपमालं०—यो वैद्यकशास्त्रमधीत्य पर्वतादिषु स्थिता ओषधीरपो वा सुपरीक्ष्य सर्वेषां कल्याणाय निष्कपटित्वेन रोगान् निवार्य मित्ररूपया वाचा वर्त्तेत तं वैद्यं सर्वे सत्कुर्युः ॥ ४ ॥

पदार्थः—हे (गिरिश) पर्वत वा मेघों में सोनेवाले रोगनाशक वैद्यराज तू (सुमनाः) प्रसन्नचित्त होकर आप (यथा) जैसे (नः) हमारा (सर्वम्)

सब (जगत्) मनुष्यादि जङ्गम और स्थावर राज्य (अयक्ष्मम्) क्षयी आदि राजरोगों से रहित (असत्) हो वैसे (नः) हो (शिवेन) कल्याणकारी (वचसा) वचन से (त्वा) तुझ को हम लोग (अच्छवदामसि) अच्छा कहते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में वाचकलु०—जो पुरुष वैद्यकशास्त्र को पढ़ पर्वतादि स्थानों की ओषधियों वा जलों की परीक्षा कर और सब के कल्याण के लिये निष्कपटता से रोगों को निवृत्त करके प्रिय वाणी से वर्त्ते उस वैद्य का सब लोग सत्कार करें ॥ ४ ॥

अध्यवोचदित्यस्य बृहस्पतिर्ऋषिः । एकरुद्रो देवता ।
भुरिगार्षी बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर वही वि० ॥

अध्यवोचदधिवक्ता प्रथमो दैव्यो भिषक् । अहींश्च सर्वाञ्जम्भयन्त्सर्वाश्च यातुधान्योऽधराचीः परा सुव ॥ ५ ॥

अधि । अवोचत् । अधिवक्तेत्यधिऽवक्ता । प्रथमः । दैव्यः । भिषक् । अहीन् । च । सर्वान् । जम्भयन् । सर्वाः । च । यातुधान्य इति यातुऽधान्यः । अधराचीः । परा । सुव ॥ ५ ॥

पदार्थः—(अधि) (अवोचत्) उपदिशेत् (अधिवक्ता) सर्वेषामुपर्यधिष्ठातृत्वेन वर्त्तमानः सन् वैद्यकशास्त्रस्याध्यापकः (प्रथमः) आदिमः (दैव्यः) देवेषु विद्वत्सु भवः (भिषक्) निदानादिविज्ञानेन रोगनिवारकः

(अहीन्) सर्पवत् प्राणान्तकान् रोगान् (च) (सर्वान्) अखिलान् (जम्भयन्) ओषधैर्निवारयन् (सर्वाः) (च) (यातुधान्यः) रोगकारिण्यो व्यभिचारिण्यश्च स्त्रियः (अधराचीः) या अधरान् नीचानञ्चन्ति ताः (परा) दूरे (सुव) प्रक्षिप ॥ ५ ॥

अन्वयः—हे रुद्र यः प्रथमो दैव्योऽधिवक्ता भिषग्भवान् सर्वानहीन् रोगांश्च जम्भयन्नध्यवोचत् स त्वं याश्च सर्वा यातुधान्योऽधराचीः सन्ति तास्च परासुव ॥ ५ ॥

भावार्थः—राजादिसभासदः सर्वेषामधिष्ठातारं मुख्यं धार्मिकं लब्धसर्वपरीक्षं वैद्यं राज्ये सेनायां च नियोज्य बलसुखनाशकान् रोगान् व्यभिचारिणो जनान् व्यभिचारिणीः स्त्रीश्च निवारयेयुः ॥ ५ ॥

पदार्थः—हे रुद्र रोगनाशक वैद्य ! जो (प्रथमः) मुख्य (दैव्यः) विद्वानों में प्रसिद्ध (अधिवक्ता) सब से उत्तम कक्षा के वैद्यकशास्त्र को पढ़ाने तथा (भिषक्) निदान आदि को जान के रोगों को निवृत्त करनेवाले आप (सर्वान्) सब (अहीन्) सर्प के तुल्य प्राणान्त करनेहारे रोगों को (च) निश्चय से (जम्भयन्) ओषधियों से हटाते हुए (अध्यवोचत्) अधिक उपदेश करें सो आप जो (सर्वाः) सब (अधराचीः) नीच गति को पहुंचाने वाली (यातुधान्यः) रोगकारिणी ओषधि वा व्यभिचारिणी स्त्रियां हैं उनको (परा) दूर (सुव) कीजिये ॥ ५ ॥

भावार्थः—राजादि सभासद् लोग सब के अधिष्ठाता मुख्य धर्मात्मा जिसने सब रोगों वा ओषधियों की परीक्षा ली हो उस वैद्य को राज्य और सेना में रख के बल और सुख के नाशक रोगों तथा व्यभिचारिणी स्त्री और पुरुषों को निवृत्त करावें ॥ ५ ॥

असावित्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । रुद्रो देवता ।

निचृदार्षी पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

पुनः स एव राजधर्म्मः प्रोच्यते ॥

फिर भी वही राजधर्म का वि० ॥

असौ यस्ताम्रोऽअरुणऽउत बभ्रुः सुमङ्गलः। ये चैनꣳ रुद्राऽअभितो दिक्षु श्रिताः सहस्रशोऽवैषाꣳ हेडऽईमहे ॥ ६ ॥

असौ। यः। ताम्रः। अरुणः। उत। बभ्रुः। सुमङ्गल इति सुऽमङ्गलः। ये। च। एनम्। रुद्राः। अभितः। दिक्षु। श्रिताः। सहस्रश इति सहस्रऽशः। अव। एषाम्। हेडः। ईमहे ॥ ६ ॥

पदार्थः—(असौ) प्रत्यक्षविषयः (यः) (ताम्रः) ताम्रमिव कठिनाङ्गः। अत्र अमितम्योर्दीर्घश्च। उ० २। १५। अनेनायं सिद्धः (अरुणः) अग्निरिव तीव्रतेजाः (उत) अपि (बभ्रुः) विद्युद्धूम्रवर्णः (सुमङ्गलः) शोभनानि कल्याणकराणि कर्माणि यस्य सः (ये) (च) (एनम्) राजानम् (रुद्राः) शत्रूणां रोदयितारः शूरवीराः (अभितः) सर्वतः (दिक्षु) पूर्वादिषु (श्रिताः) सेवमानाः (सहस्रशः) असंख्याता बहवः (अव) निषेधे (एषाम्) वीराणाम् (हेडः) अनादरकर्त्ता (ईमहे) याचामहे ॥ ६ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या योऽसौ ताम्रो हेडोऽरुणो बभ्रुरुत सुमङ्गलो भवेत्। ये च सहस्रशो रुद्रा अभितो दिक्ष्वेनं श्रिताः स्युरेषामाश्रयेण वयमवेमहे ॥ ६ ॥

भावार्थः—हे मनुष्याः! यो राजाऽग्निवद्दुष्टदाहकश्चन्द्रवच्छ्रेष्ठेषु ह्लादको न्यायकारी शुभलक्षणो येऽस्यैतादृशा भृत्या राज्ये सर्वत्र वसन्तु विचरन्तु वा समीपे वर्त्तन्ताम्। तेषां सत्कारेण दुष्टानां तिरस्कारं यूयं कारयत ॥ ६ ॥

पदार्थः—हे प्रजास्थ मनुष्यो! (यः) जो (असौ) वह (ताम्रः) ताम्रवत् दृढाङ्गयुक्त (हेडः) शत्रुओं का अनादर करने हारा (अरुणः) सुन्दर

गौराङ्ग (बभ्रुः) किञ्चित् पीला वा धुमेला वर्ण युक्त (उत) और (सुमङ्गलः) सुन्दर कल्याणकारी राजा हो (च) और (ये) जो (सहस्रशः) हजारहों (रुद्राः) दुष्ट कर्म करने वालों को रुलानेहारे (अभितः) चारों ओर (दिक्षु) पूर्वादि दिशाओं में (एनम्) इस राजा के (श्रिताः) आश्रय से वसते हों (एषाम्) इन वीरों का आश्रय लेके हम लोग (अवेमहे) विरुद्धाचरण की इच्छा नहीं करते हैं ॥ ६ ॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! जो राजा अग्नि के समान दुष्टों को भस्म करता, चन्द्र के तुल्य श्रेष्ठों को सुख देता, न्यायकारी, शुभलक्षणयुक्त और जो इस के तुल्य भृत्य राज्य में सर्वत्र वसें विचरें वा समीप में रहें उन का सत्कार करके उन से दुष्टों का अपमान तुम लोग कराया करो ॥ ६ ॥

असौ य इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । रुद्रो देवता ।
विराडार्षी पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर भी वही वि० ॥

असौ योऽवसर्पति नीलग्रीवो विलोहितः । उतैनं गोपा अदृश्रन्नदृश्रन्नुदहार्य्यः स दृष्टो मृडयाति नः ॥ ७ ॥

असौ । यः । अवसर्प्पतीत्यवऽसर्प्पति । नीलग्रीव इति नीलऽग्रीवः । विलोहित इति विऽलोहितः । उत । एनम् । गोपाः । अदृश्रन् । अदृश्रन् । उदहार्य्य इत्युदऽहार्य्यः । सः । दृष्टः । मृडयाति । नः ॥ ७ ॥

पदार्थः—(असौ) (यः) (अवसर्पति) दुष्टेभ्यो विरुद्धं गच्छति (नीलग्रीवः) नीलमणियुक्ता ग्रीवा यस्य सः (विलोहितः) विविधैः शुभगुणकर्मस्वभावैः रोहितो वृद्धः (उत) (एनम्) (गोपाः) रक्षका भृत्याः (अदृश्रन्) समीचीनान् (अदृश्रन्) पश्येयुः (उदहार्यः) या उदकं हरन्ति ताः (सः) (दृष्टः) स समीक्षितः (मृडयाति) सुखयतु (नः) अस्मान् सज्जनान् ॥ ७ ॥

अन्वयः—योऽसौ नीलग्रीवो विलोहितो रुद्रः सेनेशोऽवसर्पति यमेनं गोपा अदृश्रन्नुतापयुदहार्योऽदृश्रन् स दृष्टः सन् नोऽस्मान् मृडयाति ॥ ७ ॥

भावार्थः—यो दुष्टानां विरोधि श्रेष्ठप्रियो दर्शनीयः सेनापतिः सर्वाः सेना रञ्जयेत् स शत्रून् विजेतुं शक्नुयात् ॥ ७ ॥

पदार्थः—(यः) जो (असौ) वह (नीलग्रीव) नील मणियों की माला पहिने (विलोहित) विविध प्रकार के शुभ गुण, कर्म और स्वभाव से युक्त श्रेष्ठ (रुद्र) शत्रुओं का हिंसक सेनापति (अवसर्पति) दुष्टों से विरुद्ध चलता है। जिस (एनम्) इसको (गोपाः) रक्षक भृत्य (अदृश्रन्) देखें (उत) और (उदहार्य) जल लानेवाली कहारी स्त्रियां (अदृश्रन्) देखें (सः) वह सेनापति (दृष्ट) देखा हुआ (नः) हम सब धार्मिकों को (मृडयाति) सुखी करे ॥ ७ ॥

भावार्थः—जो दुष्टों का विरोधी श्रेष्ठों का प्रिय दर्शनीय सेनापति सब सेनाओं को प्रसन्न करे वह शत्रुओं को जीत सके ॥ ७ ॥

नमोऽस्त्वित्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । रुद्रो देवता ।
निचृदार्ष्यनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर भी वही वि० ॥

नमोऽस्तु नीलग्रीवाय सहस्राक्षाय मीढुषे।
अथो ये अस्य सत्वानोऽहन्तेभ्योऽकरन्नमः॥ ८॥

नमः। अस्तु। नीलग्रीवायेति नीलऽग्रीवाय। सहस्राक्षायेति सहस्रऽअक्षाय। मीढुषे। अथो इत्यथो। ये। अस्य। सत्वानः। अहम्। तेभ्यः। अकरम्। नमः॥ ८॥

पदार्थः—(नमः) अन्नम् (अस्तु) भवतु (नीलग्रीवाय) शुद्धकण्ठस्वराय (सहस्राक्षाय) सहस्रेषु भृत्येष्वक्षिणी यस्य तस्मै (मीढुषे) वीर्यवते (अथो) अनन्तरम् (ये) (अस्य) सेनापतेरधिकारे (सत्वानः) सत्त्वगुणबलोपेताः (अहम्) प्रजासेनापालनाधिकारेऽधिकृतोऽमात्यः (तेभ्यः) (अकरम्) कुर्याम् (नमः) सुसंस्कृतमन्नादिकम्॥ ८॥

अन्वयः—नीलग्रीवाय सहस्राक्षाय मीढुषे सेनापतये मद्दत्तं नमोऽस्तु। अथो येऽस्य सत्वानः सन्ति तेभ्योऽपि नमोऽहमकरं निष्पादयेयम्॥ ८॥

भावार्थः—सभापत्यादिभिर्यादृशः सत्कारः सेनापतेः क्रियते तादृश एव सेनास्थानां भृत्यानामपि कर्त्तव्यः॥ ८॥

पदार्थ—(नीलग्रीवाय) जिसका कंठ और स्वर शुद्ध हो उस (सहस्राक्षाय) हजारहों भृत्यों के कार्य देखनेवाले (मीढुषे) पराक्रमयुक्त सेनापति के लिये मेरा दिया (नमः) अन्न (अस्तु) प्राप्त हो (अथो) इसके अनन्तर (ये) जो (अस्य) इस सेनापति के अधिकार में (सत्वानः) सत्त्व गुण तथा बल से युक्त पुरुष हैं (तेभ्यः) उनके लिये भी (अहम्) मैं (नमः) अन्नादि पदार्थों को (अकरम्) सिद्ध करूं॥ ८॥

भावार्थ—सभापति आदि राजपुरुषों को चाहिये कि अन्नादि पदार्थों से जैसा सत्कार सेनापति का करें वैसा ही सेना के भृत्यों का भी करें॥ ८॥

प्रमुञ्चेत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । रुद्रो देवता ।
भुरिगार्ष्युष्णिक् छन्दः । ऋषभः स्वरः ॥

पुनस्तदेवाह ॥
फिर भी वही वि० ॥

प्र मुंञ्च धन्वन॒स्त्वमु॒भयो॒रार्त्न्यो॒र्ज्याम् । याश्च॑ ते हस्त॒ऽइष॑वः॒ परा॒ ता भ॑गवो वप ॥९॥

प्र । मु॒ञ्च॒ । धन्व॑नः । त्वम् । उ॒भयोः॑ । आर्त्न्योः॑ । ज्याम् । याः । च॒ । ते॒ । हस्ते॑ । इष॑वः । परा॑ । ताः । भ॒ग॒व॒ऽइति॑ भगवः । व॒प॒ ॥ ९ ॥

पदार्थः—(प्र) प्रकृष्टार्थे (मुञ्च) त्यज (धन्वनः) धनुषः (त्वम्) सेनेशः (उभयोः) (आर्त्न्योः) पूर्वापरयोः (ज्याम्) बाणसन्धानार्थम् (याः) (च) (ते) तव (हस्ते) करे (इषवः) बाणाः (परा) दूरे (ताः) (भगवः) ऐश्वर्ययुक्त (वप) निक्षिप ॥ ९ ॥

अन्वयः—हे भगवः सेनापते ते तव हस्ते या इषवः सन्ति ता धन्वन उभयोरार्त्न्योर्ज्यामनुसन्धाय शत्रूणामुपरि त्वं प्रमुञ्च याश्च त्वोपरि शत्रुभिः प्रक्षिप्तास्ताः परा वप ॥ ९ ॥

भावार्थः—सेनापत्यादिभिर्धनुषा प्रक्षिप्तैर्बाणैः शत्रवो विजेतव्याः शत्रुक्षिप्ताश्च निवारणीयाः ॥ ९ ॥

पदार्थः—हे (भगवः) ऐश्वर्ययुक्त सेनापते (ते) तेरे (हस्ते) हाथ में (याः) जो (इषवः) बाण हैं (ताः) उन को (धन्वनः) धनुष् के (उभयोः) दोनों (आर्त्न्योः) पूर्व पर किनारों की (ज्याम्) प्रत्यञ्चा में जोड़ के शत्रुओं पर (त्वम्) तू (प्र, मुञ्च) बल के साथ छोड़ (च) और जो तेरे पर शत्रुओं ने बाण छोड़े हुए हों उन को (परा, वप) दूर कर ॥ ९ ॥

भावार्थः—सेनापति आदि राजपुरुषों को चाहिये कि धनुष् से बाण चढ़ाकर शत्रुओं को जीतें और शत्रुओं के फेंके हुए बाणों का निवारण करें ॥ ९ ॥

विज्यन्धनुरित्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । रुद्रो देवता ।
भुरिगार्ष्यनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनस्तमेवाह ॥

फिर वही वि० ॥

विज्यन्धनुः कपर्दिनो विशल्यो बाणवाँ२॥ उत । अनेशन्नस्य या इषव आभुरस्य निषङ्गधिः ॥ १० ॥

विज्यमिति विऽज्यम् । धनुः । कपर्दिनः । विशल्य इति विऽशल्यः । बाणवानिति बाणऽवान् । उत । अनेशन् । अस्य । याः । इषवः । आभुः । अस्य । निषङ्गधिरिति निषङ्गऽधिः ॥ १० ॥

पदार्थः—(विज्यम्) विगता ज्या यस्मात्तत् (धनुः) (कपर्दिनः) प्रशंसितो जटाजूटो विद्यते यस्य तस्य (विशल्यः) विगतानि शल्यानि यस्य सः (बाणवान्) बहवो बाणा विद्यन्ते यस्य सः (उत) अपि (अनेशन्) नश्येयुः । णशु अदर्शने । लुङि रूपम् । नशिमन्योरलिट्येत्वं वक्तव्यम् । अनेन वार्त्तिकेनात्रैत्वम् (अस्य) सेनापतेः (याः) (इषवः) बाणाः (आभुः) रिक्तः खड्गादिरहितः (अस्य) (निषङ्गधिः) निषङ्गानि शस्त्रास्त्राणि धीयन्ते यस्मिन् सः ॥ १० ॥

अन्वयः—हे धनुर्वेदविदो जना अस्य कपर्दिनः सेनापतेर्धनुर्विज्यं मा भूदयं विशल्य आभुर्माभूत्। उत अस्य शस्त्रास्त्रधारकस्य निषङ्गधिर्मृषा माभूत्। बाणवांश्चायं भवतु। या अस्येषवोऽनेशन् ता अस्मै नवा दत्त ॥ १० ॥

भावार्थः—युयुत्सुना जनेन धनुर्ज्यादयो दृढा बहवो बाणाश्च धार्याः सेनापत्यादिभिर्युध्यमानान् विलोक्य पुनश्च तेभ्यो बाणादीनि साधनानि देयानि ॥ १० ॥

पदार्थः—हे धनुर्वेद को जानने हारे पुरुषो (अस्य) इस (कपर्दिनः) प्रशंसित जटाजूट का धारण करने हारे सेनापति का (धनुः) धनुष् (विज्यम्) प्रत्यञ्चा से रहित न होवे तथा यह (विशल्यः) बाण के अग्रभाग से रहित और (आभुः) आयुधों से खाली मत हो (उत) और (अस्य) इस शस्त्रों को धारण करने वाले सेनापति का (निषङ्गधिः) बाणादि शस्त्रास्त्र कोष खाली मत हो तथा यह (बाणवान्) बहुत बाणों से युक्त होवे (याः) जो (अस्य) इस सेनापति के (इषवः) बाण (अनेशन्) नष्ट हो जावें वे इस को तुम लोग नवीन देओ ॥ १० ॥

भावार्थः—युद्ध की इच्छा करने वाले पुरुषों को चाहिये कि धनुष् की प्रत्यञ्चा आदि को दृढ़ और बहुत से बाणों को धारण करें सेनापति आदि को चाहिये कि लड़ते हुए अपने भृत्यों को देख के यदि उन के पास बाणादि युद्ध के साधन न रहें तो फिर २ भी दिया करें ॥ १० ॥

या ते हेतिरित्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः। रुद्रो देवता।

निचृदनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः॥

सेनाधीशादयः कैः कथमुपदेश्या इत्युपदिश्यते॥

सेनापति आदि किन से कैसे उपदेश करने योग्य हैं यह वि०॥

या ते॑ हे॒तिर्मी॑ढुष्टम॒ हस्ते॑ ब॒भूव॑ ते॒ धनुः॑ ।

त॒यास्मान्वि॒श्वत॒स्त्वम॑य॒क्ष्मया॒ परि॑ भुज ॥ ११ ॥

या । ते । हेतिः । मिढुष्टम । मीढुष्टमेति मीढुःऽतम । हस्ते । बभूव । ते । धनुः । तया । अस्मान् । विश्वतः । त्वम् । अयक्ष्मया । परि । भुज ॥ ११ ॥

पदार्थः—(या) सेना (ते) तव (हेतिः) वज्रः । हेतिरिति वज्रना० । निघं० २ । २० । (मिढुष्टम) अतिशयेन वीर्यस्य सेचक सेनापते (हस्ते) (बभूव) भवेत् (ते) (धनुः) (तया) (अस्मान्) (विश्वतः) सर्वतः (त्वम्) (अयक्ष्मया) पराजयादिपीडानिवारकया (परि) समन्तात् (भुज) पालय ॥ ११ ॥

अन्वयः—हे मीढुष्टम सेनापते या ते सेनाऽस्ति । यच्च ते हस्ते धनुर्हेतिश्च बभूव । तयाऽयक्ष्मया सेनया तेन चास्मान् प्रजासेनाजनान् त्वं विश्वतः परि भुज ॥ ११ ॥

भावार्थः—विद्यावयोवृद्धैरुपदेशकैर्विद्वद्भिः सेनापत्यादय एवमुपदेष्टव्या भवन्तो यावद्बलं तावता सर्वे श्रेष्ठाः सर्वथा रक्षणीया दुष्टाश्च ताडनीया इति ॥ ११ ॥

पदार्थ—हे (मीढुष्टम) अत्यन्त वीर्य के सेचक सेनापते (या) जो (ते) तेरी सेना है और जो (ते) तेरे (हस्ते) हाथ में (धनुः) धनुष् तथा (हेतिः) वज्र (बभूव) हो (तया) उस (अयक्ष्मया) पराजय आदि की पीड़ा निवृत्त करने हारी सेना से और उस धनुष् आदि से (अस्मान्) हम प्रजा और सेना के पुरुषों की (त्वम्) तू (विश्वतः) सब ओर से (परि) अच्छे प्रकार (भुज) पालना कर ॥ ११ ॥

भावार्थ—विद्या और अवस्था में वृद्ध उपदेशक विद्वानों को चाहिये कि सेनापति आदि को ऐसा उपदेश करें कि आप लोगों के अधिकार में जितना सेना आदि बल है उस से सब श्रेष्ठों की सब प्रकार रक्षा किया करें और दुष्टों को ताड़ना दिया करें ॥ ११ ॥

परीत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । रुद्रा देवता । निचृदा-
र्ष्यनुष्टुप्छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

राजप्रजाजनैरितरेतरं किं कार्य्यमित्युपदिश्यते ॥

राजा और प्रजा के पुरुषों को परस्पर क्या करना चाहिये इस वि० ॥

परि ते धन्वनो हेतिरस्मान्वृणक्तु विश्वतः ।
अथो यऽइषुधिस्तवारे अस्मन्नि धेहि तम् ॥ १२ ॥

परि । ते । धन्वनः । हेतिः । अस्मान् । वृणक्तु ।
विश्वतः । अथोऽइत्यथो । यः । इषुधिरितीषुऽधिः । तव ।
आरे । अस्मत् । नि । धेहि । तम् ॥ १२ ॥

पदार्थः—(परि) (ते) तव (धन्वनः) (हेतिः) गतिः (अस्मान्) (वृणक्तु) परित्यजतु (विश्वतः) (अथो) आनन्तर्ये (यः) (इषुधिः) इषवो धीयन्ते यस्मिन् सः (तव) (आरे) समीपे दूरे वा (अस्मत्) अस्माकं सकाशात् (नि) (धेहि नितरां धर (तम्) ॥ १२ ॥

अन्वयः—हे सेनापते या ते धन्वनो हेतिरस्ति तयाऽस्मान् विश्वत आरे भवान् परिवृणक्तु । अथो यस्तवेषुधिरस्ति तमस्मदारे निधेहि ॥ १२ ॥

भावार्थः—राजप्रजाजनैर्युद्धशस्त्राभ्यासं कृत्वा शस्त्रादिसामग्र्यः सदा समीपे रक्षणीयाः । ताभिः परस्परस्य रक्षा कार्य्या सुखं चोन्नेयम् ॥ १२ ॥

पदार्थः—हे सेनापति ! जो (ते) आप के (धन्वनः) धनुष् की (हेतिः) गति है उस से (अस्मान्) हम लोगों को (विश्वतः) सब ओर से (आरे) दूर में आप (परिवृणक्तु) त्यागिये (अथो) इस के पश्चात् (यः) जो (तव) आप का (इषुधिः) बाण रखने का घर अर्थात् तर्कस है (तम्) उस को (अस्मत्) हमारे समीप से (नि, धेहि) निरन्तर धारण कीजिये ॥ १२ ॥

भावार्थः—राज और प्रजाजनों को चाहिये कि युद्ध और शस्त्रों का अभ्यास कर के शस्त्रादि सामग्री सदा अपने समीप रक्खें उन सामग्रियों से एक दूसरे की रक्षा और सुख की उन्नति करें ॥ १२ ॥

अवतत्येत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । रुद्रो देवता ।
निचृदार्ष्यनुष्टुप्छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

राजपुरुषैः कथं भवितव्यमित्याह ॥
राजपुरुषों को कैसा होना चाहिये यह वि० ॥

अवतत्य धनुष्ट्वᳬसहस्राक्ष शतेषुधे । निशीर्य्य शल्यानाम्मुखा शिवो नः सुमना भव ॥ १३ ॥

अवतत्येत्यवऽतत्य । धनुः । त्वम् । सहस्राक्षेति सहस्रऽअक्ष । शतेषुध इति शतऽइषुधे । निशीर्य्येति निऽशीर्य्य । शल्यानाम् । मुखा । शिवः । नः । सुमना इति सुऽमनाः । भव ॥१३ ॥

पदार्थः—(अवतत्य) विस्तार्य्य (धनुः) चापम् (त्वम्) (सहस्राक्ष) सहस्रेष्वसंख्यातेषु युद्धकार्येष्वक्षिणी यस्य तत्सम्बुद्धौ (शतेषुधे) शतमसंख्या शस्त्रास्त्रप्रकाशा यस्य तत्सम्बुद्धौ (निशीर्य) नितरां हिंसित्वा (शल्यानाम्) शस्त्राणां मुखानि (शिवः) मङ्गलकारी (नः) अस्मभ्यम् (सुमनाः) सुहृद्भावः (भव) ॥ १३ ॥

अन्वयः—हे सहस्राक्ष शतेषुधे सेनाध्यक्ष त्वं धनुः शल्यानां मुखा चावतत्य तैः शत्रून्निशीर्य नः सुमनाः शिवो भव ॥ १३ ॥

भावार्थः—राजपुरुषाः सामदामदण्डभेदादिराजकर्मोत्पथपथकृत्यानि सर्वतो विदित्वा पूर्णानि शस्त्रास्त्राणि सम्पाद्य तीक्ष्णीकृत्य च शत्रुषु दुर्मनसः दुःखप्रदाः प्रजासु सौम्याः सुखप्रदाश्च सततं स्युः ॥ १३ ॥

पदार्थः—हे (सहस्राक्ष) असंख्य युद्ध के कार्यों को देखने हारे (शतेषुधे) शस्त्र अस्त्रों के असंख्य प्रकाश से युक्त सेना के अध्यक्ष पुरुष (त्वम्) तू (धनुः) धनुष् और (शल्यानाम्) शस्त्रों के (मुखा) अग्रभागों का (अवतत्य) विस्तार कर तथा उन से शत्रुओं को (निशीर्य) अच्छे प्रकार मार के (नः) हमारे लिये (सुमनाः) प्रसन्नचित्त (शिवः) मङ्गलकारी (भव) हूजिये ॥ १३ ॥

भावार्थः—राजपुरुष साम, दाम, दण्ड और भेदादि राजनीति के अवयवों के कार्यों को सब ओर से जान पूर्ण शस्त्र अस्त्रों का संचय कर और उन को तीक्ष्ण करके शत्रुओं में कठोरचित्त दुःखदायी और अपनी प्रजाओं में कोमलचित्त सुख देनेवाले निरन्तर हों ॥ १३ ॥

नमस्त इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । रुद्रो देवता ।
भुरिगार्ष्युष्णिक् छन्दः । ऋषभः स्वरः ॥

पुनस्तमेवाह ॥

फिर भी वही वि० ॥

नम॑स्त॒ आयु॑धा॒याना॑तताय धृ॒ष्णवे॑ । उ॒भा-
भ्या॑मु॒त ते॒ नमो॑ बा॒हुभ्या॒न्तव॒ धन्व॑ने ॥ १४ ॥

नमः॑ । ते॒ । आयु॑धाय । अना॑तताय । धृ॒ष्णवे॑ । उ॒भा-
भ्या॑म् । उ॒त । ते॒ । नमः॑ । बा॒हुभ्या॒मिति॑ बा॒हुऽभ्या॑म् ।
तव॑ । धन्व॑ने ॥ १४ ॥

पदार्थः—(नमः) (ते) तुभ्यम् (आयुधाय) यः समन्तात् युध्यते तस्मै । अत्र इगुपधेति कः (अनातताय) अविद्यमान आततो विस्तारो यस्य तस्मै (धृष्णवे) यो धृष्णोति प्रागल्भ्यं प्राप्नोति तस्मै (उभाभ्याम्) (उत)

(ते) तुभ्यम् (नमः) (बाहुभ्याम्) भुजाभ्याम् (तव) (धन्वने) ॥ १४ ॥

अन्वयः—हे सभेश आयुधायानातताय धृष्णवे ते नमोऽस्तु उत ते भोक्त्रे तुभ्यं नमः प्रयच्छामि । तवोभाभ्यां बाहुभ्यां धन्वने नमो नियोजयेयम् ॥ १४ ॥

भावार्थः—सेनापत्याद्यधिकारिभिरध्यक्षेभ्यो योद्धृभ्यः शस्त्राणि दत्त्वा शत्रुभिः सह ते निःशङ्कं सम्यग् योधनीयाः ॥ १४ ॥

पदार्थः—हे सभापति (आयुधाय) युद्ध करने (अनातताय) अपने आशय को गुप्त प्रकोष्ठ में रखने और (धृष्णवे) प्रगल्भता को प्राप्त होने वाले (ते) आपके लिये (नमः) अन्न प्राप्त हो (उत) और (ते) भोजन करने हारे आप के लिये अन्न देता हूं (तव) आपके (उभाभ्याम्) दोनों (बाहुभ्याम्) बल और पराक्रम से (धन्वने) योद्धा पुरुष के लिये (नमः) अन्न को नियुक्त करूं ॥ १४ ॥

भावार्थः—सेनापति आदि राज्याधिकारियों को चाहिये कि अध्यक्ष और योद्धा दोनों को शस्त्र देके शत्रुओं से निःशङ्क अच्छे प्रकार युद्ध करावें ॥ १४ ॥

मा नो महान्तमित्यस्य कुत्स ऋषिः । रुद्रो देवता ।
निचृदार्षी जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

राजजनैः किं न कार्यमित्याह ॥
राजपुरुषों को क्या नहीं करना चाहिये यह वि० ॥

मा नो॑ म॒हान्त॑मु॒त मा नो॑ अर्भ॒कम्मान॑ उ॒क्षन्त॑मु॒त मा न॑ उक्षि॒तम् । मा नो॑ वधीः पि॒तर॒म्मोत मा॒तर॒म्मान॑: प्रि॒यास्त॒न्वो॑ रुद्र रीरिषः ॥ १५ ॥

मा। नः। महान्तम्। उत। मा। नः। अर्भकम्। मा। नः। उक्षन्तम्। उत। मा। नः। उक्षितम्। मा। नः। वधीः। पितरम्। मा। उत। मातरम्। मा। नः। प्रियाः। तन्वः। रुद्र। रीरिषऽइति रीरिषः ॥ १५ ॥

पदार्थः—(मा) निषेधार्थे (नः) अस्माकम् (महान्तम्) महागुणविशिष्टं पूज्यं जनम् (उत) अपि (मा) (नः) (अर्भकम्) अल्पं क्षुद्रम् (मा) (नः) (उक्षन्तम्) वीर्यसेक्तारम् (उत) (मा) (नः) (उक्षितम्) सिक्तम् (मा) (नः) (वधीः) हिंस्याः (पितरम्) पालकं जनकम् (मा) (उत) (मातरम्) मान्यप्रदां जननीम् (मा) (नः) (प्रियाः) स्त्र्यादेः प्रीत्युत्पादकानि (तन्वः) शरीराणि (रुद्र) युद्धसेनाधिकृत विद्वन् (रीरिषः) हिंस्याः। अत्र लिङर्थे लुङडभावश्च ॥ १५ ॥

अन्वयः—हे रुद्र त्वं नो महान्तं मा वधीरुत नोऽर्भकं मा वधीर्न उक्षन्तं मा वधीरुत न उक्षितं मा वधीः। नः पितरं मा वधीरुत नो मातरं च मा वधीः। नः प्रियास्तन्वो मा रीरिषः ॥ १५ ॥

भावार्थः—योद्धृभिर्युद्धसमये कदाचिद् वृद्धा बालका अयोद्धारो युवानो गर्भा योद्धॄणां मातरः पितरश्च सर्वेषां स्त्रियः संप्रेक्षितारो दूताश्च नो हिंसनीयाः किन्तु सदा शत्रुसम्बन्धिनो वशे स्थापनीयाः ॥ १५ ॥

पदार्थः—हे (रुद्र) युद्ध की सेना के अधिकारी विद्वन् पुरुष आप (नः) हमारे (महान्तम्) उत्तम गुणों से युक्त पूज्य पुरुष को (मा) मत (उत) और (अर्भकम्) छोटे क्षुद्र पुरुष को (मा) मत (नः) हमारे (उक्षन्तम्) गर्भाधान करने हारे को (मा) मत (उत) और (नः) हमारे (उक्षितम्) गर्भ को (मा) मत (नः) हमारे (पितरम्) पालन करने हारे पिता को (मा) मत (उत) और (नः) हमारी (मातरम्) मान्य करने हारी माता को भी (मा) मत (वधीः) मारिये। और (नः) हमारे (प्रियाः) स्त्री आदि के पियारे (तन्वः) शरीरों को (मा) मत (रीरिषः) मारिये ॥ १५ ॥

भावार्थः—योद्धा लोगों को चाहिये कि युद्ध के समय वृद्धों, बालकों, युद्ध से हटने वालों, ज्वानों, गर्भों, योद्धाओं के माता पितरों, सब स्त्रियों, युद्ध के देखन वा प्रबन्ध करने वालों और दूतों को न मारें किन्तु शत्रुओं के सम्बन्धी मनुष्यों को सदा वश में रक्खें ॥ १५ ॥

मानस्तोक इत्यस्य कुत्स ऋषिः । रुद्रो देवता ।
निचृदार्षी जगतीच्छन्दः । निषादः स्वरः ॥

पुनस्तदेवाह॥
फिर भी वही वि० ॥

मा नस्तोके तनये मा नऽआयुषि मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः । मा नो वीरान्रुद्र भामिनो वधीर्हविष्मन्तः सदमित् त्वा हवामहे ॥ १६ ॥

मा । नः । तोके । तनये । मा । नः । आयुषि । मा । नः । गोषु । मा । नः । अश्वेषु । रीरिष इति रीरिषः । मा । नः । वीरान् । रुद्र । भामिनः । वधीः । हविष्मन्तः । सदम् । इत् । त्वा । हवामहे ॥ १६ ॥

पदार्थः—(मा) (नः) अस्माकम् (तोके) सद्योजातेऽपत्ये (तनये) पञ्चमाद्वर्षादूर्ध्वं वयः प्राप्ते (मा) (नः) अस्माकम् (आयुषि) वयसि (मा) (नः) अस्माकम् (गोषु) गोजान्यादिषु (मा) (नः) (अश्वेषु) तुरङ्गहस्त्युष्ट्रादिषु (रीरिषः) हिंसको भवेः (मा) (नः) (वीरान्) शूरान् (रुद्र) (भामिनः) क्रुद्धान् (वधीः) (हविष्मन्तः) बहूनि हवींषि दातु-

प्रदातुं योग्यानि वस्तूनि विद्यन्ते येषां ते (सदम्) यो न्याये सीदति तम् (इत्) एव (त्वा) त्वाम् (हवामहे) स्वीकुर्महे ॥ १६ ॥

अन्वयः—हे रुद्र सेनेश त्वं नस्तोके मा रीरिषो नस्तनये मा रीरिषो न आयुषि मा रीरिषो नो गोषु मा रीरिषो नोऽश्वेषु मा रीरिषः नो भामिनो वीरान् मा वधीरतो हविष्मन्तो वयं सदं त्वेद्धवामहे ॥ १६ ॥

भावार्थः—राजपुरुषैः कस्यापि प्रजास्थस्य स्वस्य वा बालकुमारगवाश्वादिवीरहत्या नैव कार्या न बाल्यावस्थायां विवाहेन व्यभिचारेण चायुर्हिंसनीयम् । गवादिपशूनां दुग्धादिप्रदानेन सर्वोपकारकत्वात्सदैवैतेषां वृद्धिः कार्या ॥ १६ ॥

पदार्थः—हे (रुद्र) सेनापति तू (नः) हमारे (तोके) तत्काल उत्पन्न हुए सन्तान को (मा) मत (नः) हमारे (तनये) पांच वर्ष से ऊपर अवस्था के बालक को (मा) मत (नः) हमारी (आयुषि) अवस्था को (मा) मत (नः) हमारे (गोषु) गौ, भेड़, बकरी आदि को (मा) मत (नः) हमारे और (अश्वेषु) घोड़े, हाथी और ऊंट आदि को (मा) मत (रीरिषः) मार और (नः) हमारे (भामिनः) क्रोध को प्राप्त हुए (वीरान्) शूरवीरों को (मा) मत (वधीः) मार इस से (हविष्मन्तः) बहुतसे देने लेने योग्य वस्तुओं से युक्त हम लोग (सदम्) न्याय में स्थिर (त्वा) तुझ को (इत्) ही (हवामहे) स्वीकार करते हैं ॥ १६ ॥

भावार्थः—राजपुरुषों को चाहिये कि अपने वा प्रजा के बालकों, कुमार और गौ, घोड़े आदि वीर उपकारी जीवों की कभी हत्या न करें और बाल्यावस्था में विवाह कर व्यभिचार से अवस्था की हानि भी न करें गौ आदि पशु दूध आदि पदार्थों को देने से सब का उपकार करते हैं इससे इन की सदैव वृद्धि करें ॥ १६ ॥

नमो हिरण्यबाहव इत्यस्य कुत्स ऋषिः । रुद्रो देवता । निचृदतिधृतिश्छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

राजप्रजाजनैः किं कर्त्तव्यमित्युपदिश्यते ॥
राज प्रजा के पुरुषों को क्या करना चाहिये यह वि० ॥

नमो हिरण्यबाहवे सेनान्ये दिशां च पतये नमो नमो वृक्षेभ्यो हरिकेशेभ्यः पशूनां पतये नमो नमः शष्पिञ्जराय त्विषीमते पथीनां पतये नमो नमो हरिकेशायोपवीतिने पुष्टानां पतये नमः ॥ १७ ॥

नमः । हिरण्यबाहव इति हिरण्यऽबाहवे । सेनान्य इति सेनाऽन्ये । दिशाम् । च । पतये । नमः । नमः । वृक्षेभ्यः । हरिकेशेभ्य इति हरिऽकेशेभ्यः । पशूनाम् । पतये । नमः । नमः । शष्पिञ्जराय । त्विषीमते । त्विषीमत इति त्विषिऽमते । पथीनाम् । पतये । नमः । नमः । हरिकेशायेति हरिऽकेशाय । उपवीतिन इत्युपऽवीतिने । पुष्टानाम् । पतये । नमः ॥ १७ ॥

पदार्थः—(नमः) वज्रः (हिरण्यबाहवे) हिरण्यं ज्योतिरिव तीव्रतेजस्कौ बाहू यस्य तस्मै (सेनान्ये) यः सेनां नयति शिक्षां प्रापयति तस्मै (दिशाम्) सर्वासु दिक्षु स्थितानां राज्यप्रदेशानाम् (च) (पतये) पालकाय । अत्र षष्ठीयुक्तश्छन्दसि वेति घिसंज्ञा (नमः) अन्नादिकम् (नमः) वज्रादिशस्त्रसमूहः (वृक्षेभ्यः) आम्रादिभ्यः (हरिकेशेभ्यः) हरयो हरणशीलाः सूर्यरश्मयो येषु तेभ्यः (पशूनाम्) गवादीनाम् (पतये) रक्षकाय (नमः) सत्करणम् (नमः) (शष्पिञ्जराय) शष्पं तृणं पिञ्जरं बन्धनं

येन तस्मै त्विषीमते (बहुविधन्यायदीप्तयो विद्यन्ते यस्य तस्मै । प्राप्तशीलानां नीति शीघ्रं पथीनाम् (मार्गे गन्तॄणाम् पतये) पालकाय (नमः) सत्कारणश्च च (नमः) अन्नादिकम् (हरिकेशाय) हरिताः केशा यस्य तस्मै (उपवीतिने) प्रशस्तमुपवीतं यज्ञोपवीतं विद्यते यस्य तस्मै (पुष्टानाम्) आरोग्याणाम् (पतये) रक्षकाय (नमः) सत्कारः । १७ ॥

अन्वयः—हे रुद्र सेनाधीश ! हिरण्यबाहवे सेनान्ये तुभ्यं नमोऽस्तु दिशां च पतये नमोऽस्तु हरिकेशेभ्यो वृक्षेभ्यो नमो गृहाण पशूनां पतये नमोऽस्तु शष्पिञ्जराय त्विषीमते नमोऽस्तु पथीनां पतये नमोऽस्तु हरिकेशायोपवीतिने नमोऽस्तु पुष्टानां पतये नमो भवतु ॥ १७ ॥

भावार्थः—मनुष्यैः श्रेष्ठानां सत्कारेण बुभुक्षितानामन्नदानेन चक्रवर्त्तिराज्यशासनेन पशूनां पालनेन गन्तृकानां दस्युचोरादिभ्यो रक्षणेन यज्ञोपवीतधारणेन पुष्टया च सदानन्दितव्यम् ॥ १७ ॥

पदार्थः—हे शत्रुनाशक सेनाधीश (हिरण्यबाहवे) ज्योति के समान तीव्र तेजयुक्त भुजा वाले (सेनान्ये) सेना के शिक्षक तेरे लिये (नमः) वज्र प्राप्त हो (च) और (दिशाम्) सब दिशाओं के राज्यभागों के (पतये) रक्षक तेरे लिये (नमः) अन्नादि पदार्थ मिले (हरिकेशेभ्यः) जिन में हरणशील सूर्य की किरण प्राप्त हों ऐसे (वृक्षेभ्यः) आम्रादि वृक्षों को काटने के लिये (नमः) वज्रादि शस्त्रों को ग्रहण कर (पशूनाम्) गौ आदि पशुओं के (पतये) रक्षक तेरे लिये (नमः) सत्कार प्राप्त हो (शष्पिञ्जराय) विषयादि के बन्धनों से पृथक् (त्विषीमते) बहुत न्याय के प्रकाश से युक्त तेरे लिये (नमः) नमस्कार और अन्न हो (पथीनाम्) मार्ग में चलने हारों के (पतये) रक्षक तेरे लिये (नमः) आदर प्राप्त हो (हरिकेशाय) हरे केशों वाले (उपवीतिने) सुन्दर यज्ञोपवीत से युक्त तेरे लिये (नमः) अन्नादि पदार्थ प्राप्त हों और (पुष्टानाम्) नीरोगी पुरुषों की (पतये) रक्षा करनेहारे के लिये (नमः) नमस्कार प्राप्त हो ॥ १७ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि भृत्यों के सत्कार भूख से पीड़ितों को अन्न देने चक्रवर्त्तिराज्य की शिक्षा पशुओं की रक्षा जाने आने वालों को डांकू और चोर आदि से बचाने यज्ञोपवीत के धारण करने और शरीरादि की पुष्टि के साथ प्रसन्न रहें ॥ १७ ॥

नमो बभ्लुशायेत्यस्य कुत्स ऋषिः । रुद्रा देवताः ।
निचृदष्टिश्छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर भी वही वि० ॥

नमो॑ बभ्लु॒शाय॑ व्याधिनेऽन्ना॑नां॒ पत॑ये॒ नमो॒ नमो॑ भ॒वस्य॑ हे॒त्यै जग॑तां॒ पत॑ये॒ नमो॒ नमो॑ रु॒द्राया॑तता॒यिने॒ क्षेत्रा॑णां॒ पत॑ये॒ नमो॒ नमः॑ सू॒ताया॒हन्त्यै॒ वना॑नां॒ पत॑ये॒ नमः॑ ॥ १८ ॥

नमः॑ । ब॒भ्लु॒शाय॑ । व्या॒धिने॑ । अन्ना॑नाम् । पत॑ये । नमः॑ । नमः॑ । भ॒वस्य॑ । हे॒त्यै । जग॑ताम् । पत॑ये । नमः॑ । नमः॑ । रु॒द्राय॑ । आ॒त॒ता॒यिन॒ इत्या॑तत॒ऽआ॒यिने॑ । क्षेत्रा॑णाम् । पत॑ये । नमः॑ । नमः॑ । सू॒ताय॑ । अहं॑न्त्यै । वना॑नाम् । पत॑ये । नमः॑ ॥ १८ ॥

पदार्थः—(नमः) अन्नम् (बभ्लुशाय) यो बभ्लुषु राज्यधारकेषु शेते तस्मै (व्याधिने) रोगिणे (अन्नानाम्) गोधूमादीनाम् (पतये) पालकाय (नमः) सत्कारः (नमः) अन्नम् (भवस्य) संसारस्य (हेत्यै) वृद्धयै (जगताम्) जङ्गमानां मनुष्यादीनाम् (पतये) रक्षकाय (नमः)

सत्कारः (नमः) अन्नम् (रुद्राय) शत्रूणां रोदकाय (आततायिने) समन्तात् ततं विस्तृतं शत्रुदलमेतुं शीलमस्य तस्मै (क्षेत्राणाम्) धान्योत्पत्त्याधिकरणानाम् (पतये) पालकाय (नमः) अन्नम् (नमः) अन्नम् (सूताय) क्षत्रियाद् ब्राह्मण्यां जाताय धीराय प्रेरकाय वा (अहन्त्यै) या राजपत्नी कञ्चन न हन्ति तस्यै (वनानाम्) जङ्गलानाम् (पतये) पालकाय (नमः) अन्नम् ॥ १८ ॥

अन्वयः—राजपुरुषादिमनुष्यैर्बभ्लुशाय व्याधिने नमोऽन्नानां पतये नमो भवस्य हेत्यै नमो जगतां पतये नमो रुद्रायाततायिने नमः क्षेत्राणां पतये नमः सूतायाहन्त्यै नमो वनानां पतये नमो देयं कार्यं च ॥ १८ ॥

भावार्थः—येऽन्नादिना सर्वान् प्राणिनः सत्कुर्वन्ति ते जगति प्रशंसिता भवन्ति ॥ १८ ॥

पदार्थः—राजपुरुष आदि मनुष्यों को चाहिये कि (बभ्लुशाय) राज्यधारक पुरुषों में सोते हुए (व्याधिने) रोगी के लिये (नमः) अन्न देवें (अन्नानाम्) गेहूं आदि अन्न के (पतये) रक्षक का (नमः) सत्कार करें (भवस्य) संसार की (हेत्यै) वृद्धि के लिये (नमः) अन्न देवें (जगताम्) मनुष्यादि प्राणियों के (पतये) स्वामी का (नमः) सत्कार करें (रुद्राय) शत्रुओं को रुलाने और (आततायिने) अच्छे प्रकार विस्तृत शत्रुसेना को प्राप्त होने वाले को (नमः) अन्न देवें (क्षेत्राणाम्) धान्यादियुक्त खेतों के (पतये) रक्षक को (नमः) अन्न देवें (सूताय) क्षत्रिय से ब्राह्मणी की कन्या में उत्पन्न हुए प्रेरक वीर पुरुष और (अहन्त्यै) किसी को न मारने हारी राजपत्नी के लिये (नमः) अन्न देवें और (वनानाम्) जङ्गलों की (पतये) रक्षा करने हारे पुरुष को (नमः) अन्नादि पदार्थ देवें ॥ १८ ॥

भावार्थः—जो अन्नादि से सब प्राणियों का सत्कार करते हैं वे जगत् में प्रशंसित होते हैं ॥ १८ ॥

नमो रोहितायेत्यस्य कुत्स ऋषिः । रुद्रो देवता ।

विराडतिधृतिश्छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर वही विषय अगले मं० ॥

नमो रोहिताय स्थपतये वृक्षाणां पतये नमो नमो भुवन्तये वारिवस्कृतायौषधीनां पतये नमो नमो मन्त्रिणे वाणिजाय कक्षाणां पतये नमो नम उच्चैर्घोषायाक्रन्दयते पत्तीनां पतये नमः ॥ १९ ॥

नमः । रोहिताय । स्थपतये । वृक्षाणाम् । पतये । नमः । नमः । भुवन्तये । वारिवस्कृताय । वारिवःकृतायेति वारिवःऽकृताय । ओषधीनाम् । पतये । नमः । नमः । मन्त्रिणे । वाणिजाय । कक्षाणाम् । पतये । नमः । नमः । उच्चैर्घोषायेत्युच्चैःऽघोषाय । आक्रन्दयतऽइत्याऽक्रन्दयते । पत्तीनाम् । पतये । नमः ॥ १६ ॥

पदार्थः—(नमः) अन्नम् (रोहिताय) वृद्धिकराय (स्थपतये) तिष्ठन्ति यस्मिन्निति स्थं तस्य पतये पालकाय (वृक्षाणाम्) आम्रादीनाम् (पतये) स्वामिने (नमः) अन्नम् (नमः) अन्नम् (भुवन्तये) यो भवत्याचारवांस्तस्मै (वारिवस्कृताय) वरिवस्सेवनं कृतं येन तस्मै । अत्र स्वार्थेऽण् (ओषधीनाम्) सोमादीनाम् (पतये) पालकाय वैद्याय (नमः) अन्नम् (नमः) सत्कारः (मन्त्रिणे) विचारकर्त्रे राजपुरुषाय (वाणिजाय) वणिजां व्यवहारेषु कुशलाय (कक्षाणाम्) गृहमन्तावयवेषु स्थितानाम् (पतये) रक्षकाय (नमः) अन्नम् (नमः) सत्कारः (उच्चैर्घोषाय) उच्चैर्घोषो यस्य तस्मै (आक्रन्दयते) यो दुष्टानाक्रन्दयते रोदयति तस्मै न्यायाधीशाय (पत्तीनाम्) सेनाङ्गानाम् (पतये) रक्षकाय सेनाध्यक्षाय (नमः) सत्कारः ॥ १९ ॥

अन्वयः—राजप्रजाजनै रोहिताय स्थपतये नमो वृक्षाणां पतये नमो भुवन्तये वारिवस्कृताय नम ओषधीनां पतये नमो मन्त्रिणे वाणिजाय नमः कक्षाणां पतये नम उच्चैर्घोषायाक्रन्दयते नमः पत्तीनां पतये नमश्च देयं कार्यं च ॥ १९ ॥

भावार्थः—मनुष्यैर्वनादिपालकेभ्योऽन्नादिकं दत्त्वा वृक्षौषध्याद्युन्नतिर्विधेया ॥ १९ ॥

पदार्थः—राज और प्रजा के पुरुषों को चाहिये कि (रोहिताय) सुखों की वृद्धि के कर्त्ता और (स्थपतये) स्थानों के स्वामी रक्षक सेनापति के लिये (नमः) अन्न (वृक्षाणाम्) आम्रादि वृक्षों के (पतये) अधिष्ठाता को (नमः) अन्न (भुवन्तये) आचारवान् (वारिवस्कृताय) सेवन करने हारे भृत्य को (नमः) अन्न और (ओषधीनाम्) सोमलतादि ओषधियों के (पतये) रक्षक वैद्य को (नमः) अन्न देवें (मन्त्रिणे) विचार करने हारे राजमन्त्री और (वाणिजाय) वैश्यों के व्यवहार में कुशल पुरुष का (नमः) सत्कार करें (कक्षाणाम्) घरों में रहने वालों के (पतये) रक्षक को (नमः) अन्न और (उच्चैर्घोषाय) ऊंचे स्वर से बोलने तथा (आक्रन्दयते) दुष्टों को रुलाने वाले न्यायाधीश का (नमः) सत्कार और (पत्तीनाम्) सेना के अवयवों की (पतये) रक्षा करने हारे पुरुष का (नमः) सत्कार करें ॥ १९ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि वन आदि के रक्षक मनुष्यों को अन्नादि पदार्थ देके वृक्षों और ओषधि आदि पदार्थों की उन्नति करें ॥ १९ ॥

नमः कृत्स्नायतयेत्यस्य कुत्स ऋषिः । रुद्रा देवताः ।

अतिधृतिश्छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर उसी विषय को अगले मन्त्र में क० ॥

नमः कृत्स्नायतया धावते सत्वनां पतये

नमो नमः सहमानाय निव्याधिनऽआव्याधिनीनां

पत॑ये॒ नमो॒ नमो॑ निष॒ङ्गिणे॑ ककु॒भाय॑ स्ते॒नानां॒ पत॑ये॒ नमो॒ नमो॑ निचे॒रवे॑ परिच॒रायार॑ण्यानां॒ पत॑ये॒ नमः॑ ॥ २० ॥

नमः॑ । कृ॒त्स्ना॒य॒तयेति॑ कृत्स्नऽआय॒तया॑ । धाव॑ते । सत्व॑नाम् । पत॑ये । नमः॑ । नमः॑ । सह॑मानाय । नि॒व्या॒धिन॒ इति॑ निऽव्या॒धिने॑ । आ॒व्या॒धिनी॑ना॒मित्या॑ऽव्या॒धिनी॑नाम् । पत॑ये । नमः॑ । नमः॑ । नि॒ष॒ङ्गिणे॑ । क॒कु॒भाय॑ । स्ते॒नाना॑म् । पत॑ये । नमः॑ । नमः॑ । नि॒चे॒रव॒ इति॑ निऽचे॒रवे॑ । प॒रि॒च॒रायेति॑ परि॒ऽच॒राय॑ । अर॑ण्यानाम् । पत॑ये । नमः॑ ॥ २० ॥

पदार्थः—(नमः) अन्नम् (कृत्स्नायतया) आयस्य लाभस्य भाव आयता कृत्स्ना चासावायता कृत्स्नायता तया संपूर्णलाभतया (धावते) इतस्ततो धावनशीलाय (सत्वनाम्) प्राप्तानां पदार्थानाम् (पतये) रक्षकाय (नमः) सत्कारः (नमः) अन्नम् (सहमानाय) बलयुक्ताय (निव्याधिने) नितरां स्पर्द्धं ताडयितुं शीलमस्य तस्मै (आव्याधिनीनाम्) समन्तात् शत्रुसेनाः व्यद्धुं शीलं यासां तासां स्वसेनानाम् (पतये) पालकाय सेनापतये (नमः) सत्करणम् (नमः) अन्नम् (निषङ्गिणे) प्रशस्ता निषङ्गा बाणासिभुशुण्डीशतघ्नीतोपादयः शस्त्रसमूहा विद्यन्ते यस्य तस्मै (ककुभाय) प्रशस्तमूर्त्तये (स्तेनानाम्) अन्यायेन परस्वादायिनाम् (पतये) दण्डादिशोषकाय (नमः) वज्रम् (नमः) सत्करणम् (निचेरवे) यो नितरां पुरुषार्थे चरति तस्मै (परिचराय) यो धर्म्यं विद्यां मातापितरौ स्वामिमित्रादींश्च सेवते तस्मै (अरण्यानाम्) वनानाम् (पतये) पालकाय (नमः) अन्नादिकम् ॥ २० ॥

अन्वयः—मनुष्याः कृत्स्नायतया धावते नमः सत्वनां पतये नमः सहमानाय निव्याधिने नमः आव्याधिनीनां पतये नमो निषङ्गिणे नमो निचेरवे परिचराय ककुभाय नमः स्तेनानां पतये नमोऽरण्यानां पतये नमो दद्युः कुर्युश्च ॥ २० ॥

भावार्थः—राजपुरुषैः पुरुषार्थिनामुत्साहाय सत्कारः प्राणिनामुपरि दया सुशिक्षितसेनारक्षणं चोरादीनां ताडनं सेवकानां पालनं वनानामच्छेदनञ्च कृत्वा राज्यं वर्द्धनीयम् ॥ २० ॥

पदार्थः—मनुष्य लोग (कृत्स्नायतया) सम्पूर्ण प्राप्ति के अर्थ (धावते) इधर उधर जाने आने वाले को (नमः) अन्न देवें (सत्वनाम्) प्राप्त पदार्थों की (पतये) रक्षा करने हारे का (नमः) सत्कार करें (सहमानाय) बलयुक्त और (निव्याधिने) शत्रुओं को निरन्तर ताड़ना देने हारे पुरुष को (नमः) अन्न देवें (आव्याधिनीनाम्) अच्छे प्रकार शत्रुओं की सेनाओं को मारने हारी अपनी सेनाओं के (पतये) रक्षक सेनापति का (नमः) आदर करें (निषङ्गिणे) बहुत से अच्छे बाण, तलवार, भुशुण्डी, शतघ्नी अर्थात् बन्दूक तोप और तोमर आदि शस्त्र जिस के हों उस को (नमः) अन्न देवें (निचेरवे) निरन्तर पुरुषार्थ के साथ विचरने तथा (परिचराय) धर्म, विद्या, माता, स्वामी और मित्रादि की सब प्रकार सेवा करने वाले (ककुभाय) प्रसन्नमूर्ति पुरुष का (नमः) सत्कार करें (स्तेनानाम्) अन्याय से परधन लेने हारे प्राणियों को (पतये) जो दण्ड आदि से शुष्क करता हो उस को (नमः) वज्र से मारें (अरण्यानाम्) वन जङ्गलों के (पतये) रक्षक पुरुष को (नमः) अन्नादि पदार्थ देवें ॥ २० ॥

भावार्थः—राजपुरुषों को चाहिये कि पुरुषार्थियों का उत्साह के लिये सत्कार प्राणियों के ऊपर दया, अच्छी शिक्षित सेना को रखना, चोर आदि को दण्ड, सेवकों की रक्षा और वनों को नहीं काटना इस सब को कर राज्य की वृद्धि करें ॥ २० ॥

नमो वञ्चत इत्यस्य कुत्स ऋषिः । रुद्रा देवताः ।

निचृदतिधृतिश्छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर भी वही वि० ॥

नमो वञ्चते परिवञ्चते स्तायूनां पतये नमो नमो निषङ्गिणेऽइषुधिमते तस्कराणां पतये नमो नमः सृकायिभ्यो जिघांᳬसद्भ्यो मुष्णतां पतये नमो नमोऽसिमद्भ्यो नक्तं चरद्भ्यो विकृन्तानां पतये नमः ॥ २१ ॥

नमः । वञ्चते । परिवञ्चतऽइति परिऽवञ्चते । स्तायूनाम् । पतये । नमः । नमः । निषङ्गिणे । इषुधिमतऽइतीषुधिऽमते । तस्कराणाम् । पतये । नमः । नमः । सृकायिभ्यऽइति सृकायिऽभ्यः । जिघांᳬसद्भ्यऽइति जिघांᳬसद्ऽभ्यः । मुष्णताम् । पतये । नमः । नमः । असिमद्भ्यऽइत्यसिमत्ऽभ्यः । नक्तम् । चरद्भ्य इति चरत्ऽभ्यः । विकृन्तानामिति विऽकृन्तानाम् । पतये । नमः ॥ २१ ॥

पदार्थः—(नमः) वज्रप्रहारः (वञ्चते) छलेन परपदार्थानां हर्त्रे (परिवञ्चते) सर्वतः कापट्येन वर्त्तमानाय (स्तायूनाम्) चौर्येण जीवताम् (पतये) स्वामिने (नमः) वज्रादिशस्त्रप्रहरणम् (नमः) अन्नम् (निषङ्गिणे) राज्यपालने नित्यं सज्जिताय (इषुधिमते) प्रशस्तेषुधिधर्त्रे (तस्कराणाम्) स्तेयकर्मकर्तॄणाम् (पतये) पालयित्रे (नमः) वज्रप्रहरणम् (नमः) (सृकायिभ्यः) सृकेण वज्रेण सज्जनानेतुं प्राप्तुं शीलमेषां तेभ्यः । सृक इति वज्रना० । निघं० २ । २० । (जिघांसद्भ्यः) हन्तुमिच्छद्भ्यः

(मुष्णताम्) स्तेयकर्मकारिणाम् (पतये) दण्डेन निपातयित्रे (नमः) सत्करणम् (नमः) वज्रप्रहरणम् (असिमद्भ्यः) प्रशस्ता असयः खड्गानि विद्यन्ते येषां तेभ्यः (नक्तम्) रात्रौ (चरद्भ्यः) (विकृन्तानाम्) विविधोपायैर्ग्रन्थिं छित्वा परस्वापहर्तॄणाम् (पतये) विघातकाय (नमः) सत्कारः ॥२१॥

अन्वयः—राजपुरुषा वञ्चते परिवञ्चते नमः स्तायूनां पतये नमो निषङ्गिण इषुधिमते नमस्तस्कराणां पतये नमः सृकायिभ्यो जिघांसद्भ्यो नमो मुष्णतां पतये नमोऽसिमद्भ्यो नक्तं चरद्भ्यो नमो विकृन्तानां पतये नमोऽनुसंदधतु ॥ २१ ॥

भावार्थः—राजजनैः कपटव्यवहारेण छलयतां दिवा रात्रौ चानर्थकारिणां निग्रहं कृत्वा धार्मिकाणां च पालनं सततं विधेयम् ॥ २१ ॥

पदार्थः—राजपुरुष (वञ्चते) छल से दूसरों के पदार्थों को हरने वाले (परिवञ्चते) सब प्रकार कपट के साथ वर्त्तमान पुरुष को (नमः) वज्र का प्रहार और (स्तायूनाम्) चोरी से जीने वालों के (पतये) स्वामी को (नमः) वज्र से मारें (निषङ्गिणे) राज्यरक्षा के लिये निरन्तर उद्यत (इषुधिमते) प्रशंसित बाणों को धारण करने हारे को (नमः) अन्न देवें (तस्कराणाम्) चोरी करने हारों को (पतये) उस कर्म में चलाने हारे को (नमः) वज्र और (सृकायिभ्यः) वज्र से सज्जनों को पीड़ित करने को प्राप्त होने और (जिघांसद्भ्यः) मारने की इच्छा वालों को (नमः) वज्र से मारें (मुष्णताम्) चोरी करते हुओं को (पतये) दण्डप्रहार से पृथिवी में गिराने हारे का (नमः) सत्कार करें (असिमद्भ्यः) प्रशंसित खड्गों के सहित (नक्तम्) रात्रि में (चरद्भ्यः) घूमने वाले लुटेरों को (नमः) शस्त्रों से मारें और (विकृन्तानाम्) विविध उपायों से गांठ काट के पर-पदार्थों को लेने हारे गठिकटों को (पतये) मार के गिराने हारे का (नमः) सत्कार करें ॥ २१ ॥

भावार्थः—राजपुरुषों को चाहिये कि कपटव्यवहार से छलने और दिन वा रात में अनर्थ करनेहारों को रोक के धर्मात्माओं का निरन्तर पालन किया करें ॥ २१ ॥

नम उष्णीषिण इत्यस्य कुत्स ऋषिः । रुद्रा देवताः ।
निचृदष्टिश्छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर भी वही वि० ॥

नमऽउष्णीषिणे गिरिचरायं कुलुञ्चानां पतये नमो नमं इषुमद्भ्यो धन्वायिभ्यश्च वो नमो नमऽआतन्वानेभ्यः प्रतिदधानेभ्यश्च वो नमो नम आयच्छद्भ्योऽस्यद्भ्यश्च वो नमः ॥ २२ ॥

नमः । उष्णीषिणे । गिरिचरायेति गिरिऽचराय । कुलुञ्चानाम् । पतये । नमः । नमः । इषुमद्भ्य इतीषुमत्ऽभ्यः । धन्वायिभ्यऽइति धन्वऽयिभ्यः । च । वः । नमः । नमः । आतन्वानेभ्यऽइत्याऽतन्वानेभ्यः । प्रतिदधानेभ्यऽइति प्रतिऽदधानेभ्यः । च । वः । नमः । नमः । आयच्छद्भ्यऽइत्याऽयच्छत्ऽभ्यः । अस्यद्भ्यऽइत्यस्यत्ऽभ्यः । च । वः । नमः ॥ २२ ॥

पदार्थः—(नमः) सत्करणम् (उष्णीषिणे) प्रशस्तमुष्णीषं शिरोवेष्टनं विद्यते यस्य तस्मै ग्रामण्ये (गिरिचराय) यो गिरिषु पर्वतेषु चरति तस्मै जाङ्गलाय (कुलुञ्चानाम्) ये कुशीलेन लुञ्चन्ति अपनयन्ति परपदार्थांस्तेषाम् (पतये) प्रपातकाय (नमः) सत्करणम् (नमः) अन्नम् (इषुमद्भ्यः) बहव इषवो विद्यन्ते येषां तेभ्यः (धन्वायिभ्यः) धनूंषि धनूंष्येतुं शीलमेषां तेभ्यः (च) (वः) युष्मभ्यम् (नमः) अन्नम् (नमः)

सत्कारम् (आतन्वानेभ्यः) समन्तात् सुखविस्तारकेभ्यः (प्रतिदधानेभ्यः) ये शत्रून् प्रति शस्त्राणि दधति तेभ्यः (च) (वः) युष्मभ्यम् (नमः) सत्करणम् (नमः) अन्नम् (आयच्छद्भ्यः) निग्रहीतृभ्यः (अस्यद्भ्यः) प्रक्षिपद्भ्यः परस्वजद्भ्यः (च) (वः) युष्मभ्यम् (नमः) सत्करणम् ॥२२॥

अन्वयः—वयं राजप्रजाजना उष्णीषिणे गिरिचराय नमः कुलुञ्चानां पतये नम इषुमद्भ्यो नमो धन्वायिभ्यश्च वो नम आतन्वानेभ्यो नमः प्रतिदधानेभ्यश्च वो नम आयच्छद्भ्यो नमोऽस्यद्भ्यश्च वो नमः कुर्मो दद्मश्च ॥२२॥

भावार्थः—राजप्रजाजनैः प्रधानपुरुषादयः वस्त्रान्नादिदानेन सत्करणीयाः ॥ २२ ॥

पदार्थः—हम राज और प्रजा के पुरुष (उष्णीषिणे) प्रशंसित पगड़ी को धारण करने वाले ग्रामपति और (गिरिचराय) पर्वतों में विचरने वाले जंगली पुरुष का (नमः) सत्कार और (कुलुञ्चानाम्) बुरे स्वभाव से दूसरों के पदार्थ खोंसने वालों को (पतये) गिराने हारे का (नमः) सत्कार करते (इषुमद्भ्यः) बहुत बाणों वाले को (नमः) अन्न (च) तथा (धन्वायिभ्यः) धनुषों को प्राप्त होने वाले (वः) तुम लोगों के लिये (नमः) अन्न (आतन्वानेभ्यः) अच्छे प्रकार सुख के फैलाने हारों का (नमः) सत्कार (च) और (प्रतिदधानेभ्यः) शत्रुओं के प्रति शस्त्र धारण करने हारे (वः) तुम को (नमः) सत्कार प्राप्त (आयच्छद्भ्यः) दुष्टों को बुरे कर्मों से रोकने वालों को (नमः) अन्न देते (च) और (अस्यद्भ्यः) दुष्टों पर शस्त्रादि को छोड़ने वाले (वः) तुम्हारे लिये (नमः) सत्कार करते हैं ॥ २२ ॥

भावार्थः—राज और प्रजा के पुरुषों को चाहिये कि प्रधान पुरुष आदि का वस्त्र और अन्नादि के दान से सत्कार करें ॥ २२ ॥

नमो विसृजद्भ्य इत्यस्य कुत्स ऋषिः । रुद्रा देवताः ।
निचृदतिजगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर भी वही वि० ॥

नमो॑ विसृजद्भ्यो॑ विध्य॑द्भ्यश्च वो॒ नमो॒ नमः॑ स्वपद्भ्यो॒ जाग्र॑द्भ्यश्च वो॒ नमो॒ नमः॒ शया॑नेभ्य॒ आसी॑नेभ्यश्च वो॒ नमो॒ नम॒स्तिष्ठ॑द्भ्यो॒ धाव॑द्भ्यश्च वो॒ नमः॑ ॥ २३ ॥

नमः॑ । वि॒सृ॒जद्भ्य॒ऽइति॑ विसृ॒जत्ऽभ्यः॑ । विध्य॑द्भ्य॒ऽइति॒ विध्य॑त्ऽभ्यः । च॒ । वः॒ । नमः॑ । नमः॑ । स्व॒पद्भ्य॒ इति॑ स्व॒पत्ऽभ्यः॑ । जाग्र॑द्भ्य॒ऽइति॒ जाग्र॑त्ऽभ्यः । च॒ । वः॒ । नमः॑ । नमः॑ । श॒या॑नेभ्यः । आसी॑नेभ्यः । च॒ । वः॒ । नमः॑ । नमः॑ । तिष्ठ॑द्भ्य॒ इति॒ तिष्ठ॑त्ऽभ्यः॒ । धाव॑द्भ्य॒ऽइति॒ धाव॑त्ऽभ्यः । च॒ । वः॒ । नमः॑ ॥ २३ ॥

पदार्थः—(नमः) अन्नादिकम् (विसृजद्भ्यः) शत्रूणामुपरि शस्त्रादिकं त्यजद्भ्यः (विध्यद्भ्यः) शस्त्रैः दुष्टांस्ताडयद्भ्यः (च) (वः) युष्मभ्यम् (नमः) अन्नम् (नमः) वज्रम् (स्वपद्भ्यः) शयानेभ्यः (जाग्रद्भ्यः) प्रबुद्धेभ्यः (च) (वः) (नमः) अन्नम् (नमः) अन्नम् (शयानेभ्यः) प्राप्तनिद्रेभ्यः (आसीनेभ्यः) आसनोपरि स्थितेभ्यः (च) (वः) (नमः) अन्नम् (नमः) अन्नम् (तिष्ठद्भ्यः) स्थितेभ्यः (धावद्भ्यः) शीघ्रगामिभ्यः (च) (वः) युष्मभ्यम् (नमः) अन्नम् ॥ २३ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यूयमेवं सर्वेभ्य आज्ञापयत वयं विसृजद्भ्यो नमो विध्यद्भ्यश्च वो नमः स्वपद्भ्यो नमो जाग्रद्भ्यश्च वो नमः शया-

नेभ्यो नम आसीनेभ्यश्च वो नमस्तिष्ठद्भ्यो नमो धावद्भ्यश्च वो नमः महाशयाम् इति ॥ २३ ॥

भावार्थः—गृहस्थैरानृशंस्यं भोज्यान्नादिकं दत्त्वा सर्वे प्राणिनः सुखनीयाः ॥ २३ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो! तुम ऐसा सब को जनाओ कि हम लोग (विसृजद्भ्यः) शत्रुओं पर शस्त्रादि छोड़ने वालों को (नमः) अन्नादि पदार्थ (च) और (विध्यद्भ्यः) शस्त्रों से शत्रुओं को मारते हुए (वः) तुम को (नमः) अन्न (स्वपद्भ्यः) सोते हुओं के लिये (नमः) अन्न (च) और (जाग्रद्भ्यः) जागते हुए (वः) तुम को (नमः) अन्न (शयानेभ्यः) निद्रालुओं को (नमः) अन्न (च) और (आसीनेभ्यः) आसन पर बैठे हुए (वः) तुम को (नमः) अन्न (तिष्ठद्भ्यः) खड़े हुओं को (नमः) अन्न (च) और (धावद्भ्यः) शीघ्र चलते हुए (वः) तुम लोगों को (नमः) अन्न देवेंगे ॥ २३ ॥

भावार्थः—गृहस्थों को चाहिये कि करुणामय वचन बोल और अन्नादि पदार्थ देके सब प्राणियों को सुखी करें ॥ २३ ॥

नमः सभाभ्य इत्यस्य कुत्स ऋषिः। रुद्रा देवताः।
शाक्वरी छन्दः। धैवतः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥
फिर भी वही वि० ॥

नमः सभाभ्यः सभापतिभ्यश्च वो नमो नमोऽश्वेभ्योऽश्वपतिभ्यश्च वो नमो नम आव्याधिनीभ्यो विविध्यन्तीभ्यश्च वो नमो नम उगणाभ्यस्तृंहतीभ्यश्च वो नमः ॥ २४ ॥

नमः । सभाभ्यः । सभापतिभ्य इति सभापतिऽभ्यः । च । वः । नमः । नमः । अश्वेभ्यः । अश्वपतिभ्य इत्यश्वपतिऽभ्यः । च । वः । नमः । नमः । आव्याधिनीभ्य इत्याऽव्याधिनीभ्यः । विविध्यन्तीभ्य इति विऽविध्यन्तीभ्यः । च । वः । नमः । नमः । उगणाभ्यः । तृंहतीभ्यः । च । वः । नमः ॥ २४ ॥

पदार्थः—(नमः) सत्करणम् (सभाभ्यः) या न्यायादिप्रकाशेन सह वर्त्तन्ते ताभ्यः सभाभ्यः स्त्रीभ्यः (सभापतिभ्यः) सभानां पालकेभ्यो राजभ्यः (च) (वः) (नमः) सत्करणम् (नमः) अन्नम् (अश्वेभ्यः) हयेभ्यः (अश्वपतिभ्यः) अश्वानां पालकेभ्यः (च) (वः) (नमः) अन्नम् (नमः) अन्नम् (आव्याधिनीभ्यः) शत्रुसेनाताडनशीलाभ्यः स्वसेनाभ्यः (विविध्यन्तीभ्यः) शत्रूनभिहन्त्रीभ्यः (च) (वः) (नमः) सत्करणम् (नमः) अन्नम् (उगणाभ्यः) विविधतर्कयुक्ता गणा यासु ताभ्यः (तृंहतीभ्यः) हन्त्रीभ्यः (च) (वः) (नमः) अन्नप्रदानम् ॥ २४ ॥

अन्वयः—मनुष्यैः सर्वान् प्रत्येवं वक्तव्यं वयं सभाभ्यो नमः सभापतिभ्यश्च वो नमोऽश्वेभ्यो नमोऽश्वपतिभ्यश्च वो नम आव्याधिनीभ्यो नमो विविध्यन्तीभ्यश्च वो नम उगणाभ्यो नमस्तृंहतीभ्यश्च वो नमः कुर्याम दद्याम च ॥ २४ ॥

भावार्थः—मनुष्यैः सभया सभापतिभिश्चैव राज्यव्यवस्था कार्या न खलु कदाचिदेकराजाधीनत्वेन स्थातव्यं यतो नैकेन बहूनां हिताहितसाधनं भवितुं शक्यमतः ॥ २४ ॥

पदार्थः—मनुष्यों को सब के प्रति ऐसे कहना चाहिये कि हम लोग (सभाभ्यः) न्याय आदि के प्रकाश से युक्त स्त्रियों का (नमः) सत्कार (च) और (सभापतिभ्यः) सभाओं के रक्षक (वः) तुम राजाओं का (नमः)

सत्कार करें (अश्वेभ्यः) घोड़ों को (नमः) अन्न (च) और (अश्वपतिभ्यः) घोड़ों के रक्षक (वः) तुम को (नमः) अन्न तथा (आव्याधिनीभ्यः) शत्रुओं की सेनाओं को मारने हारी अपनी सेनाओं के लिये (नमः) अन्न देवें (च) और (विविध्यन्तीभ्यः) शत्रुओं के वीरों को मारती हुई (वः) तुम स्त्रियों का (नमः) सत्कार करें (उगणाभ्यः) विविध तर्कों वाली स्त्रियों को (नमः) अन्न (च) और (तृंहतीभ्यः) युद्ध में मारती हुई (वः) तुम स्त्रियों के लिये (नमः) अन्न देवें तथा यथायोग्य सत्कार किया करें ॥ २४ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि सभा और सभापतियों से ही राज्य की व्यवस्था करें। कभी एक राजा की आधीनता से स्थिर न हों, क्योंकि एक पुरुष से बहुतों के हिताहित का विचार कभी नहीं हो सकता इससे ॥ २४ ॥

नमो गणेभ्य इत्यस्य कुत्स ऋषिः । रुद्रा देवता ।
भुरिक् शक्करी छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥
फिर वही वि० ॥

नमो॑ ग॒णेभ्यो॑ ग॒णप॑तिभ्यश्च वो॒ नमो॒ नमो॒ व्राते॑भ्यो॒ व्रात॑पतिभ्यश्च वो॒ नमो॒ नमो॒ गृत्से॑भ्यो॒ गृत्स॑पतिभ्यश्च वो॒ नमो॒ नमो॒ विरू॑पेभ्यो वि॒श्वरू॑पेभ्यश्च वो॒ नमः॑ ॥ २५ ॥

नमः॑ । ग॒णेभ्यः॑ । ग॒णप॑तिभ्य॒ऽइति॑ ग॒णप॑तिऽभ्यः । च॒ । व॒ः । नमः॑ । नमः॑ । व्राते॑भ्यः । व्रात॑पतिभ्य॒ऽइति॒ व्रात॑ऽपतिऽभ्यः । च॒ । व॒ः । नमः॑ । नमः॑ । गृत्से॑भ्यः । गृत्स॑पति-

भ्यऽइति गृत्सपतिऽभ्यः । च । वः । नमः । नमः । विरूपेभ्यऽइति विऽरूपेभ्यः । विश्वरूपेभ्यऽइति विश्वऽरूपेभ्यः । च । वः । नमः ॥ २५ ॥

पदार्थः—(नमः) अन्नम् (गणेभ्यः) सेवकेभ्यः (गणपतिभ्यः) गणानां सेवकानां पालकेभ्यः (च) (वः) (नमः) अन्नम् (नमः) सत्करणम् (व्रातेभ्यः) मनुष्येभ्यः । व्रात इति मनुष्यना० । निघं० २ । ३ । (व्रातपतिभ्यः) मनुष्याणां पालकेभ्यः (च) (वः) (नमः) सत्करणम् (नमः) सत्करणम् (गृत्सेभ्यः) ये गृणन्ति पदार्थगुणान् स्तुवन्ति तेभ्यो विद्वद्भ्यः (गृत्सपतिभ्यः) मेधाविरक्षकेभ्यः (च) (वः) (नमः) सत्करणम् (नमः) सत्करणम् (विरूपेभ्यः) विविधानि रूपाणि येषां तेभ्यः (विश्वरूपेभ्यः) अखिलस्वरूपेभ्यः (च) (वः) (नमः) सत्करणम् ॥ २५ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यथा वयं गणेभ्यो नमो गणपतिभ्यश्च वो नमो व्रातेभ्यो नमो व्रातपतिभ्यश्च वो नमो गृत्सेभ्यो नमो गृत्सपतिभ्यश्च वो नमो विरूपेभ्यो नमो विश्वरूपेभ्यश्च वो नमो दद्याम कुर्य्याम च तथा युष्माभिरपि दातव्यं कर्त्तव्यं च ॥ २५ ॥

भावार्थः—सर्वे जना अखिलप्राण्युपकारं विद्वत्सङ्गं समग्रां श्रियं विद्याश्च धृत्वा सन्तुष्यन्तु ॥ २५ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! जैसे हम लोग (गणेभ्यः) सेवकों को (नमः) अन्न (च) और (गणपतिभ्यः) सेवकों के रक्षक (वः) तुम लोगों को (नमः) अन्न देवें (व्रातेभ्यः) मनुष्यों का (नमः) सत्कार (च) और (व्रातपतिभ्यः) मनुष्यों के रक्षक (वः) तुम्हारा (नमः) सत्कार (गृत्सेभ्यः) पदार्थों के गुणों को प्रकट करने वाले विद्वानों का (नमः) सत्कार (च) तथा (गृत्सपतिभ्यः) बुद्धिमानों के रक्षक (वः) तुम लोगों का (नमः) सत्कार (विरूपेभ्यः) विविधरूप वालों का (नमः) सत्कार (च) और

(विश्वरूपेभ्यः) सब रूपों से युक्त (वः) तुम लोगों का (नमः) सत्कार करें वैसे तुम लोग भी इनका सत्कार करो ॥ २५ ॥

भावार्थः—सब मनुष्य सम्पूर्ण प्राणियों का उपकार विद्वानों का सम्मान शोभा और विद्याओं को धारण करके सन्तुष्ट हों ॥ २५ ॥

नमः सेनाभ्य इत्यस्य कुत्स ऋषिः । रुद्रा देवताः ।
भुरिगतिजगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥
फिर उसी विषय को अगले मन्त्र में क० ॥

नमः सेनाभ्यः सेनानिभ्यश्च वो नमो नमो रथिभ्योऽअरथेभ्यश्च वो नमो नमः क्षत्तृभ्यः संग्रहीतृभ्यश्च वो नमो नमो महद्भ्योऽअर्भकेभ्यश्च वो नमः ॥ २६ ॥

नमः । सेनाभ्यः । सेनानिभ्य इति सेनानिऽभ्यः । च । वः । नमः । नमः । रथिभ्य इति रथिऽभ्यः । अरथेभ्यः । च । वः । नमः । नमः । क्षत्तृभ्य इति क्षत्तृऽभ्यः । संग्रहीतृभ्य इति सम्ऽग्रहीतृभ्यः । च । वः । नमः । नमः । महत्ऽभ्यः । अर्भकेभ्यः । च । वः । नमः ॥ २६ ॥

पदार्थः—(नमः) सत्कारम् (सेनाभ्यः) सिञ्चन्ते बध्नन्ति शत्रून्याभिस्ताभ्यः (सेनानिभ्यः) ये सेनां नयन्ति तेभ्यो नायकेभ्यः सेनापतिभ्यः । अत्र वर्णव्यत्ययेन ईकारस्य इकारः (च) (वः) (नमः) अन्नम्

(नमः) सत्करणम् (रथिभ्यः) प्रशस्ता रथा विद्यन्ते येषां तेभ्यः (अरथेभ्यः) अविद्यमाना रथा येषां तेभ्यः पदातिभ्यः (च) (वः) (नमः) सत्क्रियाम् (नमः) अन्नादिकम् (क्षत्तृभ्यः) शूद्रात् क्षत्रियायां जातेभ्यः (संग्रहीतृभ्यः) ये युद्धार्थांस्सामग्रीः सम्यग् गृह्णन्ति तेभ्यः (च) (वः) (नमः) सत्करणम् (नमः) सुसंस्कृतमन्नादिकम् (महद्भ्यः) महाशयेभ्यो विद्यावयोभ्यां वृद्धेभ्यः पूज्येभ्यः (अर्भकेभ्यः) कनिष्ठेभ्यः क्षुद्राशयेभ्यः शिक्षणीयेभ्यो विद्यार्थिभ्यः (च) (वः) (नमः) सत्करणम् ॥ २६ ॥

अन्वयः—हे राजप्रजाजना यथा वयं सेनाभ्यो नमो वः सेनानिभ्यो नमश्च रथिभ्यो नमो वोऽरथेभ्यो नमश्च क्षत्तृभ्यो नमो वः संग्रहीतृभ्यो नमश्च महद्भ्यो नमो वोऽर्भकेभ्यो नमश्च सततं कुर्मो दद्मश्च तथैव यूयमपि एतेभ्यः कुरुत दत्त च ॥ २६ ॥

भावार्थः—राजपुरुषैः सर्वान् भृत्यान् सत्कृत्य सुशिक्षयान्नादिना वर्धयित्वा धर्मेण राज्यं पालनीयम् ॥ २६ ॥

पदार्थः—हे राज और प्रजा के पुरुषो ! जैसे हम लोग (सेनाभ्यः) शत्रुओं को बांधने हारे सेनास्थ पुरुषों का (नमः) सत्कार करते (च) और (वः) तुम (सेनानिभ्यः) सेना के नायक प्रधान पुरुषों को (नमः) अन्न देते हैं (रथिभ्यः) प्रशंसित रथों वाले पुरुषों का (नमः) सत्कार (च) और (वः) तुम (अरथेभ्यः) रथों से पृथक् पैदल चलने वालों का (नमः) सत्कार करते हैं (क्षत्तृभ्यः) क्षत्रिय की स्त्री में शूद्र से उत्पन्न हुए वर्णसंकर के लिये (नमः) अन्नादि पदार्थ देते (च) और (वः) तुम (संग्रहीतृभ्यः) अच्छे प्रकार युद्ध की सामग्री का ग्रहण करने हारों का (नमः) सत्कार करते हैं (महद्भ्यः) विद्या और अवस्था से वृद्ध पूजनीय महाशयों को (नमः) अच्छा पकाया हुआ अन्नादि पदार्थ देते (च) और (वः) तुम (अर्भकेभ्यः) क्षुद्राशय शिक्षा के योग्य विद्यार्थियों का (नमः) निरन्तर सत्कार करते हैं वैसे तुम लोग भी किया किया करो ॥ २६ ॥

भावार्थ।—राजपुरुषों को चाहिये कि सब भृत्यों को सत्कार और शिक्षापूर्वक अन्नादि पदार्थों से उन्नति देके धर्म से राज्य का पालन करें ॥ २६ ॥

नमस्तक्षभ्य इत्यस्य कुत्स ऋषिः । रुद्रा देवताः ।
निचृच्छक्वरी छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

विद्वद्भिः के सत्कर्त्तव्या इत्याह ॥
विद्वान् लोगों को किन का सत्कार करना चाहिये यह वि० ॥

नमस्तक्षभ्यो रथकारेभ्यश्च वो नमो नमः कुलालेभ्यः कर्मारेभ्यश्च वो नमो नमो निषादेभ्यः पुञ्जिष्टेभ्यश्च वो नमो नमः श्वनिभ्यो मृगयुभ्यश्च वो नमः ॥ २७ ॥

नमः । तक्षभ्यऽइति तक्षऽभ्यः । रथकारेभ्यऽइति रथऽकारेभ्यः । च । वः । नमः । नमः । कुलालेभ्यः । कर्मारेभ्यः । च । वः । नमः । नमः । निषादेभ्यः । निसादेभ्यऽइति निऽसादेभ्यः । पुञ्जिष्टेभ्यः । च । वः । नमः । नमः । श्वनिभ्यऽइति श्वनिऽभ्यः । मृगयुभ्यऽइति मृगयुऽभ्यः । च । वः । नमः ॥ २७ ॥

पदार्थः—(नमः) अन्नम् (तक्षभ्यः) ये तक्ष्णुवन्ति तनूकुर्वन्ति तेभ्यः (रथकारेभ्यः) ये रथान् विमानादियानसमूहान् कुर्वन्ति तेभ्यः शिल्पिभ्यः (च) (वः) (नमः) वेतनादिदानेन सत्करणम् (नमः) अन्नादिकम् (कुलालेभ्यः) मृत्स्नापात्रादिरचकेभ्यः (कर्मारेभ्यः) असिभुशुण्डीशतघ्न्यादिनिर्मातृभ्यः (च) (वः) (नमः) सत्करणम् (नमः) अन्नादिदानम् (निषादेभ्यः) ये वनपर्वतादिषु सीदन्ति तेभ्यः (पुञ्जिष्टेभ्यः) ये पुञ्जिषु वर्णेषु भाषासु वा तिष्ठन्ति तेभ्यः (च) (वः) (नमः) सत्करणम् (नमः) अन्नादि-

दानम् (श्वनिभ्यः) ये शुनो नयन्ति शिक्षयन्ति तेभ्यः (मृगयुभ्यः) य आत्मनो मृगान् कामयन्ते तेभ्यः (च) (वः) (नमः) सत्करणम् ॥ २७ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यथा वयं राजादयो वस्तक्षभ्यो नमो रथकारेभ्यो नमश्च वः कुलालेभ्यो नमः कर्मारेभ्यो नमश्च वो निषादेभ्यो नमः पुञ्जिष्ठेभ्यो नमश्च वः श्वनिभ्यो नमो मृगयुभ्यो नमश्च दद्याम कुर्याम च तथा यूयमपि दत्त कुरुत च ॥ २७ ॥

भावार्थः—विद्वांसो ये पदार्थविद्ययाऽपूर्वाणि शिल्पकृत्यानि साध्नुयुस्तान् पारितोषिकदानेन सत्कुर्युः । ये श्वादिपशुभ्योऽन्नादिदानेन परिपाल्य सुशिक्षयोपयोजयेयुस्तान् सुखानि प्रापयेयुः ॥ २७ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! जैसे राजा आदि हम लोग (तक्षभ्यः) पदार्थों को सूक्ष्मक्रिया से बनाने हारे तुम को (नमः) अन्न देवें (च) और (रथकारेभ्यः) बहुतसे विमानादि यानों को बनाने हारे (वः) तुम लोगों का (नमः) परिश्रमादि का धन देके सत्कार करते हैं (कुलालेभ्यः) प्रशंसित मट्टी के पात्र बनाने वालों को (नमः) अन्नादि पदार्थ देवें (च) और (कर्मारेभ्यः) खड्ग, बन्दूक और तोप आदि शस्त्र बनाने वाले (वः) तुम लोगों का (नमः) सत्कार करते हैं (निषादेभ्यः) वन और पर्वतादि में रह कर दुष्ट जीवों को ताड़ना देने वाले तुम को (नमः) अन्नादि देवें (च) और (पुञ्जिष्ठेभ्यः) श्वेतादि वर्णों वा भ.पाओं में प्रवीण (वः) तुम्हारा (नमः) सत्कार करते हैं (श्वनिभ्यः) कुत्तों को शिक्षा करने हारे तुम को (नमः) अन्नादि देवें (च) और (मृगयुभ्यः) अपने आत्मा से वन के हरिण आदि पशुओं को चाहने वाले तुम लोगों का (नमः) सत्कार करते हैं वैसे तुम लोग भी करो ॥ २७ ॥

भावार्थः—विद्वान् लोग जो पदार्थविद्या को जान के अपूर्व कारीगरी युक्त पदार्थों को बनावें उनको पारितोषिक आदि देके प्रसन्न करें और जो कुत्ते आदि पशुओं को अन्नादि से रक्षा कर तथा अच्छी शिक्षा देके उपयोग में लावें उनको सुख प्राप्त करावें ॥ २७ ॥

नमः श्वभ्य इत्यस्य कुत्स ऋषिः । रुद्रा देवताः ।
आर्षी जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

मनुष्यैः केभ्यः कथमुपकारो ग्राह्य इत्याह ॥
मनुष्य लोग किनसे कैसा उपकार लेवें यह वि० ॥

नमः॒ श्वभ्यः॒ श्वप॑तिभ्यश्च वो॒ नमो॒ नमो॑ भ॒वाय॑ च रु॒द्राय॑ च॒ नमः॑ श॒र्वाय॑ च पशु॒पत॑ये च॒ नमो॒ नील॑ग्रीवाय च शिति॒कण्ठा॑य च ॥ २८ ॥

नमः॑ । श्वभ्य॒ऽइति॒ श्वऽभ्यः॑ । श्वप॑तिभ्य॒ऽइति॒ श्वप॑ऽतिऽभ्यः । च॒ । वः॒ । नमः॑ । नमः॑ । भ॒वाय॑ । च॒ । रु॒द्राय॑ । च॒ । नमः॑ । श॒र्वाय॑ । च॒ । प॒शु॒पत॑य॒ऽइति॑ पशु॒ऽपत॑ये । च॒ । नमः॑ । नील॑ग्रीवा॒येति॒ नील॑ऽग्रीवाय । च॒ । शि॒ति॒कण्ठा॒येति॑ शि॒ति॒ऽकण्ठा॑य । च॒ ॥ २८ ॥

पदार्थः—(नमः) अन्नम् (श्वभ्यः) कुक्कुरेभ्यः (श्वपतिभ्यः) शुनां पालकेभ्यः (च) (वः) (नमः) अन्नं सत्कारं च (नमः) सत्कारणम् (भवाय) यः शुभगुणादिषु भवति तस्मै (च) (रुद्राय) दुष्टानां रोदकाय (च) (नमः) अन्नादिकम् (शर्वाय) दुष्टानां हिंसकाय (च) (पशुपतये) गवादिपशुपालकाय (च) (नमः) अन्नम् (नीलग्रीवाय) नीलः शोभनो वर्णो ग्रीवायां यस्य तस्मै (च) (शितिकण्ठाय) शितिस्तीक्ष्णीभूतः कृष्णो वा कण्ठो यस्य तस्मै (च) ॥ २८ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यथा वयं परीक्षकाः श्वभ्यो नमो वः श्वपतिभ्यो नमश्च भवाय नमश्च रुद्राय नमश्च शर्वाय नमश्च पशुपतये नमश्च नीलग्रीवाय

नमश्च शितिकण्ठाय नमश्च दद्याम कुर्याम तथा यूयमपि दत्त कुरुत च ॥ २८ ॥

भावार्थः—मनुष्यैः श्वादिपशूनन्नादिदानेन वर्द्धयित्वा तैरुपकारो ग्राह्यः । पशुपालकादीनां सत्कारश्च कार्यः ॥ २८ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो जैसे हम परीक्षक लोग (श्वभ्यः) कुत्तों को (नमः) अन्न देवें (च) और (वः) तुम (श्वपतिभ्यः) कुत्तों को पालने वालों को (नमः) अन्न देवें तथा सत्कार करें (च) तथा (भवाय) जो शुभगुणों में प्रसिद्ध हो उस जन का (नमः) सत्कार (च) और (रुद्राय) दुष्टों को रुलाने हारे वीर का सत्कार (च) तथा (शर्वाय) दुष्टों को मारने वालों को (नमः) अन्नादि देते (च) और (पशुपतये) गौ आदि पशुओं के पालक को अन्न (च) और (नीलग्रीवाय) सुन्दर वर्ण वाले कण्ठ से युक्त (च) और (शितिकण्ठाय) तीक्ष्ण वा काले कण्ठ वाले को (नमः) अन्न देते और सत्कार करते हैं वैसे तुम भी दिया किया करो ॥ २८ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि कुत्ते आदि पशुओं को अन्नादि से बढ़ा के उनसे उपकार लेवें और पशुओं के रक्षकों का सत्कार भी करें ॥ २८ ॥

नमः कपर्दिने इत्यस्य कुत्स ऋषिः । रुद्रो देवता ।
भुरिगतिजगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

गृहस्थैः के सत्कर्त्तव्या इत्युच्यते ॥
गृहस्थ लोगों का किनका सत्कार करना चाहिये यह वि० ॥

नमः॑ कप॒र्दिने॑ च॒ व्यु॑प्तकेशाय च॒ नमः॑ सह॒स्रा॒क्षाय॑ च श॒तध॑न्वने च॒ नमो॑ गिरिश॒याय॑ च शिपिवि॒ष्टाय॑ च॒ नमो॑ मी॒ढुष्ट॑माय॒ चेषु॑मते च ॥ २९ ॥

नमः । कुपर्दिने । च । व्युप्तकेशायेति व्युप्तऽकेशाय । च । नमः । सहस्राक्षायेति सहस्रऽअक्षाय । च । शतधन्वन इति शतऽधन्वने । च । नमः । गिरिशयायेति गिरिऽशयाय । च । शिपिविष्टायेति शिपिऽविष्टाय । च । नमः । मीढुष्टमाय । मीढुष्टमायेति मीढुःऽतमाय । च । इषुमत इतीषुऽमते । च ॥ २९ ॥

पदार्थः—(नमः) अन्नम् (कपर्दिने) जटिलाय ब्रह्मचारिणे (च) (व्युप्तकेशाय) विशेषतयोप्ताश्छेदिताः केशा येन तस्मै संन्यासिने (च) संन्यासजिज्ञासवे वा (नमः) सत्करणम् (सहस्राक्षाय) सहस्रेष्वसंख्यातेषु शास्त्रविषयादिष्वक्षिणी यस्य तस्मै विदुषे ब्राह्मणाय (शतधन्वने) धनुर्विद्यायसंख्यशस्त्रविद्याशिक्षकाय (च) (नमः) सत्करणम् (गिरिशयाय) यो गिरिषु पर्वतेषु स्थितः सन् शेते तस्मै वानप्रस्थाय (च) (शिपिविष्टाय) शिपिषु पशुषु पालकत्वेन विष्टाय प्रविष्टाय वैश्यजनाय (च) शूद्राय (नमः) सत्करणम् (मीढुष्टमाय) अतिशयेन वृक्षोद्यानक्षेत्रादिसेचकाय कृषीवलाय (च) (इषुमते) प्रशस्ता इषवो बाणा विद्यन्ते यस्य तस्मै वीराय (च) भृत्यवर्गाय ॥ २९ ॥

अन्वयः—गृहस्था मनुष्या नमः कपर्दिने च व्युप्तकेशाय च नमः सहस्राक्षाय च शतधन्वने च नमो गिरिशयाय च शिपिविष्टाय च नमो मीढुष्टमाय चेषुमते च कुर्युः सदयुध ॥ २९ ॥

भावार्थः—गृहस्थैर्ब्रह्मचारिप्रभृतीन् सत्कृत्य विद्यादानं कर्त्तव्यं कारयितव्यं च तथा संन्यास्यादीन् संपूज्य विशिष्टविज्ञानं ग्राह्यम् ॥ २९ ॥

पदार्थः—गृहस्थ लोगों को चाहिये कि (कपर्दिने) जटाधारी ब्रह्मचारी (च) और (व्युप्तकेशाय) समस्त केश मुंडाने हारे संन्यासी (च) और संन्यास चाहते हुए को (नमः) अन्न देवें (च) तथा (सहस्राक्षाय) असंख्य

शास्त्र के विषयादि को देखने वाले विद्वान् ब्राह्मण का (च) और (शतधन्वने) धनुष् आदि असंख्य शस्त्र विद्याओं के शिक्षक क्षत्रिय का (नमः) सत्कार करें (गिरिशयाय) पर्वतों के आश्रय से सोने हारे वानप्रस्थ का (च) और (शिपिविष्टाय) पशुओं के पालक वैश्य आदि (च) और शूद्र का (नमः) सत्कार करें (मीढुष्टमाय) वृक्ष बगीचा और खेत आदि को अच्छे प्रकार सींचने वाले किसान लोगों (च) और माली आदि को (इषुमते) प्रशंसित बाणों वाले वीर पुरुष को (च) भी (नमः) अन्नादि देवें और सत्कार करें ॥ २६ ॥

भावार्थः—गृहस्थों को योग्य है कि ब्रह्मचारी आदि को सत्कारपूर्वक विद्यादान करें और करावें, तथा संन्यासी आदि की सेवा करके विशेष विज्ञान का ग्रहण किया करें ॥ २६ ॥

नमो ह्रस्वायेत्यस्य कुत्स ऋषिः । रुद्रा देवता ।
विराडार्षी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनस्तदेवाह ॥
फिर भी वही वि० ॥

नमो॑ ह्रस्वाय॑ च वाम॒नाय॑ च॒ नमो॑ बृह॒ते च॒ वर्षी॑यसे च॒ नमो॑ वृ॒द्धाय॑ च स॒वृधे॑ च॒ नमोऽग्र्या॑य च प्रथ॒माय॑ च ॥ ३० ॥

नम॑ः । ह्र॒स्वाय॑ । च॒ । वा॒म॒नाय॑ । च॒ । नम॑ः । बृ॒ह॒ते । च॒ । वर्षी॑यसे । च॒ । नम॑ः । वृ॒द्धाय॑ । च॒ । स॒वृध॒ऽइति॑ स॒ऽवृधे॑ । च॒ । नम॑ः । अग्र्या॑य । च॒ । प्र॒थ॒माय॑ । च॒ ॥ ३० ॥

पदार्थः—(नमः) अन्नम् (ह्रस्वाय) बालकाय (च) (वामनाय) वामं प्रशस्तं विज्ञानं विद्यते यस्य तस्मै । वाम इति प्रशस्यना० । निघं० ३ । ८ ।

अत्र पामादित्वाद्यः । अ० ५ । २ । १०० । (च) (नमः) सत्करणम् (वृहते) महते (च) (वर्षीयसे) अतिशयेन विद्यावृद्धाय (च) (नमः) सत्करणम् (वृद्धाय) वयोऽधिकाय (च) (सवृधे) यः समानैः सह वर्धते तस्मै (च) सर्वमित्राय (नमः) सत्करणम् (अग्रयाय) अग्रे भवाय सत्कर्मसु पुरःसराय (च) (प्रथमाय) प्रख्याताय (च) ॥ ३० ॥

अन्वयः—ये गृहस्था मनुष्या ह्रस्वाय च वामनाय च नमो वृहते च वर्षीयसे च नमो वृद्धाय च सवृधे च नमोऽग्रयाय च प्रथमाय नमश्च ददति कुर्वन्ति च ते सुखिनो भवन्ति ॥ ३० ॥

भावार्थः—गृहस्थैर्मनुष्यैरन्नादिना बालकादीन् सत्कृत्य सद्व्यवहार उन्नेयः ॥ ३० ॥

पदार्थः—जो गृहस्थ लोग (ह्रस्वाय) बालक (च) और (वामनाय) प्रशंसित ज्ञानी (च) तथा मध्यम विद्वान् को (नमः) अन्न देते हैं (वृहते) बड़े (च) और (वर्षीयसे) विद्या में अतिवृद्ध (च) तथा विद्यार्थी का (नमः) सत्कार (वृद्धाय) अवस्था में अधिक (च) और (सवृधे) अपने समानों के साथ बढ़ने वाले (च) तथा सब के मित्र का (नम.) सत्कार (च) और (अग्रयाय) सत्कर्म करने में सब से पहिले उद्यत होने वाले (च) तथा (प्रथमाय) प्रसिद्ध पुरुष का (नमः) सत्कार करते हैं ॥ ३० ॥

भावार्थः—गृहस्थ मनुष्यों को उचित है कि अन्नादि पदार्थों से बालक आदि का सत्कार करके अच्छे व्यवहार की उन्नति करें ॥ ३० ॥

नम आशव इत्यस्य कुत्स ऋषिः। रुद्रा देवताः। स्वराडार्षी पङ्क्तिश्छन्दः। पञ्चमः स्वरः ॥

पुनस्तेः कथं कार्यं इत्युपदिश्यते ॥
फिर उन को कैसे करना चाहिये यह वि० ॥

नम॑ आ॒शवे॑ चाजि॒राय॑ च॒ नमः॒ शीघ्र्या॑य च॒ शीभ्या॑य च॒ नम॒ ऊर्म्या॑य चावस्व॒न्या॑य च॒ नमो॑ नादे॒याय॑ च॒ द्वीप्या॑य च ॥ ३१ ॥

नमः॑ । आ॒शवे॑ । च॒ । अ॒जि॒राय॑ । च॒ । नमः॑ । शीघ्र्या॑य । च॒ । शीभ्या॑य । च॒ । नमः॑ । ऊर्म्या॑य । च॒ । अ॒व॒स्व॒न्या॒येत्य॑व॒ऽस्व॒न्या॑य । च॒ । नमः॑ । ना॒दे॒याय॑ । च॒ । द्वीप्या॑य । च॒ ॥ ३१ ॥

पदार्थः—(नमः) अन्नादिकम् (आशवे) वायुरिवाऽध्वानं व्याप्तायाश्वाय (च) (अजिराय) अश्ववारं प्रक्षेप्त्रे (च) (नमः) अन्नम् (शीघ्र्याय) शीघ्रगतौ साधवे (च) (शीभ्याय) शीभेषु क्षिप्रकारिषु भवाय । शीभमिति क्षिप्रना० । निघं० २ । १५ । (च) (नमः) अन्नम् (ऊर्म्याय) ऊर्मिषु जलतरङ्गेषु भवाय वायुरिव गर्ववानाय (च) (अवस्वन्याय) अर्वाचीनेषु स्वनेषु भवाय (च) (नमः) अन्नम् (नादेयाय) नद्यां भवाय (च) (द्वीप्याय) द्वीपेषु द्विर्गतजलेषु देशेषु भवाय (च) ॥ ३१ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यदि यूयमाशवे चाजिराय च नमः शीघ्र्याय शीभ्याय च नमऊर्म्याय चावस्वन्याय च नमो नादेयाय च द्वीप्याय च नमो दद्य तर्हि भवन्तोऽखिलानन्दान् प्राप्नुत ॥ ३१ ॥

भावार्थः—ये क्रियाकौशलेन रचितैर्विमानादियानैरश्वादिभिश्च शीघ्रं गतिमन्तः सन्ति ते कं कं द्वीपं देशं वाऽगत्वा राज्याय धनं च नाप्नुवन्ति किन्तु सर्वत्र गत्वा सर्वमाप्नुवन्ति ॥ ३१ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो जो तुम लोग (आशवे) वायु के तुल्य मार्ग में शीघ्रगामी (च) और (अजिराय) असवारों को फेंकने वाले घोड़े (च) तथा हाथी आदि को (नमः) अन्न (शीघ्र्याय) शीघ्र चलने में उत्तम (च)

और (शीभ्याय) शीघ्रता करने हारों में प्रसिद्ध (च) तथा मध्यस्थ जन को (नमः) अन्न (ऊर्म्याय) जल तरङ्गों में वायु के समान वर्त्तमान (च) और (स्रोतस्याय) अनुत्तम शब्दों में प्रसिद्ध होनेवाले के लिये (च) तथा दूर से सुनने हारे को (नमः) अन्न (नादेयाय) नदी में रहने (च) और (द्वीप्याय) जल के बीच टापू में रहने (च) तथा उनके सम्बन्धियों को (नमः) अन्न देते रहो तो आप लोगों को संपूर्ण आनन्द प्राप्त हों ॥ ३१ ॥

भावार्थ—जो क्रियाकौशल से बनाये विमानादि यानों और घोड़ों से शीघ्र चलते हैं वे किस २ द्वीप वा देश को न जाके राज्य के लिये धन को नहीं प्राप्त होवे किन्तु सर्वत्र जा आ के सब को प्राप्त होते हैं ॥ ३१ ॥

नमो ज्येष्ठायेत्यस्य कुत्स ऋषिः । रुद्रा देवताः ।
स्वराडार्षी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

मनुष्याः परस्परं कथं सत्कृता भवेयुरित्याह ॥
मनुष्य लोग परस्पर कैसे सत्कार करने वाले हों यह वि० ॥

नमो ज्येष्ठाय च कनिष्ठाय च नमः पूर्वजाय चापरजाय च नमो मध्यमाय चापगल्भाय च नमो जघन्याय च बुध्न्याय च ॥ ३२ ॥

नमः । ज्येष्ठाय । च । कनिष्ठाय । च । नमः । पूर्वजायेति पूर्वऽजाय । च । अपरजायेत्यपरऽजाय । च । नमः । मध्यमाय । च । अपगल्भायेत्यपऽगल्भाय । च । नमः । जघन्याय । च । बुध्न्याय । च ॥ ३२ ॥

पदार्थः—(नमः) सत्करणमन्नं वा (ज्येष्ठाय) अतिशयेन वृद्धाय (च) (कनिष्ठाय) अतिशयेन बालकाय (च) (नमः) सत्करणमन्नं

या (पूर्वजाय) पूर्वं जाताय ज्येष्ठाय भ्रात्रे ब्राह्मणाय वा (च) (अपरजाय) अपरं जाताय ज्येष्ठानुजायान्त्यजाय वा (च) (नमः) सत्कारादिकम् (मध्यमाय) मध्ये भवाय बन्धवे क्षत्रियाय वैश्याय वा (च) (अपगल्भाय) अपगतं दूरीकृतं गल्भं धाष्ट्र्यं येन तस्मै (च) (नमः) सत्करणम् (जघन्याय) जघने नीचकर्मणि भवाय शूद्राय म्लेच्छाय वा (च) (बुध्न्याय) बुध्ने जलबन्धनेऽन्तरिक्षे भव य मेघायेव वर्त्तमानाय दात्रे (च) ॥ ३२ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यूयं ज्येष्ठाय च कनिष्ठाय च नमः पूर्वजाय चापरजाय च नमो मध्यमाय चापगल्भाय च नमो जघन्याय च बुध्न्याय च नमो दत्त ॥ ३२ ॥

भावार्थः—सत्कारे कर्त्तव्ये नमस्त इति वाक्योच्चारणेन कनिष्ठैर्ज्येष्ठा ज्येष्ठैः कनिष्ठा नीचैरुत्तमा उत्तमैर्नीचाः क्षत्रियाद्यैर्ब्राह्मणा ब्राह्मणाद्यैः क्षत्रियाद्याश्च सततं सत्कर्त्तव्याः । एतेनैव वेदोक्तप्रमाणेन शिष्टाचारे सर्वत्र सर्वैरेतद्वाक्यं सम्प्रयोज्यान्योन्येषां सत्करणात्मसन्नैर्भवितव्यम् ॥ ३२ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! तुम लोग (ज्येष्ठाय) अत्यन्त वृद्धों (च) और (कनिष्ठाय) अतिबालकों का (नमः) सत्कार और अन्न (च) तथा (पूर्वजाय) ज्येष्ठभ्राता वा ब्राह्मण (च) और (अपरजाय) छोटे भाई वा नीच का (च) भी (नमः) सत्कार वा अन्न (मध्यमाय) बन्धु, क्षत्रिय वा वैश्य (च) और (अपगल्भाय) ढीठपन छोड़ हुए सरल स्वभाव वाले (च) इन सब का (नमः) सत्कार आदि (च) और (जघन्याय) नीचकर्मकर्त्ता शूद्र वा म्लेच्छ (च) तथा (बुध्न्याय) अन्तरिक्ष में हुए मेघ के तुल्य वर्त्तमान दाता पुरुष का (नमः) अन्नादि से सत्कार करो ॥ ३२ ॥

भावार्थः—परस्पर मिलते समय सत्कार करना हो तब (नमस्ते) इस वाक्य का उच्चारण करके छोटे बड़ों, बड़े छोटों, नीच उत्तमों, उत्तम नीचों और क्षत्रियादि ब्राह्मणों वा ब्राह्मणादि क्षत्रियादिकों का निरन्तर सत्कार करें सब लोग इसी वेदोक्त प्रमाण से सर्वत्र शिष्टाचार में इसी वाक्य का प्रयोग करके परस्पर एक दूसरे का सत्कार करने से प्रसन्न होवें ॥ ३२ ॥

नमः सोभ्यायेत्यस्य कुत्स ऋषिः । रुद्रा देवताः ।
आर्षी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥
फिर वही वि० ॥

नमः॑ सोभ्या॑य च प्रतिस॒र्या॑य च॒ नमो॒ याम्या॑य च॒ क्षेम्या॑य च॒ नमः॒ श्लोक्या॑य चावसा॒न्या॑य च॒ नम॑ऽउर्व॒र्या॑य च॒ खल्या॑य च ॥ ३३ ॥

नमः॑ । सोभ्या॑य । च॒ । प्र॒ति॒स॒र्या॒येति॑ प्रति॒ऽस॒र्या॑य । च॒ । नमः॑ । याम्या॑य । च॒ । क्षेम्या॑य । च॒ । नमः॑ । श्लोक्या॑य । च॒ । अ॒व॒सा॒न्या॒येत्य॑व॒ऽसा॒न्या॑य । च॒ । नमः॑ । उ॒र्व॒र्या॑य । च॒ । खल्या॑य । च॒ ॥ ३३ ॥

पदार्थः—(नमः) अन्नम् (सोभ्याय) सोमेष्वैश्वर्ययुक्तेषु भवाय (च) (प्रतिसर्याय) ये प्रतीते पथे सरन्ति तेषु भवाय (च) (नमः) सत्करणम् (याम्याय) यो यमेषु न्यायकारिषु साधुस्तस्मै । अत्रान्येषामपीति दीर्घः (च) (क्षेम्याय) क्षेमेषु रक्षकेषु साधुस्तस्मै (च) (नमः) सत्करणम् (श्लोक्याय) श्लोके वेदवाण्यां साधवे । श्लोक इति वाङ्ना० । निघं० १ । ११ । (च) (अवसान्याय) अवसानव्यवहारे साधवे (च) (नमः) सत्करणम् (उर्वर्याय) उरूणां महतामर्याय स्वामिने (च) (खल्याय) खले संचयाधिकरणे साधवे (च) ॥ ३३ ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः सोभ्याय च प्रतिसर्याय च नमो याम्याय च क्षेम्याय च नमः श्लोक्याय चावसान्याय च नम उर्वर्याय च खल्याय च नमः प्रयोज्य दत्वा चैतान् भवन्त आनन्दयन्तु ॥ ३३ ॥

भावार्थः—अत्रानेकैश्चकारैरन्येऽप्युपयोगिनोऽर्थाः संग्राह्याः सत्कर्त्तव्याश्च प्रजास्थैर्न्यायाधीशादीनां न्यायाधीशाद्यैः प्रजास्थानां च सत्कारः पत्याद्यैर्भार्य्यादीनां भार्य्याद्यैः पत्यादयश्च प्रसादनीयाः ॥ ३३ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो (सोभ्याय) ऐश्वर्ययुक्तों में प्रसिद्ध (च) और (प्रतिसर्याय) धर्मात्माओं में उत्पन्न हुए (च) तथा धनी धर्मात्माओं को (नमः) अन्न दे (याम्याय) न्यायकारियों में उत्तम (च) और (क्षेम्याय) रक्षा करने वालों में चतुर (च) और न्यायाधीशादि को (नमः) अन्न दे और (श्लोक्याय) वेदवाणी में प्रवीण (च) और (अवसान्याय) कार्यसमाप्तिव्यवहार में कुशल (च) तथा आरम्भ करने में उत्तम पुरुष का (नमः) सत्कार (उर्वर्याय) महान् पुरुषों के स्वामी (च) और (खल्याय) अन्न अन्नादि पदार्थों के संचय करने में प्रवृत्त (च) और कदय करने में विचक्षण पुरुष का (नमः) सत्कार करके इन सब को आप लोग आनन्दित करो ॥ ३३

भावार्थः—इस मन्त्र में अनेक चकारों से और भी उपयोगी अर्थ लेना और उनका सत्कार करना चाहिये प्रजास्थ पुरुष न्यायाधीशों, न्यायाधीश प्रजास्थों का सत्कार, पति आदि स्त्री आदि को और स्त्री आदि पति आदि पुरुषों को प्रसन्नता करें ॥ ३३ ॥

नमो वन्यायेत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । रुद्रा देवताः ।
स्वराडार्षी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

राजपुरुषैः कथं भवितव्यमित्याह ॥
राजपुरुषों को कैसा होना चाहिये यह वि० ॥

नमो वन्याय च कक्ष्याय च नमः
च प्रतिश्रवाय च नम आशुषेणाय चाशुरथाय
च नमः शूराय चावभेदिने च ॥ ३४ ॥

नमः । वन्याय । च । कक्ष्याय । च । नमः । श्रवाय । च । प्रतिश्रवायेति प्रतिऽश्रवाय । च । नमः । आशुषेणाय । आशुसेनायेत्याशुऽसेनाय । च । आशुरथायेत्याशुऽरथाय । च । नमः । शूराय । च । अवभेदिन इत्यवऽभेदिने । च ॥ ३४ ॥

पदार्थः—(नमः) अन्नम् (वन्याय) वने जङ्गले भवाय (च) (कक्ष्याय) कक्षासु भवाय (च) (नमः) सत्करणम् (श्रवाय) श्रोत्रे श्रवणहेतवे वा (च) (प्रतिश्रवाय) यः प्रतिशृणोति प्रतिजानीते तस्मै (च) (नमः) अन्नदानम् (आशुषेणाय) आशु शीघ्रगामिनी सेना यस्य तस्मै (च) (आशुरथाय) आशु शीघ्रगामिनो रथा यानानि यस्य तस्मै (च) (नमः) सत्कारम् (शूराय) शत्रूणां हिंसकाय (च) (अवभेदिने) शत्रूनवभेत्तुं विदारयितुं शीलाय (च) ॥ ३४ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या ये वन्याय च कक्ष्याय च नमः श्रवाय च प्रतिश्रवाय च नम आशुषेणाय चाशुरथाय च नमः शूराय चावभेदिने च नमः प्रदद्युः कुर्युस्ते सर्वत्र विजयिनो भवन्तु ॥ ३४ ॥

भावार्थः—राजपुरुषैः वनकक्षस्थाध्येत्रध्यापकपरीक्षकसेनाग्रगामि-रथवीरादीनन्नपानादिना सत्कारेण प्रोत्साह्य सदा विजयिभिर्भवितव्यम् ॥ ३४ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! जो लोग (वन्याय) जंगल में रहने (च) और (कक्ष्याय) वन के समीप कक्षाओं में (च) तथा गुफा आदि में रहने वालों को (नमः) अन्न देवें । (श्रवाय) सुनने वा सुनाने के हेतु (च) और (प्रतिश्रवाय) प्रतिज्ञा करने (च) तथा प्रतिज्ञा को पूरी करनेहारे का (नमः) सत्कार करें । (आशुषेणाय) शीघ्रगामिनी सेना वाले (च) और (आशुरथाय) शीघ्र चलने हारे रथों के स्वामी (च) तथा सारथि आदि को (नमः)

अन्न देवें । (शूराय) शत्रुओं को मारने (च) और (अवभेदिने) शत्रुओं को छिन्न भिन्न करने वाले (च) तथा दूतादि का (नमः) सत्कार करें उन का सर्वत्र विजय होवे ॥ ३४ ॥

भावार्थः—राजपुरुषों को चाहिये कि वन तथा कक्षाओं में रहनेवाले अध्येता और अध्यापकों, बलिष्ठ सेनाओं, शीघ्र चलने हारे यानों में बैठने वाले वीरों और दूतों को अन्न धनादि से सत्कारपूर्वक उत्साह देके सदा विजय को प्राप्त हों ॥ ३४ ॥

नमो बिल्मिन इत्यस्य कुत्स ऋषिः । रुद्रा देवताः ।
स्वराडार्षी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

योद्धॄणां रक्षा कथं कार्येत्याह ॥
योद्धाओं की रक्षा कैसे करना चाहिये यह वि० ॥

नमो॑ बि॒ल्मिने॑ च कव॒चिने॑ च॒ नमो॑ व॒र्मिणे॑ च वरू॒थिने॑ च॒ नमः॑ श्रु॒ताय॑ च श्रुतसे॒नाय॑ च॒ नमो॑ दुन्दु॒भ्या॒य चाहन॒न्या॒य च ॥ ३५ ॥

नमः॑ । बि॒ल्मिने॑ । च॒ । क॒व॒चिने॑ । च॒ । नमः॑ । व॒र्मिणे॑ । च॒ । व॒रू॒थिने॑ । च॒ । नमः॑ । श्रु॒ताय॑ । च॒ । श्रु॒तसे॒नायेति॑ श्रु॒तऽसे॒नाय॑ । च॒ । नमः॑ । दु॒न्दु॒भ्या॒य । च॒ । आ॒ह॒न॒न्या॒येत्या॑ऽह॒न॒न्या॒य । च॒ ॥ ३५ ॥

पदार्थः—(नमः) सत्करणम् (बिल्मिने) प्रशस्तं बिल्मं धारणं वा विद्यते यस्य तस्मै (च) (कवचिने) सम्बद्धं कवचं शरीररक्षासाधनं विद्यते यस्य तस्मै (च) (नमः) अन्नादिदानम् (वर्मिणे) बहूनि वर्माणि

शरीररक्षासाधनानि विद्यन्ते यस्य तस्मै (च) (वरूथिने) प्रशस्तानि वरूथानि गृहाणि विद्यन्ते यस्य तस्मै । वरूथमिति गृहना० । निघं० ३ । ४ । (च) (नमः) सत्करणम् (श्रुताय) यः शुभगुणेषु श्रूयते तस्मै (च) (श्रुतसेनाय) श्रुता प्रख्याता सेना यस्य तस्मै (च) (नमः) सत्करणम् (दुन्दुभ्याय) दुन्दुभिषु वादित्रेषु साधवे (च) (आहनन्याय) वीररसाय वादित्रवादनेषु साधवे (च) ॥ ३५ ॥

अन्वयः—हे राजप्रजाजनाध्यक्षा भवन्तो बिल्मिने च कवचिने च नमो वर्मिणे च वरूथिने च नमः श्रुताय च श्रुतसेनाय च नमो दुन्दुभ्याय चाहनन्याय च नमः कुर्युर्यतो युष्माकं पराजयः कदाचिन्न स्यात् ॥ ३५ ॥

भावार्थः—राजप्रजाजनैर्योद्धॄणां सर्वतो रक्षा सर्वतः सुखप्रदानि गृहाणि भोज्यपेयानि वस्तूनि प्रशंसितजनानां सङ्गोऽत्युत्तमानि वादित्राणि च दत्वा स्वाभीष्टानि साधनीयानि ॥ ३५ ॥

पदार्थः—हे राजन् और प्रजा के अध्यक्ष पुरुषो ! आप लोग (बिल्मिने) प्रशंसित धारण वा पोषण करने (च) और (कवचिने) शरीर के रक्षक कवच को धारण करने (च) तथा वन के सहायकारियों का (नमः) सत्कार करें (वर्मिणे) शरीररक्षा के बहुत साधनों से युक्त (च) और (वरूथिने) प्रशंसित घरों वाले (च) तथा घर आदि के रक्षकों को (नमः) अन्नादि देवें (श्रुताय) शुभ गुणों में प्रख्यात (च) और (श्रुतसेनाय) प्रख्यात सेना वाले (च) तथा सेनास्थों का (नमः) सत्कार (च) और (दुन्दुभ्याय) बाजे बजाने में चतुर बजन्तरी (च) तथा (आहनन्याय) वीरों को युद्ध में उत्साह बढ़ाने के बाजे बजाने में कुशल पुरुष का (नमः) सत्कार कीजिये जिससे तुम्हारा पराजय कभी न हो ॥ ३५ ॥

भावार्थः—राजा और प्रजा के पुरुषों को चाहिये कि योद्धा लोगों की सब प्रकार रक्षा, सब के सुखदायी घर, खाने पीने के योग्य पदार्थ, प्रशंसित पुरुषों का संग और अत्युत्तम बाजे आदि दे के अपने अभीष्ट कार्यों को सिद्ध करें ॥ ३५ ॥

नमो धृष्णवे इत्यस्य कुत्स ऋषिः । रुद्रा देवताः ।
स्वराडार्षी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर वही वि० ॥

नमो॑ धृष्ण॒वे॑ च प्रमृ॒शाय॑ च॒ नमो॑ निष॒ङ्गिणे॑ चेषुधि॒मते॑ च॒ नम॑स्ती॒क्ष्णेष॑वे चायु॒धिने॑ च॒ नमः॑ स्वायु॒धाय॑ च सु॒धन्व॑ने च ॥ ३६ ॥

नमः॑ । धृ॒ष्णवे॑ । च॒ । प्र॒मृ॒शायेति॑ प्रऽमृ॒शाय॑ । च॒ । नमः॑ । नि॒ष॒ङ्गिणे॑ । च॒ । इ॒षु॒धि॒मत॒ऽइती॑षुधि॒ऽमते॑ । च॒ । नमः॑ । ती॒क्ष्णेष॑व॒ऽइति॑ ती॒क्ष्णऽइ॑षवे । च॒ । आ॒यु॒धिने॑ । च॒ । नमः॑ । स्वा॒यु॒धायेति॑ सुऽआ॒यु॒धाय॑ । च॒ । सु॒धन्व॑न॒ऽइति॑ सु॒ऽधन्व॑ने । च॒ ॥ ३६ ॥

पदार्थः—(नमः) अन्नादिदानम् (धृष्णवे) यो धृष्णोति दृढो निर्भयो भवति (च) (प्रमृशाय) प्रकृष्टविचारशीलाय (च) मृदुस्वभावजनाय (नमः) सत्करणम् (निषङ्गिणे) बहवो निषङ्गाः शस्त्रसमूहा विद्यन्ते यस्य तस्मै (च) (इषुधिमते) प्रशस्तशस्त्रास्त्रकोशाय (च) (नमः) सत्करणम् (तीक्ष्णेषवे) तीक्ष्णास्तीव्रा इषवोऽस्त्रशस्त्राणि यस्य तस्मै (च) (आयुधिने) ये शतघ्न्यादिभिः समन्तायुध्यन्ते ते प्रशस्ता विद्यन्ते यस्य तस्मै (च) (नमः) अन्नदानम् (स्वायुधाय) शोभनानि आयुधानि यस्य तस्मै (च) (सुधन्वने) शोभनानि धन्वानि धनूंषि यस्य तस्मै (च) तेषां रक्षकाय ॥ ३६ ॥

अन्वयः—ये राजप्रजाजनाध्यक्षा धृष्णवे च प्रमृशाय च नमो निषङ्गिणे चेषुधिमते च नमस्तीक्ष्णेषवे चायुधिने च नमः स्वायुधाय च सुधन्वने च नमो दद्युः कुर्युश्च ते सदा विजयिनो भवन्तु ॥ ३६ ॥

भावार्थः—मनुष्यैर्यत्किञ्चित्कर्म कार्य्यं तत्सुविचारेण दृढोत्साहेनेति नहि शरीरात्मबलमन्तरेण शस्त्रप्रहरणं शत्रुविजयश्च कर्त्तुं शक्यते तस्मात्सततं सेना वर्द्धनीया ॥ ३६ ॥

पदार्थः—जो राज और प्रजा के अधिकारी लोग (धृष्णवे) दृढ़ (च) और (प्रमृशाय) उत्तम विचारशील (च) तथा कोमल स्वभाव वाले पुरुष को (नमः) अन्न देवें (निषङ्गिणे) बहुत शस्त्रों वाले (च) और (इषुधिमते) प्रशंसित शस्त्र अस्त्र और कोश वाले का (च) भी (नमः) सत्कार और (तीक्ष्णेषवे) तीक्ष्ण शस्त्र अस्त्रों से युक्त (च) और (आयुधिने) अच्छे प्रकार तोप आदि से लड़ने वाले वीरों से युक्त अध्यक्ष पुरुष का (च) भी (नमः) सत्कार करें (स्वायुधाय) सुन्दर आयुधों वाले (च) और (सुधन्वने) अच्छे धनुषों से युक्त (च) तथा उनके रक्षकों को (नमः) अन्न देवें वे सदा विजय को प्राप्त होवें ॥ ३६ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि जो कुछ कर्म करें सो अच्छे प्रकार विचार और दृढ़ उत्साह से करें क्योंकि शरीर और आत्मा के बल के विना शस्त्रों का चलाना और शत्रुओं का जीतना कभी नहीं कर सकते इसलिये निरन्तर सेना की उन्नति करें ॥ ३६ ॥

नमः स्रुत्यायेत्यस्य कुत्स ऋषिः । रुद्रा देवताः ।
निचृदार्षी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

मनुष्यैरुदकेन कथमुपकर्त्तव्यमित्याह ॥

मनुष्य लोग जल से कैसे उपकार लेवें यह वि० ॥

नमः स्रुत्याय च पथ्याय च नमः काट्याय च नीप्याय च नमः कुल्याय च सरस्याय च नमो नादेयाय च वैशन्ताय च ॥ ३७ ॥

नमः । स्रुत्याय । च । पथ्याय । च । नमः । काट्याय । च । नीप्याय । च । नमः । कुल्याय । च । सरस्याय । च । नमः । नादेयाय । च । वैशन्ताय । च ॥ ३७ ॥

पदार्थः—(नमः) अन्नदानम् (स्रुत्याय) स्रुतौ मार्गे भवाय (च) (पथ्याय) पथि भवाय गन्तुकाय (च) मार्गादिशोधकाय (नमः) सत्करणम् (काट्याय) काटेषु कूपेषु भवाय । काट इति कूपना० । निघं० ३ । २३ । (च) (नीप्याय) नितरामापो यस्मिन् स नीपस्तत्र भवाय (च) तत्सहायिने (नमः) सत्करणम् (कुल्याय) कुल्यासु नदीषु भवाय । कुल्या इति नदीना० । निघं० १ । १३ । (च) (सरस्याय) सरसि तडागे भवाय (च) (नमः) अन्नादिदानम् (नादेयाय) नदीषु भवाय (च) (वैशन्ताय) वेशन्तेषु क्षुद्रेषु जलाशयेषु भवाय (च) ॥ ३७ ॥

अन्वयः—मनुष्यैः स्रुत्याय च पथ्याय च नमः काट्याय च नीप्याय च नमः कुल्याय च सरस्याय नमश्च नादेयाय च वैशन्ताय च नमो दत्वा दया प्रकाशनीया ॥ ३७ ॥

भावार्थः—मनुष्यैः स्रोतसां मार्गाणां कूपानां जलप्रायदेशानां महद्ल्पसरसां च जलं चालयित्वा यत्र कुत्र बद्ध्वा क्षेत्रादिषु पुष्कलान्यन्नफलवृक्षलतागुल्मादीनि संवर्धनीयानि ॥ ३७ ॥

पदार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि (स्रुत्याय) स्रोता नाले आदि में रहने (च) और (पथ्याय) मार्ग में चलने (च) तथा मार्गादि को शोधने वाले

को (नमः) अन्न दे (काट्याय) कूप आदि में प्रसिद्ध (च) और (नीप्याय) बड़े जलाशय में होने (च) तथा उसके सहायी का (नमः) सत्कार (कुल्याय) नहरों का प्रबन्ध करने (च) और (सरस्याय) तालाब के काम में प्रसिद्ध होने वाले का (नमः) सत्कार (च) और (नादेयाय) नदियों के तट पर रहने (च) और (वैशन्ताय) छोटे २ जलाशयों के जीवों को (च) और वापी आदि के प्राणियों को (नमः) अन्नादि देके दया प्रकाशित करें ॥ ३७ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि नदियों के मार्गों, बंधों, कूपों, जलप्रायः देशों, बड़े और छोटे तालाबों के जल को चला जहां कहीं बांध और खेत आदि में छोड़ के पुष्कल अन्न, फल, वृक्ष, लता, गुल्म आदि को अच्छे प्रकार बढ़ावें ॥ ३७ ॥

नमः कूप्यायेत्यस्य कुत्स ऋषिः । रुद्रा देवताः ।
भुरिगार्षी पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर वही वि० ॥

नमः कूप्याय चावट्याय च नमो वीध्र्याय चातप्याय च नमो मेघ्याय च विद्युत्याय च नमो वर्ष्याय चावर्ष्याय च ॥ ३८ ॥

नमः । कूप्याय । च । अवट्याय । च । नमः । वीध्र्यायेति विऽईध्र्याय । च । आतप्यायेत्याऽतप्याय । च । नमः । मेघ्याय । च । विद्युत्यायेति विऽद्युत्याय । च । नमः । वर्ष्याय । च । अवर्ष्याय । च ॥ ३८ ॥

पदार्थः—(नमः) अन्नादिकम् (कूप्याय) कूपे भवाय (च) (अवट्याय) अवटेषु गर्त्तेषु भवाय (च) जङ्गलेषु भवाय (नमः) सत्याादिकम् (वीध्र्याय) विविधेषु ईधेषु दीपनेषु भवाय । अत्र विपूर्वका- दिन्धिधातोरौणादिको रक् प्रत्ययः (च) (आतप्याय) आतपेषु भवाय (च) कृष्यादेः प्रबन्धकर्त्रे (नमः) अन्नादिकम् (मेघ्याय) मेघेषु भवाय (च) (विद्युत्याय) विद्युति भवाय (च) अग्निविद्याविदे (नमः) सत्का- रक्रियाम् (वर्ष्याय) वर्षासु भवाय (च) (अवर्ष्याय) अविद्यमानासु वर्षासु भवाय (च) ॥ ३८ ॥

अन्वयः—मनुष्याः कूप्याय चावट्याय च नमो वीध्र्याय चातप्याय च नमो मेघ्याय च विद्युत्याय च नमो वर्ष्याय चावर्ष्याय च नमो दत्त्वा कृत्वा चानन्दन्तु ॥ ३८ ॥

भावार्थः—यदि मनुष्याः कूपादिभ्यः कार्यसिद्धये भृत्यान् सत्कुर्युस्तर्ह्यनेकान्युत्तमानि कार्याणि कर्त्तुं शक्नुयुः ॥ ३८ ॥

पदार्थः—मनुष्य लोग (कूप्याय) कूप के (च) और (अवट्याय) गढ़ों (च) तथा जङ्गलों के जीवों को (नमः) अन्नादि दे (च) और (वीध्र्याय) विविध प्रकाशों में रहने (च) और (आतप्याय) घाम में रहने वाले वा (च) खेती आदि के प्रबन्ध करने वाले को (नमः) अन्न दे (मेघ्याय) मेघ में रहने (च) और (विद्युत्याय) बिजुली से काम लेने वाले को (च) तथा अग्निविद्या के जानने वाले को (नमः) अन्नादि दे (च) और (वर्ष्याय) वर्षा में रहने (च) तथा (अवर्ष्याय) वर्षारहित देश में बसने वाले का (नमः) सत्कार करके आनन्दित होवें ॥ ३८ ॥

भावार्थः—जो मनुष्य कूपादि से कार्यसिद्धि होने के लिये भृत्यों का सत्कार करें तो अनेक उत्तम २ कार्यों को सिद्ध कर सकें ॥ ३८ ॥

नमो वात्यायेत्यस्य कुत्स ऋषिः । रुद्रा देवताः ।
स्वराडार्षी पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

अथ मनुष्यैरन्येभ्यो जगत्स्थपदार्थेभ्यः कथमुपकारो ग्राह्य इत्यु० ॥

अब मनुष्य जगत् के अन्य पदार्थों से कैसे उपकार लेवें इस वि० ॥

नमो वात्याय च रेष्म्याय च नमो वास्तव्याय च वास्तुपाय च नमः सोमाय च रुद्राय च नमस्ताम्राय चारुणाय च ॥ ३९ ॥

नमः । वात्याय । च । रेष्म्याय । च । नमः । वास्तव्याय । च । वास्तुपायेति वास्तुऽपाय । च । नमः । सोमाय । च । रुद्राय । च । नमः । ताम्राय । च । अरुणाय । च ॥ ३९ ॥

पदार्थः—(नमः) अन्नादिकम् (वात्याय) वायुविद्यायां भवाय (च) (रेष्म्याय) रेष्मेषु हिंसकेषु भवाय (च) (नमः) सत्करणम् (वास्तव्याय) वास्तुनि निवासस्थाने भवाय (च) (वास्तुपाय) वास्तूनि निवासस्थानानि पाति तस्मै (च) (नमः) अन्नादिकम् (सोमाय) ऐश्वर्योपपन्नाय (च) (रुद्राय) दुष्टानां रोदकाय (च) (नमः) सत्करणम् (ताम्राय) यस्ताम्यति ग्लापयति तस्मै (च) (अरुणाय) प्रापकाय (च) ॥ ३९ ॥

अन्वयः—ये मनुष्या वात्याय च रेष्म्याय च नमो वास्तव्याय च वास्तुपाय च नमः सोमाय च रुद्राय च नमस्ताम्राय चारुणाय च नमो विदध्युस्ते श्रिया सम्पन्नाः स्युः ॥ ३९ ॥

भावार्थः—यदा मनुष्या वात्यादिगुणान् विदित्वा व्यवहारेषु संप्रयुञ्जीरंस्तदानेकानि सुखानि लभेरन् ॥ ३९ ॥

पदार्थः—जो मनुष्य (वात्याय) वायुविद्या में कुशल (च) और (रेष्म्याय) मारने वालों में प्रसिद्ध को (च) भी (नमः) अन्नादि देवें (च)

तथा (वास्तव्याय) निवास के स्थानों में हुए (च) और (वास्तुपाय) निवासस्थान के रक्षक का (नमः) सत्कार करें (च) तथा (सोमाय) धन द्रव्य (च) और (रुद्राय) दुष्टों को रोदन कराने हारे को (नमः) अन्नादि देवें (च) तथा (ताम्राय) बुरे कामों से ग्लानि करने (च) और (अरुणाय) अच्छे पदार्थों को प्राप्त कराने हारे का (नमः) सत्कार करें वे लक्ष्मी से सम्पन्न होवें ॥ ३९ ॥

भावार्थः—जब मनुष्य वायु आदि के गुणों को ज्ञान के व्यवहारों में लगावें तब अनेक सुखों को प्राप्त हों ॥ ३९ ॥

नमः शङ्गव इत्यस्य परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवा ऋषयः । रुद्रा देवताः । भुरिगतिशक्वरी छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

मनुष्यैः कथं संतोष्टव्यमित्याह ॥
मनुष्यों को कैसे संतोषी होना चाहिये यह वि० ॥

नमः॑ शङ्गवे॑ च पशुपत॑ये च नम॑ उग्राय॑ च भीमाय॑ च नमो॑ऽग्रेवधाय॑ च दूरेवधाय॑ च नमो॑ हन्त्रे च हनीयसे च नमो॑ वृक्षेभ्यो॒ हरि॑केशेभ्यो॒ नम॑स्ताराय॑ ॥ ४० ॥

नमः॑ । शङ्गव इति॑ शम्ऽगवे॑ । च । पशुपत॑यऽइति॑ पशुऽपत॑ये । च । नमः॑ । उग्राय॑ । च । भीमाय॑ । च । नमः॑ । अग्रेवधायेत्य॑ग्रेऽवधाय॑ । च । दूरेवधायेति॑ दूरेऽवधाय॑ । च । नमः॑ । हन्त्रे । च । हनीयसे । च । नमः॑ । वृक्षेभ्यः॑ । हरि॑केशेभ्य॒ऽइति॒ हरि॑ऽकेशेभ्यः । नमः॑ । ताराय॑ ॥ ४० ॥

पदार्थः—(नमः) अन्नादिकम् (शङ्गवे) शं सुखं गच्छति प्राप्नोति तस्मै (च) (पशुपतये) गवादिपशूनां पालकाय (च) (नमः) सत्करणम् (उग्राय) तेजस्विने (च) (भीमाय) बिभेति यस्मात् तस्मै भयङ्कराय (च) (नमः) अन्नादिकम् (अग्रेवधाय) योऽग्रे पुरः शत्रून्बध्नाति हन्ति वा तस्मै (च) (दूरेवधाय) योऽरीन्दूरे बध्नाति तस्मै (च) (नमः) अन्नादिदानम् (हन्त्रे) यो दुष्टान् हन्ति तस्मै (च) (हनीयसे) दुष्टानामतिशयेन हन्त्र विनाशकाय (च) (नमः) सत्करणम् (वृक्षेभ्यः) ये शत्रून् वृश्चन्ति छिन्दन्ति तेभ्यः पादपेभ्यो वा (हरिकेशेभ्यः) हरयो हरिताः केशा येषां तेभ्यो युवभ्यो वा (नमः) अन्नादिकम् (ताराय) दुःखात्सन्तारकाय ॥ ४० ॥

अन्वयः—ये मनुष्याः शङ्गवे च पशुपतये च नम उग्राय च भीमाय च नमोऽग्रे बधाय च दूरेवधाय च नमो हन्त्रे च हनीयसे च नमो वृक्षेभ्यो हरिकेशेभ्यो नमस्ताराय नमो दद्युः कुर्युस्ते सुखिनः स्युः ॥ ४० ॥

भावार्थः—मनुष्यैर्गवादिपशुपालनेन भयङ्करादिशान्तिकरणेन च सर्वोपद्रवम् ॥ ४० ॥

पदार्थ:—जो मनुष्य (शङ्गवे) सुख को प्राप्त होने (च) और (पशुपतये) गौ आदि पशुओं के रक्षा करने वाले को (च) और गौ आदि को भी (नमः) अन्नादि पदार्थ देवें (उग्राय) तेजस्वी (च) और (भीमाय) डर दिखाने वाले का (च) भी (नमः) सत्कार करें (अग्रेवधाय) पहिले शत्रुओं को बांधने हारे (च) और (दूरेवधाय) दूर पर शत्रुओं को बांधने वा मारने वाले को (च) भी (नमः) अन्नादि देवें (हन्त्रे) दुष्टों को मारने (च) और (हनीयसे) दुष्टों का अत्यन्त निर्मूल विनाश करने हारे को (च) भी (नमः) अन्नादि देवें (वृक्षेभ्यः) शत्रु को काटने वालों को वा वृक्षों का और (हरिकेशेभ्यः) हरे केशों वाले जवानों वा हरे पत्तों वाले वृक्षों का (नमः) सत्कार करें वा जलादि देवें और (ताराय) दुःख से पार करने वाले पुरुष को (नमः) अन्नादि देवें वे सुखी हों ॥ ४० ॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि गौ आदि पशुओं के पालन और भयङ्कर जीवों की शान्ति करने से संतोष करें ॥ ४० ॥

नमः शम्भवायेत्यस्य परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवा ऋषयः। रुद्रा देवताः। स्वराडार्षी बृहती छन्दः। मध्यमः स्वरः॥

जनैः कथं स्वाभीष्टं साध्यमित्याह ॥

मनुष्यों को कैसे अपना अभीष्ट सिद्ध करना चाहिये यह वि० ॥

नमः शम्भवायं च मयोभवायं च नमः शङ्करायं च मयस्करायं च नमः शिवायं च शिवतराय च ॥ ४१ ॥

नमः। शम्भवायेति शम्ऽभवायं। च। मयोभवायेति मयःऽभवायं। च। नमः। शङ्करायेति शम्ऽकरायं। च। मयस्करायं। मयः करायेति मयःऽकरायं। च। नमः। शिवायं। च। शिवतरायेति शिवऽतराय। च॥ ४१ ॥

पदार्थः—(नमः) सत्करणम् (शम्भवाय) यः शं सुखं भावयति तस्मै परमेश्वराय सेनाधीशाय वा। अत्रान्तर्भावितो ण्यर्थः (च) (मयोभवाय) मयः सुखं भवति यस्मात्तस्मै (च) (नमः) सत्करणम् (शङ्कराय) यः सर्वेषां सुखं करोति तस्मै (च) (मयस्कराय) यः सर्वेषां प्राणिनां मयः सुखं करोति तस्मै (च) (नमः) सत्करणम् (शिवाय) मङ्गलकारिणे (च) (शिवतराय) अतिशयेन मङ्गलस्वरूपाय (च) ॥ ४१ ॥

अन्वयः—ये मनुष्याः शम्भवाय च मयोभवाय च नमः शङ्कराय च मयस्कराय च नमः शिवाय च शिवतराय च नमः कुर्वन्ति ते कल्याणमाप्नुवन्ति ॥ ४१ ॥

भावार्थः—मनुष्यैः प्रेमभक्त्या सर्वमङ्गलप्रदः परमेश्वर एवोपास्यो बलाध्यक्षश्च सत्कर्त्तव्यो यतः स्वाभीष्टानि सिध्येयुः ॥ ४१ ॥

पदार्थः—जो मनुष्य (शम्भवाय) सुख को प्राप्त करने हारे परमेश्वर (च) और (मयोभवाय) सुखप्राप्ति के हेतु विद्वान् (च) का भी (नमः) सत्कार (शङ्कराय) कल्याण करने (च) और (मयस्कराय) सब प्राणियों को सुख पहुंचाने वाले का (च) भी (नमः) सत्कार (शिवाय) मङ्गलकारी (च) और (शिवतराय) अत्यन्त मङ्गलस्वरूप पुरुष का (च) भी (नमः) सत्कार करते हैं वे कल्याण को प्राप्त होते हैं ॥ ४१ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि प्रेमभक्ति के साथ सब मङ्गलों के दाता परमेश्वर की ही उपासना और सेनाध्यक्ष का सत्कार करें जिससे अपने अभीष्ट कार्य्य सिद्ध हों ॥ ४१ ॥

नमः पार्य्यायेत्यस्य परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवा ऋषयः । रुद्रा देवताः ।
निचृदार्षी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर वही वि० ॥

नम॒ः पार्या॑य चावा॒र्या॑य च॒ नम॑ः प्र॒तर॑णाय चो॒त्तर॑णाय च॒ नम॒स्तीर्थ्या॑य च॒ कूल्या॑य च॒ नम॑ः शष्प्या॑य च॒ फेन्या॑य च ॥ ४२ ॥

नम॑ः । पार्या॑य । च॒ । अ॒वा॒र्या॑य । च॒ । नम॑ः । प्र॒तर॑णा॒येति॑ प्र॒ऽतर॑णाय । च॒ । उ॒त्तर॑णा॒येत्यु॑त्ऽतर॑णाय । च॒ । नम॑ः । तीर्थ्या॑य । च॒ । कूल्या॑य । च॒ । नम॑ः । शष्प्या॑य । च॒ । फेन्या॑य । च॒ ॥ ४२ ॥

पदार्थः—(नमः) अन्नं सत्करणम् (पार्याय) दुःखेभ्यः पारं वर्त्तमानाय (च) (अवार्याय) अवारे अर्वाचीने भागे भवाय (च) (नमः) सत्करणम् (प्रतरणाय) नौकादिना पारं नद्यादेरर्वाचीनं तटं प्राप्ताय प्रापयित्रे वा (च) (उत्तरणाय) अर्वाचीनतटात्परतटं प्राप्नुवते प्रापयते वा (च) (नमः) अन्नम् (तीर्थ्याय) तीर्थेषु वेदविद्याध्यापकेषु सत्यभाषणादिषु च साधवे (च) (कूल्याय) कूलेषु समुद्रनद्यादितटेषु साधवे (च) (नमः) अन्नादिदानम् (शष्प्याय) शष्पेषु तृणादिषु साधवे (च) (फेन्याय) फेनेषु बुद्बुदाकारेषु साधवे (च) ॥ ४२ ॥

अन्वयः—ये मनुष्याः पार्य्याय चावार्याय च नमः प्रतरणाय चोत्तरणाय च नमस्तीर्थ्याय च कूल्याय च नमः शष्प्याय च फेन्याय च नमः कुर्वन्तु प्रदद्युश्च ते सुखं प्राप्नुयुः ॥ ४२ ॥

भावार्थः—मनुष्यैर्यानेषु नौकादिषु सुशिक्षितान् कैवर्त्तकादीन् संस्थाप्य समुद्रादिपारावारौ गत्वागत्य देशदेशान्तरद्वीपद्वीपान्तरव्यवहारेण धनं निष्पाद्याभीष्टं साधनीयम् ॥ ४२ ॥

पदार्थः—जो मनुष्य (पार्याय) दुःखों से पार हुए (च) और (अवार्याय) इधर के भाग में हुए का (च) भी (नमः) सत्कार (च) तथा (प्रतरणाय) उस तट से नौकादि द्वारा इस पार पहुंचे वा पहुंचाने (च) और (उत्तरणाय) इस पार से उस पार पहुंचने वा पहुंचाने वाले का (नमः) सत्कार करें (तीर्थ्याय) वेदविद्या के पढ़ाने वालों और सत्यभाषणादि कामों में प्रवीण (च) और (कूल्याय) समुद्र तथा नदी आदि के तटों पर रहने वाले को (च) भी (नमः) अन्न देवें (शष्प्याय) तृण आदि कार्यों में साधु (च) और (फेन्याय) फेन बुद्बुदादि के कार्य्यों में प्रवीण पुरुष को (च) भी (नमः) अन्नादि देवें वे कल्याण को प्राप्त होवें ॥ ४२ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि नौकादि यानों में शिक्षित मल्लाह आदि को रख समुद्रादि के इस पार उस पार आ जाके देश देशान्तर और

द्वीपद्वीपान्तरों में व्यवहार से धन की प्राप्ति करके अपना अभीष्ट सिद्ध करें ॥ ४२ ॥

नमः सिकत्यायेत्यस्य परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवा ऋषयः । रुद्रा देवताः । जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

पुनर्मनुष्यैः किं कर्त्तव्यमित्याह ॥

फिर मनुष्यों को क्या करना चाहिये यह वि० ॥

नमः॑ सिक॒त्या᳖य च प्रवा॒ह्या᳖य च॒ नमः॑ किꣳशि॒लाय॑ च क्षय॒णाय॑ च॒ नमः॑ कप॒र्दिने॑ च पुल॒स्तये॑ च॒ नमं इरि॒ण्या᳖य च प्रप॒थ्या᳖य च॥४३॥

नमः॑ । सि॒क॒त्या᳖य । च॒ । प्र॒वा॒ह्या᳖येति॑ प्रऽवा॒ह्या᳖य । च॒ । नमः॑ । कि॒ꣳशि॒लाय॑ । च॒ । क्ष॒य॒णाय॑ । च॒ । नमः॑ । क॒प॒र्दिने॑ । च॒ । पु॒ल॒स्तये॑ । च॒ । नमः॑ । इ॒रि॒ण्या᳖य । च॒ । प्र॒प॒थ्या᳖येति॑ प्रऽप॒थ्या᳖य । च॒ ॥ ४३ ॥

पदार्थः—(नमः) अन्नम् (सिकत्याय) सिकतासु साधवे (च) (प्रवाह्याय) ये प्रवोढुं योग्यास्तेषु साधवे (च) (नमः) (किंशिलाय) किं कुत्सिताः शिलो वृत्तिर्यस्य तस्मै (च) (क्षयणाय) निवासे वर्त्तमानाय (च) (नमः) अन्नम् (कपर्दिने) जटायुक्ताय जनाय (च) (पुलस्तये) महाकायस्थेन्द्रे । अत्र पुल महत्त्वे धातोर्बाहुलकादौणादिकः कतिः प्रत्ययः । (च) (नमः) सत्करणम् (इरिण्याय) इरिणे ऊषरभूमौ साधवे (च) (प्रपथ्याय) प्रकृष्टेषु धर्मपथिषु साधवे (च) ॥ ४३ ॥

अन्वयः—ये मनुष्याः सिकत्याय च प्रवाह्याय च नमः किंशिलाय च क्षयणाय च नमः कपर्दिने च पुलस्तये च नम इरिण्याय च प्रपथ्याय च नमो दद्युः कुर्युस्ते सर्वप्रिया जायेरन् ॥ ४३ ॥

भावार्थः—मनुष्यैर्भूगर्भविद्यया सिकतादिषु भवान् सुवर्णादीन् धातून् निःसार्य महदैश्वर्यमुन्नीयानाथाः पालनीयाः ॥ ४३ ॥

पदार्थः—जो मनुष्य (सिकत्याय) बालू से पदार्थ निकालने में चतुर (च) और (प्रवाह्याय) बैल आदि के चलाने वालों में प्रवीण को (च) भी (नमः) अन्न (किंशिलाय) शिलावृत्ति करने (च) और (क्षयणाय) निवासस्थान में रहने वाले को (च) भी (नमः) अन्न (कपर्दिने) जटाधारी (च) और (पुलस्तये) पड़े २ शरीरों को फेंकने वाले को (च) भी (नमः) अन्न देवें (इरिण्याय) ऊषर भूमि से अति उपकार लेने वाले (च) और (प्रपथ्याय) उत्तम धर्म के मार्गों में प्रवीण पुरुष का (च) भी (नमः) सत्कार करें वे सब के प्रिय होवें ॥ ४३ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि भूगर्भविद्यानुसार बालू मट्टी आदि से सुवर्णादि धातुओं को निकाल बहुत ऐश्वर्य को बढ़ा के अनाथों का पालन करें ॥ ४३ ॥

नमो व्रज्यायेत्यस्य परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवा ऋषयः । रुद्रा देवताः । आर्षी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

कीदृशा जनाः सुखिनो भवन्तीत्युपदिश्यते ॥
कैसे मनुष्य सुखी होते हैं यह वि० ॥

नमो॒ व्रज्या॑य च॒ गोष्ठ्या॑य च॒ नम॒स्तल्प्या॑य च॒ गेह्या॑य च॒ नमो॑ हृद॒य्या॑य च निवे॒ष्प्या॑य च॒ नमः॒ काट्या॑य च गह्वरे॒ष्ठाय॑ च ॥ ४४ ॥

नमः । व्रज्याय । च । गोष्ठ्याय । गोष्ठ्यायेति गोऽस्थ्याय । च । नमः । तल्प्याय । च । गेह्याय । च । नमः । हृदय्याय । च । निवेष्प्यायेति निऽवेष्प्याय । च । नमः । काट्याय । च । गह्वरेष्ठाय । च ॥ ४४ ॥

पदार्थः—(नमः) अन्नादिदानम् (व्रज्याय) व्रजेषु क्रियासु भवाय (च) (गोष्ठ्याय) गोष्ठेषु गवां स्थानेषु साधवे (च) (नमः) अन्नम् (तल्प्याय) तल्पे शयने साधवे (च) (गेह्याय) गेहे नितरां भवाय (च) (नमः) सत्क्रियाम् (हृदय्याय) हृदये साधवे (च) (निवेष्प्याय) नितरां व्याप्तौ साधवे (च) (नमः) अन्नादिदानम् (काट्याय) कटेष्वावरणेषु भवाय (च) (गह्वरेष्ठाय) गह्वरेषु गहनेषु तिष्ठति तस्मै सुसाधवे (च) ॥ ४४ ॥

अन्वयः—ये मनुष्या व्रज्याय च गोष्ठ्याय च नमस्तल्प्याय च गेह्याय च नमो हृदय्याय च निवेष्प्याय च नमः काट्याय च गह्वरेष्ठाय च नमो दधुस्ते सुखं भजेरन् ॥ ४४ ॥

भावार्थः—ये मनुष्या मेघवृष्टिमन्नवस्त्रादिरक्षणेन गवादीन् वर्द्धयेयुस्ते पुष्कलं भोगं लभेरन् ॥ ४४ ॥

पदार्थः—जो मनुष्य (व्रज्याय) क्रियाओं में प्रसिद्ध (च) और (गोष्ठ्याय) गौ आदि के स्थानों के उत्तम प्रबन्धकर्त्ता को (च) भी (नमः) अन्नादि देवें (तल्प्याय) खट्वादि के निर्माण में प्रवीण (च) और (गेह्याय) घर में रहने वाले को (च) भी (नमः) अन्न देवें (हृदय्याय) हृदय के विचार में कुशल (च) और (निवेष्प्याय) विषयों में निरन्तर व्याप्त होने में प्रवीण पुरुष का (च) भी (नमः) सत्कार करें (काट्याय) आच्छादित गुप्त पदार्थों को प्रकट करने (च) और (गह्वरेष्ठाय) गहन अतिकठिन गिरि-कन्दराओं में उत्तम रहने वाले पुरुष को (च) भी (नमः) अन्नादि देवें वे सुख को प्राप्त होवें ॥ ४४ ॥

भावार्थः—जो मनुष्य मेघ से उत्पन्न वर्षा और वर्षा से उत्पन्न हुए तृण आदि की रक्षा से गौ आदि पशुओं को बढ़ावें वे पुष्कल भोग को प्राप्त होवें ॥ ४४ ॥

नमः शुष्क्याय्येत्यस्य परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवा ऋषयः । रुद्रा देवताः । निचृदार्षी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनस्तैः किं कार्यमित्याह ॥

फिर उन मनुष्यों को क्या करना चाहिये यह वि० ॥

नमः शुष्क्याय च हरित्याय च नमः पांसव्याय च रजस्याय च नमो लोप्याय चोलप्याय च नम ऊर्व्याय च सूर्व्याय च ॥ ४५ ॥

नमः । शुष्क्याय । च । हरित्याय । च । नमः । पांसव्याय । च । रजस्याय । च । नमः । लोप्याय । च । उलप्याय । च । नमः । ऊर्व्याय । च । सूर्व्यायेति सुऽऊर्व्याय । च ॥ ४५ ॥

पदार्थः—(नमः) जलादिकम् (शुष्क्याय) शुष्केषु नीरसेषु भवाय (च) (हरित्याय) हरितेषु सरसेषु आर्द्रेषु भवाय (च) (नमः) मान्यम् (पांसव्याय) पांसुषु धूलिषु भवाय (च) (रजस्याय) रजःसु लोकेषु परमाणुषु वा भवाय (च) (नमः), मानम् (लोप्याय) लोपेषु छेदनेषु साधवे (च) (उलप्याय) उलपे उत्क्षेपणे साधवे । अत्रोलपचौरादिकाद्धातोरौणादिको कपन् प्रत्ययः (च) (नमः) सत्क्रियाम् (ऊर्व्याय) ऊर्वौ हिंसायां साधवे (च) (सूर्व्याय) सुष्ठु ऊर्वौ भवाय (च) ॥ ४५ ॥

अन्वयः—ये मनुष्याः शुष्क्याय हरित्याय च नमः पांसव्याय च रजस्याय च नमो लोप्याय चोलप्याय च नम ऊर्व्याय च सूर्व्याय च नमो दद्युः कुर्युस्तेषां कार्याणि सिध्येयुः ॥ ४५ ॥

भावार्थः—मनुष्याः शोषणहरितत्वादिकारकान् वायून् विज्ञाय कार्यसिद्धिं कुर्युः ॥ ४५ ॥

पदार्थः—जो मनुष्य (शुष्क्याय) नीरस पदार्थों में रहने (च) और (हरित्याय) सरस पदार्थों में प्रसिद्ध को (च) भी (नमः) अन्नादि देवें (पांसव्याय) धूलि में रहने (च) और (रजस्याय) लोक लोकान्तरों में रहने वाले का (च) भी (नमः) मान करें (लोप्याय) छेदन करने में प्रवीण (च) और (उलप्याय) फेंकने में कुशल पुरुष का (च) भी (नमः) मान करें (ऊर्व्याय) मारने में प्रसिद्ध (च) और (सूर्व्याय) सुन्दरता से ताड़ना करने वाले का (च) भी (नमः) सत्कार करें उनके सब कार्य सिद्ध होवें ॥ ४५ ॥

भावार्थः—मनुष्य सुखाने और हरापन आदि करने वाले वायुओं को जान के अपने कार्य सिद्ध करें ॥ ४५ ॥

नमः पर्णायेत्यस्य परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवा ऋषयः । रुद्रा देवताः । स्वराट् प्रकृतिश्छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनस्तदेवाह ॥

फिर वही वि० ॥

नमः पुर्णायं च पर्णशदायं च नमं उद्गुरमाणाय चाभिघ्नते च नमं आखिदते चं प्रखिदते च नमं इषुकृद्भ्यो धनुष्कृद्भ्यश्च वो नमो नमों वः किरिकेभ्यों देवानांॐ हृदयेभ्यो नमों

विचिन्वत्केभ्यो नमो विक्षिणत्केभ्यो नम आनिर्हतेभ्यः ॥ ४६ ॥

नमः । पर्णाय । च । पर्णशदायेति पर्णऽशदाय । च । नमः । उद्गुरमाणायेत्युत्ऽगुरमाणाय । च । अभिघ्नत इत्यभिऽघ्नते । च । नमः । आखिदत इत्याऽखिदते । च । प्रखिदत इति प्रऽखिदते । च । नमः । इषुकृद्भ्य इतीषुकृत्ऽभ्यः । धनुष्कृद्भ्यः । धनुःकृद्भ्य इति धनुःकृत्ऽभ्यः । च । वः । नमः । नमः । वः । किरिकेभ्यः । देवानाम् । हृदयेभ्यः । नमः । विचिन्वत्केभ्य इति विऽचिन्वत्केभ्यः । नमः । विक्षिणत्केभ्य इति विऽक्षिणत्केभ्यः । नमः । आनिर्हतेभ्य इत्यानिःऽहतेभ्यः ॥ ४६ ॥

पदार्थः—(नमः) अन्नम् (पर्णाय) यः प्रतिपालयति तस्मै (च) (पर्णशदाय) यः पर्णानि शीयते छिनत्ति तस्मै (च) (नमः) (उद्गुरमाणाय) य उत्कृष्टतया गुरत उद्यच्छत्युद्यमं करोति तस्मै (च) (अभिघ्नते) य आभिमुख्येन हन्ति तस्मै (च) (नमः) सत्करणम् (आखिदते) आसमन्ताद्दीनायैश्वर्योपक्षीणाय (च) (प्रखिदते) प्रकृष्टतया क्षीणाय (च) (नमः) अन्नादिदानम् (इषुकृद्भ्यः) बाणनिर्मापकेभ्यः (धनुष्कृद्भ्यः) धनुषां निर्मातृभ्यः (च) (वः) युष्मभ्यम् (नमः) मान्यम् (नमः) अन्नादिदानम् (वः) युष्मभ्यम् (किरिकेभ्यः) विक्षेपकेभ्यः (देवानाम्) विदुषाम् (हृदयेभ्यः) हृद्यवद्वर्त्तमानेभ्यः (नमः) सत्करणम् (विचिन्वत्केभ्यः) ये विचिन्वन्ति तेभ्यः (नमः) सत्कारम् (विक्षिणत्केभ्यः) ये शत्रून् विक्षयन्ति तेभ्यः (नमः) सत्कारम् (आनिर्हतेभ्यः) ये समन्तान्निर्हतास्तेभ्यः ॥ ४६ ॥

अन्वयः—ये मनुष्याः पर्णाय च पर्णशदाय च नम उद्गुरमाणाय चाभिघ्नते च नम आखिदते च प्रखिदते च नम इषुकृद्भ्यो नमो धनुष्कृद्भ्यश्च वो नमो देवानां हृदयेभ्यः किरिकेभ्यो वो नमो विचिन्वत्केभ्यो नमो विक्षिणत्केभ्यो नम आनिर्हतेभ्यो नमो दद्युः कुर्युश्च ते सर्वत आढ्या जायन्ते ॥ ४६ ॥

भावार्थः—मनुष्यैः सर्वौषधिभ्योऽन्नादिकं संगृह्यानाथमनुष्यादिप्राणिभ्यो दत्त्वा आनन्दयितव्याः ॥ ४६ ॥

पदार्थः—जो मनुष्य (पर्णाय) प्रयुक्तकार से रक्षक को (च) और (पर्णशदाय) पत्तों को काटने वाले को (च) भी (नमः) अन्न (उद्गुरमाणाय) उत्तम प्रकार से उद्यम करने (च) और (अभिघ्नते) सन्मुख होके दुष्टों को मारने वाले को (च) भी (नमः) अन्न देवें (आखिदते) दीन निर्धनी (च) और (प्रखिदते) अतिदरिद्री जन का (च) भी (नमः) सत्कार करें (इषुकृद्भ्यः) बाणों को बनवाने वाले को (नमः) अन्नादि देवें (च) और (धनुष्कृद्भ्यः) धनुष् बनाने वाले (वः) तुम लोगों का (नमः) सत्कार करें (देवानाम्) विद्वानों को (हृदयेभ्यः) अपने आत्मा के समान प्रिय (किरिकेभ्यः) बाण आदि शस्त्र फेंकने वाले (वः) तुम लोगों को (नमः) अन्नादि देवें (विचिन्वत्केभ्यः) शुभ गुणों वा पदार्थों का संचय करने वालों का (नमः) सत्कार (विक्षिणत्केभ्यः) शत्रुओं के नाशक जनों का (नमः) सत्कार और (आनिर्हतेभ्यः) अच्छे प्रकार पराजय को प्राप्त हुए लोगों का (नमः) सत्कार करें वे सब ओर से धनी होते हैं ॥ ४६ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि सब ओषधियों से अन्नादि उत्तम पदार्थों का ग्रहण कर अनाथ मनुष्यादि प्राणियों को देके सब को आनन्दित करें ॥ ४६ ॥

द्राप इत्यस्य परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवा ऋषयः । रुद्रा देवताः । भुरिगार्षी बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर वही वि० ॥

द्रापे॒ऽअन्ध॑सस्पते॒ दरि॑द्र॒ नील॑लोहित। आ॒सां प्र॒जाना॑मे॒षां प॑शू॒नां मा भे॒र्मा रो॒ङ्मो च॑ नः॒ किं च॒नाम॑मत् ॥ ४७ ॥

द्रापे॑। अन्ध॑सः। प॒ते॒। दरि॑द्र। नील॑लोहि॒तेति॒ नील॑ऽलोहित। आ॒साम्। प्र॒जाना॒मिति॑ प्र॒ऽजाना॑म्। ए॒षाम्। प॒शू॒नाम्। मा। भेः। मा। रो॒क्। मोऽइति॒ मो। च॒। नः॒। किम्। च॒न। आ॒म॒म॒त् ॥ ४७ ॥

पदार्थः—(द्रापे) यो द्राः कुत्सिताया गतेः पाति रक्षति तत्संबुद्धौ (अन्धसः) अन्नादेः (पते) स्वामी (दरिद्र) यो दरिद्राति तत्सम्बुद्धौ (नीललोहित) यो नीलान् वर्णान् रोहयति तत्सम्बुद्धौ (आसाम्) प्रत्यक्षाणाम् (प्रजानाम्) मनुष्यादीनाम् (एषाम्) (पशूनाम्) गवादीनाम् (मा) (भेः) मा भयं प्रापयेः (मा) (रोक्) रोगं कुर्याः (मो) (च) (नः) अस्मान् (किम्) (चन) (आममत्) अम रोगे। अमागमः। लङि रूपम् ॥ ४७ ॥

अन्वयः—हे द्रापे अन्धसस्पते दरिद्र नीललोहित राजप्रजाजन त्वमासां प्रजानामेषां पशूनां च सकाशान्मा भेः। मा रोक् नोऽस्मान् किंचन मो आममत् ॥ ४७ ॥

भावार्थः—ये आढ्यास्ते दरिद्रान् पालयेयुर्ये राजप्रजाजनास्ते प्रजापशुहिंसनं कदापि मा कुर्युर्यतः सर्वेषां सुखं वर्द्धेत ॥ ४७ ॥

पदार्थः—हे (द्रापे) निन्दित गति से रक्षक (अन्धसः) अन्न आदि के (पते) स्वामी (दरिद्र) दरिद्रता को प्राप्त हुए (नीललोहित) नीलवर्णयुक्त पदार्थों का सेवन करने हारे राजा वा प्रजा के पुरुष तू (आसाम्) इन प्रत्यक्ष (प्रजानाम्) मनुष्यादि (च) और (एषाम्) इन (पशूनाम्) गौ आदि पशुओं

के रक्षक होके इनसे (मा) (भेः) मत भय को प्राप्त कर (मा) (रोङ्) मत रोग को प्राप्त कर (नः) हम को और अन्य (किम्) किसी को (चन) भी (मो) (आममत्) रोगी करे ॥ ४७ ॥

भावार्थः—जो धनाढ्य हैं वे दरिद्रों का पालन करें तथा जो राजा और प्रजा के पुरुष हैं वे प्रजा के पशुओं को कभी न मारें जिससे प्रजा में सब प्रकार सब का सुख बढ़े ॥ ४७ ॥

इमा रुद्रायेत्यस्य परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवा ऋषयः । रुद्रा देवताः । आर्षी जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

विद्वद्भिः किं कार्यमित्युच्यते ॥
विद्वानों को क्या करना चाहिये इस वि० ॥

इमा रुद्राय तवसे कपर्दिने क्षयद्वीराय प्र भरामहे मतीः । यथा शमसद्द्विपदे चतुष्पदे विश्वं पुष्टं ग्रामेऽअस्मिन्ननातुरम् ॥ ४८ ॥

इमाः । रुद्राय । तवसे । कपर्दिने । क्षयद्वीरायेति क्षयत्ऽवीराय । प्र । भरामहे । मतीः । यथा । शम् । असत् । द्विपद इति द्विऽपदे । चतुष्पदे । चतुष्पद इति चतुःऽपदे । विश्वम् । पुष्टम् । ग्रामे । अस्मिन् । अनातुरम् ॥ ४८ ॥

पदार्थः—(इमाः) इमाः (रुद्राय) शत्रुरोदकाय (तवसे) बलिष्ठाय (कपर्दिने) कृतब्रह्मचर्याय (क्षयद्वीराय) क्षयन्तो दुष्टनाशका वीरा यस्य तस्मै (प्र) (भरामहे) धरामहे (मतीः) मेधाविनः । मतय इति मेधाविना० । निघं० ३ । १५ । (यथा) (शम्) सुखम् (असत्) भवेत् (द्विपदे)

मनुष्याद्याय (चतुष्पदे) गवाद्याय (विश्वम्) सर्वं जगत् (पुष्टम्) रोगरहितत्वेन बलिष्ठम् (ग्रामे) ब्रह्माण्डसमूहे (अस्मिन्) वर्त्तमाने (अनातुरम्) अदुःखितम् ॥ ४८ ॥

अन्वयः—हे वीर रुद्र यथाऽस्मिन् ग्रामेऽनातुरं पुष्टं विश्वं शामसत् तथा वयं द्विपदे चतुष्पदे तवसे कपर्दिने क्षयद्वीराय रुद्राय चेमा मतीः प्र भरामहे तथा त्वमस्मै प्रभर ॥ ४८ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—विद्वद्भिर्यथा प्रजासु स्त्रीपुरुषा धीमन्तः स्युस्तथाऽनुष्ठाय मनुष्यपश्वादियुक्तं राज्यं रोगरहितं पुष्टिमत् सुखि सततं सम्पादनीयम् ॥ ४८ ॥

पदार्थः—हे शत्रुरोदक वीरपुरुष (यथा) जैसे (अस्मिन्) इस (ग्रामे) ब्रह्माण्डसमूह में (अनातुरम्) दुःखरहित (पुष्टम्) रोगरहित होने से बलवान् (विश्वम्) सब जगत् (शम्) सुखी (असत्) हो वैसे हम लोग (द्विपदे) मनुष्यादि (चतुष्पदे) गौ आदि (तवसे) बली (कपर्दिने) ब्रह्मचर्य को सेवन किये (क्षयद्वीराय) दुष्टों के नाशक वीरों से युक्त (रुद्राय) पापी को रुलाने हारे सेनापति के लिये (इमाः) इन (मतीः) बुद्धिमानों का (प्रभरामहे) अच्छे प्रकार धारण पोषण करते हैं वैसे तू भी इस को धारण कर ॥ ४८ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु०—विद्वानों को चाहिये कि जैसे प्रजाओं में स्त्रीपुरुष बुद्धिमान् हों वैसा अनुष्ठान कर मनुष्य पश्वादियुक्त राज्य को रोगरहित पुष्टियुक्त और निरन्तर सुखी करें ॥ ४८ ॥

यातेरुद्र इत्यस्य परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवा ऋषयः ।
रुद्रा देवताः । आर्ष्यनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर वही वि० ॥

या ते॑ रुद्र शि॒वा त॒नूः शि॒वा वि॒श्वाहा॑ भेष॒जी। शि॒वा रु॒तस्य॑ भेष॒जी तया॑ नो मृड जी॒वसे॑ ॥ ४९ ॥

या । ते॒ । रु॒द्र॒ । शि॒वा । त॒नूः । शि॒वा । वि॒श्वाहा॑ । भे॒ष॒जी । शि॒वा । रु॒तस्य॑ । भे॒ष॒जी । तया॑ । नः॒ । मृ॒ड॒ । जी॒वसे॑ ॥ ४९ ॥

पदार्थः—(या) (ते) तव (रुद्र) राजवैद्य (शिवा) कल्याणकारिणी (तनूः) शरीरं विस्तृता नीतिर्वा (शिवा) प्रियदर्शना (विश्वाहा) सर्वाणि दिनानि (भेषजी) औषधानीव रोगनिवारिका (शिवा) सुखप्रदा (रुतस्य) रुग्णस्य । अत्र पृषोदरादित्वाण्णलोपः (भेषजी) व्याधिविनाशिनी (तया) (नः) अस्मान् (मृड) सुखय (जीवसे) जीवितुम् ॥४९॥

अन्वयः—हे रुद्र त्वं या ते शिवा तनूः शिवा भेषजी रुतस्य शिवा भेषज्यस्ति तया जीवसे विश्वाहा नो मृड ॥ ४९ ॥

भावार्थः—राजवैद्यादिविद्वद्भिर्धर्मनीत्यौषधदानेन हस्तक्रियाकौशलेन शस्त्रैश्छित्वा भित्वा च रोगेभ्यो निवार्य्य सर्वाः सेनाः प्रजाश्च रक्षणीयाः ॥ ४९ ॥

पदार्थः—हे (रुद्र) राजा के वैद्य तू (या) जो (ते) तेरी (शिवा) कल्याण करने वाली (तनूः) देह वा विस्तारयुक्त नीति (शिवा) देखने में प्रिय (भेषजी) ओषधियों के तुल्य रोगनाशक और (रुतस्य) रोगी को (शिवा) सुखदायी (भेषजी) पीड़ा हरने वाली है (तया) उससे (जीवसे) जीने के लिये (विश्वाहा) सब दिन (नः) हम को (मृड) सुखी कर ॥ ४९ ॥

भावार्थः—राजा के वैद्य आदि विद्वानों को चाहिये कि धर्म की नीति, ओषधि के दान, हस्तक्रिया की कुशलता और शस्त्रों से छेदन, भेदन करके रोगों से बचा के बल देना और प्रजाओं को प्रसन्न करें ॥ ४९ ॥

परि न इत्यस्य परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवा ऋषयः । रुद्रा देवताः । आर्षी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

राजपुरुषैः किं कार्यमित्याह ॥

राजपुरुषों को क्या करना चाहिये यह वि० ॥

परि॑ नो रु॒द्रस्य॑ हे॒तिर्वृ॑णक्तु॒ परि॑ त्वे॒षस्य॑ दुर्म॒तिर॑घा॒योः । अव॑ स्थि॒रा म॒घव॑द्भ्यस्तनुष्व॒ मीढ्व॑स्तो॒काय॒ तन॑याय मृड ॥ ५० ॥

परि॑ । नः॒ । रु॒द्रस्य॑ । हे॒तिः । वृ॒ण॒क्तु॒ । परि॑ । त्वे॒षस्य॑ । दु॒र्म॒तिरिति॑ दुःऽम॒तिः । अ॒घ॒योः । अ॒घा॒योरित्य॑घ॒ऽयोः । अव॑ । स्थि॒रा । म॒घव॑द्भ्य॒ इति॑ म॒घव॑त्ऽभ्यः । त॒नु॒ष्व॒ । मीढ्वः॑ । तो॒काय॑ । तन॑याय । मृ॒ड ॥ ५० ॥

पदार्थः—(परि) सर्वतः (नः) अस्मान् (रुद्रस्य) परमेशस्य (हेतिः) वज्रः (वृणक्तु) पृथक् करोतु (परि) (त्वेषस्य) क्रोधादिना प्रदीप्तस्य (दुर्मतिः) दुष्टबुद्धिः (अघायोः) आत्मनोऽघमिच्छोर्दुष्टाचारिणः (अव) (स्थिरा) निश्चला (मघवद्भ्यः) पूजितधनेभ्यः (तनुष्व) विस्तृणु (मीढ्वः) सुखसेचक (तोकाय) सद्यो जाताय बालकाय (तनयाय) कुमाराय (मृड) आनन्दय ॥ ५० ॥

अन्वयः—हे मीढ्वो भवान् यो रुद्रस्य हेतिस्त्वेन त्वेषस्याघायोः सकाशान्नः परिवृणक्तु या दुर्मतिर्भवेत्तस्यामस्मान्परिवृणक्तु या च मघवद्भ्यः

मास्मा स्थिरा मतिरस्ति तां तोकाय तनयाय परि तनुष्वैवमा सर्वान् सततम-
मृड ॥ ५० ॥

भावार्थः—राजपुरुषाणां सदैव धर्म्यं सामर्थ्यं येन प्रजारक्षणं दुष्टानां हिंसनं च स्यादतः सद्वैद्याः सर्वेषामारोग्यं स्वातन्त्र्यसुखोन्नतिं च कुर्युर्येन सर्वे सुखिनो भवेयुः ॥ ५० ॥

पदार्थः—हे (मीढ्वः) सुख वर्षाने हारे राजपुरुष ! आप जो (रुद्रस्य) सभापति राजा का (हेतिः) वज्र है उससे (त्वेषस्य) क्रोधादिप्रज्वलित (अघायोः) अपने आत्मा से दुष्टाचार करने हारे पुरुष के सम्बन्ध से (नः) हम लोगों को (परि, वृणक्तु) सब प्रकार पृथक् कीजिये । जो (दुर्मतिः) दुष्टबुद्धि है उससे भी हम को बचाइये और जो (मघवद्भ्यः) प्रशंसित धनवालों से प्राप्त हुई (स्थिरा) स्थिर बुद्धि है उस को (तोकाय) शीघ्र उत्पन्न हुए बालक (तनयाय) कुमार पुरुष के लिये (परि, तनुष्व) सब ओर से विस्तृत करिये और इस बुद्धि से सब को निरन्तर (अव, मृड) सुखी कीजिये ॥ ५० ॥

भावार्थः—राजपुरुषों का धर्मयुक्त पुरुषार्थ यही है कि जिससे प्रजा की रक्षा और दुष्टों को मारना हो, इससे श्रेष्ठ वैद्य लोग सब को आरोग्य और स्वतन्त्रता के सुख की उन्नति करें जिससे सब सुखी हों ॥ ५० ॥

मीढुष्टम इत्यस्य परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवा ऋषयः । रुद्रो देवता । निचृदार्षी यवमध्या त्रिष्टुप्छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

सभाध्यक्षादिभिः किं कार्यमित्याह ॥
सभाध्यक्षादिकों को क्या करना चाहिये यह वि० ॥

मीढुंष्टम शिवंतम शिवो नः सुमनां भव । परमे वृक्ष आयुधन्निधाय कृत्तिं वसान आ चर पिनाकम्बिभ्रदा गहि ॥ ५१ ॥

मीढुंष्टम । मीढुंस्तमेति मीढुंःऽतम । शिवंतमेति शिवंऽतम । शिवः । नः । सुमना इति सुऽमनाः । भव । परमे । वृक्षे । आयुधम् । निधायेति निऽधाय । कृत्तिम् । वसानः । आ । चर । पिनाकम् । बिभ्रत् । आ । गहि ॥ ५१ ॥

पदार्थः—(मीढुष्टम) योऽतिशयेन मीढ्वान् वीर्य्यवाँस्तत्सम्बुद्धौ (शिवतम) अतिशयेन कल्याणकारिन् (शिवः) सुखकारी (नः) अस्मभ्यम् (सुमनाः) शोभनं मनो यस्य सः (भव) (परमे) प्रकृष्टे (वृक्षे) प्रश्चनीये छेदनीये शत्रुसैन्ये (आयुधम्) असिभुशुण्डीशतघ्न्यादिकम् (निधाय) धृत्वा (कृत्तिम्) मृगचर्मादिमयीम् (वसानः) शरीरमाच्छादयन् (आ) (चर) (पिनाकम्) पाति रक्षति आत्मानं येन तद्धनुर्वर्मादिकम् । पातेर्वृद्धौ लुक्चेति पातेराकः प्रत्ययः । उ० ४ । १५ । (बिभ्रत्) धरन् (आ) (गहि) आगच्छ ॥ ५१ ॥

अन्वयः—हे मीढुष्टम शिवतम सभासेनेश त्वं नः सुमनाः शिवो भव । आयुधं निधाय कृत्तिं वसानः पिनाकं बिभ्रदस्माकं रक्षणायागहि परमे वृक्ष आचर ॥ ५१ ॥

भावार्थः—सभासेनेशादयः स्वप्रजासु मङ्गलाचारिणो दुष्टेषु चाग्निरिव दाहकाः स्युर्नैव सर्वे धर्मपथं विहायाधर्मं कदापि नाचरेयुः ॥ ५१ ॥

पदार्थः—हे (मीढुष्टम) अत्यन्तपराक्रमयुक्त (शिवतम) अति कल्याणकारी सभा वा सेना के पति आप (नः) हमारे लिये (सुमनाः) प्रसन्न चित्त से (शिवः) सुखकारी (भव) हूजिये (आयुधम्) खड्ग, भुशुण्डी और शतघ्नी आदि शस्त्रों का (निधाय) ग्रहण कर (कृत्तिम्) मृगचर्मादि की अङ्गरखी को (वसानः) शरीर में पहिने (पिनाकम्) आत्मा के रक्षक धनुष् वा बखतर आदि को (बिभ्रत्) धारण किये हुए हम लोगों की रक्षा के लिये (आगहि) आइये (परमे) प्रबल (वृक्षे) काटने योग्य शत्रु की सेना में (आचर) अच्छे प्रकार प्राप्त हूजिये ॥ ५१ ॥

भावार्थ—सभा और सेना के अध्यक्ष आदि लोग अपनी प्रजाओं में मंगलाचारी और दुष्टों में अग्नि के तुल्य तेजस्वी दाहक हों जिससे सब लोग धर्ममार्ग को छोड़ के अधर्म का आचरण कभी न करें ॥ ५१ ॥

विकिरिद्रेत्यस्य परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवा ऋषयः।
रुद्रा देवताः। आर्च्यनुष्टुप्छन्दः। गान्धारः स्वरः॥

प्रजाजना राजजनैः सह कथं वर्त्तेरन्नित्युपदिश्यते ॥
प्रजा के पुरुष राजपुरुषों के साथ कैसे वर्त्तें यह वि० ॥

विकिरिद्र विलोहित नमस्ते अस्तु भगवः।
यास्ते सहस्रꣳ हेतयोऽन्यमस्मन्नि वपन्तु ताः ॥५२॥

विकिरिद्रेति विऽकिरिद्र। विलोहितेति विऽलोहित। नमः। ते। अस्तु। भगवऽइति भगऽवः। याः। ते। सहस्रम्। हेतयः। अन्यम्। अस्मत्। नि। वपन्तु। ताः ॥ ५२ ॥

पदार्थः—(विकिरिद्र) विशेषेण किरिः सूकर इव द्रावयि शेते विशिष्टं किरिं द्रावि निन्दति वा तत्सम्बुद्धौ (विलोहित) विविधान् पदार्थानारूढस्तत्सम्बुद्धौ (नमः) सत्कारः (ते) तुभ्यम् (अस्तु) (भगवः) ऐश्वर्ययुक्त (याः) (ते) तव (सहस्रम्) असंख्याताः (हेतयः) वृद्धयो वज्रा वा (अन्यम्) इतरम् (अस्मत्) अस्माकं सकाशात् (नि) (वपन्तु) छिन्दन्तु (ताः) ॥ ५२ ॥

अन्वयः—हे विकिरिद्र विलोहित भगवत्सभेश राजँस्ते नमोऽस्तु येन ते तव याः सहस्रं हेतयः सन्ति। ता अस्मदन्यं निवपन्तु ॥ ५२ ॥

भावार्थः—प्रजाजना राजजनान् प्रत्येवमुच्युर्यो युष्माकमुन्नतयः शस्त्रास्त्राणि च सन्ति ता अस्मान् सुखे स्थापयन्त्वितरानस्मच्छत्रून् निवारयन्तु ॥ ५२ ॥

पदार्थः—हे (विकिरिद्र) विशेषकर सूअर के समान सोने वा उत्तम सूअर की निन्दा करने वाले (विलोहित) विविध पदार्थों को आरूढ (भगवः) ऐश्वर्य्ययुक्त सभापते राजन् (ते) आपको (नमः) सत्कार प्राप्त (अस्तु) हो जिससे (ते) आप के (याः) जो (सहस्रम्) असंख्यात प्रकार की (हेतयः) उन्नति वा वज्रादि शस्त्र हैं (ताः) वे (अस्मत्) हम से (अन्यम्) भिन्न दूसरे शत्रु को (निवपन्तु) निरन्तर छेदन करें ॥ ५१ ॥

भावार्थः—प्रजा के लोग राजपुरुषों से ऐसे कहें कि जो आप लोगों की उन्नति और शस्त्र अस्त्र हैं वे हम लोगों को सुख में स्थिर करें और इतर हमारे शत्रुओं का निवारण करें ॥ ५२ ॥

सहस्राणीत्यस्य परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवा ऋषयः । रुद्रा देवताः । निचृदार्ष्यनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

राजजनैः किं कार्यमित्याह ॥

राजपुरुषों को क्या करना चाहिये इस वि० ॥

सहस्राणि सहस्रशो बाह्वोस्तव हेतयः । तासा-मीशानो भगवः पराचीना मुखा कृधि ॥ ५३ ॥

सहस्राणि । सहस्रशऽइति सहस्रऽशः । बाह्वोः । तव । हेतयः । तासाम् । ईशानः । भगवऽइति भगवः । पराचीना । मुखा । कृधि ॥ ५३ ॥

पदार्थः—(सहस्राणि) (सहस्रशः) असंख्याताः (बाह्वोः) भुजयोः सम्बन्धिन्यः (तव) (हेतयः) प्रबला वज्रगतयः (तासाम्) (ईशानः) ईशनशीलः (भगवः) भाग्यवन् (पराचीना) पराचीनानि दूरीभूतानि (मुखा) मुखानि (कृधि) कुरु ॥ ५३ ॥

अन्वयः—हे भगवो यास्तव बाहोः सहस्राणि हेतयः सन्ति तासामीशानः सन् सहस्रशः शत्रूणां मुखा पराचीना कृधि ॥ ५३ ॥

भावार्थः—राजपुरुषैः बाहुबलेन राज्यं प्राप्यासंख्यशूरवीराः सेनाः संपाद्य सर्वे शत्रवः पराङ्मुखाः कार्याः ॥ ५३ ॥

पदार्थः—हे (भगवः) भाग्यशील सेनापते जो (तव) आपके (बाहोः) भुजाओं की संबन्धिनी (सहस्राणि) असंख्य (हेतयः) वज्रों की प्रबल गति हैं (तासाम्) उनके (ईशानः) स्वामीपन को प्राप्त आप (सहस्रशः) हज़ारहों शत्रुओं के (मुखा) मुख (पराचीना) पीछे फेर के दूर (कृधि) कीजिये ॥५३॥

भावार्थः—राजपुरुषों को उचित है कि बाहुबल से राज्य को प्राप्त हो और असंख्य शूरवीर पुरुषों की सेनाओं को रख के सब शत्रुओं के मुख फेरें ॥ ५३ ॥

असंख्यातेत्यस्य परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवा ऋषयः । रुद्रा देवताः । विराडार्ष्यनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

मनुष्यैः कथमुपकारो ग्राह्य इत्युच्यते ॥
मनुष्य लोग कैसे उपकार ग्रहण करें यह वि० ॥

असंख्याता सहस्राणि ये रुद्राऽअधि भूम्याम् ।
तेषांꣳ सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ॥ ५४ ॥

असंख्यातेत्यसम्ऽख्याता । सहस्राणि । ये । रुद्राः । अधि । भूम्याम् । तेषाम् । सहस्रयोजनऽइति सहस्रऽयोजने । अव । धन्वानि । तन्मसि ॥ ५४ ॥

पदार्थः—(असंख्याता) संख्यारहितानि (सहस्राणि) (ये) (रुद्राः) सजीवाऽजीवाः प्राणादयो वायवः (अधि) उपरिभावे (भूम्याम्)

पृथिव्याम् (तेषाम्) (सहस्रयोजने) सहस्राण्यसंख्यानि चतुःक्रोशपरिमितानि यस्मिन् देशे तस्मिन् (अव) अर्वागर्थे (धन्वानि) धनूंषि (तन्मसि) विस्तारयेम ॥ ५४ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यथा वयं ये असंख्याता सहस्राणि रुद्रा भूम्यामधि सन्ति तेषां सकाशात्सहस्रयोजने धन्वान्यव तन्मसि तथा यूयमपि तनुत ॥ ५४ ॥

भावार्थः—मनुष्यैः प्रतिशरीरं विभक्ता असंख्या भूमिसम्बन्धिनो जीवा वायवश्च वेद्यास्तेभ्य उपकारो ग्राह्यस्तेषां कर्त्तव्यश्च ॥ ५४ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो जैसे हम लोग (ये) जो (असंख्याता) संख्यारहित (सहस्राणि) हज़ारहों (रुद्राः) जीवों के सम्बन्धी वा पृथक् प्राणादि वायु (भूम्याम्) पृथिवी (अधि) पर हैं (तेषाम्) उनके सम्बन्ध से (सहस्रयोजने) असंख्य चार कोश के योजनों वाले देश में (धन्वानि) धनुषों का (अव, तन्मसि) विस्तार करें वैसे तुम लोग भी विस्तार करो ॥ ५४ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि प्रतिशरीर में विभाग को प्राप्त हुए पृथिवी के सम्बन्धी असंख्य जीवों और वायुओं को जानें, उनसे उपकार लें और उन के कर्त्तव्य को भी ग्रहण करें ॥ ५४ ॥

अस्मिन्नित्यस्य परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवा ऋषयः । रुद्रा देवताः । भुरिगार्ष्युष्णिक् छन्दः । ऋषभः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर उसी वि० ॥

अ॒स्मिन्म॑ह॒त्य॑र्ण॒वे॑ऽन्तरि॑क्षे भ॒वा अधि॑ । तेषा॑ᳬं सहस्रयोज॒नेऽव॒ धन्वा॑नि तन्मसि ॥ ५५ ॥

अस्मिन् । महति । अर्णवे । अन्तरिक्षे । भवाः । अधि । तेषाम् । सहस्रयोजन इति सहस्रऽयोजने । अव । धन्वानि । तन्मसि ॥ ५५ ॥

पदार्थः—(अस्मिन्) (महति) व्यापकत्वादिमहागुणविशिष्टे (अर्णवे) बहून्यर्णांसि जलानि विद्यन्ते यस्मिंस्तस्मिन्निव । अर्ण इत्युदकनाम० । निघं० १ । १२ । अर्णसो लोपश्चेति सलोपो वप्रत्ययश्च (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्षस्थ आकाशे (भवाः) वर्त्तमानाः (अधि) (तेषाम्०) इति पूर्ववत् ॥ ५५ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यथा वयं येऽस्मिन् महत्यर्णवेऽन्तरिक्षे भवा रुद्रा जीवा वायवश्च सन्ति तेषां प्रयोगं कृत्वा सहस्रयोजने धन्वान्यवाऽवतन्मसि तथा यूयमपि कुरुत ॥ ५५ ॥

भावार्थः—मनुष्यैर्यथा भूमिस्थेभ्यो जीवेभ्यो वायुभ्यश्च कार्योपयोगः क्रियते तथाऽन्तरिक्षस्थेभ्योऽपि कर्त्तव्यः ॥ ५५ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! जैसे हम लोग जो (अस्मिन्) इस (महति) व्यापकता आदि बड़े २ गुणों से युक्त (अर्णवे) बहुत जलों वाले समुद्र के समान अगाध (अन्तरिक्षे) सब के बीच अविनाशी आकाश में (भवाः) वर्त्तमान जीव और वायु हैं (तेषाम्) उनको उपयोग में लाके (सहस्रयोजने) असंख्यात चार कोश के योजनों वाले देश में (धन्वानि) धनुषों वा अन्नादि धान्यों को (अव्यव, तन्मसि) अधिकता के साथ विस्तार करें वैसे तुम लोग भी करो ॥ ५५ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को योग्य है कि जैसे पृथिवी के जीव और वायुओं से कार्य सिद्ध करते हैं वैसे आकाशस्थों से भी किया करें ॥ ५५ ॥

नीलग्रीवा इत्यस्य परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवा ऋषयः । रुद्रा देवताः । निचृदार्ष्यनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर उसी वि० ॥

नील॑ग्रीवाः शितिक॒ण्ठा दिव॑ꣳ रु॒द्रा उप॑श्रिताः। तेषा॑ꣳ सहस्रयोज॒नेऽव॒ धन्वा॑नि तन्मसि ॥ ५६ ॥

नील॑ग्रीवा॒ इति॒ नील॑ऽग्रीवाः। शि॒ति॒क॒ण्ठा इति॑ शि॒ति॒ऽक॒ण्ठाः। दिव॑म्। रु॒द्राः। उप॑श्रिता॒ इत्युप॑ऽश्रिताः। तेषा॑म्। स॒ह॒स्र॒यो॒ज॒न इति॑ सहस्रऽयोज॒ने। अव॑। धन्वा॑नि। त॒न्म॒सि॒ ॥ ५६ ॥

पदार्थः—(नीलग्रीवाः) नीला ग्रीवा येषां ते (शितिकण्ठाः) शितः परशीक्ष्णाः श्वेता वा कण्ठा येषां ते (दिवम्) सूर्य्यं विद्युदिव (रुद्राः) जीवा वायवो वा (उपश्रिताः) उपश्लेषतया श्रिताः कण्ठा येषां ते। तेषामिति पूर्ववत् ॥ ५६ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यथा वयं ये नीलग्रीवाः शितिकण्ठा दिवमुपश्रिता रुद्रा जीवा वा वायवः सन्ति तेषामुपयोगेन सहस्रयोजने धन्वान्यवतन्मसि तथा यूयमपि कुरुत ॥ ५६ ॥

भावार्थः—विद्वद्भिः वह्निस्थान् वायून् जीवान्वा विज्ञायोपयुज्य आग्नेयास्त्रादीनि निष्पादनीयानि ॥ ५६ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो जैसे हम लोग जो (नीलग्रीवाः) कण्ठ में नील वर्ण से युक्त (शितिकण्ठाः) तीक्ष्ण वा श्वेत कण्ठ वाले (दिवम्) सूर्य्य को बिजुली जैसे वैसे (उपश्रिताः) आश्रित (रुद्राः) जीव वा वायु हैं (तेषाम्)

उन के उपयोग से (सहस्रयोजने) असंख्य योजन वाले देश में (धन्वानि) शस्त्रादि को (अव, तन्मसि) विस्तार करें, वैसे तुम लोग भी करो ॥ ५६ ॥

भावार्थः—विद्वानों को चाहिये कि अग्निस्थ वायुओं और जीवों को जान और उपयोग में लाके आग्नेय आदि अस्त्रों को सिद्ध करें ॥ ५६ ॥

नीलग्रीवा इत्यस्य परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवा ऋषयः । रुद्रा देवताः । निचृदार्ष्यनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर उसी वि० ॥

नीलग्रीवाः शितिकण्ठाः शर्वा अधः क्षमाचराः । तेषांꣳ सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ॥ ५७ ॥

नीलग्रीवा इति नीलऽग्रीवाः । शितिकण्ठा इति शितिऽकण्ठाः । शर्वाः । अधः । क्षमाचरा इति क्षमाऽचराः । तेषाम् । सहस्रयोजन इति सहस्रऽयोजने । अव । धन्वानि । तन्मसि ॥ ५७ ॥

पदार्थः—(नीलग्रीवाः) नीला ग्रीवा येषां ते (शितिकण्ठाः) शितिः श्वेतः कण्ठो येषां ते (शर्वाः) हिंसकाः (अधः) अधोगामिनः (क्षमाचराः) ये क्षमायां पृथिव्यां चरन्ति । तेषामिति पूर्ववत् ॥ ५७ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या ये नीलग्रीवाः शितिकण्ठाः शर्वा अधः क्षमाचराः सन्ति तेषां सहस्रयोजने दूरीकरणाय धन्वानि वयमवतन्मसि ॥ ५७ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—मनुष्यैर्ये वायवो भूमेरन्तरिक्षमन्तरिक्षाद् भूमिं च गच्छन्त्यागच्छन्ति तत्र ये तेजोभूम्यादितत्त्वानामवयवाश्चरन्ति तान् विज्ञायोपयुज्य कार्य्यं साध्यम् ॥ ५७ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो जो (नीलग्रीवाः) नीली ग्रीवा वाले तथा (शितिकण्ठाः) काले कण्ठ वाले (शर्वाः) हिंसक जीव और (अधः) नीचे को वा (क्षमाचराः) पृथिवी में चलने वाले जीव हैं (तेषाम्) उन के (सहस्रयोजने) हज़ार योजन के देश में दूर करने के लिये (धन्वानि) धनुषों को हम लोग (अव, तन्मसि) विस्तृत करते हैं ॥ ५७ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु०—मनुष्यों को चाहिये कि जो वायु भूमि से आकाश और आकाश से भूमि को जाते आते हैं उनमें जो अग्नि और पृथिवी आदि के अवयव रहते हैं उन को जान और उपयोग में लाके कार्य सिद्ध करें ॥ ५७ ॥

ये वृक्षेष्वित्यस्य परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवा ऋषयः । रुद्रा देवताः । निचृदार्च्यनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

मनुष्यैः सर्पादयो दुष्टा निवारणीया इत्याह ॥
मनुष्य लोग सर्पादि दुष्टों का निवारण करें इस वि० ॥

ये वृक्षेषु शष्पिञ्जरा नीलग्रीवा विलोहिताः । तेषाᳪ सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ॥ ५८ ॥

ये । वृक्षेषु । शष्पिञ्जराः । नीलग्रीवा इति नीलऽग्रीवाः । विलोहिता इति विऽलोहिताः । तेषाम् । सहस्रयोजन इति सहस्रऽयोजने । अव । धन्वानि । तन्मसि ॥ ५८ ॥

पदार्थः—(ये) (वृक्षेषु) आम्रादिसमीपेषु (शष्पिञ्जराः) शष्पवत् पिञ्जरो वर्णो येषां ते (नीलग्रीवाः) नीलवर्णा निगरणकर्मोपेताः (विलोहिताः) विविधरक्तवर्णाः तेषामिति पूर्ववत् ॥ ५८ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यथा वयं ये वृक्षेषु शष्पिञ्जरा नीलग्रीवा विलोहिताः सर्पादयः सन्ति तेषां सहस्रयोजने प्रक्षेपाय धन्वान्यवतन्मसि । तथा यूयमप्याचरत ॥ ५८ ॥

भावार्थः—मनुष्यैर्ये वृक्षादिषु वृद्धिजीवनाः सर्पादयो वर्त्तन्ते तेऽपि यथासामर्थ्यं निवारणीयाः ॥ ५८ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो जैसे हम लोग (ये) जो (वृक्षेषु) आम्र आदि वृक्षों में (शष्पिञ्जराः) रूप दिखाने से भय के हेतु (नीलग्रीवाः) नीली ग्रीवा युक्त काट खाने वाले (विलोहिताः) अनेक प्रकार के काले आदि वर्णों से युक्त सर्प आदि हिंसक जीव हैं (तेषाम्) उन के (सहस्रयोजने) असंख्य योजन देश में निकाल देने के लिये (धन्वानि) धनुषों को (अवतन्मसि) विस्तृत करें वैसा आचरण तुम लोग भी करो ॥ ५८ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को योग्य है कि जो वृक्षादि में वृद्धि से जीने वाले सर्प हैं उन का भी यथाशक्ति निवारण करें ॥ ५८ ॥

ये भूतानामित्यस्य परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवा ऋषयः ।
रुद्रा देवताः । आर्ष्यनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनरध्यापनोपदेशौ कुतो ग्राह्यावित्याह ॥
मनुष्य लोग पढ़ाना और उपदेश किससे ग्रहण करें यह वि० ॥

ये भूतानामधिपतयो विशिखासः कपर्दिनः ।
तेषांᳫ सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ॥ ५९ ॥

ये । भूतानाम् । अधिपतय इत्यधिऽपतयः । विशिखास इति विऽशिखासः । कपर्दिनः । तेषाम् । सहस्रयोजन इति सहस्रऽयोजने । अव । धन्वानि । तन्मसि ॥ ५६ ॥

पदार्थः—(ये) (भूतानाम्) प्राण्यप्राणिनाम् (अधिपतयः) अधिष्ठातारः पालकाः (विशिखासः) विगतशिखाः संन्यासिनः (कपर्दिनः) जटिला ब्रह्मचारिणः । तेषामिति पूर्ववत् ॥ ५६ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यथा ये भूतानामधिपतयो विशिखासः कपर्दिनः सन्यासिनो ब्रह्मचारिणः सन्ति तेषां हिताय सहस्रयोजने वयं परिभ्रमामो धन्वान्यवतन्मसि तथा हे राजपुरुषा यूयमपि पर्यटनं सदा कुरुत ॥ ५६ ॥

भावार्थः—मनुष्यैर्ये सूत्रात्मधनञ्जयादिवत् परिव्राजो ब्रह्मचारिणश्च सर्वेषां शरीरात्मपोषकाः सन्ति तदध्यापनोपदेशाभ्यां बुद्धिदेहपुष्टिः सम्पादनीया ॥ ५६ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो जैसे (ये) जो (भूतानाम्) प्राणी तथा अप्राणियों के (अधिपतयः) रक्षक स्वामी (विशिखासः) शिखारहित संन्यासी और (कपर्दिनः) जटाधारी ब्रह्मचारी लोग हैं (तेषाम्) उनके हितार्थ (सहस्रयोजने) हज़ार योजन के देश में हम लोग सर्वथा सर्वदा भ्रमण करते हैं और (धन्वानि) अविद्यादि दोषों के निवारणार्थ विद्यादि शस्त्रों का (अव, तन्मसि) विस्तार करते हैं वैसे हे राजपुरुषो तुम लोग भी सर्वत्र भ्रमण किया करो ॥ ५६ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को उचित है कि जो सूत्रात्मा और धनंजय वायु के समान संन्यासी और ब्रह्मचारी लोग सबके शरीर तथा आत्मा की पुष्टि करते हैं उनसे पढ़ और उपदेश सुन कर सब लोग अपनी बुद्धि तथा शरीर की पुष्टि करें ॥ ५६ ॥

ये पथामित्यस्य परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवा ऋषयः । रुद्रा देवता । निचृदार्ष्यनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनर्मनुष्यैः किं कार्यमित्याह ॥

फिर मनुष्यों को क्या करना चाहिये यह वि० ॥

ये पथां पथिरक्षय ऐलबृदा आयुर्युधः। तेषां सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ॥ ६० ॥

ये। पथाम्। पथिरक्षय इति पथिऽरक्षयः। ऐलबृदाः। आयुर्युध इत्यायुःऽयुधः। तेषाम्। सहस्रयोजन इति सहस्रऽयोजने। अव। धन्वानि। तन्मसि ॥ ६० ॥

पदार्थः—(ये) (पथाम्) मार्गाणाम् (पथिरक्षयः) ये पथिषु विचरतां जनानां रक्षयो रक्षकाः (ऐलबृदाः) इलायाः पृथिव्या इमानि वस्तुजातानि ऐलानि तानि ये वर्धयन्ति ते। अत्र वर्णव्यत्ययेन वस्य बः। इगुपधलक्षणः कश्च (आयुर्युधः) ये आयुषा सह युध्यन्ते तेषामिति पूर्ववत् ॥ ६० ॥

अन्वयः—वयं ये पथां पथिरक्षय इव ऐलबृदा आयुर्युधो भृत्याः सन्ति तेषां सहस्रयोजने धन्वान्यवतन्मसि ॥ ६० ॥

भावार्थः—मनुष्यैर्यथा राजजना अहर्निशं प्रजाजनान्यथावद्रक्षन्ति तथा पृथिवीं जीवनादिकं च वायवो रक्षन्तीति वेद्यम् ॥ ६० ॥

पदार्थः—हम लोग (ये) जो (पथाम्) मार्गों के सम्बन्धी तथा (पथिरक्षयः) मार्गों में विचरने वाले जनों के रक्षकों के तुल्य (ऐलबृदाः) पृथिवी-सम्बन्धी पदार्थों के वर्धक (आयुर्युधः) पूर्णायु वा अवस्था के साथ युद्ध करनेहारे भृत्य हैं (तेषाम्) उनके (सहस्रयोजने) असंख्ययोजन देश में (धन्वानि) धनुषों को (अव, तन्मसि) विस्तृत करते हैं ॥ ६० ॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि जैसे राजपुरुष दिन रात प्रजाजनों की यथावत् रक्षा करते हैं वैसे पृथिवी और जीवनादि की रक्षा वायु करते हैं ऐसा जानें ॥ ६० ॥

ये तीर्थानीत्यस्य परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवा ऋषयः । रुद्रा देवताः । निचृदार्ष्यनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनस्तदेवाह ॥

फिर वही वि० ॥

ये तीर्थानि प्रचरन्ति सृकाहस्ता निषङ्गिणः ।
तेषाᳬ सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ॥ ६१ ॥

ये । तीर्थानि । प्रचरन्तीति प्रऽचरन्ति । सृकाहस्ताऽइति सृकाऽहस्ताः । निषङ्गिणः । तेषाम् । सहस्रयोजनऽइति सहस्रऽयोजने । अव । धन्वानि । तन्मसि ॥ ६१ ॥

पदार्थः—(ये) (तीर्थानि) यानि वेदाचार्यसत्यभाषणब्रह्मचर्यादिसुनियमादीन्यविद्यादुःखेभ्यस्तारयन्ति यद्वा यैः समुद्रादिभ्यस्तारयन्ति तानि (प्रचरन्ति) (सृकाहस्ताः) सृका वज्राणि हस्तेषु येषां ते । सृक इति वज्रना० निघं० २ । २० । (निषङ्गिणः) प्रशस्तबाणकोशयुक्ताः । तेषामिति पूर्ववत् ॥ ६१ ॥

अन्वयः—वयं ये सृकाहस्ता निषङ्गिण इव तीर्थानि प्रचरन्ति तेषां सहस्रयोजने धन्वान्यव तन्मसि ॥ ६१ ॥

भावार्थः—मनुष्याणां द्विविधानि तीर्थानि वर्त्तन्ते तेष्वाद्यानि ब्रह्मचर्याचार्यसेवावेदाद्यध्ययनाध्यापनसत्सङ्गेश्वरोपासनासत्यभाषणादीनि दुःखसागराज्जनान् पारं नयन्ति । अपराणि यैः समुद्रादिजलाशयेभ्यः पारावारं गन्तुं शक्यारचेति ॥ ६१ ॥

पदार्थः—हम लोग (ये) जो (सृकाहस्ताः) हाथों में वज्र धारण किये हुए (निषङ्गिणः) प्रशंसित बाण और कोश से युक्त जनों के समान

(तीर्थानि) दुःखों से पार करने हारे वेद आचार्य सत्यभाषण और ब्रह्मचर्यादि अच्छे नियम अथवा जिनसे समुद्रादिकों को पार करते हैं उन नौका आदि तीर्थों का (प्रचरन्ति) प्रचार करते हैं (तेषाम्) उन के (सहस्रयोजने) हज़ार योजन के देश में (धन्वानि) शस्त्रों को (अव, तन्मसि) विस्तृत करते हैं ॥ ६१ ॥

भावार्थः—मनुष्यों के दो प्रकार के तीर्थ हैं उन में पहिले तो वे जो ब्रह्मचर्य, गुरु की सेवा, वेदादि शास्त्रों का पढ़ना पढ़ाना, सत्सङ्ग, ईश्वर की उपासना और सत्यभाषण आदि दुःखसागर से मनुष्यों को पार करते हैं और दूसरे वे जिनसे समुद्रादि जलाशयों के इस पार उस पार जाने आने को समर्थ हों ॥ ६१ ॥

येऽन्नेष्वित्यस्य परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवा ऋषयः । रुद्रा देवताः । विराडार्ष्यनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनस्तदेवाह ॥

फिर वही वि० ॥

येऽन्नेषु विविध्यन्ति पात्रेषु पिबतो जनान् ।
तेषांꣳ सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ॥ ६२ ॥

ये । अन्नेषु । विविध्यन्तीति विऽविध्यन्ति । पात्रेषु । पिबतः । जनान् । तेषाम् । सहस्रयोजन इति सहस्रऽयोजने । अव । धन्वानि । तन्मसि ॥ ६२ ॥

पदार्थः—(ये) (अन्नेषु) अत्तव्येषु पदार्थेषु (विविध्यन्ति) व्याधा इव साधनवान् कुर्वन्ति (पात्रेषु) पानसाधनेषु (पिबतः) पानं कुर्वतः (जनान्) मनुष्यादिप्राणिनः । तेषामिति पूर्ववत् ॥ ६२ ॥

अन्वयः—वयं येऽन्नेषु वर्त्तमानान् पात्रेषु पिबतो जनान् विविध्यन्ति तेषां प्रतीकाराय सहस्रयोजने धन्वान्यवतन्मसि ॥ ६२ ॥

भावार्थः—येऽन्नाहारं जलादिपानं कुर्वतो विषादिना घ्नन्ति तेभ्यः सर्वैर्दूरे वसनीयम् ॥ ६२ ॥

पदार्थः—हम लोग (ये) जो (अन्नेषु) खाने योग्य पदार्थों में वर्त्तमान (पात्रेषु) पात्रों में (पिबतः) पीते हुए (जनान्) मनुष्यादि प्राणियों को (विविध्यन्ति) बाण के तुल्य घायल करते हैं (तेषाम्) उन को हटाने के लिये (सहस्रयोजने) असंख्य योजन देश में (धन्वानि) धनुषों को (अव, तन्मसि) विस्तृत करते हैं ॥ ६२ ॥

भावार्थः—जो पुरुष अन्न को खाते और जलादि को पीते हुए जीवों को विष आदि से मार डालते हैं उनसे सब लोग दूर बसें ॥ ६२ ॥

य एतावन्त इत्यस्य परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवा ऋषयः । रुद्रा देवताः । भुरिगार्ष्यनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनस्तदेवाह ॥

फिर वही वि० ॥

य एतावन्तश्च भूयांश्सश्च दिशो रुद्रा वितस्थिरे । तेषांश्सहस्रयोजनेऽवधन्वानि तन्मसि ॥ ६३ ॥

ये । एतावन्तः । च । भूयांश्सः । च । दिशः । रुद्राः । वितस्थिर इति विऽतस्थिरे । तेषाम् । सहस्रयोजन इति सहस्रऽयोजने । अव । धन्वानि । तन्मसि ॥ ६३ ॥

पदार्थः—(ये) (एतावन्तः) यावन्तो व्याख्याताः (च) (भूयांसः) तेभ्योऽप्यधिकाः (च) (दिशः) पूर्वाद्याः (रुद्राः) प्राणजीवाः (वितस्थिरे) विविधतया तिष्ठन्ति (तेषाम्) (सहस्रयोजने) एतत्संख्यापरिमिते देशे (अव) विरोधार्थे (धन्वानि) अन्तरिक्षावयवान् । धन्वेत्यन्तरिक्षना० । निघण्टौ १ । ३ । (सहस्रयोजने) (अव) (धन्वानि) (तन्मसि) ॥६३॥

अन्वयः—ययं च एतावन्तश्च भूयांसश्च रुद्रा दिशो वितस्थिरे तेषां सहस्रयोजने धन्वान्यवतन्मसि । ६३ ॥

भावार्थः—ये मनुष्याः सर्वासु दिक्षु स्थितान् जीवान् वायूंश्च यथावदुपयुञ्जते तेषां सर्वकार्याणि सिद्धानि भवन्ति ॥ ६३ ॥

पदार्थः—हम लोग (ये) जो (एतावन्तः) इतने व्याख्यात किये (च) और (रुद्राः) प्राण वा जीव (भूयांसः) इन से भी अधिक (च) सब प्राण तथा जीव (दिशः) पूर्वादि दिशाओं में (वितस्थिरे) विविध प्रकार से स्थित हैं (तेषाम्) उन के (सहस्रयोजने) हजार योजन के देश में (धन्वानि) आकाश के अवयवों को (अव, तन्मसि) विरुद्ध विस्तृत करते हैं ॥ ६३ ॥

भावार्थः—जो मनुष्य सब दिशाओं में स्थित जीवों वा वायुओं को यथावत् उपयोग में लाते हैं उन के सब कार्य सिद्ध होते हैं ॥ ६३ ॥

नमोऽस्तु रुद्रेभ्य इत्यस्य परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवा ऋषयः ।
रुद्रा देवताः । निचृद्धृतिश्छन्दः । ऋषभः स्वरः ॥

पुनस्तदेवाह ॥
फिर वही वि० ॥

नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो ये दिवि येषां वर्षमिषवः ।
तेभ्यो दश प्राचीर्दश दक्षिणा दश प्रतीचीर्दशो-